ASPECTS OF JAINOLOGY

VOL. III

PT. DALSUKHBHAI MALVANIA

FELICITATION VOLUME I

EDITORS

Prof. M. A. DHAKY

Prof. SAGARMAL JAIN

P. V. RESEARCH INSTITUTE

Varanasi-5

Aspects of Jainology :

Vol. III

PT. DALSUKH BHAI MALVANIA

FELICITATION VOLUME I

Editors :

PROF. M. A. DHAKY

PROF. SAGARMAL JAIN

P. V. RESEARCH INSTITUTE

VARANASI-5

Published by

P. V. Research Institute
I. T. I. Road, (Karaundi) B. H. U.
Varanasi-5
Phone : 311462

Ist Edition 1991

Price : Rs. 250/-

Printed by
Ratna Printing Works
Kamaccha, Varanasi

Divine Printers
B 13/44, Sonarpura, Varanasi

जैन विद्या के आयाम :

ग्रन्थाङ्क ३

पं० दलसुखभाई मालवणिया

अभिनन्दन ग्रन्थ I

सम्पादक

प्रो० मधुसूदन ढाकी

प्रो० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-५

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई०टी०आई० रोड, (करौंदी) बी०एच०यू०
वाराणसी-५
फोन : ३११४६२

प्रथम संस्करण : १९९१
मूल्य : रु० २५०/–

मुद्रक :
रत्ना प्रिन्टिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

डिवाइन प्रिंटर्स
बी १३/४४, सोनारपुरा, वाराणसी

प्रकाशकीय

सम्प्रति जैन विद्या के मूर्धन्य मनीषियों में पं० दलसुखभाई मालवणिया अग्रगण्य हैं। वर्तमान युग में उनके समकक्ष जैन आगम तथा जैन दर्शन का दूसरा विद्वान् दृष्टिगत ही नहीं होता है। पं० दलसुख भाई निर्भीक, स्पष्ट विचारक हैं, वे सांप्रदायिक आग्रहों से ऊपर उठकर जो सत्य होता है उसे निःसंकोच भाव से कहने की हिम्मत रखते हैं। यही कारण है कि परम्परावादी उनकी विद्वत्ता को स्वीकार करते हुए भी उनसे कतराते हैं। उनके विचारों में स्पष्टता और सत्यान्वेषणशीलता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके व्यक्तित्व का दूसरा सबसे बड़ा गुण यह है कि वे निश्छल व्यक्तित्व के धनी हैं। गृहस्थ होते हुए भी उनका जीवन साधु-पुरुष के समान ही है। छल-छद्म और अहंकार उनको स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं। कथनी और करनी की एकरूपता भी उनकी अपनी विशिष्टता है। धन का लोभ उन्हें बिल्कुल नहीं रहा। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में भी उन्होंने जैन विद्या के अध्ययन का अवसर मिले, गुरु सेवा का अवसर मिले—यह सोचकर बम्बई की १५० रु० प्रतिमाह की आय का परित्याग कर बनारस में पं० सुखलाल जी के समीप मात्र ३५ रु० प्रतिमाह की नौकरी को स्वीकार कर लिया। ऐसे अनेक अवसर आये जब आप आर्थिक उपलब्धियों की उपेक्षा कर दिये। पार्श्वनाथ विद्याश्रम की संचालक समिति ने उनके लिए १००० रु० प्रतिमाह मानदेय का निर्णय लिया। पं० जी ने समिति के उस प्रस्ताव को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि विद्याश्रम मेरी अपनी संस्था है। क्या कोई व्यक्ति अपनी ही संस्था से कुछ स्वीकार कर सकता है ? विद्याश्रम के मार्गदर्शक के रूप में वे अनेक बार संस्थान में पधारे किन्तु कभी मार्ग-व्यय की अपेक्षा भी नहीं की। विद्वत्ता के साथ निर्भीकता, निरहंकारता और निस्पृहता का सुयोग दुर्लभ ही होता है किन्तु पं० जी के जीवन में उसे हम प्रतिदिन अनुभव कर सकते हैं।

पं० दलसुखभाई मालवणियाजी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के प्रारम्भ से ही जुड़े रहे हैं और इसके विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अपने द्वारा स्थापित और संचालित जैन संस्कृति संशोधन मण्डल का समस्त साहित्य, उसके प्रकाशन और उसकी समस्त सम्पत्ति को सहजभाव से विद्याश्रम को प्रदान कर दिया। इसी प्रकार पं० सुखलाल जी द्वारा स्थापित न्यास की, जिसके न्यासी आप भी हैं, सम्पूर्ण अवशिष्ट सम्पत्ति आपने विद्याश्रम को प्रदान कर दी। उनके इस महान् व्यक्तित्व से प्रेरित होकर ही पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान ने उनके राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित होने पर उनका अभिनन्दन किया। उसी अवसर पर उनके सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना बनाई गई और उस अभिनन्दन ग्रन्थ हेतु विद्वानों से लेख आमंत्रित किये गये। हमें यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि विद्वानों ने पं० जी के व्यक्तित्व के प्रति अपनी अनन्य आस्था के कारण अपने-अपने लेख शीघ्र ही प्रेषित कर दिये। यद्यपि हमें लेख तत्काल ही प्राप्त हो गये किन्तु उन्हें सम्पादित कर मुद्रित करवाने में पर्याप्त विलम्ब हुआ। अंग्रेजी विभाग के हमारे संपादक जैन विद्या के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० मधुसूदन ढाकी ने अत्यन्त सतर्कता और प्रामणिकता-

पूर्वक कार्य किया है। सम्पादन एवं प्रेस के फलस्वरूप प्रत्याशित-अप्रत्याशित रूप से विलम्ब होता ही रहा। पं. जी के अभिनन्दन ग्रन्थ हेतु हमें जितने लेख प्राप्त हुए हैं वे सभी अभी तक सम्पादित भी नहीं हो पाये हैं तथा गुजराती लेखों के मुद्रण की व्यवस्था में भी वाराणसी में कठिनाई हो रही है। इसलिए हमने यह निर्णय लिया कि जितनी सामग्री मुद्रित हो चुकी है उसे इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाशित कर दिया जाय और शेष सामग्री को दूसरे खण्ड में प्रकाशित किया जायेगा। हमें निश्चय ही यह दुःख है कि इतने लम्बे अंतराल के पश्चात् भी सम्पूर्ण सामग्री को एक साथ प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु जो अंश मुद्रित हो चुका है वह विद्वानों को उपलब्ध हो सके यह सोचकर हमने इसे अपूर्ण रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया है। हिन्दी और अंग्रेजी लेखों का मुद्रण साथ-साथ चल सके इसलिए हमें हिन्दी खण्ड और अंग्रेजी खण्ड के पृष्ठों की संख्या भी पृथक्-पृथक् रखनी पड़ी है। प्रो० ढाकी ने इसके अंग्रेजी विभाग का संपादन अत्यन्त सतर्कता एवं श्रमपूर्वक किया है। वर्तमान युग में संपादन में इतनी सतर्कता रखने वाले और श्रम करने वाले दुर्लभ ही हैं। प्रो० ढाकी ने इस दायित्व का जितनी प्रामाणिकता से निर्वाह किया है उसके लिए हमारे पास उनके प्रति आभार व्यक्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। ग्रन्थ के हिन्दी खण्ड के संपादन तथा मुद्रण आदि का भार संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन ने वहन किया एतदर्थ हम उनके प्रति भी आभार प्रकट करते हैं। प्रूफ संशोधन में डा० सागरमल जैन के अतिरिक्त डा० अरुण प्रताप सिंह, डा० अशोक कुमार सिंह, डा० शिवप्रसाद, डा० इन्द्रेशचन्द्र सिंह, श्री महेश जी का भी सहयोग प्राप्त हुआ है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। प्रो० ढाकी ने अंग्रेजी विभाग के अंतिम प्रूफ को देखकर इसके प्रामाणिक मुद्रण में विशेष सहयोग प्रदान किया है अतः हम पुनः उन्हें धन्यवाद देते हैं। इस ग्रन्थ के हिन्दी और अंग्रेजी खण्डों का मुद्रण रत्ना प्रिंटिंग प्रेस और डिवाइन प्रिंटर्स ने सम्पन्न किया। अतः हम इन मुद्रणालयों के व्यवस्थापकों के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं। अन्त में हम उन सभी के आभारी हैं जो इस ग्रन्थ के प्रकाशन में परोक्ष या प्रत्यक्ष सहभागी बने हैं विशेष रूप से उन सभी विद्वज्जनों के जिनके आलेख इसमें समाहित किये गये हैं। यह उनके ही श्रम का फल है कि ग्रन्थ का आकार प्राप्त कर सका। अन्त में हम पूज्य पंडित जी के चरणों में प्रणाम करते हुए उन्हें यह ग्रन्थ समर्पित करते है।

भूपेन्द्र नाथ जैन
सचिव
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

CONTENTS

हिन्दी खण्ड

English Section



पं. दलसुख भाई मालवणिया

पं० दलसुख मालवणिया : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—पं० रतिलाल देसाई
—अनु० डॉ० शिवप्रसाद; डॉ० अशोक सिंह

सत्य के जिज्ञासु व्यक्ति का विद्वत्ता स्वयमेव बरण कर लेती है। ऐसा व्यक्ति ज्ञानोपासना की किसी भी दिशा में अग्रसर होकर उस क्षेत्र अथवा विषय का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को किसी भी विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की किसी भी उपाधि की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इस श्रेणी के विद्याविलासियों में पं० सुखलाल संघवी, पं० बेचरदास दोशी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, मुनि जिनविजय जी, मुनि श्री पुण्यविजय जी, पं० दलसुखभाई मालवणिया आदि के नाम बड़े आदर पूर्वक लिये जा सकते हैं।

गुण ग्राह्यता तथा सत्यान्वेषी गहन साहित्योपासना इन दोनों दृष्टियों से पं० दलसुख भाई का जीवन एक आदर्श विद्या पुरुष का जीवन रहा है। उन्हें ये सद्गुण अपने पूज्य गुरु पं० सुखलाल संघवी और पं० बेचरदास दोशी से विरासत में मिले हैं। बंगाल संस्कृत परिषद, कलकत्ता से उन्होंने जैन दर्शन में न्यायतीर्थ की उपाधि प्राप्त की। यही उनकी प्रथम और अन्तिम उपाधि है। इन्होंने सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य, जैन दार्शनिक साहित्य, बौद्ध दर्शन और साहित्य एवं अन्य भारतीय दर्शनों का सर्वांगीण अध्ययन एवं संशोधन कर विद्योपासना के प्रति निष्ठा का एक अनूठा आदर्श उपस्थित किया है।

श्री दलसुखभाई का जन्म गुजरात (सौराष्ट्र) के झालावाड़ जिलान्तर्गत सायला नामक ग्राम में २२-७-१९१० को एक निर्धन वणिक् परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम डाह्याभाई और माता का नाम पार्वती बहन था। दलसुखभाई अपने माता-पिता की ज्येष्ठ सन्तान है। परिवार में ३ छोटे भाई और एक बहन भी थी। पिता श्री डाह्याभाई की गांव में ही एक छोटी सी पंसारी की दुकान थी। जिससे सात प्राणियों के इस परिवार का किसी प्रकार निर्वाह होता था। जब दलसुखभाई की उम्र १० वर्ष की थी, इनके पिता का आकस्मिक निधन हो गया। निर्धनता की विभीषिका से ग्रस्त यह परिवार इस भीषण दैवी आपदा से बिखर गया और दलसुखभाई अपने भाइयों के साथ सुरेन्द्रनगर के अनाथाश्रम में शरण लेने को बाध्य हो गये। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा यहीं सम्पन्न हुई। यहीं आपने अंग्रेजी भाषा का अभ्यास किया और अवकाश के क्षणों में यहाँ के पुस्तकालय का सदुपयोग करते हुये अपने ज्ञान को अभिवृद्ध करते रहे। इस अनाथाश्रम में दलसुखभाई ने सात वर्ष व्यतीत किये।

इसी समय श्री स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स द्वारा जैन गृहस्थ पंडितों को तैयार करने हेतु एक ट्रेनिंग कालेज की बीकानेर में स्थापना की गयी। जयपुर निवासी दुर्लभ जी त्रिभुवन दास झवेरी इस कालेज के संस्थापक और संचालक थे। इस कालेज में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों को यहाँ नियमित रूप से तीन वर्ष तक रहना अनिवार्य था। उन्हें न केवल अध्ययन

बल्कि यहाँ के अन्य कार्यों को भी सम्पादित करना होता था। इसके बदले उनके लिये मासिक वेतन नियत था।

दलसुखभाई के सांसारिक पक्ष के चाचा मुनि श्री मगनलाल जी ने उन्हें इस कालेज में प्रवेश दिलाने का निश्चय किया, परन्तु दलसुखभाई के पास बीकानेर पहुँचने के लिये मार्गव्यय भी न था। स्थानीय मंडल ने मार्गव्यय का प्रबन्ध किया और अन्ततोगत्वा दलसुखभाई ने इस कालेज में प्रविष्ट होकर जैन विद्या का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।

बीकानेर में इस समय एक जैन पाठशाला भी थी, जिसका संचालन श्री भैरोदान सेठिया द्वारा होता था। इस पाठशाला में जैन पंडितों द्वारा अध्यापन कार्य सम्पन्न होता था, जिसका लाभ ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थियों को भी मिलता रहा। इस कालेज के छात्रों को प्राय: जहाँ-जहाँ मुनि ठहरते, उनके पास भी जाकर अध्ययन करना होता था, इसीलिए इस कालेज को ट्रेनिंग कालेज के स्थान पर ट्रैवेलिंग कालेज भी कहा जाता रहा।

सन् १९२८-२९ में दलसुखभाई जयपुर आये और यहाँ ट्रेनिंग कालेज में अभ्यास किया। सन् १९२९-३० में ये जैन गुरुकुल, ब्यावर में प्रविष्ट हुए। शतावधानी मुनि श्री रत्न-चन्द जी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के अति प्रभावशाली एवं विद्वान् मुनि थे। उनका १९३० का चातुर्मास कच्छ प्रान्त के अंजार नामक स्थान में हुआ। जैन गुरुकुल की ओर से श्री दलसुख भाई तथा कुछ अन्य छात्र मुनि जी के पास अध्ययनार्थ गये और वहाँ जैन साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। चातुर्मास की समाप्ति पर छात्रगण पुन: ब्यावर वापस आ गये। सन् १९३१ में दलसुखभाई ने बंगाल संस्कृत परिषद, कलकत्ता से न्यायतीर्थ की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष इन्हें जैन गुरुकुल, ब्यावर की ओर से जैन दर्शन विशारद की उपाधि से सम्मानित किया गया।

इस प्रकार बीकानेर, जयपुर और ब्यावर में दलसुखभाई ने ४ वर्ष व्यतीत किये। इन वर्षों में उन्होंने संस्कृत, प्राकृत भाषाओं तथा धर्मग्रन्थों का गहन अध्ययन कर इनमें निपुणता प्राप्त कर ली। दूरदर्शी श्री दुर्लभ जी त्रिभुवनदास झवेरी इनकी कुशाग्रबुद्धि से अत्यन्त प्रभावित थे। उन्होंने दलसुखभाई को श्री शांतिलाल वनमाली सेठ के साथ अहमदाबाद में पं० बेचर-दास जी दोशी के पास अध्ययनार्थ भेज दिया। पं० बेचरदास जी दोशी जैन आगम साहित्य और प्राकृत विद्या के शीर्षस्थ विद्वान् थे। ऐतिहासिक दृष्टि से आगमों को समझने-समझाने की उनकी अपनी मौलिक दृष्टि तथा पंथ एवं दुराग्रहों से दूर रहते हुए सत्यान्वेषण करना उनकी विशेषता थी, जिसका प्रभाव दलसुखभाई पर भी पड़ा। अहमदाबाद में ही दलसुखभाई प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी के सम्पर्क में भी आये। १९३२ में पं० बेचरदास जी अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के कारण कारागार में डाल दिये गये और दलसुखभाई भी अपना अध्ययन पूर्ण कर वापस जयपुर लौट आये।

१९३२ में ही सेठ श्री दुर्लभ जी झवेरी की प्रेरणा और सहायता से दलसुख भाई और शांतिभाई शांति निकेतन पहुँचे और वहाँ विधुशेखर भट्टाचार्य जैसे आदर्श शिक्षक के पास बौद्धदर्शन और पालि भाषा का अभ्यास किया। शांति निकेतन में इस समय जैन विद्या के महान् तपस्वी, ध्येयनिष्ठ तथा जैन आगम साहित्य एवं प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ आचार्य

श्री जिनविजय जी विराजमान थे। जिनसे इन दोनों लोगों ने प्राकृत भाषा और जैन आगमों का गहन अभ्यास किया। शांति निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के विश्व वात्सल्य के वातावरण में रहते हुए दलसुख भाई को अपना सर्वांगीण विकास करने का श्रेष्ठतम अवसर मिला, जिसका इन्होंने भरपूर लाभ उठाया। १९३४ ई० में विद्याभ्यास पूर्ण कर श्री दलसुख भाई ने शांतिनिकेतन छोड़ दिया। इस प्रकार इन १४ वर्षों में—७ वर्ष अनाथाश्रम में तथा ७ वर्ष, बीकानेर, जयपुर, ब्यावर और शांति निकेतन में व्यतीत कर दलसुख भाई अनाथाश्रम के एक विद्यार्थी से एक जैन विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

इसी अध्ययन काल के दौरान सन् १९३२ में दलसुखभाई का विवाह २२ वर्ष की अवस्था में सुश्री मथुरा बहन (मथुरा गौरी) के साथ सम्पन्न हुआ। विवाह हो जाने एवं विद्याध्ययन पूर्ण होने पर दलसुखभाई सन् १९३४ में बम्बई में स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स के मुख-पत्र जैन प्रकाश के साथ संबद्ध हो गये। वहाँ इन्हें ४० रुपया प्रतिमाह वेतन मिलता था और लगभग इतनी ही राशि उन्हें प्राइवेट ट्यूशन से मिल जाती थी। यद्यपि उन्हें आर्थिक दृष्टि से कोई कठिनाई न थी, परन्तु अध्ययनशील दलसुख भाई का मन इन कार्यों में नहीं लगा और ऐसा कोई अवसर नहीं मिल रहा था, जिसमें इनकी असीम प्रतिभा का उपयोग हो सके। १९३६ ई० में प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी का बनारस से बम्बई में पधारना हुआ। दलसुख भाई उनसे मिले, और अपने मन की बात कही। पंडित जी ने उन्हें वाराणसी आने की सलाह दी, जिसे स्वीकार कर वे तत्काल यहाँ पहुँच गये। यहाँ उन्होंने पंडित जी के लिये ग्रन्थ वाचक का कार्य किया और वेतन निर्धारित हुआ ३५ रुपया महीना। ८० रुपये महीने की आय छोड़कर केवल ३५ रुपये महीने की नौकरी सहर्ष स्वीकार करना दलसुख भाई मालवणिया जैसै निःस्पृह, निर्लोभी एवं विद्यारसिक व्यक्ति के लिये ही संभव था।

पं० सुखलाल संघवी एक महान् विद्या साधक थे। पूर्वाग्रह, साम्प्रदायिक कट्टरता, अंध श्रद्धा आदि से पूर्णतया मुक्त सत्यान्वेषी प्रकृति के विद्वान् थे और इसी प्रकार की विचार-धारा वाले लोगों को पसन्द करते थे। दलसुख भाई उनकी इस प्रकृति के अत्यन्त अनुकूल निकले। योग्य गुरु को योग्य शिष्य की तलाश थी, जो उन्हें अब मिल गया। धीरे-धीरे दलसुख भाई से उनका सम्बन्ध शिष्य से मित्र और अन्त में पिता-पुत्र के रूप में परिणत हो गया।

पंडित सुखलाल जी के पास ग्रन्थ वाचक के रूप में दलसुख भाई को अनेक धर्म ग्रन्थों के पढ़ने का अवसर मिला, इससे उनकी प्रतिभा में निखार आता गया। इन्होंने पंडित जी के साथ कई जटिल ग्रंथों का संपादन-संशोधन किया तथा स्वतंत्र रूप से ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य भी प्रारम्भ किया।

प्रमाण मीमांसा के संशोधन-संपादन हेतु पंडित जी का मुनि कांतिविजय जी और पुण्य विजय जी से परिचय हुआ जिसका लाभ दलसुखभाई को मिला।

१९४४ में पं० सुखलाल जी जब काशी हिन्दू विद्यालय से सेवानिवृत्त हुए तो दलसुखभाई उनके स्थान पर जैन चेयर पर प्रोफेसर नियुक्त हुए। विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डा० राधाकृष्णन् युवा विद्वान् दलसुख भाई से अत्यन्त प्रभावित थे। दलसुख भाई के पास

देश-विदेश से अनेक विद्वान्-छात्र आते और अपनी जिज्ञासा शान्त करते। इनके विद्वत्ता का लाभ न केवल देश के विद्वान् एवं छात्र लेते बल्कि जापान, बर्मा आदि के विद्वान् भी आते और इनसे विभिन्न विषयों पर चर्चा करते। जहाँ दलसुख भाई एक ओर इतने उच्चकोटि के विद्वान् थे दूसरी ओर इनको ज्ञान प्राप्त करने की सदैव लालसा बनी रहती, एक छोटे से बालक से भी ज्ञान लेने में इन्हें कोई संकोच न होता।

मुनि श्री पुण्य विजय जी की प्रेरणा और राष्ट्ररत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद के प्रयास से दिल्ली में प्राकृत सोसाइटी की स्थापना हुई। दलसुख भाई इसके मंत्री नियुक्त हुये। १९५२ में इस सोसाइटी द्वारा योग्यतम विद्वानों के संपादकत्व में अनेक दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। १९५७ में मुनि श्री पुण्यविजय जी की प्रेरणा से अहमदाबाद में श्री कस्तूर भाई लालभाई द्वारा लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर की स्थापना की गयी। कस्तूर भाई प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी के सदस्यों में से थे और उसी समय से दलसुख भाई की योग्यता से परिचित थे। अतः उन्होंने दलसुख भाई को अहमदाबाद आने का निमन्त्रण दिया। जिसे स्वीकार कर दलसुख भाई अहमदाबाद गये और वहाँ नवीन संस्थान के निदेशक पद को सुशोभित किया और १९७६ ई० तक सेवा निवृत होने के समय तक इस पद पर बनें रहे।

इनका वैवाहिक जीवन सादा और सुखी था। मथुरा बेन और दलसुखभाई शांत-स्वभाव, सरल, एकान्तप्रिय और मृदुभाषी थे। आपस में इतना अच्छा सामञ्जस्य था कि कुछ न कुछ गवेषणा में लगे रहने के कारण ज्यादा बात न करने पर भी वे नाराज नहीं होती। दुर्भाग्यवश इनको डायबिटीज़ (मधुमेह) की बिमारी लग गई और जनवरी सन् १९६५ में इनका आकस्मिक देहान्त हो गया। श्री दलसुखभाई के सुखी जीवन के ऊपर यह एक प्रकार का वज्रपात था। गौरवशाली, शान्त और स्वस्थ प्रकृति दलसुखभाई ने इस आपत्ति को समभाव पूर्वक सहन किया। परन्तु यह छिपा घाव किसी-किसी प्रसंग में वाणी का रूप ग्रहण कर लेता था। मथुरा बहन के देहावसान के एकाध वर्ष के बाद सन्मतिपीठ आगरा से प्रकाशित दस अपने ग्रन्थ 'आगम युग का जैन दर्शन' को अपनी पत्नी को समर्पित करते हुए किसी करुण रस के कवि की भाँति लिखा—प्रिय पत्नी मथुरा गौरी को, जिन्होंने लिया कुछ नहीं, दिया ही दिया है।

दलसुखभाई के एकमात्र सन्तान भाई रमेश जी हैं। रमेश भाई के पुत्र-पुत्री के बीच ही आप खेलते हैं।

संस्थान के निदेशक के रूप में दलसुख भाई ने न केवल जैन विद्या की अप्रतिम सेवा की है बल्कि संस्थान को उन्नति के ऐसे शिखर पर बैठा दिया कि उसका नाम विश्व भर में फैल गया। यहाँ देश-विदेश के अनेक विद्यार्थी भारतीय दर्शन विशेषकर जैन दर्शन पर उच्चाध्ययन हेतु आने लगे। इस संस्थान का जो भी विकास हुआ है उसका श्रेय केवल दलसुख भाई को ही है।

१९७६ में सेवा निवृत्ति के बाद भी संस्थान के संचालकों ने दलसुख भाई की सेवाओं का उपयोग करना जारी रखा सेवा निवृत्ति के बाद भी संस्थान के संचालकों के अनुरोध पर



धर्मपत्नी श्रीमती मथुराबेन के साथ



गुरु-शिष्य

पं. बेचरदास जी जोशी और पं. दलसुख भाई मालवणिया



गुरु-शिष्य
पं. सुखलाल जी संघवी
और पं. दलसुख भाई मालवणिया



राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह द्वारा सर्टीफिकेट ऑफ आनर प्राप्त करते हुये।



लोकसभाध्यक्ष श्री बलराम जाखड़ से दिप्तीमल जैन पुरस्कार प्राप्त करते हुए।

संस्था के सलाहकार के रूप में लगभग १० वर्षों तक कार्य करते रहे। यह उनकी असाधारण विद्वत्ता, संगठन शक्ति का परिणाम है।

१९६६-६७ में दलसुख भाई १६ माह के लिए टोरेन्टो यूनिवर्सिटी, कनाडा में बौद्ध दर्शन के अध्यापक नियुक्त होकर गये। इसके पश्चात् बर्लिन यूनिवर्सिटी के विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में गये और वहाँ व्याख्यान दिये।

अहमदाबाद में रहते हुए दलसुख भाई अनेक शिक्षण संस्थाओं के साथ सम्बद्ध हुए। गुजरात विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, जबलपुर वि० वि०, हैदराबाद वि० वि०, तिरुपति विश्वविद्यालय आदि अनेक शिक्षण संस्थाओं के वे सदस्य रहे हैं।

दलसुख भाई की सफलता में उनके निर्मल जीवन एवं सौम्य व्यक्तित्व का पूरा सहयोग रहा है। उनकी निरभिमानी सरल व सहज स्वभाव तथा सहयोगी वृत्ति के कारण उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उनका प्रशंसक बन जाता है। वस्तुतः पंडित जी जैसे बाहर से शुद्ध विचार वाले, सरल स्वभावी, निरभिमानी हैं वैसे ही आपका हृदय भी विशुद्ध है। उनका किसी से कभी कोई विरोध नहीं होता और विषम परिस्थति में भी वे सहज और प्रसन्नचित्त रहते हैं। ऐसे सौम्य सरस्वती पुत्र को वन्दन कर कौन अपने को गौरवान्वित न समझेगा।

कृतित्व

ग्रन्थ

१. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा—जैन संस्कृति संशोधक मंडल पत्रिका-१ प्रथम आ० १९४६, द्वि० आ० १९५२.
२. भगवान महावीर, प्रकाशक जैन वही, पत्रिका-८, १९४७.
३. आगमे युग का अनेकान्तवाद, प्रकाशक वही, पत्रिका १३, १९४७.
४. जैन आगम, प्रकाशक वही, पत्रिका १२, १९४७.
५. जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, प्रकाशन वही, पत्रिका १९४९.
६. आत्म-मीमांसा, प्रकाशक वही, १९५३.
७. निशीथ—एक अध्ययन, प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ आगरा.
८. हिन्दू धर्म, प्रकाशक परिचय ट्रस्ट, १९३४.
९. जैन धर्म चिन्तन—जगमोहन कोरा स्मारक पुस्तकमाला, अशोक कुमार कान्तिलाल कोरा, बम्बई १९३५.
१०. आगम युग का जैनदर्शन—सन्मति ज्ञानपीठ आगरा १९३३.
११. प्रभु श्री महावीर स्वामी के जीवन संदेश, सौराष्ट्र यूनिव० राजकोट, १९७२.
१२. प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी, गुजराती ग्रन्थकार श्रेणी-7, १९७७.

अनुवादित ग्रन्थ

१३. जैनदर्शन का आदिकाल, (ला०द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद १९८०.
१४. जैनागम और पालि पिटक- भाण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट पूना, १९८३.
१५ Jainism, प्राकृत भारती, जयपुर, १९८६
१६. भगवान महावीरनो अनेकान्तवाद (गुज०), अहमदाबाद १९८९
१७. गणधरवाद (गुजराती)—गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद १९५२
१८. स्थानांग-समवायांग—वही, १९५५
१९ गणधरवाद (हिन्दी)—प्राकृत भारती, जयपुर १९८५

लेख (गुजराती)

१. जइणो अ अजइणो अ, (जैन अने जैनेतर)—जैन प्रकाश ४-२-२२
२. सुधाराना राह पर—वही, ४-९-२९

३. थोकडा साहित्य—वही, १९-१०-३१

४, थोकडा शिक्षण—वही, ८-११-३१

५. संयम मार्ग—उत्थान, अप्रैल १९३२

६ तपसी पडे लपसी—वही, एवं जैन प्रकाश, अगस्त १९३२

७. विवादनां कारणो—जैन प्रकाश १५-१-३१, २२-१-३३

८. समय धर्म—उत्थान, दिसम्बर ३३

९. भगवान महावीरनो संघ अने पार्श्वापत्यको—उत्थान, दिसम्बर १९३३

१०. सर्वमान्य श्रावक प्रतिक्रमण—जैन प्रकाश १८-२-३४, २५-२-३४, ४-३-३४, १-३-३४, १८-३-३४

११. आपणे पामर ? -वही, २८-५-३४

१२. धार्मिक पराधीनता —वही, ३-३-३४

१३. नयबादनो प्रारम्भिक इतिहास—वही, २२-७-३४, २९ ७-३४, ५-८-३४, १२-८-३४

१४. प्रायश्चित्तना सरल मार्ग—वही, ९-९-३४

१५. जैन जीवननी कल्पना—वही, २८-१०-३४

१६. दिवाली – वही, ४-११-३४

१७. जन्म अने मृत्यु —वही, ३-३-३५

१८ उगतो प्रजायां धार्मिक संस्कारो शी रीते सचवाय ?—वही, १२-२-३७, २५-२-३७, ४-३-३७

१९. नवविचारको अने दान—महावीर जैन विद्यालय रजत स्मारक १९४०

२०. व्यवहार अने निश्चय—प्रबुद्ध जैन १५-२-४२

२१. निवृत्ति अने प्रवृत्ति—वही, १५-१-४३

२२. धर्मनी कसौटी—वही, १५-८-४३

२३. जैन युनिवर्सिटी : एकस्वप्न—जैन २७-२-४४

२४. व्यावहारिक अनेकांत—प्रबुद्ध जैन १५-१०-४४, १-११-४४

२५. उलटी गंगा—जैन १-९-४५

२६. जैनधर्मना बच्च शिक्षणनो प्रश्न—प्रबुद्ध जैन १-४-४६

२७. भगवान महावीर अने गांधीजी—प्रबुद्ध जीवन १-१-४७

२८. चालो करोअे प्रतिक्रमण—प्रबुद्ध जैन १५-१-४७

२९. संन्यासमार्ग—उत्थान, पतन अने परिवर्तन—जैन २९-९-४७

३०. भगवान महावीर—जैन सं० अ० पत्रिका न गुज० अनुवाद

३१. मानवता पावी लाछी—जैन २९-८-४८
३२. आवरणो दूर करी जेतां शीखो—प्रबुद्ध जीवन १५-९-४८
३३. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण—तरुण जैन, सितम्बर ४८
३४. क्षमाश्रमण गांधीजी—अखण्ड आनन्द, जनवरी ४९
३५. सांस्कृतिक प्रचारनी अवसर—जैन २०-८-४९
३६. भौतिक अने आध्यात्मिक दृष्टिनो समन्वय—शांति, बम्बई १९५०
३७ निवृत्तिनां चक्रनुं भेदन—प्रबुद्ध जैन १-९-५१
३८. भारतीय संस्कृतिनी पोकार—प्रबुद्ध जीवन १-१०-५१
३९ बिहारनां तीर्थोंनी यात्राए—प्रबुद्ध जैन १-१२-५१
४०. शास्त्राज्ञाओनी हेतु—अखंड आनन्द, अगस्त ५२
४१. क्षमापर्व—प्रबुद्ध जीवन १-१०-५२
४२. जीवो जीवस्य जीवनम्—प्रबुद्ध जैन १-१-५३
४३. जीवन अने अध्यात्म—प्रबुद्ध जीवन १-३-५३
४४. व्यक्ति अने समाजनो समन्वय—अखण्ड आनन्द नव, ५३
४५. आज ना समाजने भिक्षानिर्भर साधु संस्थानी जरुर छे के नहि ?—प्रबुद्ध जीवन १-२-५४
४६. नवानुं प्राचीनीकरण—वही, १-११-५४ हिन्दी अनुवाद, जैन जगत, जनवरी ५५
४७. एकांत पाप अने पुण्य—प्रबुद्ध जीवन १५-६-५५
४८. बालदीक्षा—वही, १-२-५६
४९. अधिकारवाद अने दयादाननुं पाप—वही, १५-३-५६
५०. करकण्डु राजा—सविता शतांक, जुलाई ५६
५१. आत्मदीपो भव—जैन प्रकाश १-११-५६
५२. जैनधर्म—प्रबुद्ध जीवन १-१२-५६, १५-१२-५६, १५-३-५७, १-४-५७, १५-४-५७
५३. श्रमण अने ब्राह्मण—प्रबुद्ध जीवन १-१२-५६, १५-१२-५६
५४. जैनधर्म—वही, १५-३-५७
५५. पं० सुखलाल जी की विचारधारा—वही, १-४-५७, हिन्दी तरुण १-३-५७
५६ संघर्ष वि० समन्वय—जीवन माधुरी, दिसम्बर १९५७
५७. जैनधर्म अने बौद्धधर्म—प्रबुद्ध जीवन १५-५-५८, १-६-५८
५८. जैन साहित्य—जैन युग, नवम्बर, ५८
५९ मैत्री साधना—जीवन माधुरी, दिसम्बर १९५८
६०. जैन आचारना मूल सिद्धान्तो—प्रबुद्ध जीवन १६-७-५९, १-८-५९

६१. समाजनु प्रतिक्रमण—जैन प्रकाश १५-८-६०

६२. भगवान महावीरनु कार्य–एक विचारणा—प्रबुद्ध जीवन १३-८-६०

६३. आगमग्रंथोने विच्छेद विषेनी विचारणा—जैन २०-१०-६०

६४. दर्शन अने जीवन—प्रबुद्ध जीवन १-४-६१, १६-४-६१

६५. करुणविचार विरुद्ध उपयुक्ततावाद—जैन प्रकाश ८-५-६१

६६. भगवान महावीरनी एक विशेषता—जैन दीपोत्सवो, अंक (२०१८) १९६१

६७. व्यक्ति ने समाजनी पारस्परिक प्रभुता—प्रबुद्ध जीवन १-३-६२

६८. तीर्थ शब्दनो भावार्थ—विश्वविज्ञान २८-१०-६२

६९. कुवलयमालाकथा अने तेना संध्यावर्णनो – स्वाध्याय, अंक १-१, अक्टूबर ६३

७०. हिन्दुधर्म अने जैनधर्म—प्रबुद्ध जीवन १६-११-६३, १-१२-६३, १६-१२-६३

७१. भगवान महावीरनो अनेकांत अने भगवान बुद्धनो मध्यम मार्ग—जैन २४-४-६४

७२. भगवाग महावीरनो जीवन कथानोविकास—जैन ३-९-६४

७३. भगवान बुद्ध अने महावीर—प्रबुद्ध जीवन १-११-६४, १६-११-६४

७४. श्री लोकाशाह अने तेमनो मत—स्वाध्याय २-२, फरवरी ६५

७५. संघभेदना पापना भागी न बनीए—जैन प्रकाश २३-२-६६

७६. तीर्थोनो संघर्ष मिटाववानो साचो मार्ग—प्रबुद्ध जीवन १६-१०-६६

७७. धर्मसमन्वयनो भावना—चिंतन पराग १९६६

७८. नवी दुनिया मां—प्रबुद्ध जीवन ५-३-६८, १६-३-६८, १-४-६८, १-५-६८, १६-५-६८, १-६-६८, १६-६-६८, १-७-६८, १६-१०-६८, ५-१२-६८, १६-२-६९, १-३-६९

७९. अमारिघोषकरनार चीननो बादशाह वु—प्रबुद्ध जीवन, १६-८-६८

८०. आगमयुगना व्यवहार-निश्चय– महावीर विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ, १९६८

८१. भगवान महावीर अने महात्मा गाँधी—प्रबुद्ध जीवन, १६-४-७०

८२ आपणी साधु संस्था—वही, १-६-७०

८३. जैनधर्म अने भारतीय संस्कृति—स्मृति अने संस्कृति, राजरत्न श्री नानजी कालिदास स्मृति ग्रन्थ २०-११-७१

८४. तत्त्वार्थसूत्रगत ध्यानलक्षणमानाँ 'एकाग्रचितनिरोधा विशे नोंध-विद्या, अगस्त, १९७१

८५. आचार्य तुलसीनी 'अग्निपरीक्षा', प्रबुद्ध जीवन, १-९-७२

८६. आत्माने-धर्म—ईंट अने ईमारत, गुजरात समाचार, ७-९-७२

८७. गुजरात मां संस्कृत-प्राकृत भाषाओनुं अध्ययन-अध्यापन—गुजरात मां भारतीय भाषाओनो विकास, गुजरात विद्यापीठ माँ सेमिनार—३-५ मार्च ७३ (अप्रकाशित)

८८. जैनधर्मना आराध्यदेवो—विद्या, Vol. xvi No, 3 Aug, 73

८९. विश्व संस्कृत सम्मेलन—प्रबुद्ध जीवन, १९७३

९०. जैनधर्मनो प्राण—वही, १-१०-७३

९१. सरकार अने धार्मिक शिक्षण—जैनप्रकाश, ८ नवम्बर, १९७४

९२. जैनधर्मना केन्द्रवर्ती सिद्धान्तो— अहिंसा, अपरिग्रह अने अनेकांत जनसत्ता, १३-११-७४

९३. जैन महाभारत कथा: साहित्य
जैन महाभारत कथा: आस्वाद
महाभारत सेमिनार, गुजरात युनि० १८-५-७५ (अप्रकाशित)

९४. बौद्धयोगाचार संमत विज्ञानाद्वैत, संगोष्ठि, १-६-७७ नुं व्याख्यान (अप्रकाशित)

९५. पेरिसनो प्रवास—ईंट अने इमारत, गुजरात समाचार, २८-७-७७

९६. पेरिसनी संस्कृत परिषद मां—परख, अगस्त १९७७

९७. भगवान महावीरनां प्राचीन वर्णको—संप्रसाद:, श्री चतुर्भुज पूजरा अभिनन्दन ग्रन्थ १९७७

९८. सदाचार: सामाजिक अने वैयक्तिक—जनकल्याण, सदाचार विशेषांक

९९. जैनधर्म अने शैवधर्म—अप्रकाशित

१००. सन्मति नुं संपादन—परख १९७६

१०१. विद्यानिष्ठ समभाव पं० बेचरदास—प्रबुद्ध जीवन १६-१-८३

१०२. विद्या अने सेवानिष्ठ अमनलाल—प्रबुद्ध जीवन १-१-८२

१०३. अंतरिक्ष तीर्थ, जिन सन्देश ७-१-८२

१०४. संप्रसाद, (संप्रसाद, अगस्त ७८)

१०५. जैन जीवन प्रबुद्ध कुमार—(प्र० जीवन, १-११-७८)

१०६. पूनानी वा संगोष्ठी, भाषा विमर्श जुलाई ७९

१०७. आचार्य तुलसी द्वारा नवो प्रयोगो—प्रबुद्ध जीवन १-१२-८०

१०८. तीर्थंकर ऋषभदेव—धर्मलोक, २४-१-८४

१०९. भगवानमहावीरना गणधरवाद—धर्मलोक, १०-९-८०

निबंध (हिन्दी)

स्त्रियों को उनके अधिकार दो	:	जैन प्रकाश ४—६—'२९.
जैन संस्कृति का संदेश	:	विश्ववाणी, सितंबर, '४२.
जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन	:	प्रेमी अभिनंदन-ग्रंथ, अक्टूबर '४६.

भगवान महावीर और महात्मा गांधी	:	तरुण जैन, सितंबर '४७.
संन्यासमार्ग—उत्थान, पतन और परिवर्तन	:	तरुण जैन, जनवरी '४८ मूल गु. 'जैन' २३—९—'४७
आधुनिक गुजराती साहित्य का दिग्दर्शन	:	जनवाणी, मई '४८
प्राणशक्ति कहाँ गई	:	तरुण जैन, मई–जून '४८
क्षमाश्रमण गांधी जी (गुज. से अनु.)	:	नया समाज, अगस्त '४८
भक्तिमार्ग और जैन दर्शन	:	जनवाणी, अप्रैल '४९
श्रमण महावीर का संघ	:	श्रमण, जुलाई '४९
धर्मका पुनरुद्धार और संस्कृति का नवनिर्माण	:	श्रमण, जन. '५०, नया समाज, अक्टू. '४९
बनारस में एक सांस्कृतिक अनुष्ठान	:	श्रमण, १. १. नवम्बर '४९
जैनधर्म और जातिवाद	:	श्रमण, १. २. दिसम्बर '४९
बालदीक्षा मत दो	:	तरुण, दिसंबर, '४९
दक्षिण हिन्दुस्तान और जैनधर्म	:	श्रमण, मार्च '५०
बौद्ध धर्म	:	श्रमण १. ७ मई '५०
चातुर्मास	:	श्रमण, अगस्त '५०
जैन और हिन्दू	:	श्रमण १. ११ सितम्बर '५०
भ. महावीर और मार्क्सवाद	:	श्रमण, अक्टूबर '५०
'न्यायसंपन्नविभवः'	:	श्रमण २. १ नवम्बर '५०
आत्महित बनाम परहित	:	श्रमण २. ३ जनवरी '५१
'मुझे शीघ्र भूल जाना'	:	तरुण, फरवरी-मार्च '५१
संन्यासमार्ग और महावीर	:	'आज' १—४—'५१, श्रमण, मार्च '५३
बनारस से जैनों का संबंध	:	श्रमण २. ७ मई '५१
भक्तिमार्ग का सिंहावलोकन	:	श्रमण २. ६ जुलाई '५१
साधुसमाज और निवृत्ति	:	श्रमण ३. २ दिसम्बर '५१
श्रद्धा का क्षेत्र	:	श्रमण ३. ५ मार्च '५२
मार्गदर्शक महावीर	:	श्रमण ३. ६ अप्रैल '५२
सादडी के दो सम्मेलन	:	श्रमण ३. ७–८ मई-जून '५२
श्रद्धा का क्षेत्र	:	श्रमण, मार्च '५२
क्या मैं जैन हूँ	:	श्रमण ३. १० अगस्त '५२
गुजरात के लोक कवि मेघाणी	:	जनपद '५२

'असंयत जीव का जीना चाहना राग है' : श्रमण ४. ३ जनवरी '५३
भौतिकता और अध्यात्म का समन्वय : श्रमण ४. ६ अप्रैल '५३
व्यक्तिनिष्ठा का पाप : तरुण १५-५-'५३
मलधारी अभयदेव और हेमचन्द्राचार्य : श्रमण ४. १२ अक्टूबर '५३
भगवान महावीर : जैन जगत, अप्रैल-मई '५३
सिद्धिविनिश्चय और अकलंक : जैन संदेश, श्रमण ५. ४ फरवरी '५४
भ० महावीर के गणधर : श्रमण ५. ५ मार्च ५४
उपशमन का आध्यात्मिक पर्व : श्रमण ५. ११ सितम्बर ५४
जैन साहित्य के इतिहास की प्रगति : श्रमण ६. २ दिसम्बर ५४
भ. महावीर का मार्ग : श्रमण ६. ६-७ अप्रैल-मई '५५
एकान्त पाप और पुण्य (गुज० से अनुवाद) : जैन भारती ५–१०–'५५,
श्रमण ६. १२ अक्टूबर '५५
बाल दीक्षा : तरुण १–२–'५६
महावीर भूले : श्रमण अप्रैल ७, ६ '५६
प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी : राष्ट्रभारती ६. १० अक्टूबर '५६
आचार्य मल्लवादी का नयचक्र : श्रीमद्राजेन्द्रसूरि स्मारकग्रन्थ '५७
आगम झूठे हैं क्या ? : श्रमण ८. ६ अप्रैल '५७
आचरांगसूत्र : श्रमण अक्टूबर '५७ से अगस्त '५८ तक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम आदि विद्यासंस्थाएं : प्रज्ञा '५८, श्रमण ११. २ दिसम्बर '५६
श्रमण-ब्राह्मण : जैनयुग, अप्रैल, '५६
अकलंक, अनुयोग, अभिसमय,
अवधिज्ञान, आजीविक : हिन्दी विश्व कोष '६०
दर्शन और जीवन (गुज. से हिन्दी अनु.) : विजयानंद, नवम्बर '६१ से फरवरी '६२ तक
आचार्य श्री आत्माराम जी का मार्ग : जैन प्रकाश १५–२–६२
संथारा आत्महत्या नहीं है : श्रमण, अक्टूबर '६२
लोकाशाह और उनकी विचारधारा : गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रंथ '६४
भगवान बुद्ध और भगवान महावीर : श्रमण, फरवरी '६५ (गुज० से अनु०)
विजयानंद, मार्च '६५
लोकाशाह के मतकी दो पोथियाँ : मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ '६५
जैनदर्शन का आदिकाल : पू० पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ

संघभेद के पाप के भागी न बनें	:	जैन प्रकाश २२–४–'६६, (गुज० से अनुवाद)
जैन गुणस्थान और बोधिचर्याभूमि	:	वाराणसेय सं० विश्वविद्यालय के बौद्धयोग और अन्य भारतीय साधनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन–सेमिनार का निबंध २१-२-'७१ संबोधि १, २
आचारांग का श्रमणमार्ग	:	मगध युनि. बोधगया की संगोष्ठी—Contribution of Prakrit and Pali to Indian Culture, 26–2–'71
निर्गन्थ का चातुर्याम धर्म–'सर्ववारिवारितो' का अर्थ	:	जर्नल-गंगानाथ झा केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ जुलाई-अक्टूबर '७१
भगवान महावीर की अहिंसा	:	उदयपुर युनि० सेमिनार २–६–'७३
भगवान महावीर का मार्ग	:	जैन संदेश, २७–१२–'७३
भगवान महावीर के प्राचीन वर्णक	:	मुनिद्वय अभिनंदन ग्रंथ '७३
भगवान महावीर–समताधर्म के प्ररूपक	:	श्रमण, नवम्बर-दिसम्बर '७४. भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ लखनउ ३–११–'७५
भगवान महावीर का धर्म–सामायिक	:	'वीर परिनिर्वाण' १. १० मार्च '७५
निश्चय और व्यवहार-पुण्य और पाप	:	गुज० से अनु० श्रमण, अगस्त, '७४
भगवान महावीर की अहिंसा	:	Seminar on–"Contribution of Jainism to Indian Culture", Ed. Dr. R. C. Dwivedi; Motilal Banarsidass, Delhi,75
सत्तरहवीं सदी के स्थानकवासी जैन कवि,	:	अभिनंदन ग्रंथ १९८६
जैन पत्र-पत्रिकायें	:	तीर्थंकर जुलाई ७८,
पू० सहजानन्द द्वारा दी गई अनुपमदार्शनिक विद्या की विरासत,	:	सहजानन्द, अक्टूबर १९८८
जैनधर्म	:	भारत सर० द्वारा प्रकाशित विश्व के धर्म में १९८८

ENGLISH

Lord Mahāvīra's Anudhārmika Conduct—जैनयुग, मार्च-अप्रैल, ६०

Some of the Common features in the life-stories of the Buddha and Mahāvīra.
—Proceedings of AIOC, Gauhati 1965 :

—Study of Jainism in Indian Universities.

Seminar on the Study of Religion in Indian Universities.

—Bengalore 4-9-67, हिन्दी-जैन संदेश १६-११-'६७; गुज० जैन०

Dharmakīrti—His Life and Works

—For Govt. of India, 1968 (अप्रकाशित)

Prajñāpanā And Śaṭkhanḍāgama—J. O. I. Baroda, Vol. 19, 1969.

Jaina Theory and Practice of Non-violence, 'संबोधि' २. १.

—Written for Seminar on Non-violence, Delhi University, 11-10-'69.

Study of Titthogālia—भारतीय पुरातत्त्व-मुनि जिनविजय अभिनंदन ग्रन्थ, '७१.

Though an ethical system, Jainism is a religion—Punjabi Uni. Patiala; seminar on 'Approaches to the Study of religion—Jan. '71 (अप्रकाशित)

Jaina Catagories in Sūtrakṛtāṅga–Bom. Uni. Seminar on Prakrit Studies, Bombay, 27 to 30 Oct., '71.

Epithets of Lord Mahavira in Early Jaina Canons, Proce. AIOC.—Ujjain, 1972, संबोधि १. ४.

Sources of Pancāstikāya in jaina Canon,—Seminar on Life and Works of Kundakundācārya, Mysore Uni. 3-10-'77 (अप्रकाशित).

Tīrthankara Mahāvīra—J. O. I. Baroda, Vol. 24 p. 11, 1974.

Nothing is dead in Indian Philosophy : Seminar on 'What is living and what is dead in Indian Philosophy,'—Andhra Uni. 6-10-'75 (अप्रकाशित).

Jaina Concept of Deity—Aspects of Jaina Art, '77.

A Note on Lord Mahavira's Clan—Pro. Prakrit Seminar, Gujarat University, L. D. S. 1978.

Story of Bharata and Bāhubali-Sambodhi 6. 3-4, '77-'78.

(Read at the International Sanskrit Canference at Paris, 77).

Kahāvali, (Strassbarg में जैनागम गोष्ठी June 1891 The word Puja and its meaning —Prof. C. Caillat Felicitation Volume 1988

प्रस्तावना

प्रस्तावना—'जैन धर्मनो प्राण' नी प्रस्तावना १९६२ ।

प्रस्तावना—'जैन' वर्ष ६१ अंक : ३३-३४, ता० २७-८-६२

प्रस्तावना—महेन्द्रकुमारसंपादित षड्दर्शनसमुच्चय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

प्रस्तावना—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास १९६६

प्रस्तावना—प्रमाणमीमांसा (हिन्दी अनुवाद)

प्रस्तावना—दशवैकालिकचूर्णि—सं० मुनिश्री पुण्यविजयजी, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, १९७३

प्रस्तावना—भ० महावीर-एक अनुशीलन (मूल्यांकन) १९७४

ग्रन्थावलोकन

१. ज्ञानोदय समालोचना, श्रमण १-५, मार्च ५०
२. कल्याण—हिन्दू संस्कृति अंक समालोचना, श्रमण १-८, जून ५०
३. जैन दृष्टिए योग (मो० गि० कापडिया) समालोचना, श्रमण ५-१० अगस्त ५४
४. महावीर वाणी—समालोचना, प्रबुद्ध जीवन, १५-५-५५
५. महावीर का अन्तस्तल (सत्यभक्त)—समालोचना, प्रबुद्ध जीवन, १५-८-५५
६. योगशतक सं० इन्द्रकला झवेरी—समालोचना, प्रबुद्ध जीवन, १-८-५५
७. निग्रंथ भगवान महावीर (जयभिक्खु)—समालोचना, प्रबुद्ध जीवन, १-९-५६
८. आचार्य श्री विजय वल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ—समालोचना, प्रबुद्ध जीवन, १-९-५६
९. श्री मोरारजी भाई देसाई (अंबेलाल जोशी)—समालोचना, प्रबुद्ध जीवन, १-७-६०
१०. भारतनो लोकधर्म (डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल)—समालोचना, ग्रन्थ, जून ६५
11. Padmananda-Pancavimsati (Review)—J. O. I. Baroda Vol.12, P. 461, 1963
12. Atmanusasana (Review)—J. O. I. Vol. 12, P. 460, 1963
13. Pras'astapadabhasya (Review)—J. O. I. Baroda, Vol. 15, P. 108, 1965.
१४. विनोबानुं अध्यात्मदर्शन—विनोबाकृत 'अध्यात्मदर्शन' नुं अवलोकन ग्रन्थ दि० १९६५
15. Critique of Indian Realism (Review)—Journal of B. O. I. Baroda. Vo l. 16, P. 389, June 1967
16. Society at the time of Buddha (Review)—J. O. I. Baroda Vol. 18, P. 265 1969
१७. न्याय अने वैशेषिक दर्शनोनी समीक्षा—डॉ० नगीन साहना न्याय-वैशेषिक ग्रंथनी समालोचना, ग्रंथ, अक्टूबर, १९७४
१८ सांप्रदायिकता से ऊपर उठो–लेखक पं० उदय जैन—श्री जैन शिक्षण संघ, कानोड १९७६
१९. स्वाध्याय–ये मथाणे गंथोनां अवलोकनो—संबोधि ४, ३-४, १९७५-'७६, ५–१ अप्रैल ७६ ६–१-२-१९७७, ७–३-४ १९७७-७८
२०. "आयारो" की समालोचना, संबोधि ३-४-१९७७-७८

विद्वान व्यक्तिओ विषे नोंध (विद्वान व्यक्तियों के विषय में नोट)

१. अहिंसानो विजय (गांधीजी विशे मृत्युनोंध)—प्रबुद्ध जीवन, १५-२-४८
२ अहिंसा का विजय – तरुण जैन, फरवरी ४८ (मूल प्रबुद्ध जीवनमां)
३. स्वर्गीय मोहनलाल झवेरी – श्रमण २ १, नवम्बर ५०
४. जंगम आगम् संशोधन मंदिर—श्रमण २ ४, फरवरी ५१
५. मुझे शीघ्र भूल जाना (बर्नार्ड शा)—तरुण, फरवरी–मार्च ५१
६. विद्यामूर्ति पं० सुखलालजी – कुमार, १९५१
७. अभिनन्दन (डॉ० टाटिया)—श्रमण २ ७ मई ५१
८. विद्यामूर्ति पं० सुखलालजी —तरुण, मार्च ५२
९. अमर यशोविजयजी —यशोविजय स्मृति ग्रन्थ १९५७
१०. आगम प्रकाशन और आचार्य तुलसी—श्रमण १० ५, मार्च ५९
11. Dr. Mahendrakumar Shastri—(Obituary) J. O. I. Baroda, Vol. 8, P. 449, June 1959
१२. शा का संदेश–मुझे भूल जाओ— श्रमण, मई-जून ५९
१३. साहित्य तपस्वी स्व० प्रेमीजी—प्रबुद्ध जीवन, १६-२-६०
१४. स्व० भैरोदानजी सेठिया— प्रबुद्ध जीवन, १-१०-६१
हिन्दी अनु० जैन प्रकाश, १४-१०-६१
१५. अनगारिक धर्मपाल—प्रबुद्ध जीवन, १-११-६५
१६. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल —धर्म संदेश, १८ ८-६६
१७. मानवता पोषक जयभिक्खु—श्री जयभिक्खु षष्टिपुर्ति स्मरणिका १९६८
१८. ज्ञान तपस्वी मुनि श्री पुण्यविजयजी —ज्ञानांजलि १९६९
१९. स्व० श्री बालाभाई वीरचंद देसाई (जय भिक्खु) प्रबुद्ध जीवन १-१-७०
२०. श्री परमानंदभाई विषे शु कहेवु — प्रबुद्ध जीवन १६-५-७१
२१. विद्यानिष्ठ सौजन्यमूर्ति डा० हीरालाल जैन— 'जैनजगत' मई ७१ (परिचय)
२२. आगमप्रभाकर स्व० मुनिश्री पुण्यविजयजी—प्रबुद्ध जीवन, १-७ ७१
आत्मानंद प्रकाश, मुनिश्री पुण्यविजयजी श्रद्धांजलि विशेषांक, १९७४
२३. विद्यानिष्ठ डॉ० शाह— दृष्टि १०-१-७२
24. Āgamaprabhakara Muni Punyavijayji—J. V. V. R. I. Vol. X 1972
२५. जूना-नवाना-सेतु (श्री चीमनभाई शाह)—श्री चीमनलाल चकुभाई शाह सम्मान समारंभ, स्मरणिका २१-३-७२

२६. विद्यानिष्ठ श्री करुणाशंकर मास्टर—मधुपर्क १९७३

२७. विद्यानिष्ठ सौजन्यमूर्ति डा० हीरालाल जैन, प्रबुद्ध जीवन, १-४-७३

२८. डॉ० हीरालालको यथार्थ श्रद्धांजलि—'सन्मति' अक्तूबर-नवम्बर, ७२

२९. सत्यनिष्ठ डॉ० हीरालाल जी,
Vaishali Institute Research Bulletin No. 2, Dr. Hiralal Jaina Memorial Number 2, 1974.

३० तेरापंथने नवी दिशा देनार आचार्य तुलसी—जनसत्ता, २३-१२-७५

३१. आचार्य मुनि जिनविजयजी—ग्रंथ, जून १९७६

३२. विद्यानिष्ठ राष्ट्रभक्त आचार्य जिनविजयजी—प्रबुद्ध जीवन, १६-६-७६

३३. विद्याव्यासंगी श्री नाहटाजी—अगरचन्द नाहटा अभिनंदन ग्रन्थ, बीकानेर, ७६

३४. कवि नहीं पण संत शिष्य—कविवर्य श्री नानचंदजी जन्म शताब्दि स्मृति ग्रंथ, १९७७

संपादन

1. Sanmati-Tarka (Eng. edition)—Jaina Svetambar Education Board, Bombay, 1939.
२. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, नं० २०, बंबई, ४९
३. धर्मोत्तर प्रदीप - के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना, १९५५, १९७१
४. प्रमाण वार्तिक—बनारस युनि० १९५९
५. श्री लोकाशाहनी एक कृति–(लुंकाना सद्दहिया अट्ठावन बोल) स्वाध्याय २ १, नवम्बर ६४
६. रत्नाकरावतारिका १-२—ला० द० सिरीज, १९६५-६८
७. विशेषावश्यकभाष्य १-२, १९६६-६८
8. Dictionary of Prakrit Proper Names, Vol. 1-2, 1970-72.
९. भगवान महावीर–आचार्य श्री तुलसी, अहमदाबाद १९७४

सहसंपादन

१. प्रमाणमीमांसा–१९३९ पं० सुखलालजी के साथ
ज्ञानबिन्दु-१९४० ,,
तर्कभाषा–१९३९ ,,
२. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी)–१९३९

३. पत्रिका संपादन–मई-जुलाई ५२

श्रमण

संबोधि

Journal of Indian Philosophy

(Member Board of Consulting Editors.)

४. दर्शन अने चिंतन–१-२, १९५७

दर्शन और चिंतन–५७

५. श्री राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ–५८

६. पाइयसद्दमहण्णवो (द्वितीय आवृत्ति)-डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ

७. गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रंथ–१९६४

८. मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ–६५

९. जैन साहित्यका बृहद् इतिहास भा०–१ २, ६२-७३

१०. जैन धर्मनो प्राण—पं० सुखलाल जी १९६२

११. नंदी—अनुयोगद्वार सूत्र, ६८

१२. श्री महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रन्थ, १६९८

१३. प्रज्ञापनासूत्र—भाग १, १९६९

,, भाग २, १९७१

१४. मुनिश्री पुण्यविजयजी श्रद्धांजलि विशेषांक—आत्मानन्द प्रकाश, १९७४

१५. आचार्य श्री आनन्द ऋषि अभिनंदन ग्रन्थ, १९७५

१६. पूज्य गुरुदेव कविवर्य पं० नानचंद्रजी महाराज जन्मशताब्दि स्मृति ग्रंथ (२०३३), १९७७

१७. संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोशकी परंपरा—महामनस्वी आ० कालू गणि स्मृति ग्रन्थ, छापर १९७७

व्याख्यान

१. जैनधर्म मां विश्वधर्म अने एवां तत्त्वो छे खरां ?—पर्युषण पर्वनी व्याख्यानमाला १९३७

२. जैन अध्ययन की प्रगति—ALOC, Delhi प्राकृत और जैन विभाग के अध्यक्ष पद से व्याख्यान, २८-१२-५७

—जैन सं० सं० मंडल पत्रिका—३३, ५८

P. e. A. I. O. C. Delhi १९५७; श्रमण, मार्च ५८

३. धर्मनी बे जूनी व्याख्या (प्रार्थना समाजमां २१-२-६०)—प्रगट प्रबुद्ध जीवन, १६-७-६०

४. अनेकांतवाद पयुर्षणा व्याख्यानमालानां मुंबई, १९६२—प्रगट प्रबुद्ध जीवन १-३-६३

५ भारतीय संस्कृति मां गुजरातनु' स्थान—(लायन्स क्लब मां व्याख्यान ४-६-६३) प्रगट प्रबुद्ध जीवन

६. नयचक्र—आत्मानंद प्रकाश मणि महोत्सव विशेषांक, १९६७

७. जैन धर्म और संस्कृत भाषा के अध्ययन की स्थिति (जैन सन्देश ११, १९६७) बंगलोर में मूल अंग्रेजी में दिये व्याख्यान का हिन्दी गुजराती जैन, ३०-५-६९

8. Development of Jaina Philosophy
Seminar for Indische
Philogie, Freie University at,
Berlin. 12-5-69 (अप्रकाशित)

९ कर्मसिद्धान्त –(पर्युषण व्याख्यानमाला ९-९-६९) प्रगट : प्रबुद्ध जीवन १-४-७०

10. Life of Lord Mahavira,
Bom. Uni. Seminar on Prakrit Studies 27-30, Oct. 1971.

11. Prohibition and Indian Culture
This was a lecture at All India Prohibition worker's Training Camp, Ahmedabad on 6-2-71 to 12-2-71.
संबोधि २-२

१२. भ० महावीरनो जीवन संदेश—पर्युषण व्याख्यानमाला, मुंबई, १९७२, प्रगट प्रबुद्ध जीवन १६-१०-७२

१३. भारतीय संस्कृतिमां जैन-बौद्ध धर्मनु' प्रदान—(गुजरात विद्यापीठमां व्याख्यान) विद्यापीठ जुलाई-अगस्त १९७२

१४. जैन दर्शन अने जीवन साधना (पर्यु'षण व्याख्यानमाला १९७३)—प्रगट : प्रबुद्ध जीवन, १६-१०-७३, १-११-७३

१५. शून्यवाद अने स्याद्वाद (दर्शन परिषदनु' उद्घाटन व्याख्यान, अहमदाबाद, २७-१२-७३ —आचार्य प्रवर आनंद ऋषि अभिनंदन ग्रंथ १९७५

१६. आराधना (वलसाडमां चुनीलाल वोरा आराधना हालनु' उद्घाटन व्याख्यान)—प्रगट : प्रबुद्धजीवन १-८-७४

१७. संस्कृत अध्ययन (संस्कृत दिननी उजवणी निमित्ते भाषा भवन)—गु० युनि० मां व्याख्यान ता० ५-९-७४, अप्रकाशित

१८. जैनोनी इतिहास दृष्टि—गु० युनि० इतिहास विभागमां, ता० १३-२-७४ नु' व्याख्यान (अप्रकाशित)

१९. भारतीय संस्कृति—युनि० व्याख्यान, लोकभारती, सौराष्ट्र युनि० १९७५ (अप्रकाशित)

२०. भ० महावीरका उपदेश और आधुनिक समाज, 'आजके सन्दर्भमें भ० महावीरके विचारों की संगति'—संगोष्ठीमें, उदयपुर उद्घाटन व्याख्यान २-१०-७६ (अप्रकाशित)

२१ गुजराती साहित्य परिषद, १९७६ ना पोरबंदरना अधिवेशन

संशोधन विभागना प्रमुखनुं व्याख्यान

२२. जैन साहित्य समारोह–तत्त्वज्ञान विभागना प्रमुखनुं व्याख्यान—महावीर जैन विद्यालय हीरक महोत्सव प्रसंगे, २२-२३ जनवरी १९७७
प्र० महावीर जैन विद्यालय ६२ मो वार्षिक रिपोर्ट, ७६-७७

२३. शून्यवाद संगोष्ठी व्याख्यान, संबोधि, जनवरी ७७

२४. बौद्धसम्मत विज्ञानाद्वैत—संगोष्ठी में ता० ४-५-७७ (अप्रकाशित)

२५. जैनागम साहित्य—जैनदर्शनका उद्भव और विकास, डॉ० ए० एन० उपाध्ये स्मारक व्याख्यानमाला, शिवाजी युनि०, कोल्हापुर ता० ७, ८-१०-७७ (अप्रकाशित)

२६ डॉ० ए० एन० उपाध्ये चित्रना अनावरण प्रसंगे राजाराम कालेज, कोल्हापुर, ता० ८-१०-७७ (मौखिक)

२७. हिन्दू, जैन-बौद्ध धर्मनुं तत्त्वज्ञान—बोटादकर कालेज, बोटादमा युनि० व्याख्यान २५-१-७८ (अप्रकाशित)

२८. जैनधर्मनुं प्राचीन स्वरूप—पाटणनी आर्टस अने सायन्स कालेज मां युनिवर्सिटी व्याख्यान ३-२-१९७८ (अप्रकाशित)

२९. संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय विजटिंग प्रोफेसर तरीकेनां व्याख्यानो

(१) जैनधर्मका उद्भव	१३-२-७८	
(२) जैनधर्म और बौद्धधर्म	१७-२-७८	
(३) जैनागम साहित्य	१८-२-७८	
(४) जैनदर्शनका प्रारंभ	२०-२-७८	
(५) जैनदर्शनका विकास	२१-२-७८	
(६) जैन-आचार	२५-२-७८	
(७) जैन-साहित्य	२६-२-७८	(मौखिक)

आकाशवाणी वार्तालाप

१. वेदोमां जीविका, उद्योग अने ज्ञान विज्ञान—५ नवम्बर ६५ (अप्रकाशित)

२. आदिपुराण—१-९-६६ (अप्रकाशित)

३. तिबेट अने भारतीय संस्कृत—२१-९-६९ (अप्रकाशित)

४. रणमा एक रात रंग रंग वादलिया—७-३-७१

५. भगवान महावीर अने अहिंसा—३-४-७४ (अप्रकाशित)

६. स्याद्वाद—१९-९-७४ (अप्रकाशित)

७. जैन स्थापत्य–कलातत्त्वनी दृष्टि में—(अप्रकाशित)

८. भगवान महावीरनो गणधरवाद—२३-४-७५ (अप्रकाशित)

९. विसर्जन–अमृतधारा—आकाशवाणी १०-४-७५
गुरु–अमृतधारा—आकाशवाणी ११-४-७५
ईश्वर परमात्मा–अमृतधारा – आकाशवाणी १२-४-७५ (अप्रकाशित)

10. Jainism—Its place in Indian Thought.
आकाशवाणी, मुंबई ११-७-७५ (अप्रकाशित)

११. जैनधर्म का भारतीय विचारधारा पर प्रभाव—'सुधाबिंदु', नवम्बर '७५

१२. न्यायसंपन्न वैभव – अमृतधारा २५-२-७६ (अप्रकाशित)

१३. भारतीय संस्कृतिनो स्रोत—अनेकतामां एकता ४-११-७७ (अप्रकाशित)

●

सौजन्यमूर्ति पं० मालवणिया का बहुमान

डा० ईश्वर लाल देव
अनुवादक—**डा० रविशंकर मिश्र**

गुजरात के लोगों की संस्कृत में रुचि है ? गुजरात में संस्कृत का कोई विद्वान् हो सकता है ? संस्कृत के ज्ञान की वृद्धि अधिकांशतः उत्तर भारत में, थोड़ी बंगाल में, थोड़ी महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में हुई, परन्तु इस विषय में गुजरात का नाम भी ले लेते हैं, 'गूर्जराणां मुखे भ्रष्टः, शिवोऽपि शवामगतः—गुजरात के लोगों का मुख भ्रष्ट है, वे लोग शिव को शव बना डालते हैं—ऐसा आक्षेप प्राचीन काल में गुजरात के लोगों पर था, गुजरात के ब्राह्मण भी संस्कृतज्ञ बहुत कम समझे जाते थे, इसलिए वे उत्तर भारत के ब्राह्मणों की अपेक्षा बहुत निम्न माने जाते थे, उत्तर भारत के इन ब्राह्मणों में से कुछ ब्राह्मणों को यहाँ गुजरात में आने के लिए सोलंकी राजाओं ने तैयार किया और इस प्रकार उत्तर भारत के जो ब्राह्मण गुजरात में आये, वे औदीच्य ब्राह्मण कहलाये, उत्तर भारत के ये ब्राह्मण पहले तो आने को तैयार नहीं थे, परन्तु सोलंकी राजाओं ने इस विषय में युक्ति से काम लिया, इन्होंने इन ब्राह्मण गुरुओं की पत्नियों को स्वर्णदान दिया तथा गुजरात में उन्हें भूमिदान देने को भी कहा। इस प्रकार इन ब्राह्मण-पत्नियों के आग्रह पर उत्तर भारत के ये ब्राह्मण गुजरात आये, आचार्य हेमचन्द्र ने 'सिद्ध हैम'' नामक संस्कृत व्याकरण रचा। कलिकाल सर्वज्ञ इन्होंने उस काल के समग्र ज्ञान के निष्कर्ष रूप संस्कृत में अन्य भी अनेक ग्रंथ लिखे, जिससे काश्मीर व अवन्ती ने गुजरात की संस्कृत विषयक विद्वत्ता को थोड़ा बहुत स्वीकार किया।

अर्वाचीन समय में मणिलाल नभुभाई संस्कृत, वेदान्त और योग के एक प्रखर विद्वान् गिने जाते थे, स्वामी विवेकानन्द इनसे मिलने गुजरात में आये थे। जिस धर्मपरिषद् में स्वामी विवेकानन्द अमरीका गये थे, उसमें जाने के लिए इन्हें निमन्त्रण मिला था, परन्तु संयोगवशात् (अनारोग्य और द्रव्य दुर्लभता के कारण) ये वहाँ नहीं जा सके। 'लाइट आफ् एशिया' नामक भगवान बुद्ध विषयक इस अंग्रेजी महाकाव्य के सर्जक एडविन आर्नाल्ड स्वयं इनके पास भारतीय धर्म परम्परा के विषय में जानकारी प्राप्त करने हेतु आये थे और नभुभाई ने उन्हें अपने यहाँ पाटले पर बिठाकर खिलाया था। मणिलाल नभुभाई के पश्चात् आनन्दशंकर ने गुजरात के संस्कृत विषयक विद्वत्ता के गौरव को अक्षुण्ण रखा, उनको काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का कुलपति चुना गया। आजकल कुलपति पद हेतु विद्वत्ता बाधक नहीं होती है, कुलपति को सूक्ष्म यन्त्र से अच्छी तरह जाँच-परख लिया जाता है, जिससे अमुक मर्यादा से कम विद्वत्ता न हो इसकी पूरी जानकारी की जा सके। आनन्दशंकर ने गुजरात की संस्कृत विद्वत्ता का नाम रोशन किया, इनके कुलपति के रूप में चुनाव हेतु गाँधी जी ने पं० मालवीय जी से पेशकश कर थोड़ा सा भाग लिया था। अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य आनन्दशंकर ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय हेतु डा० राधाकृष्णन् की पेशकश की थी। आचार्य आनन्द-

शंकर के पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पं० सुखलाल जी ने संस्कृत तथा दर्शन के प्रखर पण्डित के रूप में अपनी विद्वत्ता की परम्परा जारी रखी। पं० सुखलाल जी के पश्चात् उनके पट्टशिष्य सभापंडित श्री दलसुखभाइ मालवणिया ने संस्कृत-प्राकृत के ज्ञान की ज्योति जलाये रखी। इतने वर्ष बीतने के बाद अब भारत सरकार को उनका सम्मान करने को सूझा है, यह बहुत देर बाद सूझा है, फिर भी आनन्ददायक तो है ही, गुजरात का यह गौरव है कि संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में भारत सरकार ने इनको पुरस्कार प्रदान किया है। इस पुरस्कार में ताम्रपत्र के साथ पाँच हजार रुपये वार्षिक पेन्शन समाविष्ट है। पेन्शन तो ठीक ही है, परन्तु सबसे अधिक गौरव का विषय यह है कि संस्कृत ज्ञान के नक्शे में अब गुजरात का नाम भी अंकित हो गया है, श्री दलसुखभाई मालवणिया इस अभिनन्दन तथा अभिवन्दन के सच्चे अधिकारी हैं। वर्तमान में जहाँ संस्कृत के ज्ञान की महिमा निरन्तर क्षीण होती जा रही है, वहाँ संस्कृत के ज्ञान की उस परम्परा को जीवित रखने में उनका विशेष महत्त्व रहा है।

सौराष्ट्र के एक अनाथाश्रम में पला यह बालक अहमदाबाद के एल० डी० इन्स्टीट्यूट ऑफ् इण्डोलोजी के निदेशक के पद पर पहुँच सका है, इस हेतु वे अपनी विद्या-साधना और पुरुषार्थ के आभारी हैं। श्री दलसुखभाई का मूल निवास-स्थान सौराष्ट्र के सुरेन्द्रनगर जिले में आने वाला सायला नामक गाँव है। इनके पूर्व वंशज मालवण में रहते थे, इसी कारण ये मालवणिया कहलाये। ये जाति से भावसार तथा धर्म से स्थानकवासी जैन हैं। सन् १९१० में इन्होंने जन्म ग्रहण किया, ये दस वर्ष की अवस्था के ही थे कि इनके पिताश्री डाह्याभाई का स्वर्गवास हो गया। सुरेन्द्रनगर के अनाथाश्रम में रहते हुए इन्होंने अंग्रेजी की ५वीं कक्षा तक अध्ययन किया। श्री स्थानकवासी जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स ने इनको जैन ट्रेनिंग कालेज में अध्ययन हेतु बीकानेर भेजा। इन्होंने अहमदाबाद में पण्डित बेचरदास जी के पास आगम-ग्रन्थों का अध्ययन किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्ति निकेतन में इन्होंने पालि भाषा और बौद्ध धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। कुछ समय तक इन्होंने बम्बई के 'जैन प्रकाश' के कार्यालय में कार्य किया। सन् १९३४ में पण्डित सुखलाल जी से इनका परिचय हुआ। पण्डित सुखलाल जी के वाचक के रूप में बनारस में रहते हुए ये पण्डित जी के शिष्य बने और जब सन् १९४४ में पण्डित सुखलाल जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सेवा-निवृत्त हुये, तब उनके स्थान पर ये जैन चेयर के प्रोफेसर बने। बाद में श्री कस्तूरभाई लालभाई के प्रयासों से स्थापित एल० डी० इन्स्टीट्यूट ऑफ् इण्डोलोजी, अहमदाबाद के निदेशक के रूप में नियुक्त हुए। सन् १९७६ तक सत्रह वर्ष इन्होंने इस संस्था में निदेशक के रूप में कार्य किया, यह विद्यामन्दिर श्री कस्तूरभाई लालभाई के आर्थिक पुरुषार्थ तथा दूरदर्शिता के कारण ही बन सका परन्तु सच्चे अर्थ में विद्यामन्दिर, श्री दलसुखभाई के कारण ही बन सका। सन् १९७६ में इस संस्था के निदेशक पद से सेवा-निवृत्त हुए, फिर भी उस संस्था के सलाहकार एवं मानद प्राध्यापक के रूप में इस संस्था को इनकी सेवाओं का लाभ मिलता रहा है। उसी मध्य सन् १९६८ में ये कनाडा के टोरेण्टो विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन और विशेषकर बौद्ध दर्शन के अध्यापन हेतु डेढ़ वर्ष के लिए गये थे।

जैन दर्शन और संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों का उनका अभ्यास गहन एवं तलस्पर्शी है, इनकी रुचि विशेष रूप से दार्शनिक साहित्य की ओर रही है। जैन दर्शन, जैन आगम, भगवान्

महावीर, हिन्दू धर्म आदि विषयों पर इनके दर्जनों गुजराती/हिन्दी ग्रंथ इनके दार्शनिक साहित्य के परिशीलन के निष्कर्ष रूप हैं। जैन धर्म, दर्शन तथा हिन्दू धर्म से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर अलग-अलग समय में इन्होंने सौ से भी अधिक निबन्ध लिखे हैं, इनके हिन्दी और अंग्रेजी में दर्शनशास्त्र विषय से सम्बन्धित निबन्ध विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए हैं। पेरिस और बर्लिन में आयोजित गोष्ठियों में इन्होंने भारतीय तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित विषयों पर अंग्रेजी में व्याख्यान दिये हैं। इतने प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उनके सौम्य व्यक्तित्व में उनकी सरलता, निराभिमानवृत्ति तथा सहृदयता सहजतया प्रकाशित हो रही हैं। इनका पाण्डित्य इनके सौजन्य से सुशोभित हो रहा है और इनका सौजन्य इनके पाण्डित्य से सुशोभित हो रहा है।

●

('प्रबुद्ध जीवन' से साभार अनूदित)

आचारांग एवं कल्पसूत्र में वर्णित महावीर चरित्रों का विश्लेषण एवं उनकी पूर्वापरता का प्रश्न

के० आर० चन्द्र

भगवान् महावीर की साधना का वर्णन आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के 'उवहाण' सुत्त में प्राप्त होता है; परन्तु वहाँ पर उनके जीवन के बारे में कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। उनके जीवन-चरित्र का वर्णन आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के 'भावना' नामक अध्याय में और कल्पसूत्र (पर्युषणा-कल्प) में आता है। परम्परा के अनुसार भद्रबाहु ने कल्पसूत्र की रचना की थी। सम्भवतः कल्पसूत्र में भगवान् महावीर के चरित्र को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। कल्पसूत्र में महावीर-चरित्र विस्तारपूर्वक मिलता है जबकि आचारांग में वह संक्षिप्त रूप में मिलता है। यद्यपि दोनों में समय-समय पर नवीन सामग्री जुड़ती रही है यह उनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। कल्पसूत्र की कुछ विस्तृत बातें आचारांग में संक्षिप्त रूप में ली गयी हैं इससे यह भी प्रतीत होता है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वर्णित महावीर-चरित्र का आधार कल्पसूत्र रहा है। कल्पसूत्र के महावीर-चरित्र को प्रामाणिक बनाने के लिए उसे आचारांग में जोड़ा गया होगा क्योंकि जो बातें अंगों में नहीं हों वे प्रामाणिक कैसे हो सकती हैं। यह सब होते हुए भी दोनों ग्रन्थों में महावीर-चरित्र मूल रूप में नहीं रह सका। उसमें समय-समय पर वृद्धि होती रही है। कुछ प्रसंग आचारांग में ही मिलते हैं तो कुछ कल्पसूत्र में ही मिलते हैं। दोनों में समान रूप से उपलब्ध महावीर-चरित्र की भाषाओं में भी कोई ऐसा तथ्य प्राप्त नहीं होता जिनसे उनकी प्राचीनता एवं अर्वाचीनता ज्ञात हो सके और उन्हें एक दूसरे के बाद का कहा जा सके। फिर भी कुछ प्रसंग ऐसे अवश्य हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चरित्र वर्णन में कुछ प्राचीन तथ्य सुरक्षित रहे हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि कल्पसूत्र का पठन-पाठन बहुत होता रहा है और उसकी प्रतियाँ भी उत्तरोत्तर बहुत लिखी जाती रही हैं अतः उसमें समय-समय पर परिवर्तन आना सहज था जबकि आचारांग के साथ ऐसा नहीं बन सका।

१. (क) महावीर-चरित्र

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध के अध्ययन १५ एवं कल्पसूत्र में जो सामग्री समान रूप से मिलती है उसका विवरण—

(१) महावीर के जीवन के पाँच प्रसंगों (च्यवन, गर्भापहरण, जन्म, दीक्षा एवं केवल ज्ञान) का हस्तोत्तरा नक्षत्र में होने का उल्लेख और स्वाति नक्षत्र में निर्वाण (आचा० सू० ७३३, कल्पसूत्र १)

(२) आषाढ शुक्ल षष्ठी को देवलोक से देवानंदा के गर्भ में अवतरण और उस समय तीन प्रकार के ज्ञान का होना (७३४/२,३)

(३) देवानन्दा एवं त्रिशला के गर्भों की अदलाबदली। उस समय भी तीन ज्ञान वाले होने का उल्लेख (७३५।२७, २९, ३०, ३१)

(४) त्रिशला द्वारा पुत्र जन्म (७३६।९३)

(५) देवों द्वारा उत्सव (७३७।९४)

(६) उनके द्वारा अमूल्य वस्तुओं की वर्षा एवं तीर्थंकर का अभिषेक (७३८, ७३९।९५,९६)

(७) दशाह् मनाना, भोजन समारंभ, दान एवं कुल में वृद्धि होने के कारण वर्धमान नामकरण (७४०।१००-१०३)

(८) उनका काश्यपगोत्र एवं तीन नाम,
पिता के तीन नाम,
माता के तीन नाम,
चाचा, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्री एवं पौत्री के नामों का उल्लेख (७४३, ७४४।१०४-१०९)

(९) तीस वर्ष का गृहस्थवास, माता-पिता के देवलोक जाने पर अपनी प्रतिज्ञा पूरी होने पर सभी वस्तुओं का त्यागकर एवं दाताओं में विभाजित कर प्रव्रज्या लेना (७४६, ७६६।११०, १११, ११३, ११४)

(१०) मार्गशीर्ष कृष्ण १० को दीक्षा ली (७६६।१११, ११४)

(११) सभी उपसर्गों को सहन किया (७७१।११६)

(१२) संयम, तप, ब्रह्मचर्य, समिति एवं गुप्ति पूर्वक निर्वाणमार्ग में भावना करते हुए विहार करना (७७०।१२०)

(१३) तेरहवें वर्ष में वैशाख शुक्ल दसमी को ऋजुबालिका नदी के किनारे श्यामाक के खेत में जृम्भिकग्राम के बाहर शालवृक्ष के नीचे केवलज्ञान की प्राप्ति (७७२।१२०)

(१४) सर्व भावों के ज्ञाता बनकर विहार करने लगे (७७३।१२१)

(१५) निर्वाण प्राप्त होने पर देवताओं (द्वारा महिमा) के आगमन से कोलाहल (७७४।१२५)

कल्पसूत्र में प्रकारान्तर से मिलने वाली सामग्री

(१६) जब से भगवान् महावीर गर्भ में आये तब से उस कुल की अमूल्य वस्तुओं के कारण वृद्धि होने लगी (७४०।८५)

[कल्पसूत्र में यह बात मात्र अर्वाचीन हस्तप्रतों में ही मिलती है]

(१७) परिपक्व ज्ञान वाले होने की बात (७४२) कल्पसूत्र (९,५४,७६) में स्वप्न के फल बतलाते समय कही गयी है।

१. (ख) शब्दों के क्रम में भेद

तादृश सामग्री मिलते हुए भी दोनों के पाठों में कभी-कभी शब्दों के क्रम में अन्तर है।
[मूल पाठ कल्पसूत्र का है जब कि आचारांग का पाठ संख्या-क्रम से बताया गया है।]

(१) क० सू० १	अणंते	अणुत्तरे	निव्वाघाए अव्वाघाते	निरावरणे
आचा० ७३३	५	६	३	४
	कसिणे	पडिपुन्ने	केवलवरनाणदंसणे	
	१	२	७	
	समुप्पन्ने	साइणा	परिनिव्वुए	भगवं
	८	९	११	१०

(२) क० सू० २
आचा० ७३४ के क्रम में बहुत अन्तर है।

(३) क० सू० ३   १   ३   २
आचा० ७३४ चइस्सामि त्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, चुए मि त्ति जाणइ।

(४) क० सू० ९३ जे से गिम्हाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे
आचा० ७३६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३
चित्तसुद्धे तस्स णं चित्त सुद्धस्स तेरसीदिवसेणं तेरसीपक्खेणं
१४ १५ १६ १७ १८
(तेरसीपक्खेणं) नवण्हं मासाणं पडिपुन्नाणं
१ २ ३
अद्धघट्ठमाण य राइंदियाणं विइक्कंताणं पुव्वरत्तावरत्त-
४ ५ ६
कालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं जोगोवगतेणं
१९ २० २१
आरोगा आरोगं (अरोगा अरोगं) दारयं
२२ २३
पयाया (पसूया)।
२४

(५) **क० सू० १२०** के क्रम में काफी अन्तर है।
आचा० ७७२

१. (ग) भाषा सम्बन्धी तुलना

जो जो प्रकरण दोनों ग्रन्थों में समान रूप से मिलते हैं उनकी भाषा का अध्ययन करने पर दोनों की भाषा में प्राचीनता-अर्वाचीनता का भेद नजर नहीं आता है।

प्रथमा एक० व० के लिए 'ए' विभक्ति, सप्तमी ए० व० के लिए 'ए और अंसि', भविष्य-काल के लिए 'स्स' विकरण, 'भू' धातु के 'भव' एवं 'हो' रूप एवं संबंधक भूत कृदन्त के लिए प्रयुक्त 'त्ता, च्चा, ट्टु' प्रत्ययों के अनुपात में कोई खास अन्तर मालूम नहीं होता है अतः दोनों ग्रंथों के मूल पाठ की रचना सामान्यतः एक समान लगती है। ध्वनि परिवर्तन एवं प्रत्ययों की दृष्टि से कुछ रूप आचारांग में तो कुछ रूप कल्पसूत्र में प्राचीन मालूम होते हैं।

प्राचीन रूप (आचारांग)	अर्वाचीन रूप (कल्पसूत्र)
गोत्तस्स (७३४)	गुत्तस्स (३)
असुभाणं, सुभाणं (७३५)	असुहे, सुहे (२७)
चेत्तसुद्धे (७३६)	चित्तसुद्धे (९३)
नामधेज्जा (७४४)	नामधिज्जा (१०४, १०८)
दातारेसु (७४६)	दायारेहिं (१११)

(कल्पसूत्र)	(आचारांग)
इमीसे (२)	इमाए (७३४)
आवि होत्था (३,३१)	यावि होत्था (७३४, ७३५, ७३७, ७४४)
	(कल्पसूत्र में भी 'यावि होत्था' का प्रयोग है २९,९४,)
भगिणी (१०७)	भइणी (७४४)

२ (क) आचारांग में उपलब्ध ऐसे प्रसंग जो कल्पसूत्र के महावीर-चरित्र में मिलते ही नहीं हैं—

(१) पंच धात्रियों द्वारा संवर्धन करना। (७४१)

(२) प्रव्रज्या धारण करने के पहले आसक्ति रहित एवं संयमपूर्वक (अप्पुस्सुयाइं·······चाए विहरंति) पंचेन्द्रिय भोगों का सेवन किया। (७४२)

(३) भगवान् के माता-पिता पार्श्वापत्यी थे और वे महाविदेह में सिद्ध होंगे। (७४५)

(४) एक संवत्सर तक दान दिया और अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय वाले हुए। (७४६) कल्पसूत्र (१११) के अनुसार एक वर्ष की अवधि तक दान देने का उल्लेख नहीं है और अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय वाले होने का भी उल्लेख नहीं है। उसमें तो ऐसा कहा गया है कि भगवान् ने अपने ज्ञान एवं दर्शन से जब जाना कि निष्क्रमण-काल आ गया है तब दीक्षा ले ली।

(५) दीक्षा के अवसर पर वैश्रमण देव द्वारा भगवान् द्वारा त्यक्त आभरण-अलंकारों को ग्रहण करना एवं शक्रेन्द्र द्वारा लोच किये हुए केशों को क्षीरोद सागर ले जाना। (७६६)

(६) चारित्र धारण करते ही मनःपर्यय ज्ञान का होना। (७६९)

(७) मनःपर्ययज्ञान होने के बाद ऐसा पहले से ही अभिग्रह धारण करना कि बारह वर्ष तक देव-मनुष्य-तिर्यक् कृत उपसर्गों को सम्यक् पूर्वक सहन करूँगा। (७६९)

(८) दीक्षा के दिन शाम को कर्मारग्राम विहार करना (७७०) जो कि यह पाठ सभी प्रतों में नहीं मिलता है।

(९) केवलज्ञान होने पर भगवान् ने प्रथम देवताओं को और बाद में मनुष्यों को धर्मोपदेश दिया। (७७५)

इतना तो स्पष्ट है कि ये प्रसंग कल्पसूत्र की रचना के बाद आचारांग के इस महावीर-चरित्र में आये हैं अन्यथा उनका उल्लेख कल्पसूत्र में भी हुआ होता।

इन सब अतिरिक्त प्रसंगों से महान व्यक्ति की महत्ता का संवर्धन किया गया है जो सभी महान व्यक्तियों के साथ होता है। इन बातों से कुल का वैभव बढ़ाया गया और उसका एक पूर्व-तीर्थंकर के साथ पहले से ही सम्बन्ध स्थापित किया गया, त्याग और दान की महिमा बढ़ायी गयी, बचपन से ही वैराग्य की भावना बतायी गयी, संकल्प एवं सहनशक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया, दिव्य तत्त्वों का समावेश किया गया एवं चतुर्थ ज्ञान की कमी की पूर्ति की गयी।

२ (ख) कुछ ऐसे उल्लेख जिनका स्पष्टीकरण कल्पसूत्र के महावीर-चरित्र के बिना नहीं हो सकता

(१) एक अनुकम्पाधारी देव ने ['जायमेयं' तिकट्टु] यही आचार, कर्त्तव्य या रिवाज है ऐसा सोचकर गर्भों की अदलाबदली की (७३५)। यह आचार क्या है। उसके बारे में कहीं पर कुछ भी नहीं कहा गया है जबकि कल्पसूत्र (२०) में बड़े ही विस्तार के साथ समझाया गया है कि महान पुरुष ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं लेते हैं और शक्रेन्द्र का यह कर्त्तव्य है कि गर्भ का किसी उच्च कुल में स्थानान्तर करें।

(२) दीक्षा लेते समय अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने (समत्त पइण्णे) का उल्लेख है (७४६)। यह प्रतिज्ञा क्या थी ? इसका उत्तर कल्पसूत्र (८७-९०) में मिलता है वहाँ पर गर्भ में ही भगवान् महावीर यह अभिग्रह धारण करते हैं कि माता-पिता के जीवन काल में प्रव्रज्या धारण नहीं करूँगा।

स्पष्ट है कि कल्पसूत्र में इन बातों के आने के बाद इन्हें आचारांग में जोड़ा गया है।

२ (ग) कल्पसूत्र से भेद रखने वाले तथ्य

(१) आचारांग (७३५) गर्भ का अपहरण हो रहा है इस बात को जानते थे। कल्पसूत्र (३१) के अनुसार इसे नहीं जानते थे।

(२) आचारांग में नत्तुई (दौहित्री) कोसिय गोत्त की कही गयी है (७४४) जबकि कल्पसूत्र में वह कासथी गोत्त की कही गयी है (१०९)।

(३) प्रव्रज्या धारण करने से पहले षष्ठ भक्त का त्याग किया और एक शाटक ग्रहण करके लोच किया (७६६)। कल्पसूत्र के अनुसार लोच करने के बाद षष्ठ भक्त का त्याग किया और एक देवदूष्य ग्रहण किया (११४)।

२ (घ) आचारांग में बाद में जोड़े गये पाठ या बदले हुए तथ्य

(१) भगवान् गर्भावस्था में ही तीनों बातों को जानते हैं (तिण्णाणोवगते) (७३४)। इसमें से एक 'चयमाणे ण जाणति' कल्पसूत्र में भी आता है परन्तु आचारांग में इसके साथ स्पष्टीकरण सम्बन्धी यह पाठ आता है कि च्यवन काल इतना सूक्ष्म होता है कि च्यवन की घटना जानी नहीं जा सकती। यह स्पष्टीकरण कल्पसूत्र में नहीं है। स्पष्ट है कि आचारांग में 'सुहुमे णं से काले पण्णत्ते' पाठ बाद में जुड़ा है।

(२) जन्म (७३६) देवताओं द्वारा उत्सव, तीर्थंकर का अभिषेक एवं कौतुककर्म के बाद ऐसा वर्णन है कि जब भगवान् महावीर गर्भ में आये तब से कुल में सभी तरह से अभिवृद्धि होने लगी थी। वास्तव में यही बात जन्म के पहले आनी चाहिए थी क्योंकि नामकरण के समय (७४०) यही बात पुनः दुहरायी गयी है कि इसी कारण से उनका नाम वर्धमान रखा गया।

अतः उपरोक्त पाठ बाद में जोड़े गये हैं यह बिल्कुल स्पष्ट है।

२ (ङ) अन्य पाठों में वृद्धि—

(१) कल्पसूत्र में माहणकुण्डग्गाम एवं खत्तिय कुंडग्गाम (२,१०) ऐसा उल्लेख आता है जब कि आचारांग में उन्हें दाहिणमाहण कुंडपुर एवं उत्तरखत्तिय कुंडपुर कहा गया है (७३४-७३५)।

(२) पंचमुष्टिलोच करने के बाद सिद्धों को नमस्कार करना और सर्व पापकर्म अकरणीय है ऐसा सोचकर 'सामायिक चारित्र' धारण करना ये (७६६) दोनों बातें कल्पसूत्र (११४) में नहीं आती हैं। कल्पसूत्र में तो मुंडन करवाकर अगार से अनगार बनने का ही उल्लेख है जो कल्पसूत्र के सूत्र १ में भी प्रारम्भ में उल्लिखित है और वैसा ही उल्लेख आचारांग में भी प्रारम्भ में (७३३) आता है। आचारांग में आगे सू० ७६९ में जब उन्हें मनःपर्यय ज्ञान होता है तब 'सामायिक युक्त क्षायोपशमिक चारित्र' का उल्लेख है।

(३) हत्थुत्तराहिं और मुंडे भवित्ता (७३३) के बीच 'सव्वतो सव्वत्ताए' का पाठ अधिक है।

(४) महाविजय**सिद्धत्थ**पुप्फुत्तरवरपुंडरीय**दिसासोवत्थियवद्धमाणातो** महाविमाणाओ……… चुते (७३४) (रेखांकित पाठ अधिक है)।

(५) जन्म के समय जो वर्षा हुई उसमें **अमृतवास** का उल्लेख कल्पसूत्र में नहीं है (७३८)।

(६) प्रव्रज्या का लोच करते समय सिंहासन पर एवं पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठने का उल्लेख कल्पसूत्र में नहीं है (७६६)।

(७) केवलज्ञान के समय 'झाणंतरियाए वट्टमाणस्स' (कल्पसूत्र १२०) के बदले आचारांग (७७२) 'सुक्कझाणंतरियाए वट्टमाणस्स' में आता है।

(८) उड्ढं जाणुं अहो सिरस' (७७२) का उल्लेख कल्पसूत्र में नहीं है।

(९) ऋजुबालिका के मात्र तीर के बदले उसे उत्तर कूल (७७२) कहा गया है।

(१०) चैत्य के आसपास के बदले उत्तर-पूर्व दिशा भाग (७७२) कहा गया है।

२ (च) आचारांग में देव-कृत्य का सारा का सारा प्रसंग बाद में जोड़ा गया है

(१) यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि एक वर्ष तक दान करने का एवं अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय वाले हुए ये दोनों बातें बाद में जोड़ी गयी हैं। इसके बाद में आने वाली सारी सामग्री (सू० ७४७ से ७६५, जिसमें बढ़ा-चढ़ा तथा कभी-कभी अलंकृत वर्णन है) भी बाद में जुड़ी है। उसमें १७ गाथाएँ हैं जिनकी भाषा अर्धमागधी न होकर महाराष्ट्री है एवं उनका छन्द विकसित गाथा छन्द है। (ये गाथाएँ निर्युक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य में भी मिलती हैं) इन गाथाओं के अलावा जो गद्यांश है और उसमें जो वर्णन उपलब्ध है यह कल्पसूत्र (११०-११४) में नहीं मिलता है। इसमें सभी देवताओं का आगमन, शक्रेन्द्र द्वारा दिव्य सिंहासन की रचना, भगवान् का अभिषेक, उन्हें आभूषणों से सजाना, शिविका में देवेन्द्रों द्वारा चँवर डुलाना इत्यादि मिलता है।

सूत्र ७६७ एवं ७६८ की दो गाथाएँ भी इसी प्रकार बाद में जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं। उनमें कहा गया है कि जब भगवान् ने चारित्र्य धारण किया तब देवों एवं मनुष्यों का घोष शान्त हो गया था तथा देवों के द्वारा उपदेश सुना गया जो कि दीक्षा लेने के ठीक पश्चात् तथा केवल ज्ञान को प्राप्ति के पूर्व की घटना है और उस पद्य में (कुछ पाठ रह गया हो ऐसा लगता है) त्रुटियाँ भी हैं। कल्पसूत्र में ऐसे उल्लेख नहीं हैं।

(२) इसी देव-कृत्य एवं दैव-महिमा के प्रसंग पर भगवान् महावीर को तीर्थंकर कहा गया है (७५०)। वैसे ही कल्पसूत्र में भी जो बाद का पाठ है वहाँ (सू० २) उन्हें चरम तीर्थंकर कहा गया

है। अन्य जगह पर मूल पाठ में तीर्थंकर शब्द नहीं है, सब जगह उन्हें 'समणे भगवं महावीरे' कहा गया है। दोनों ही चरित्रों में केवल-ज्ञान होने के बाद भी उन्हें 'जिन' ही कहा गया है (आचारांग ७७३, कल्पसूत्र १२१)।

आचारांग की इस सामग्री में समास-बहुलता एवं काव्यात्मक कृत्रिम शैली के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ—सिंहासन, शिविका, वनखंड आदि के वर्णन ७४७-७६५।

२. (ज) आचाराङ्ग के कुछ पाठों की अस्पष्टता एवं व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ

(१) समणे भगवं महावीरे अणुकंपएणं देवेणं····कुच्छिसि गब्भं साहरति (७३५)। 'साहरति' के स्थान पर 'साहरिते' होना चाहिए ऐसा सम्पादक ने भी सूचित किया है।

(२) तं णं राइं······ देवेहिं देवीहिं य·······उप्पिजलगभूते यावि होत्था (७३७)। यावि के पहले 'करने के अर्थ वाला' कोई रूप आना चाहिए था। कल्पसूत्र में (१४) ऐसा पाठ है—'सा णं रयणी····उप्पिजलमाणभूया होत्था' जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है।

(३) सूत्र ७७२ में 'गिम्हाणं बोसे मासे' पाठ आया है कल्पसूत्र में (१२०) 'दोच्चे मासे' आता है। यहाँ सम्पादक ने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है।

३ (क) कल्पसूत्र में उपलब्ध परन्तु आचारांग में अनुपलब्ध सामग्री

(१) तेईस तीर्थंकरों के पश्चात् चरम तीर्थंकर के रूप में पूर्व तीर्थंकरों के निर्देश के अनुसार गर्भ में अवतरण (२)

(२) गर्भधारण करते समय देवानन्दा द्वारा चौदह स्वप्न देखना; त्रिशला द्वारा भी उसी प्रकार स्वप्न-दर्शन (३२-८३); (पति को सूचित करना एवं पति द्वारा स्वप्न फल कहना (६-१२), स्वप्नों का विस्तृत वर्णन, स्वप्नलक्षण पाठकों से उनके फल-विषयक जानकारी प्राप्त करना) [स्वप्न विषयक वर्णन बाद में जोड़ा गया है ऐसा पूज्य मुनि श्रीपुण्यविजयजी का स्पष्ट अभिप्राय है]

(३) गर्भापहरण के बाद सिद्धार्थ के घर में देवताओं द्वारा बहुमूल्य निधान लाना (८४)।

(४) माता पर अनुकम्पा लाकर भगवान् महावीर द्वारा गर्भ में हलन-चलन बन्द कर देना और फिर अभिग्रह धारण करना कि माता-पिता के जीते प्रव्रज्या धारण नहीं करूँगा (८७-९१) (आचारांग में मात्र प्रतिज्ञा पूरी होने का उल्लेख है)।

(५) कुण्डपुर को सजाने का वर्णन, नामकरण के अवसर पर दशाह मनाने का लम्बा वर्णन (९६-९९)।

(६) गुरुजनों की आज्ञा लेकर प्रव्रज्या धारण करना (११०)।

(७) वर्षाधिक समय तक चीवर रखना, बाद में 'अचेल पाणि-पडिग्गह' बनना (११५)।

(८) इसके पश्चात् जो सामग्री मिलती है वह आचारांग में नहीं दी गयी है—

गाँव और नगर में ठहरने की मर्यादा, वर्षावास एवं स्थलों का उल्लेख, इन्द्रभूति गौतम को केवल-ज्ञान, मल्लवियों एवं लिच्छवियों द्वारा द्रव्योद्योत करना, भविष्यवाणी इत्यादि (११७-१४७)।

(९) आचारांग के महावीर-चरित्र के साथ तुलना करने पर ये सब प्रसंग बाद में जुड़े हैं ऐसा स्पष्ट मालूम होता है।

(१०) इनके अलावा शक्रेन्द्र द्वारा की गई स्तुति (१३-१६), उनके द्वारा यह विचार करना कि तीर्थंकर ऐसे कुल में जन्म ले ही नहीं सकते और हरिणेगमेसि की नियुक्ति करके गर्भ का अपहरण करवाने तक का प्रसंग (१७–२८) बाद में जोड़ा गया है। इतने लम्बे वर्णन के बाद जिसमें गर्भापहरण हो जाता है कल्पसूत्र के सूत्र ३० में गर्भापहरण किये जाने की बात संक्षेप में फिर से कही गयी है। इससे मालूम होता है कि सूत्र ३० में उपलब्ध सामग्री का ही विस्तारपूर्वक वर्णन बाद में १७ से २८ सूत्रों में किया गया है। इसी सूत्र ३० की सामग्री आचारांग के सूत्र ७३५ में भी वैसी ही मिलती है। अतः स्पष्ट है कि विस्तृत वर्णन बाद का है।

(११) सामान्य शाटक के बदले में देव-दूष्य का उल्लेख (११४), उन्हें तेलोक्कनायग और धम्मवर चक्कवट्टी कहना (१), एक अनुकम्पक देव के बदले शक्रेन्द्र एवं हरिणेगमेसि को गर्भापहरण के साथ जोड़ना (१७-२८) जन्म के समय अमूल्य वस्तुओं की वर्षा राजभवन में ही करवाना (१०९), अपहरण के समय 'अप्पाबाहं अप्पाबाहेणं' का उल्लेख (३०) एवं जन्म के समय 'पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि' (३०,९३) का उल्लेख, जन्म के समय पर अनेक वस्तुओं की वर्षा (९५) और गर्भ में आने पर समृद्धि में अनेक अधिक वस्तुओं का जुड़ना (८५), महावीर के विशेषणों में वृद्धि (११०,१२०) दीक्षा के समय देवों और लोगों द्वारा स्तुति एवं प्रशंसा का प्रकरण (११०-११३)।

ये सब बातें आचारांग में उपलब्ध नहीं हैं और कल्पसूत्र में भी बाद में जोड़ी गई हैं।

३. (ख) भाषा में त्रुटियाँ

(१) समणे भगवं महावीरे····
आरोगा आरोगं दारयं पयाया—९३

३. (ग) समास युक्त एवं कृत्रिम शैली होने के कारण निम्न प्रसंग बाद में जुड़े हैं ऐसा स्पष्ट है।

गर्भापहरण का प्रसंग (१३-१५)
शयनगृह (३३)
स्वप्नों के वर्णन (३४-४७)
अट्टनशाला, मज्जनगृह, उपस्थानशाला,
स्वप्न पाठकों द्वारा स्वप्न-फल कहना (६३-७६)
जन्मोत्सव मनाना (९७-९९)
दीक्षा के लिए प्रस्थान (११३)
विहार काल में भगवान् महावीर की सहिष्णुता (११७-११९)

४. उपसंहार

कल्पसूत्र एवं आचारांग के महावीर-चरित्र में समय-समय पर वृद्धि एवं परिवर्तन होते हुए भी आचारांग में कुछ मूल बातें सुरक्षित रही हैं जो कल्पसूत्र से प्राचीन लगती हैं और वे इस प्रकार हैं—

(१) आचारांग में कुण्डपुर (७३४, ७३५, ७५३) को एक संनिवेश कहा गया है जब कि कल्पसूत्र में उसे (२, १५, १९, २३, २५, २७, ३०) एक नगर कहा गया है।

(२) आचारांग में गर्भापहरण के साथ (७३५) मात्र एक अनुकम्पक देव जुड़ा हुआ है जब कि कल्पसूत्र में इस देव को हरिणेगमेसि (१७-२८) कहा गया है और इस कार्य के साथ शक्रेन्द्र को भी जोड़ दिया गया है। हरिणेगमेसि का यह वर्णन भगवतीसूत्र में (सू० १,७) आता है।

(३) आचारांग में प्रव्रज्या के समय एक शाटक ग्रहण (७६६) करने का उल्लेख है जब कि कल्पसूत्र में (११४) उसके साथ दिव्यता जोड़ कर उसे देवदूष्य कहा गया है। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के उवहाणसुत्त (२५५) में भी देवदूष्य का उल्लेख नहीं है (णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि) परन्तु वस्त्र का ही उल्लेख है [आचारांग के अनुसार (७६६) एक शाटक ग्रहण करके दीक्षा के समय सभी आभरण-अंलकारों का त्याग करते हैं। बाद में कहीं पर भी उस शाटक का उल्लेख नहीं आता है इससे ऐसा अनुमान हो सकता है कि दीक्षा के कुछ समय बाद उस शाटक को भी त्याग दिया होगा। उवहाणसुत्त (२५७, २७५) के अनुसार उसे वर्षाधिक रखा था। कल्पसूत्र (११५) के अनुसार देवदूष्य को एक वर्ष के बाद छोड़ दिया था।]

(४) इन तथ्यों के आधार से कहा जा सकता है कि सभी परिवर्तनों के बावजूद भी आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का महावीर-चरित्र आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के मूल के नजदीक प्रतीत होता है। कल्पसूत्र का महावीर-चरित्र चाहे प्रथम स्थिति में आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के महावीर-चरित्र का आधार रहा हो, किन्तु बाद में उसमें बहुत अधिक जोड़ दिया गया है और इस प्रकार वह अपने मूल रूप में स्थित नहीं रह सका।

(५) महावीर-चरित्र : संभावित विकास

मूल प्रसंग १ से ५ एवं दोनों ग्रन्थों में विकसित सामग्री

आचारांग	कल्पसूत्र
(१) गर्भ में अवतरण	
(क) कुल की समृद्धि में वृद्धि होना।	(क) तेईस तीर्थंकरों के बाद,
	(ख) पूर्व तीर्थंकरों के निर्देशानुसार,
	(ग) चरम तीर्थंकर के रूप में गर्भ में आना,
	(घ) कुल की समृद्धि में वृद्धि होना [आचारांग के बाद कल्पसूत्र में जुड़ा होगा क्योंकि अर्वाचीन प्रतों में ही यह बात मिलती है।]
	(ङ) स्वप्न-दर्शन
	(च) स्वप्न-वर्णन [स्वप्न-दर्शन के बाद यह जोड़ा गया होगा।]

(२) गर्भ का अपहरण

(क) एक अनुकम्पक देव द्वारा अपहरण ['जीयमेयं' शब्द कल्पसूत्र से लिया गया]।

(ख) दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा पूरी होने का उल्लेख मात्र [माता-पिता के जीवन काल में दीक्षा नहीं लेने की यह बात कल्पसूत्र से ली गयी है]।

(क) 'जीयमेयं का वर्णन

(ख) शक्रेन्द्र एवं हरिणेगमेसि देव को इस घटना के साथ जोड़ना [यह आचारांग के बाद की सामग्री मालूम होती है]।

(ग) शक्रेन्द्र द्वारा स्तुति।

(घ) देवताओं द्वारा सिद्धार्थ के घर बहुमूल्य निधान लाना (स्वतन्त्र)।

(ङ) अनुकम्पावश गर्भ में हलन-चलन बन्द करना।

(च) माता-पिता के जीवन काल में दीक्षा नहीं लेने का अभिग्रह धारण करना।

(३) नामकरण

(क) दशाह का उल्लेख मात्र।

(ख) पाँच धात्रियों द्वारा संवर्धन।

(ग) परिपक्व ज्ञान वाले होना।

(घ) आसक्ति रहित पंचेन्द्रिय भोगों का सेवन संयम-पूर्वक करना।

(ङ) माता-पिता को पार्श्वापत्यी कहना (स्वतन्त्र)।

(च) एक संवत्सर तक दान देना।

(छ) दीक्षा लेने के अभिप्राय वाले होना।

(ज) इसके बाद देवों द्वारा महिमा।

(क) नामकरण के अवसर पर दशाह मनाने का लम्बा वर्णन।

(ख) उस समय नगरी को सजाना।

(ग) परिपक्व ज्ञान वाले होने की यह बात स्वप्न-फल बताते समय स्वप्न-वर्णन में कह दी गयी है।

(४) प्रव्रज्या

(क) एक शाटक ग्रहण करके प्रव्रज्या धारण करना।

(क) गुरुजनों की आज्ञा लेकर दीक्षा ग्रहण करना (स्वतन्त्र)।

(ख) वैश्रमण एवं शक्रेन्द्र द्वारा आभरण एवं केश-ग्रहण करना।

(ग) उस अवसर पर मनःपर्ययज्ञान का होना।

(घ) बारह वर्ष तक उपसर्ग सहन करने की प्रतिज्ञा धारण करना।

(५) केवल ज्ञान

(क) प्रथम उपदेश पहले देवताओं को और बाद में मनुष्यों को देना।

(ख) शाटक के बदले देवदूष्य का उल्लेख।

(ग) वर्षाधिक चीवर धारण कर बाद में उसका त्याग।

अहमदाबाद

अन्तकृद्दशा की विषय वस्तु : एक पुनर्विचार

प्रो० सागरमल जैन

अन्तकृद्दशा जैन अंग-आगमों का अष्टम अंगसूत्र है। स्थानांगसूत्र में इसे दश दशाओं में एक बताया गया है। अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु से सम्बन्धित निर्देश श्वेताम्बर आगम साहित्य में स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र में तथा दिगम्बर परम्परा में राजवार्तिक, धवला तथा जयधवला में उपलब्ध है।

अन्तकृद्दशा का वर्तमान स्वरूप

वर्तमान में जो अन्तकृद्दशा उपलब्ध है उसमें आठ वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, काम्पिल्य, अक्षोभ, प्रसेनजित और विष्णु ये दस अध्ययन उपलब्ध हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आठ अध्ययन हैं इनके नाम हैं—अक्षोभ, सागर, समुद्र, हिमवन्त, अचल, धरन, पूरन और अभिचन्द्र। तृतीय वर्ग में निम्न तेरह अध्ययन हैं—(१) अनीयस कुमार, (२) अनन्तसेन कुमार, (३) अनिहत कुमार, (४) विद्वत् कुमार, (५) देवयश कुमार, (६) शत्रुसेन कुमार, (७) सारण कुमार, (८) गज कुमार, (९) सुमुख कुमार, (१०) दुर्मुख कुमार, (११) कूपक कुमार, (१२) दारुक कुमार, (१३) अनादृष्टि कुमार। इसी प्रकार चतुर्थ वर्ग में निम्न दस अध्ययन हैं—(१) जालि कुमार, (२) मयालि कुमार, (३) उवयालि कुमार, (४) पुरुषसेन कुमार, (५) वारिषेण कुमार, (६) प्रद्युम्न कुमार, (७) शाम्ब कुमार (८) अनिरुद्ध कुमार, (९) सत्यनेमि कुमार और (१०) दृढनेमि कुमार। पंचम वर्ग में दस अध्ययन हैं जिनमें आठ कृष्ण की प्रधान पत्नियों और दो प्रद्युम्न की पत्नियों से सम्बन्धित हैं। प्रथम वर्ग से लेकर पाँचवें वर्ग तक के अधिकांश व्यक्ति कृष्ण के परिवार से संबन्धित हैं और अरिष्टनेमि के शासन में हुए हैं। छठें, सातवें और आठवें वर्ग का सम्बन्ध महावीर के शासन से है। छठें वर्ग के निम्न १६ अध्ययन बताये गये हैं—(१) मकाई, (२) किंकम, (३) मुद्गरपाणि, (४) काश्यप, (५) क्षेमक (६) धृतिधर, (७) कैलाश, (८) हरिचन्दन, (९) वारत्त, (१०) सुदर्शन, (११) पुण्यभद्र, (१२) सुमनभद्र, (१३) सुप्रतिष्ठित, (१४) मेघकुमार, (१५) अतिमुक्त कुमार और (१६) अलक्क (अलक्ष्य) कुमार। सातवें वर्ग में १३ अध्ययनों के नाम निम्न हैं—(१) नन्दा, (२) नन्दवती, (३) नन्दोत्तरा, (४) नन्दश्रेणिका, (५) मरुता, (६) सुमरुता, (७) महामरुता, (८) मरुद्देवा, (९) भद्रा, (१०) सुभद्रा, (११) सुजाता, (१२) सुमनायिका, (१३) भूतदत्ता। आठवें वर्ग में कालो, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुदर्शना, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, कर्मसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा इन दस श्रेणिक की पत्नियों का उल्लेख है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण को देखने से केवल किंकम और सुदर्शन ही ऐसे अध्याय हैं जो स्थानांग में उल्लिखित विवरण से नाम साम्य रखते हैं, शेष सारे नाम भिन्न हैं।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु सम्बन्धी प्राचीन उल्लेख

स्थानांग में हमें सर्वप्रथम अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें अन्तकृद्दशा के निम्न दस अध्ययन बताये गये हैं। नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त (रामपुत्त), सुदर्शन

जमाली, भयाली, किकम, पल्लतेतीय और फालअम्बपुत्र[1]। यदि हम वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा को देखते हैं तो उसमें उपर्युक्त दस अध्यायों में केवल दो नाम सुदर्शन और किंकम उपलब्ध हैं।

समवायांग में अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु का विवरण देते हुए कहा गया है कि इसमें अन्तकृत जीवों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इह लोक और परलोक की ऋद्धि विशेष, भोग और उनका परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतज्ञान का ध्यान, तप तथा क्षमा आदि बहुविध प्रतिमाओं, सत्रह प्रकार के संयम, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य, समिति, गुप्ति, अप्रमाद, योग, स्वाध्याय और ध्यान सम्बन्धी विवरण हैं। आगे इसमें बताया गया है कि इसमें उत्तम, संयम को प्राप्त करने तथा परिग्रहों के जीतने पर चार कर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार से होती है इसका उल्लेख है साथ ही उन मुनियों की श्रमण पर्याय, प्रायोपगमन, अनशन, तम और रजप्रवाह से युक्त होकर मोक्षसुख को प्राप्त करने सम्बन्धी उल्लेख हैं। समवायांग के अनुसार इसमें एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन और सात वर्ग बतलाये गये हैं। जबकि उपलब्ध अन्तकृद्दशा में आठ वर्ग हैं अतः समवायांग में वर्तमान अन्तकृद्दशा की अपेक्षा एक वर्ग कम बताया गया है। ऐसा लगता है कि समवायांगकार ने स्थानांग की मान्यता और उसके सामने उपलब्ध ग्रन्थ में एक समन्वय बैठाने का प्रयास किया है। ऐसा लगता है कि समवायांगकार के सामने स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा लुप्त हो चुकी थी और मात्र उसमें १० अध्ययन होने की स्मृति ही शेष थी तथा उसके स्थान पर वर्तमान उपलब्ध अन्तकृद्दशा के कम से कम सात वर्गों का निर्माण हो चुका था।

नन्दीसूत्रकार अन्तकृद्दशा के सम्बन्ध में जो विवरण प्रस्तुत करता है वह बहुत कुछ तो समवायांग के समान ही है किन्तु उसमें स्पष्ट रूप से इसके आठ वर्ग का उल्लेख प्राप्त है। समवायांगकार जहाँ अन्तकृद्दशा की दस समुद्देशन कालों की चर्चा करता है वहाँ नन्दीसूत्रकार उसके आठ उद्देशन कालों की चर्चा करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा की रचना समवायांग के काल तक बहुत कुछ हो चुकी थी और वह अन्तिम रूप से नन्दीसूत्र की रचना के पूर्व अपने अस्तित्व में आ चुका था। श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध तीनों विवरणों से हमें यह ज्ञात होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा प्रथम संस्करण की विषयवस्तु किस प्रकार से उससे अलग कर दी गई और नन्दीसूत्र के रचना काल तक उसके स्थान पर नवीन संस्करण किस प्रकार अस्तित्व में आ गया।

यदि हम दिगम्बर साहित्य की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें सर्व प्रथम तत्त्वार्थवार्तिक में अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध होता है। उसमें निम्न दस अध्ययनों की सूचना प्राप्त होती है—नमि, मातंग, सोमिल, रामपुत्त, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कम्बल और पातालम्बष्ठपुत्र। यदि हम स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा के दस अध्ययनों से इनकी तुलना करते हैं तो इसके यमलिक और वलिक ऐसे दो नाम हैं, जो स्थानांग उल्लेख से भिन्न है। वहाँ इनके स्थान पर जमाली, मयाली (भगाली) ऐसे दो अध्ययनों का उल्लेख है। पुनः चिल्वक

१. स्थानांग, स्थान १०।

का उल्लेख तत्त्वार्थ वार्तिककार ने नहीं किया है। उसके स्थान पर पाल और अम्बष्ठपुत्र ऐसे दो अलग अलग नाम मान लिये हैं। यदि हम इसकी प्रामाणिकता की चर्चा में उतरें तो स्थानांग का विवरण हमें सर्वाधिक प्रामाणिक लगता है।

स्थानांग में अन्तकृद्दशा के जो दस अध्याय बताये गये हैं उनमें नमि नामक अध्याय वर्तमान में उत्तराध्ययनसूत्र में उपलब्ध है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि स्थानांग में उल्लिखित 'नमि' नामक अध्ययन और उत्तराध्ययन में उल्लिखित 'नमि' नामक अध्ययन की विषयवस्तु एक थी या भिन्न-भिन्न थी। नमि का उल्लेख सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध होता है। वहाँ पाराशर, रामपुत्त आदि प्राचीन ऋषियों के साथ उनके नाम का भी उल्लेख हुआ है। स्थानांग में उल्लिखित द्वितीय 'मातंग' नामक अध्ययन ऋषिभाषित के २६वें मातंग नामक अध्ययन के रूप में आज उपलब्ध है। यद्यपि विषयवस्तु की समरूपता के सम्बन्ध में यहाँ भी कुछ कह पाना कठिन है। सौमिल नामक तृतीय अध्ययन का नाम साम्य ऋषिभाषित के ४२ वें सोम नाम अध्याय के साथ देखा जा सकता है। रामपुत्त नामक चतुर्थ अध्ययन भी ऋषिभाषित के तेईसवें अध्ययन के रूप में उल्लिखित है। समवायांग के अनुसार द्विगृद्धिदशा के एक अध्ययन का नाम भी रामपुत्त था। यह भी संभव है कि अन्तकृद्दशा इसिभासियाइं और द्विगृद्धिदशा के रामपुत्त नामक अध्ययन की विषयवस्तु भिन्न हो चाहे व्यक्ति वही हो। सूत्रकृतांगकार ने रामपुत्त का उल्लेख अर्हत् प्रवचन में एक सम्मानित ऋषि के रूप में किया है। रामपुत्त का उल्लेख पालित्रिपिटक साहित्य में हमें विस्तार से मिलता है। स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का पाचवाँ अध्ययन सुदर्शन है। वर्तमान अन्तकृद्दशा में छठें वर्ग के दशवें अध्ययन का नाम सुदर्शन है। स्थानांग के अनुसार अन्तकृद्दशा का छठा अध्ययन जमाली है। अन्तकृद्दशा में सुदर्शन का विस्तृत उल्लेख अर्जुन मालाकार के अध्ययन में भी है। जमाली का उल्लेख हमें भगवतीसूत्र में भी उपलब्ध होता है। यद्यपि भगवतीसूत्र में जमाली को भगवान् महावीर के क्रियमानकृत के सिद्धान्त का विरोध करते हुए दर्शाया गया है। श्वेताम्बर परम्परा जमाली को भगवान् महावीर का जामातृ भी मानती है। परवर्ती साहित्य निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में भी जमाली का उल्लेख पाया जाता है और उन्हें एक निह्नव बताया गया है। स्थानांग की सूची के अनुसार अन्तकृद्दशा का सातवाँ अध्ययन भयाली (भगाली) है। 'भगाली मेतेज्ज'। ऋषिभाषित के १३ वें अध्ययन में उल्लिखित है। स्थानांग की सूची में अन्तकृद्दशा के आठवाँ अध्ययन का नाम किंकम या किंकस है। वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा में छठें वर्ग के द्वितीय अध्याय का नाम किंकम है, यद्यपि यहाँ तत्सम्बन्धी विवरण का अभाव है। स्थानांग में अन्तकृतद्दशा के ९ वें अध्ययन का नाम चिल्वकया चिल्लवाक है। कुछ प्रतियों में इसके स्थान पर 'पल्लेतीय' ऐसा नाम भी मिलता है- इसके सम्बन्ध में भी हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है। दिगम्बर आचार्य अकलंकदेव भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है। स्थानांग में दसवें अध्ययन का नाम फालअम्बडपुत्त बताता है। जिसका संस्कृतरूप पालअम्बष्ठपुत्र हो सकता है। अम्बड संन्यासी का उल्लेख हमें भगवतीसूत्र में विस्तार से मिलता है। अम्बड के नाम से एक अध्ययन ऋषिभाषित में भी है। यद्यपि विवाद का विषय यह हो सकता है कि जहां ऋषिभाषित और भगवती उसे अम्बड परिव्राजक कहते हैं वहां उसे अम्बडपुत्त कहा गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गवेषणा करने पर हमें ऐसा लगता है कि स्थानांग में अन्तकृद्दशा के जो १० अध्ययन बताये गये हैं वे यथार्थ व्यक्तियों से सम्बन्धित रहे होंगे क्योंकि उनमें से अधिकांश

के उल्लेख अन्य स्रोतों से भी उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनका उल्लेख बौद्ध परम्परा में मिल जाता है यथा—रामपुत्त, सोमिल, मातंग आदि।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु के सम्बन्ध में विचार करते समय हम सुनिश्चितरूप से इतना कह सकते हैं कि इन सबमें स्थानांग सम्बन्धी विवरण अधिक प्रामाणिक तथा ऐतिहासिक सत्यता को लिये हुए है। समवायांग में एक ओर इसके दस अध्ययन बताये गये हैं तो दूसरी ओर समवायांगकार सात वर्गों की भी चर्चा करता है इससे ऐसा लगता है कि समवायांग के उपर्युक्त विवरण लिखे जाने के समय स्थानांग में उल्लेखित अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु बदल चुकी थी किन्तु वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा का पूरी तरह निर्माण भी नहीं हो पाया था। केवल सात ही वर्ग बने थे। वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा की रचना नन्दीसूत्र में तत्सम्बन्धी विवरण लिखे जाने के पूर्व निश्चित रूप से हो चुकी थी क्योंकि नन्दीसूत्रकार उसमें १० अध्ययन होने का कोई उल्लेख नहीं करता है। साथ ही वह आठ वर्गों की चर्चा करता है। वर्तमान अन्तकृद्दशा के भी आठ वर्ग ही हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु नन्दीसूत्र की रचना के कुछ समय पूर्व तक अस्तित्व में आ गई थी। ऐसा लगता है कि वल्लभी वाचना के पूर्व ही प्राचीन अन्तकृद्दशा के अध्यायों की या तो उपेक्षा कर दी गयी या उन्हें यत्र-तत्र अन्य ग्रन्थों में जोड़ दिया गया था और इस प्रकार प्राचीन अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु के स्थान पर नवीन विषयवस्तु रख दी गयी। यहां यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो सकता है कि ऐसा क्यों किया गया। क्या विस्मृति के आधार पर प्राचीन अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु लुप्त हो गयी अथवा उसकी प्राचीन विषयवस्तु सप्रयोजन वहाँ से अलग कर दी गई।

मेरी मान्यता यह है कि विषयवस्तु का यह परिवर्तन विस्मृति के कारण नहीं, परन्तु सप्रयोजन ही हुआ है। अन्तकृद्दशा की प्राचीन विषयवस्तु में जिन दस व्यक्तित्वों के चरित्र का चित्रण किया गया था उनमें निश्चित रूप से मातंग, अम्बड, रामपुत्त, भयाली (भगाली) जमाली आदि ऐसे हैं जो चाहे किसी समय तक जैन परम्परा में सम्मान्यरूप से रहे हों किन्तु अब वे जैन परम्परा के विरोधी या बाहरी मान लिये गये थे। जिन प्रणीत, अंग सुत्तों में उनका उल्लेख रखना समुचित नहीं माना गया अतः जिस प्रकार प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को ऋषियों के उपदेशों से सप्रयोजन अलग किया गया उसी प्रकार अन्तकृद्दशा से इनके विवरण को भी सप्रयोजन अलग किया। यह भी सम्भव है कि जब जैन परम्परा में श्रीकृष्ण को वासुदेव के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो उनके तथा उनके परिवार से सम्बन्धित कथानकों को कहीं स्थान देना आवश्यक था। अतः अन्तकृद्दशा की प्राचीन विषयवस्तु को बदल कर उसके स्थान पर कृष्ण और उनके परिवार से सम्बन्धित पाँच वर्गों को जोड़ दिया गया।

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु की चर्चा करते हुए सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने यह आता है कि दिगम्बर परम्परा में अन्तकृद्दशा की जो विषयवस्तु तत्वार्थवार्तिक में उल्लिखित है वह स्थानांग की सूची से बहुत कुछ मेल खाती है। यह कैसे सम्भव हुआ ? दिगम्बर परम्परा जहाँ अङ्ग-आगमों के लोप की बात करती है तो फिर तत्त्वार्थवार्तिककार को उसकी प्राचीन विषयवस्तु के संबंध में जानकारी कैसे हो गई। मेरी ऐसी मान्यता है कि श्वेताम्बर आगम साहित्य के सम्बन्ध में दिगम्बर

परम्परा में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है वह यापनीय परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुई है और इतना निश्चित है कि यापनीय और श्वेताम्बरों का भेद होने तक स्थानांग में उल्लिखित सामग्री अन्तकृद्दशा में प्रचलित रही हो और तत्सम्बन्धी जानकारी अनुश्रुति के माध्यम से तत्त्वार्थ-वार्तिककार तक पहुँची हो। तत्वार्थवार्तिककार को भी कुछ नामों के सम्बन्ध में अवश्य ही भ्रान्ति है, अगर उसके सामने मूलग्रन्थ होता तो ऐसी भ्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती। जमाली का तो संस्कृत रूप यमलोक हो सकता है किन्तु भगाली या भयाली का संस्कृत रूप वलीक किसी प्रकार नहीं बनता। इसी प्रकार किंकम का किष्कम्बल रूप किस प्रकार बना यह भी विचारणीय है। चिल्वक या पल्लतेत्तीय के नाम का अपलाप करके पालअम्बष्ठपुत्त को भी अलग-अलग कर देने से ऐसा लगता है कि वार्तिककार के समक्ष मूल ग्रन्थ नहीं है केवल अनुश्रुति के रूप में ही वह उनकी चर्चा कर रहा है। जहाँ श्वेताम्बर चूर्णिकार और टीकाकार विषय वस्तु सम्बन्धी दोनों ही प्रकार की विषयवस्तु से अवगत हैं वहां दिगम्बर (आचार्यों को मात्र प्राचीन संस्करण) उपलब्ध अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु के सम्बन्ध में जो कि छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी कोई जानकारी नहीं थी। अतः उनका आधार केवल अनुश्रुति था ग्रन्थ नहीं। जब कि श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों का आधार एक ओर ग्रन्थ था तो दूसरी ओर स्थानांग का विवरण। धवला और जयधवला में अन्तकृद्दशा सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध है वह निश्चित रूप से तत्त्वार्थवार्तिक पर आधारित है। स्वयं धवलाकार वीरसेन 'उक्तं च तत्त्वार्थ भाष्ये' कहकर उसका उल्लेख करता है। इससे स्पष्ट है कि धवलाकार के समक्ष भी प्राचीन विषयवस्तु का कोई ग्रन्थ उपस्थित नहीं था।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्राचीन अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व ही परिवर्तित हो चुकी थी और छठीं शताब्दी के अन्त तक वर्तमान अन्तकृद्दशा अस्तित्व में आ चुकी थी।

●

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई० टी० आई० रोड,
वाराणसी—२२१००५

अन्तकृद्दशा की विषयवस्तु सम्बन्धी सन्दर्भ

(१) **स्थानाङ्ग** (सं० मधुकरमुनि) दशम स्थान, सूत्र ११० एवं ११३

दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कम्मविवाग-दसाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ आयारदसाओ, पण्हावागरणदसाओ, बंधदसाओ, दोगिद्धिदसाओ, दीहदसाओ, संखेवियदसाओ।

एवं

अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

णमि मातंगे सोमिले, रामगुत्ते सुदंसणे चेव।
जमाली य भगाली य, किंकसे चिल्लएतिय।
फाले अंबडपुत्ते य एमेते दस आहिता॥

(२) **समवायाङ्ग** (सं० मधुकर मुनि) प्रकीर्णक समवाय सूत्र, ५३९-५४०

से किं तं अंतगडदसाओ? अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइय-परलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ बहुविहाओ, खमा अज्जवं मद्दवं च, सोअं च सच्चसहियं, सत्तरसविहो य संजमो, उत्तमं च बंभं, आकिंचणया तवो चियाओ समिइगुत्तीओ चेव, तह अपप्मायजोगो, सज्झायज्झाणाण य उत्तमाण दोण्हंपि लक्खणाइं।

पत्ताण य संजमुत्तमं जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मखयम्मि जह केवलस्स लंभो, परियाओ जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं, पायोवगओ य जो जहिं, जत्तियाणि भत्ताणि छेयइत्ता अंतगडो मुणिवरो तमरयोघविप्पमुक्को, मोक्खसुहमणुत्तरं च पत्ता।

एए अण्णे य एवमाइअत्था वित्थारेणं परूवेई।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा संखेज्जाओ पडिवत्तीओ संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा सत्त वग्गा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासया कडा णिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ताभावा आघविज्जंति पण्णा विज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति।

से एवं आया एवं णाया एवं विण्णाया एवं चरण-करण-परूवणया आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जति उवदंसिज्जति। सेत्तं अंतगडदसाओ।

(३) **नन्दीसूत्र** (सं० मधुकर मुनि) सूत्र ५३, पृ० १८३,

से किं तं अंतगडदसाओ?

अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं समोसरणाइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआइड्ढिविसेसा, भोग-

परिव्वाया पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं अंतकिरिआओ आघविज्जन्ति।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुअखंधे अट्ठ वग्गा, अट्ठ उद्देसणकाला, अट्ठ समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जति, दंसिज्जति निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एव विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं अंतगडदसाओ।

(४) **तत्वार्थवार्तिक**--पृष्ठ ५१

संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्येकृतः नमिमतंगसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयमवाल्मीकवलोक-निष्कंबलपालम्ब्रष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थङ्करतीर्थे ॥

(ष) **षट्खण्डागम** धवला १।१।२, खण्ड एक, भाग एक, पुस्तक एक--पृष्ठ १०३-४

अंतयडदसा णाम अंगं तेवीस लक्ख-अट्ठावीस-सहस्स-पदेहि २३२८००० एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये--संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतङ्ग सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीककिष्कंविल-पालम्बष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमानतीर्थङ्करतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं दश दशानगाराः दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशा।

चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति (ज्योतिषगणराजप्रज्ञप्ति) का पर्यवेक्षण

अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैया लाल "कमल"

सामान्य अन्तर के अतिरिक्त चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति सर्वथा समान हैं इसलिए एक के परिचय से दोनों का परिचय स्वतः हो जाता है।

उपांगद्वय-परिचय :—

संकलनकर्ता द्वारा निर्धारित नाम—ज्योतिषगणराजप्रज्ञप्ति है।

प्रारम्भ में संयुक्त प्रचलित नाम – चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति रहा होगा। बाद में उपांगद्वय के रूप में विभाजित नाम—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति हो गए जो अभी प्रचलित हैं।

प्रत्येक प्रज्ञप्ति में बीस प्राभृत हैं और प्रत्येक प्रज्ञप्ति में १०८ सूत्र हैं।

तृतीय प्राभृत से नवम् प्राभृत पर्यन्त अर्थात् सात प्राभृतों में और ग्यारहवें प्राभृत से बीसवें प्राभृत पर्यन्त अर्थात् दस प्राभृतों में 'प्राभृत-प्राभृत" नहीं है।

केवल प्रथम, द्वितीय और दसवें प्राभृत में "प्राभृत-प्राभृत" है।

संयुक्त संख्या के अनुसार सत्रह प्राभृतों में प्राभृत-प्राभृत नहीं है। केवल तीन प्राभृतों में प्राभृत-प्राभृत हैं।

उपलब्ध चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति का विषयानुक्रम वर्गीकृत नहीं है। यदि इनके विकीर्ण विषयों का वर्गीकरण किया जाए तो जिज्ञासु जगत् अधिक से अधिक लाभान्वित हो सकता है।

वर्गीकृत विषयानुक्रम :—

चन्द्रप्रज्ञप्ति के विषयानुक्रम की रूपरेखा—

१. चन्द्र का विस्तृत स्वरूप
२. चन्द्र का सूर्य से संयोग
३. चन्द्र का ग्रह से संयोग
४. चन्द्र का नक्षत्रों से संयोग
५. चन्द्र का ताराओं से संयोग

सूर्यप्रज्ञप्ति के विषयानुक्रम की रूपरेखा—

१. सूर्य का विस्तृत स्वरूप
२. सूर्य का चन्द्र से संयोग
३. सूर्य का ग्रहों से संयोग

४. सूर्य का नक्षत्रों से संयोग
५. सूर्य का ताराओं से संयोग

सूर्य-चन्द्रप्रज्ञप्ति के सूत्रों का विवरण :—

(अ) १. चन्द्र, सूर्य के संयुक्त सूत्र
२. चन्द्र, सूर्य, ग्रह के संयुक्त सूत्र
३. चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र के संयुक्त सूत्र
४. चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, ताराओं के संयुक्त सूत्र

(ब) १. ग्रहों के सूत्र
२. नक्षत्रों के सूत्र
३. ताराओं के सूत्र

(स) १. काल के भेद-प्रभेद
२. अहोरात्र के सूत्र
३. संवत्सर के सूत्र
४. औपमिक काल के सूत्र
५. काल और क्षेत्र के सूत्र

दोनों प्रज्ञप्तियों की निर्युक्ति आदि व्याख्याएं :—

द्वादश उपांगों के वर्तमान मान्यक्रम में चन्द्रप्रज्ञप्ति छठा और सूर्यप्रज्ञप्ति सातवाँ उपांग है—इसलिए आचार्य मलयगिरि ने पहले चन्द्रप्रज्ञप्ति की वृत्ति और बाद में सूर्यप्रज्ञप्ति की वृत्ति रची होगी ?

यदि आचार्य मलयगिरि कृत चन्द्रप्रज्ञप्ति-वृत्ति कहीं से उपलब्ध है तो उसका प्रकाशन हुआ है या नहीं ? या अन्य किसी के द्वारा की गई निर्युक्ति, चूर्णि या टीका प्रकाशित हो तो अन्वेषणीय है।

आचार्य मलयगिरि ने सूर्यप्रज्ञप्ति की वृत्ति में लिखा है सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति नष्ट हो गई है[1] अतः गुरु कृपा से वृत्ति की रचना कर रहा हूँ[2]।

नामकरण और विभाजन :—

सभी अंग-उपांगों के आदि या अन्त में कहीं न कहीं उनके नाम उपलब्ध हैं किन्तु इन दोनों उपांगों की उत्थानिका या उपसंहार में चन्द्रप्रज्ञप्ति या सूर्यप्रज्ञप्ति का नाम क्यों नहीं है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

दो उपांगों के रूप में इनका विभाजन कब और क्यों हुआ ? यह शोध का विषय है।

ग्रह, नक्षत्र, तारा ज्योतिषी देव हैं-इनके इन्द्र है चन्द्र-सूर्य—ये दोनों ज्योतिषगणराज हैं।

---

१. अस्या निर्युक्तिरभूत, पूर्वं श्री भद्रबाहुसूरि कृता।
कलिदोषात् साऽनेशद् व्याचक्षे केवलं सूत्रम्॥

२ सूर्यप्रज्ञप्तिमहं गुरूपदेशानुसारतः किञ्चित्।
विवृणोमि यथाशक्ति स्पष्टं स्वपरोपकाराय॥ सूर्य० प्र० वृत्ति० प्र०।

उत्थानिका और उपसंहार के गद्य-पद्य सूत्रों में "ज्योतिषगणराजप्रज्ञप्ति" नाम ही उपलब्ध है किन्तु इस नाम से ये उपांग प्रख्यात न होकर चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति नाम से प्रख्यात हुए हैं।

"ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति" के संकलनकर्ता ग्रन्थ के प्रारम्भ में "ज्योतिषगण-राज-प्रज्ञप्ति" इस एक नाम से की गई स्वतन्त्र संकलित कृति को ही कहने की प्रतिज्ञा करता है।

इसका असंदिग्ध आधार चन्द्रप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ में दी हुई तृतीय और चतुर्थ गाथा है[1]।

इसी प्रकार चन्द्र और सूर्यप्रज्ञप्ति के अन्त में दी हुई प्रशस्ति गाथाओं में से प्रथम गाथा के दो पदों में[2] संकलनकर्ता ने कहा है -"इस भगवती ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति का मैंने उत्कीर्तन किया है।

इस ग्रंथ के रचयिता ने कहीं यह नहीं कहा कि "मैं चन्द्रप्रज्ञप्ति या सूर्यप्रज्ञप्ति का कथन करूँगा, किन्तु ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति" यही एक नाम इसके रचयिता ने स्पष्ट कहा है, इस सन्दर्भ में यह प्रमाण पर्याप्त है।

यह उपांग एक उपांग के रूप में कब से माना गया है? और इसके दो अध्ययनों अथवा दो श्रुतस्कन्धों को दो उपांगों के रूप में कब से मान लिया गया? ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में क्या कहा जाय।

ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति के संकलनकर्ता :

प्रश्न उठता है—"ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति" के संकलनकर्ता कौन थे?

इस प्रश्न का निश्चित समाधान सम्भव नहीं है, क्योंकि संकलनकर्ता का नाम कहीं उपलब्ध नहीं है।

"चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति को कुछ ने गणधरकृत लिखा है। संभव है इसका आधार चन्द्रप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ की चतुर्थ गाथा[3] को मान लिया गया है। किन्तु इस गाथा से यह गौतमगणधरकृत है" यह कैसे सिद्ध हो सकता है?

इसके संकलनकर्ता कोई पूर्वधर या श्रुतधर स्थविर हैं जो यह कह रहे हैं कि "इन्द्र-भूति" नाम के गौतम गणधर भगवान् महावीर की तीन योग से वंदना करके "ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति" के सम्बन्ध में पूछते हैं।

इस गाथा में 'पुच्छइ" क्रिया का प्रयोग अन्य किसी संकलनकर्ता ने किया है।

---

१. गाहाओ—

फुड-वियड-पागडत्थं, वुच्छ पुव्वसुय-सार-णिस्संदं ।।
सुहुमं गणिणोवइट्ठं, जोइसगणराय-पण्णत्ति ।।
नामेण इंदभूइत्ति, गोयमो वंदिऊण तिविहेणं ।।
पुच्छइ जिणवरवसहं, जोइसरायस्स पण्णत्ति ।।४।।

२. गाहा—

इय एस पागडत्था, अभव्वजणहियय-दुल्लभा इणमो ।।
उक्कित्तिया भगवती, जोइसरायस्स पण्णत्ति ।।१।।

३. नामेण इंदभूइत्ति, गोयमो वंदिऊण तिविहेणं ।।
पुच्छइ जिणवरवसहं, जोइसरायस्सपण्णत्ति ।।

ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति का संकलन काल :—

भगवान् महावीर और निर्युक्तिकार भद्रबाहु—इन दोनों के बीच का समय इस ग्रन्थराज का संकलन काल कहा जा सकता है क्योंकि भद्रबाहुकृत "सूर्यप्रज्ञप्ति की निर्युक्ति" वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि के पूर्व ही नष्ट हो गई थी ऐसा वे सूर्यप्रज्ञप्ति की वृत्ति में स्वयं लिखते हैं।

ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति एक स्वतन्त्र कृति है :

संकलनकर्ता चन्द्रप्रज्ञप्ति की द्वितीय गाथा[1] में पाँच पदों को वंदन करता है और तृतीय गाथा[2] में वह कहता है कि "पूर्वश्रुत का सार निष्पन्दन-झरणा" रूप स्फुट-विकट सूक्ष्म गणित को प्रगट करने के लिए "ज्योतिषगण-राज-प्रज्ञप्ति" को कहूँगा इससे स्पष्ट ध्वनित होता है—यह एक स्वतन्त्र कृति है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के प्रत्येक सूत्र के प्रारम्भ में "ता" का प्रयोग है। यह "ता" का प्रयोग इसको स्वतन्त्र कृति सिद्ध करने के लिए प्रबल प्रमाण है।

इस प्रकार का "ता" का प्रयोग किसी भी अंग-उपांगों के सूत्रों में उपलब्ध नहीं है।

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति के प्रत्येक प्रश्नसूत्र के प्रारम्भ में 'भंते!' का और उत्तर सूत्र के प्रारम्भ में "गोयमा" का प्रयोग नहीं है जबकि अन्य अंग-उपांगों के सूत्रों में "भंते और गोयमा" का प्रयोग प्रायः सर्वत्र है, अतः यह मान्यता निर्विवाद है कि "यह कृति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र संकलित कृति है।

ग्रन्थ एक उत्थानिकायें दो :

ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति की एक उत्थानिका चन्द्रप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ में दी हुई गाथाओं की है और दूसरी उत्थानिका गद्य सूत्रों की है।

इन उत्थानिकाओं का प्रयोग विभिन्न प्रतियों के सम्पादकों ने विभिन्न रूपों में किया है:—

१. किसी ने दोनों उत्थानिकायें दी हैं।

२. किसी ने एक गद्य सूत्रों की उत्थानिका दी है।

३. किसी ने एक पद्य-गाथाओं की उत्थानिका दी है।

इसी प्रकार प्रशस्ति गाथायें चन्द्रप्रज्ञप्ति के अन्त में और सूर्यप्रज्ञप्ति के अन्त में भी दी है। जबकि ये गाथायें ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति के अन्त में दी गई थीं।

संभव है ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति को जब दो उपांगों के रूप में विभाजित किया गया होगा, उस समय दोनों उपांगों के अन्त में समान प्रशस्ति गाथायें दे दी गईं।

---

१. नमिऊण सुर-असुर-गरुल-भुसगपरि वंदिए गयकिलेसे ।।
अरिहे सिद्धायरिए उवज्झाय सव्वसाहू य ।।२।।

२. फुड-वियड-पागडत्थ. वुच्छं पुव्वसुय-सार णिस्संद ।।
सुहुमं गणिणोवइट्ठं, जोइसगणराय-पण्णत्ति ।।३।।

ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति की संकलन शैली का वैचित्र्य :—

चिर अतीत में ज्योतिष-राज-प्रज्ञप्ति का संकलन किस रूप में रहा होगा ? यह तो आगम-साहित्य के इतिहास-विशेषज्ञों का विषय है किन्तु वर्तमान में उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा सूर्यप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ में दी गई विषय-निर्देशक समान गाथाओं में प्रथम प्राभृत का प्रमुख विषय "सूर्य मण्डलों में सूर्य की गति का गणित" सूचित किया गया है, किन्तु दोनों उपांगों का प्रथम सूत्र मूहूर्तों की हानि-वृद्धि का है।

सूर्य सम्बन्धी गणित और चन्द्र सम्बन्धी गणित के सभी सूत्र यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। ग्रह-नक्षत्र और ताराओं के सूत्रों का भी व्यवस्थित क्रम नहीं है। अतः आगमों के विशेषज्ञ सम्पादक, श्रमण या सद्गृहस्थ इन उपांगों को आधुनिक सम्पादन शैली से सम्पादित करें तो गणित ज्ञान की आशातीत वृद्धि हो सकती है।

प्रथम प्राभृत के पाँचवें प्राभृत-प्राभृत में दो सूत्र हैं। सोलहवें सूत्र में सूर्य की गति के सम्बन्ध में अन्य मान्यताओं की पाँच प्रतिपत्तियाँ हैं और सत्रहवें सूत्र में स्वमान्यता का प्ररूपण है।

इस प्रकार अन्य मान्यताओं का और स्वमान्यता का दो विभिन्न सूत्रों में निरूपण अन्यत्र नहीं है।

संकलन काल की दुविधा :

गणधर अंग आगमों को सूत्रागमों के रूप में पहले संकलित करता है और श्रुतधर स्थविर उपांगों को बाद में संकलित करते हैं। संकलन का यह कालक्रम निर्विवाद है।

अंग आगमों को संकलित करने वाला गणधर एक होता है और उपांग आगमों को संकलित करने वाले श्रुतधर विभिन्न काल में विभिन्न होते हैं अतः उनकी धारणायें तथा संकलन पद्धति समान होना सभव नहीं है।

स्थानांग अंग आगम है। इसके दो सूत्रों में[1] चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति के नामों का निर्देश दुविधा-जनक है क्योंकि स्थानांग के पूर्व चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति का संकलन होने पर ही उनका उसमें निर्देश संभव हो सकता है।

इस विपरीत धारणा के निवारण के लिए बहुश्रुतों को समाधान प्रस्तुत करना चाहिए किन्तु समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह संक्षिप्त वाचना की सूचना नहीं है—ये दोनों अलग-अलग सूत्र हैं।

नक्षत्र गणनाक्रम में परस्पर विरोध है ?

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति के दशम-प्राभृत के प्रथम प्राभृत-प्राभृत में नक्षत्र गणनाक्रम की स्वमान्यता का प्ररूपण है—तदनुसार अभिजित् से उत्तराषाढ़ा पर्यन्त २८ नक्षत्रों का गणना क्रम है किन्तु स्थानांग अ. २, उ. ३, सूत्रांक ९५ में तीन गाथाएँ नक्षत्र गणना क्रम की हैं और यही तीन गाथाएँ अनुयोग द्वार के उपक्रम विभाग में सूत्र १८५ में हैं।

---

१. क—स्थानांग अ. ३, उ. २, सू. १६०।
ख—स्थानांग अ. ४, उ. १, सू. २७७।

स्थानांग अंग आगम है—इसमें कहा गया नक्षत्र गणनाक्रम यदि स्वमान्यता के अनुसार है तो सूर्यप्रज्ञप्ति में कहे गए नक्षत्र गणनाक्रम को स्वमान्यता का कैसे माना जाय ? क्योंकि उपांग की अपेक्षा अंग आगम की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है।

यदि स्थानांग में निर्दिष्ट नक्षत्र गणनाक्रम को किसी व्याख्याकर ने अन्य मान्यता का मान लिया हो तो परस्पर विरोध निरस्त हो जाता है।

प्राभृत पद का परमार्थ[1] :

सूर्यप्रज्ञप्ति-वृत्ति के अनुसार प्राभृत शब्द के अर्थ—

इष्ट पुरुष के लिए देश-काल के योग्य हितकर दुर्लभ वस्तु अर्पित करना।

अथवा जिस पदार्थ से मन प्रसन्न हो ऐसा पदार्थ इष्ट पुरुष को अर्पित करना ये दोनों शब्दार्थ हैं।

चन्द्र सूर्यप्रज्ञप्ति से सम्बन्धित अर्थ—

विनयादि गुण सम्पन्न शिष्यों के लिए देशकालोपयोगी शुभफलप्रद दुर्लभ ग्रन्थ स्वाध्याय हेतु देना।

यहाँ "देशकालोपयोगी" विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य है।

कालिक और उत्कालिक

नन्दीसूत्र में गमिक को "उत्कालिक" और आगमिक को "कालिक" कहा है।

---

१. क—अथ प्राभृतमिति का शब्दार्थ ?

उच्यते—इह प्राभृतं नाम लोके प्रसिद्धं यदभीष्टाय पुरुषाय देश-कालोचितं दुर्लभ-वस्तु-परिणामसुन्दरमुपनीयते।

ख—प्रकर्षेण आसमन्ताद् भ्रियते-पोष्यते चित्तमभीष्टस्य पुरुषस्यानेनेति प्राभृतम्।

ग—विवक्षिता अपि च ग्रन्थपद्धतयः परमदुर्लभा परिणामसुन्दरा स्वाभीष्टेभ्योविनयादिगुण-कलितेभ्यः शिष्येभ्यो देश-कालो चित्येनीपनोयन्ते।

सूर्य० सू० ६ वृत्ति० पत्र ७ का पूर्वभाग

श्वेताम्बर परम्परा में चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति के अध्ययन आदि विभागों के लिए "प्राभृत" शब्द प्रयुक्त है।

दिगम्बर परम्परा के कषायपाहुड आदि सिद्धान्त ग्रन्थों के लिए "पाहुड" शब्द के विभिन्न अर्थ।

१—जिसके पदस्फुट—व्यक्त है वह "पाहुड कहा जाता है।

२—जो प्रकृष्ट पुरुषोत्तम द्वारा आभृत—प्रस्थापित है वह "पाहुड" कहा जाता है।

३—जो प्रकृष्ट ज्ञानियों द्वारा आभृत—धारण किया गया है अथवा परम्परा से प्राप्त किया गया है वह "पाहुड', कहा जाता है।

जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष से उद्धृत

दृष्टिवाद गमिक है[१] दृष्टिवाद का तृतीय विभाग पूर्वगत है[२] उसी पूर्वगत से ज्योतिष गण-राज-प्रज्ञप्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति) का निर्यूहण किया गया है, ऐसा चन्द्रप्रज्ञप्ति की उत्थानिका की तृतीय गाथा से ज्ञात होता है।

अंग-उपांगों का एक दूसरे से सम्बन्ध है, ये सब आगमिक हैं अतः वे सब कालिक हैं।

उसी नन्दी सूत्र के अनुसार चन्द्रप्रज्ञप्ति कालिक है[३] और सूर्यप्रज्ञप्ति उत्कालिक है[४]।

चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के कतिपय गद्य-पद्य सूत्रों के अतिरिक्त सभी सूत्र अक्षरशः समान हैं अतः एक कालिक और एक उत्कालिक किस आधार पर माने गए हैं ?

यदि इन दोनों उपांगों में से एक कालिक और एक उत्कालिक निश्चित है तो "इनके सभी सूत्र समान नहीं थे" यह मानना ही उचित प्रतीत होता है, काल के विकराल अन्तराल में इन उपांगों के कुछ सूत्र विच्छिन्न हो गए और कुछ विकीर्ण हो गए हैं।

मूल अभिन्न और अर्थ अभिन्न

चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के मूल सूत्रों में कितना साम्य है ? यह तो दोनों के आद्योपान्त अवलोकन से स्वतः ज्ञात हो जाता है—किन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति के सभी सूत्रों की चन्द्र परक व्याख्या और सूर्यप्रज्ञप्ति के सभी सूत्रों की सूर्य परक व्याख्या अतीत में उपलब्ध थी। यह कथन कितना यथार्थ है ? कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा किसी टीका निर्युक्ति आदि में कहीं कहा नहीं है।

यदि इस प्रकार का उल्लेख किसी टीका-निर्युक्ति आदि में देखने में आया हो तो प्रकाशित करें।

एक के अनेक अर्थ असंभव नहीं

एक श्लोक या एक गाथा के अनेक अर्थ असम्भव नहीं हैं। द्विसंधान, पंचसंधान, सप्तसंधान आदि काव्य वर्तमान में उपलब्ध हैं। इनमें प्रत्येक श्लोक की विभिन्न कथा परक टीकायें देखी जा सकती हैं। किन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के सम्बन्ध में बिना किसी प्रबल प्रमाण के भिन्नार्थ कहना उचित प्रतीत नहीं होता।

विरोध भी, व्यवहार भी

ज्योतिषशास्त्र निमित्त शास्त्र माना गया है। इसका विशेष शुभाशुभ जानने में सफल हो सकता है।

मानव की सर्वाधिक जिज्ञासा भविष्य जानने की होती है क्योंकि वह इष्ट का संयोग एवं कार्य की सिद्धि चाहता है।

---

१. नन्दीसूत्र गमिक आगमिक श्रुत सूत्र ४४
२. नदीसूत्र दृष्टिवाद श्रुत सूत्र ९०
३. नन्दीसूत्र उत्कालिक श्रुत सूत्र ४४
४. नन्दीसूत्र कालिक श्रुत सूत्र ४४

चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति ज्योतिष विषय के उपांग है—यद्यपि इनमें गणित अधिक है और फलित अत्यल्प है फिर भी इनका परिपूर्ण ज्ञाता शुभाशुभ निमित्त का ज्ञाता माना जाता है—यह धारणा प्राचीन काल से प्रचलित है।

ग्रह-नक्षत्र मानवमात्र के भावी के द्योतक हैं अतएव इनका मानव जीवन के साथ व्यापक सम्बन्ध है।

निमित्त शास्त्र के प्रति जो मानव की अगाध श्रद्धा है वह भी ग्रह-नक्षत्रों के शुभाशुभ प्रभाव के कारण ही है।

श्रमण समाचारी के अनुसार निमित्त शास्त्र का उपयोग या प्रयोग सर्वथा निषिद्ध है—अतएव निमित्त का प्रयोक्ता "पापश्रमण"[1] एवं आसुरी भावना वाला[2] माना गया है।

जन्म, जरा, मरण से त्राण देने में निमित्त शास्त्र का ज्ञान सर्वथा असमर्थ है[3]।

ऐसे अनेक निषेधों के होते हुए भी आगमों में निमित्त शास्त्र-सम्बन्धी अनेक सूत्र उपलब्ध है। यथा—

१—ज्ञान वृद्धि करने वाले दश नक्षत्र हैं[4]

२—मानव के सुख-दुःख के निमित्त ग्रह-नक्षत्र हैं[5]

प्रव्रज्यायोग तथा प्रव्रज्या प्रदान के तिथि नक्षत्रादि का विधान भी जैनाचार्यों ने किया है।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण काल में आए हुए भस्मग्रह के भावी परिणामों ने तो भावुक भव्य जनों के मानस पर असीम असर किया है—यह भी निमित्त शास्त्र की ही देन है[6]।

ज्योतिषीदेवों का जीव जगत् से सम्बन्ध

इस मध्यलोक के मानव और मानवेतर प्राणि जगत् से चन्द्र आदि ज्योतिषी देवों का शाश्वत सम्बन्ध है। क्योंकि वे सब इसी मध्यलोक के स्वयं प्रकाशमान देव हैं और वे इस भूतल के समस्त पदार्थों को प्रकाश प्रदान करते रहते हैं।

ज्योतिष लोक और मानव लोक का प्रकाश्य-प्रकाशक भाव सम्बन्ध इस प्रकार है।

चन्द्र शब्द की रचना

चदि आह्लादने धातु से "चन्द्र" शब्द सिद्ध होता है।

चन्द्रमाह्लादं मिमीते निर्मिमीते इति चन्द्रमा

---

१. उत्त० अ० १७, गाथा १८

२. उत्त० अ० ३६, गाथा २६६

३. उत्त० अ० २०, गाथा ४५

४. स्था० अ० १०, सू० ७८१ सम० १०

५. रयणिकर-दिणकराणं, णक्खत्ताणं महग्गहाणं च ॥
चार-विसेसेण भवे सुह-दुक्खविही मणुस्साणं ॥ (सूर्य० प्रा० १० प्रा-प्रा १९ सू०)

६. जीवा० प्रति० ३, सूत्र १

प्राणि जगत् के आह्लाद का जनक चन्द्र है इसलिए चन्द्र दर्शन की परम्परा प्रचलित है।

चन्द्र के पर्यायवाची अनेक हैं उनमें कुछ ऐसे पर्यायवाची हैं जिनसे इस पृथ्वी के समस्त पदार्थों से एवं पुरुषों से चन्द्र का प्रगाढ़ सम्बन्ध सिद्ध है।

कुमुद बान्धव

जलाशयों में प्रफुल्लित कुमुदिनी का बन्धु चन्द्र है इसलिए यह "कुमुद बान्धव" कहा जाता है।

कलानिधि चन्द्र के पर्याय हिमांशु, शुभ्रांशु, सुधांशु की अमृतमयी कलाओं से कुमुदिनी का सीधा सम्बन्ध है।

इसकी साक्षी है राजस्थानी कवि की सूक्ति

दोहा—जल में बसे कुमुदिनी, चन्दा बसे आकाश।
जो जाहु के मन बसे, सो ताहु के पास ॥

औषधीश

जंगल की जड़ी-बूटियाँ "औषधि" हैं—उनमें रोगनिवारण का अद्भुत सामर्थ्य सुधांशु की सुधामयी रश्मियों से आता है।

मानव आरोग्य का अभिलाषी है, वह औषधियों से प्राप्त होता है—इसलिए औषधीश चन्द्र से मानव का घनिष्ट सम्बन्ध है।

निशापति

निशा = रात्रि का पति-चन्द्र है।

श्रमजीवी दिन में "श्रम" करते हैं और रात्रि में विश्राम करते हैं।

आह्लादजनक चन्द्र की चन्द्रिका में विश्रान्ति लेकर मानव स्वस्थ हो जाता है। इसलिए मानव का निशानाथ से अति निकट का सम्बन्ध सिद्ध होता है। जैनागमों में चन्द्र के एक "शशि" पर्याय की ही व्याख्या है[1]।

---

१. ससी सद्दस्स विसिट्ठऽत्थं....

प्र० से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चइ—चंदे ससी, चंदे ससी ?

उ० गोयमा! चंदस्स णं जोइसिंदस्स जोइसरण्णो मियंके विमाणे, कंता देवा कंता देवा कंताओ, देवीओ कंताइं आसण-सयण-खंभ भंडमत्तोवगरणाइं, अप्पणा वि य णं चंदे जोतिसिंदे जोइसराया सोमे कंते सुभए पियदंसणे सुरूवे, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—"चंदे ससी चंदे ससी"।

भग. सू. १२, उ. ६. सु. ४।

शशि शब्द का विशिष्टार्थ—

प्र० हे भगवन्! चंद्र को "शशि" किस अभिप्राय से कहा जाता है ?

उ० हे गौतम! ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिषराज चन्द्र के मृगांक विमान में मनोहर देव, मनोहर देवियाँ,

सूर्य शब्द की रचना

षू प्रेरणे धातु से "सूर्य" शब्द सिद्ध होता है।
सुवति-प्रेरयति कर्मणि लोकान् इति सूर्यः।
जो प्राणिमात्र को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है वह "सूर्य" है।
"सूरज" ग्रामीण जन "सूर्य" को "सूरज" कहते हैं।
सु + ऊर्ज से सूर्ज या सूरज उच्चारण होता है।
सु श्रेष्ठ—ऊर्ज = ऊर्जा = शक्ति।
सूर्य से श्रेष्ठ शक्ति प्राप्त होती है।

सूर्य के पर्याय अनेक हैं। इनमें कुछ ऐसे पर्याय हैं, जिनसे सूर्य का मानव के साथ सहज सम्बन्ध सिद्ध होता है।

सहस्रांशु :—सूर्य की सहस्र रश्मियों से प्राणियों को जो "उष्मा" प्राप्त होती है, वही जगत् के जीवों का जीवन है।

प्रत्येक मानव शरीर में जब तक उष्मा—गर्मी रहती है, तब तक जीवन है। उष्मा समाप्त होने के साथ ही जीवन समाप्त हो जाता है।

भास्कर, प्रभाकर, विभाकर, दिवाकर, द्युमणि, अहर्पति, भानु आदि पर्यायों से "सूर्य" प्रकाश देने वाला देव है।

मानव की सभी प्रवृत्तियाँ प्रकाश में ही होती हैं। प्रकाश के बिना वह अकिञ्चित् कर है।

सूर्य के ताप से अनेक रोगों की चिकित्सा होती है।

सौर ऊर्जा से अनेक यन्त्र शक्तियों का विकास हो रहा है।

इस प्रकार मानव का सूर्य से शाश्वत सम्बन्ध है।

तथा मनोज्ञ आसन-शयन-स्तम्भ-भाण्ड-पात्र आदि उपकरण हैं और ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिषराज चन्द्र स्वयं भी सौम्य, कान्त, सुभग, प्रियदर्शन एवं सुरूप है।
हे गौतम! इस कारण से चन्द्र को "शशि" (या सश्री) कहा जाता है।

सूर सद्दस्स विसिट्ठत्थं—

प्र० से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—"सूरे आदिच्चे सूरे आदिच्चे"?

उ० गोयमा! सूरादीया णं समया इ वा, आवलिया इ वा, जाव ओसप्पिणी इ वा उस्सप्पिणी इ वा। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—"सूरे आदिच्चे सूरे आदिच्चे।

भग. स. १२, उ. ६, सु. ५

सूर्य शब्द का विशिष्टार्थ—

प्र० हे भगवन्! सूर्य को "आदित्य" किस अभिप्राय से कहा जाता है?

उ० हे गौतम! समय, आवलिका यावत् अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी काल का आदि कारण सूर्य है। हे गौतम! इस कारण से सूर्य "आदित्य" कहा जाता है।

जैनागमों में सूर्य के एक "आदित्य" पर्याय की व्याख्या द्वारा सभी काल विभागों का आदि सूर्य कहा गया है।

नक्षत्र और नर समूह

नक्षत्र शब्द की रचना :

१. न क्षदते हिनस्ति "क्षद" इति सौत्रो धातु हिंसार्थ आत्मने पदी। षृन (उ. ४।१५९) नभ्राण्नपाद् (६।३।७५) इति नञः प्रकृति भावः।

२. णक्ष गतौ (भ्वा. प. से.) नक्षति।
अमि-नक्षि-यजि-वधि-पतिभ्यो त्रन् (उ. ३।१०५) प्रत्यये कृते।

३. न क्षणोति क्षणुहिंसायाम् (त. उ. से. (ष्ट्रन्) उ. ४।१५९) न क्षत्र।

४. न क्षत्रं देवत्वात् क्षत्र भिन्त्वात्।

जो क्षत = खतरे से रक्षा करे वह "क्षत्र" कहा जाता है। उस "क्षत्र" का जो "रक्षा करना" धर्म है वह "क्षात्र धर्म" कहा जाता है। क्षत्र की सन्तान "क्षत्रिय" कही जाती है।

इस भूतल के रक्षक नर "क्षत्र" हैं और नभ आकाश में रहने वाले रक्षक देव "नक्षत्र" हैं। इन नक्षत्रों का नर क्षत्रों से सम्बन्ध नक्षत्र सम्बन्ध है।

अट्ठाईस नक्षत्रों में से "अभिजित्" नक्षत्र को व्यवहार में न लेकर सत्ताईस नक्षत्रों से व्यवहार किया है।

प्रत्येक नक्षत्र के चार चरण हैं अर्थात् चार अक्षर हैं। इस प्रकार सत्ताईस नक्षत्रों के १०८ अक्षर होते हैं।

इन १०८ अक्षरों को बारह राशियों में विभक्त करने पर प्रत्येक राशि के ९ अक्षर होते हैं।

इस प्रकार सत्ताईस नक्षत्रों एवं बारह राशियों के १०८ अक्षरों से प्रत्येक प्राणी एवं पदार्थों के "नाम" निर्धारित किये जाते हैं।

यह नक्षत्र और नर समूह का त्रैकालिक सम्बन्ध है।

चर, स्थिर आदि सात अन्ध, काण आदि चार इन ग्यारह संज्ञाओं से अभिहित ये नक्षत्र प्रत्येक कार्य की सिद्धि आदि में निमित्त होते हैं।

तारा मण्डल

तारा शब्द की रचना :

तारा शब्द स्त्रीलिंग है।

तॄ प्लवन-तरणयो-धातु से "तारा" शब्द की सिद्धि होती है। परन्ति अनया इति तारा।

सांयात्रिक जहाजी व्यापारियों के नाविक रात्रि में समुद्र यात्रा तारामण्डल के दिशा बोध से करते थे।

ध्रुव तारा सदा स्थिर रहकर उत्तर दिशा का बोध कराता है। शेष दिशाओं का बोध ग्रह, नक्षत्र और राशियों की नियमित गति से होता रहता है। इसलिए नौका आदि के तिरने में जो सहायक होते हैं वे तारा कहे जाते हैं।

रेगिस्तान की यात्रा रात्रि में सुखपूर्वक होती है इसलिए यात्रा के आयोजक रात्रि में तारा से दिशा बोध करते हुए यात्रा करते हैं।

तारामण्डल के विशेषज्ञ प्रान्त का, देश का शुभाशुभ जान लेते हैं इसलिए ताराओं का इस पृथ्वीतल के प्राणियों से अतिनिकट का सम्बन्ध सिद्ध है।

इस प्रकार चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारें मानव के सुख-दुःख के निमित्त हैं।

ग्रह शब्द की रचना—

ग्रह उपादाने धातु से ग्रह शब्द सिद्ध होता है।

जैनागमों में छः ग्रह और आठ ग्रह का उल्लेख है,[1]

चन्द्र-सूर्य को ग्रहपति माना है, शेष छः को ग्रह माना है राहु-केतु को भिन्न न मानकर एक केतु को ही माना है।

अट्ठासी ग्रह भी माने हैं[2]।

अन्य ग्रन्थों में नौ ग्रह माने गये हैं।

ग्रहों के प्रभाव के सम्बन्ध में वसिष्ठ और वृहस्पति नाम के ज्योतिर्विदाचार्य ने इस प्रकार कहा है।

वसिष्ठ :—

ग्रहा राज्यं प्रयच्छति, ग्रहा राज्यं हरन्ति च।
ग्रहेस्तु व्यापितं सर्वं, त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

वृहस्पति :—

ग्रहाधीनं जगत्सर्वं ग्रहाधीना नरावराः।
कालं ज्ञानं ग्रहाधीनं, ग्रहाः कर्मफलप्रदाः ॥

३२वां गोचर प्रकरण।

वृहद्दैवज्ञरंजन, पृ० ८४

---

१. छ तारग्गहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. सुक्को, २. बुहे, ३. बहस्सति, ४. अंगारके, ५. सणिच्छरे, ६. केतू।

ठाणं अ० ६, सु० ४८१।

२. अट्ठ महग्गहा पण्णत्ता तं जहा—

१. चंदे, २. सूरे, ३. सुक्के, ४. बुहे, ५. बहस्सति, ६. अंगारके, ७. सणिच्छरे, ८. केतू।

ठाणं ८, सु० ६१३।

गणितानुयोग का गणित सम्यक् श्रुत है

मिथ्याश्रुतों की नामावली में गणित को मिथ्याश्रुत माना है[1], इसका यह अभिप्राय नहीं है कि—"सभी प्रकार के गणित मिथ्याश्रुत हैं।

आत्मशुद्धि की साधना में जो गणित उपयोगी या सहयोगी नहीं है, केवल वही गणित "मिथ्याश्रुत" है ऐसा समझना चाहिए। यहां "मिथ्या" का अभिप्राय "अनुपयोगी" है—झूठा नहीं।

वैराग्य की उत्पत्ति के निमित्तों में लोक भावना अर्थात् लोक स्वरूप का विस्तृत ज्ञान भी एक निमित्त है[2], अतः अधो, मध्य और उर्ध्व लोक से सम्बन्धित सारा गणित "सम्यक्श्रुत" है, क्योंकि यह गणित आजीविका या अन्यान्य सावद्य क्रियाओं का हेतु नहीं हो सकता है।

स्थानांग, समवायांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति—इन तीनों अंगों में तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्र-प्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति—इन तीनों उपांगों में गणित सम्बन्धी जितने सूत्र हैं वे सब सम्यक् श्रुत हैं क्योंकि अंग-उपांग सम्यक् श्रुत है।

अन्य मान्यताओं के उद्धरण :—

स्वमान्यताओं का प्ररूपण :—

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति में अनेक अन्य मान्यताओं के उद्धरण दिए गए हैं साथ ही स्वमान्यताओं के प्ररूपण भी किए गए हैं।

अन्य मान्यताओं का सूचक "प्रतिपत्ति" शब्द है

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति में जितनी प्रतिपत्तियां हैं उनकी सबकी सूची इस प्रकार है—

सूर्यप्रज्ञप्ति में प्रतिपत्तियों की संख्या

प्राभृत	प्राभृत-प्राभृत	सूत्र	प्रतिपत्ति संख्या
१	४	१५	६ प्रतिपत्तियां
१	५	१६	५ प्रतिपत्तियां
०	०	१७	स्वमत कथन
१	६	१८	७ प्रतिपत्तियां
१	७	१९	८ प्रतिपत्तियां "एक के समान-स्वमान्यता"
१	८	२०	३ प्रतिपत्तियां
२	१	२१	८ प्रतिपत्तियां
२	२	२२	२ प्रतिपत्तियां
२	३	२३	४ प्रतिपत्तियां
३	०	२४	१२ प्रतिपत्तियां

१. नन्दीसूत्र सूत्र ७७

२. जगत्कायस्वभावौ च संवेग—वैराग्यार्थम्

तत्त्वार्थसूत्र अ. ७ सूत्र ७

४	०	२५	१६	प्रतिपत्तियां
५	०	२६	२०	प्रतिपत्तियां
६	०	२७	२५	प्रतिपत्तियां
७	०	२८	२०	प्रतिपत्तियां
८	०	२९	३	प्रतिपत्तियां
९	०	३०	३	प्रतिपत्तियां
०	०	३१	२५	प्रतिपत्तियां
०	०	०	२	प्रतिपत्तियां[1]
०	०	०	९६	प्रतिपत्तियां
१०	१	३२	५	प्रतिपत्तियां
१०	२१	५९	५	प्रतिपत्तियां
१७	०	८८	२५	प्रतिपत्तियां
१८	०	८९	२५	प्रतिपत्तियां
१९	०	१००	१२	प्रतिपत्तियां
२०	०	१०२	२	प्रतिपत्तियां
२०	०	१०३	२	प्रतिपत्तियां

एक व्यापक भ्रान्ति

दोनों उपांगों के दसवें प्राभृत के सत्रहवें प्राभृत-प्राभृत में प्रत्येक नक्षत्र का पृथक्-पृथक् भोजन विधान है।

---

१. क—इन प्रतिपत्तियों के पूर्व के प्रश्नसूत्र विच्छिन्न हैं।

ख—इन प्रतिपत्तियों के बाद स्वमत प्रतिपादक सूत्रांश भी विच्छिन्न है।

उपांगद्वय के संकलनकर्ता ने प्रतिपत्तियों के जितने उद्धरण दिए हैं उनके प्रमाणभूत मूल ग्रन्थों के नाम ग्रन्थकारों के नाम अध्याय, श्लोक, सूत्रांक आदि नहीं दिए हैं।

बहुश्रुतों का कर्तव्य :

उपांगद्वय में उद्धृत प्रतिपत्तियों के स्थल निर्देश करना प्रमाणभूत ग्रन्थ से प्रतिपत्ति की मूल वाक्यावली देकर अन्य मान्यता का निरसन करना और स्वमान्यताओं का युक्तिसंगत प्रतिपादन करना इत्यादि आधुनिक पद्धति की सम्पादन प्रक्रिया से सम्पन्न करके उपांग द्वय को प्रस्तुत करना।

अथवा—किसी शोध संस्थान के माध्यम से चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति पर विस्तृत शोध निबन्ध लिखवाना।

किसी योग्य श्रमण-श्रमणी या विद्वान् को शोध निबन्ध के लिए उत्साहित करना।

शोध निबन्ध लेखन के लिए आवश्यक ग्रन्थादि की व्यवस्था करना।

शोध निबन्ध लेखक का सम्मान करना।

ये सब श्रुतसेवा के महान् कार्य हैं।

इनमें मांस भोजन के विधान भी हैं।

इन्हें देखकर सामान्य स्वाध्यायी के मन में एक आशंका उत्पन्न होती है।

ये दोनों उपांग आगम हैं—इनमें ये मांस भोजन के विधान कैसे हैं ?

यह आशंका अज्ञात काल से चली आ रही है।

सूर्यप्रज्ञप्ति के वृत्तिकार मलयगिरि ने भी इन मांस भोजन विधानों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का ऊहापोह या स्पष्टीकरण नहीं किया है।

एक कृत्तिका नक्षत्र के भोजन विधान की व्याख्या करके शेष नक्षत्रों के भोजन कृत्तिका के समान समझने की सूचना दी है।

शेष नक्षत्रों के भोजन विधानों की व्याख्याएँ न करने के सम्बन्ध में यह कल्पना है कि—मांसवाची शब्दों की व्याख्या क्या की जाय ?

अथवा मांसवाची भोजनों को वनस्पतिवाची सिद्ध करने की क्लिष्ट कल्पना करना उन्हें उचित नहीं लगा होगा ? या उस समय ऐसी कोई परम्परागत धारणा रही न होगी ?

स्व० पूज्य श्रीघासीलालजी म० ने सभी मांसवाची भोजनों को वनस्पतिवाची सिद्ध करने का प्रयास किया है।

स्पष्टीकरण

जैनागमों में नक्षत्र गणना का क्रम अभिजित से प्रारम्भ होकर उत्तराषाढ़ा पर्यन्त का है।

प्रस्तुत प्राभृत के इस सूत्र में नक्षत्र का क्रम कृत्तिका से प्रारम्भ होकर भरणी पर्यन्त का है[1],

---

१. चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति के संकलनकर्ता श्रुतधर स्थविर ने नक्षत्र गणना क्रम की पाँच विभिन्न मान्यताओं का निरूपण करके स्वमान्यता का प्ररूपण किया है।

पाँच अन्य मान्यताओं का निरूपण—

अट्ठाईस नक्षत्रों का गणना क्रम—

१. कृत्तिका नक्षत्र से भरणी नक्षत्र पर्यन्त २८ नक्षत्र

२. मघा नक्षत्र से अश्लेषा नक्षत्र पर्यन्त २८ नक्षत्र

३. धनिष्ठा नक्षत्र से श्रवण नक्षत्र पर्यन्त २८ नक्षत्र

४. अश्विनी नक्षत्र से रेवती नक्षत्र पर्यन्त २८ नक्षत्र

५. भरणी नक्षत्र से अश्विनी नक्षत्र पर्यन्त २८ नक्षत्र

स्वमान्यता का प्ररूपण—

अभिजित नक्षत्र से उत्तराषाढ़ा नक्षत्र पर्यन्त २८ नक्षत्र

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति दशम प्राभृत
प्रथम प्राभृत-प्राभृत सूत्रांक ३२

नक्षत्र गणना क्रम के इस विधान से यह स्पष्ट है कि दशम प्राभृत व सप्तदशम प्राभृत-प्राभृत में निरूपित नक्षत्र भोजन विधान सूर्यप्रज्ञप्ति के संकलनकर्ता की स्वमान्यता का नहीं है।

उपलब्ध अनेक ज्योतिष ग्रन्थों में भी यह नक्षत्र गणना का क्रम विद्यमान है—अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत नक्षत्र-भोजन-विधान का क्रम अन्य किसी ज्योतिष ग्रन्थ से उद्धृत है[१],

---

आश्चर्य यह है कि अब तक सम्पादित एवं प्रकाशित चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्तियों के अनुवादकों आदि ने इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण लिखकर व्यापक भ्रान्ति के निराकरण के लिए सत्साहस नहीं किया।

१. कुल्माषांस्तिलतण्डुलानपि तथा माषांश्च गव्यं दधि।
त्याज्यं दुग्धमथैणमांसमपरं तस्यैव रक्तं तथा॥
तदुत्पायसमेव चाषपललं मार्गं च शाशं तथा।
षाष्टिक्यं च प्रियङ्ग्वपूपमथवा चित्राण्डजान् सत्फलम्॥
कौर्मं सारिकगोधिकं च पललं शाल्यं हविष्यं हया।
वृक्षैस्यान्कृसरान्नमुदमपिना पिष्टं यवानां तथा॥
मत्स्यान्नं खलु चित्रितान्नमथवा दध्यन्नमेवं क्रमात्।
भक्ष्याऽभक्ष्यमिदं विचार्यमतिमान् भक्षेत्तथाऽऽलोकयेत्॥

नक्षत्र दोहद—

निर्विघ्न यात्रा के लिए नक्षत्र भोजनों का विधान :—

१. अश्विनी नक्षत्र में यात्रा करते समय उड़द, जौ आदि का उपयोग करें।
२. भरणी में तिल, चावल।
३. कृत्तिका में उड़द।
४. रोहिणी में गाय का दही।
५. मृगशिर से गाय का घृत।
६. आर्द्रा में गाय का दूध।
७. पुनर्वसु में हरिण का मांस।
८. पुष्य में हरिण का रक्त।
९. अश्लेषा में क्षीर।
१०. मघा में पपीहा का मांस।
११. पूर्वाफाल्गुनी में हरिण का मांस।
१२. उत्तराफाल्गुनी में शशक का मांस।
१३. हस्त में साठी चावल।
१४. चित्रा में मालकांगनी।
१५. स्वाति में पूआ।
१६. विशाखा में चित्र-विचित्र पक्षियों के मांस।
१७. अनुराधा में उत्तम फल।
१८. ज्येष्ठा में कछुए का मांस।
१९. मूल में सारिका पक्षी का मांस।
२०. पूर्वाषाढ़ा में गोह का मांस।

इन उपांगद्वय की संकलन शैली के अनुसार अन्य मान्यताओं के बाद स्वमान्यता का सूत्र रहा होगा ? जो विषम काल के प्रभाव से विच्छिन्न हो गया है—ऐसा अनुमान है।

सामान्य मनीषियों ने इस नक्षत्र-भोजन-विधान को और नक्षत्र गणना क्रम को स्वसम्मत मानने में बहुत बड़ी असावधानी की है।

इसी एक सूत्र के कारण उपांगद्वय के सम्बन्ध में अनेक चमत्कार की बातें कहकर भ्रान्तियाँ फैलाई गई हैं[1]।

इन भ्रान्तियों के निराकरण के लिए आज तक किसी भी बहुश्रुत ने अपने उत्तरदायित्व को समझकर समाधान करने का प्रयत्न नहीं किया है।

इसका परिणाम यह हुआ कि इन उपांगों का स्वाध्याय होना भी बन्द हो गया।

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति और अन्य ज्योतिष ग्रन्थों का तुलनात्मक चिन्तन :

दशम प्राभृत के

अष्टम प्राभृत-प्राभृत में नक्षत्र संस्थान

नवम प्राभृत-प्राभृत में नक्षत्र, तारा संख्या

नक्षत्र स्वामी-देवता :—

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति में दशम प्राभृत के बारहवें प्राभृत-प्राभृत के सूत्र ४६ में नक्षत्र देवताओं के नाम हैं।

---

२१. उत्तराषाढ़ा में साही का मांस
२२. अभिजित में मूँग
२३. श्रवण में खिचड़ी
२४. धनिष्ठा में मूंग-भात
२५. शतभिषक में जौ की पिष्ठी
२६. पूर्वाभाद्रपद में मच्छी-चावल
२७. उत्तराभाद्रपद में खिचड़ी
२८. स्वाति में दही-चावल

इसी प्रकार दिशा, वार और तिथियों के दोहद में भी धान्य, मांस, फल आदि के विधान हैं। मुहूर्तचिन्तामणिकार ने लिखा है कि—देश-कुल के अनुसार जो भक्ष्य हो उसे खाकर और जो अभक्ष्य हो उसे देखकर यात्रा करे।

१. चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति की प्रस्तावना में स्व० अमोलकऋषिजी म० ने लिखा है—

"ये चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र कैसे प्रभाविक, चमत्कारी हैं व कितने ग्रह है? यह कुछ जैनों से छिपा नहीं है। बड़े-बड़े महात्मा साधु भी इसका पठन मात्र करते अचकाते हैं, जिन जिनने इसका पठन किया उन उनने इसके चमत्कार देखे ऐसी दंत कथायें भी बहुत सी प्रचलित हैं।

चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति से सम्बन्धित चमत्कार की घटनाओं के दन्त कथाओं की श्रेणी में सूचित कर कल्पित भय का निराकरण तो किया किन्तु नक्षत्र भोजन से सम्बन्धित तथ्यों का रहस्योद्घाटन करके वास्तविकता का दिग्दर्शन नहीं कराया।

मुहूर्तचिन्तामणि के नक्षत्र प्रकरण में नक्षत्र देवताओं के नाम हैं।

इन दोनों के नक्षत्र देवता निरूपण में सर्वथा साम्य हैं। केवल नक्षत्र गणना क्रम का अन्तर है।

इसी प्रकार दशम प्राभृत के

तेरहवें प्राभृत-प्राभृत में तीस मुहूर्तों के नाम,

चौदहवें प्राभृत-प्राभृत में पन्द्रह दिनों के और रात्रियों के नाम

पन्द्रहवें प्राभृत-प्राभृत में दिवस, तिथियों और रात्रि तिथियों के नाम

सोलहवें प्राभृत-प्राभृत में नक्षत्र गोत्रों के नाम

सत्रहवें प्राभृत-प्राभृत में नक्षत्र भोजनों के विधान

बृहद् दैवज्ञरंजनम्, मुहूर्तमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में ऊपर अंकित सभी विषय हैं—शोध निबन्ध लेखक तुलनात्मक अध्ययन करें।

चन्द्र सूत्र—

प्राभृत	प्राभृत-प्राभृत	सूत्रांक	सूत्र संख्या
१०	२२	६३	१
१३	०	७९	१
१४	०	८२	१
			३

सूर्य सूत्र—

प्राभृत	प्राभृत-प्राभृत	सूत्रांक	सूत्र संख्या
१	१	९-१०	२
१	३	१४	१
१	७	१९	१
२	१	२१	१
२	२	२२	१
५	०	२६	१
७	०	२८	१
			८

चन्द्र-सूर्य काल प्रमाण सूत्र—

१	१	११	१
१	२	१२-१३	२
१	४	१५	१
१	५	१६-१७	२
१	६	१८	१
१	८	२०	१
२	३	२३	१
३	०	२४	१
४	०	२५	१
६	०	२७	१
८	०	२९	१
९	०	३०-३१	२
१०	२	३३	१
१०	१८	५२	१
१६	०	८७	१
१७	०	८८	१
१८	०	९०	१
१८	०	९७	१
२०	०	१०२	१
२०	०	१०४	१
			२३

चन्द्र-नक्षत्र सूत्र—

प्राभृत	प्राभृत-प्राभृत	सूत्रांक	सूत्र संख्या
१०	४	३६	१
१०	११	४४-४५	२
१०	२२	६२	१

चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र सूत्र—

१०	२२	६०	१
१०	२२	६८-६९	२
११	०	७१	१
१५	०	८४-८५	३

ग्रह सम्बन्धित सूत्र—

२०	०	१०३	१
२०	०	१०६	१
२०	०	१०७	१
			३

नक्षत्र सम्बन्धित सूत्र—

१०	१	३२	१
१०	२	३४	१
१०	३	३५	१
१०	५	३७	१
१०	६	३८	१
१०	८	४१	१
१०	१०	४३	१
१०	१२	४६	१
१०	१६	५०	१
१०	१७	५१	१
१०	२१	५९	१
१०	२२	६१	१
१८	०	९३	१
			१३

तारा सम्बन्धित सूत्र—

प्राभृत	प्राभृत-प्राभृत	सूत्रांक	सूत्र संख्या
१८	०	९६	१
			१

काल प्रमाण सूत्र—

१०	१३	४७	१
१०	१४	४८	१
१०	१५	४९	१
१०	१९	५३	१
१०	२०	५४-५८	४
१२	०	७२-७५	४
१३	०	८०	१

चन्द्र-सूर्य काल प्रमाण सूत्र—

१०	६	३९	१
१०	७	४०	१
१०	२२	६४-६७	४
१३	०	८१-८२	२

चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र काल प्रमाण सूत्र—

१२	०	७६-७८	३

चन्द्रादि पञ्चज्योतिष्क सूत्र—

१५	०	८३	१
१८	०	९१-९२	२
१८	०	९४-९५	२
१९	०	१००-१०१	२

स्थिति सूत्र

१८	०	९८	२

अल्प-बहुत्व सूत्र—

१८	०	९९	१

उपसंहार सूत्र—

२०	०	१०८	१

सूर्य सूत्र —

अध्ययन	उद्देशक	सूत्रांक
८	०	६५५

नक्षत्र सूत्र—

७	०	५८९
९	०	६९४

नक्षत्र स्वामी सूत्र—

२	३	९५

ग्रह सूत्र

२	३	९५
६	०	४८१
८	०	६१३
९	०	६९९

तारा सूत्र—

९	०	६७

नक्षत्र तारा सूत्र—

अध्ययन	उद्देशक	सूत्रांक	पृष्ठ	विशेष
				नक्षत्र तारा
३	४	२२७	८९	,,
५	३	४७२	२०३	,,
२	४	१२१	४५	,,
६	०	५३९	२१८	,,
५	३	४७२	२०३	,,
७	०	५८९	२४१	,,
१	०	४७	९	,,
४	४	३८६	१७१	,,

चन्द्र-सूर्य सूत्र सूची—

अध्ययन	उद्देशक	सूत्रांक
२	३	१०५
३	२	१६२
४	१	२७३
४	३	३३८

चन्द्र-नक्षत्र सूत्र—

६	०	५१७
८	०	६५६

नक्षत्र चन्द्र सूत्र—

८	०	६५६
९	०	६६९
१०	०	७८०

चन्द्रादि ज्योतिष्कदेव सूत्र—

२	३	९५
४	२	३०३
५	१	४०१

कालविभाग सूत्र—

२	४	१०६
५	३	४६०
८	०	६२०

प्रज्ञप्ति निर्देश सूत्र—

३	२	१६०
४	१	२७९

समवायांग

सूर्य के सूत्र

सूर्यमण्डल

१.	सूर्यमण्डलों की संख्या	सम. ६५, सूत्रांक १
२.	सूर्यमण्डलों की संख्या	सम. ८२, सू. १
३.	सूर्यमण्डल प्रमाण	सम. १३, सू. ८
४.	सूर्यमण्डल समांश	सम. ६१, सू. ४
५.	प्रथम सूर्यमण्डल का आयाम-विष्कम्भ	सम. ९९, सू. ४
६.	द्वितीय सूर्यमण्डल का आयाम-विष्कम्भ	सम. ९९, सू. ५
७.	तृतीय सूर्यमण्डल का आयाम-विष्कम्भ	सम. ९९, सू. ६
८.	प्रत्येक सूर्यमण्डल में सूर्य की गति के मुहूर्त	सम. ६०, सू. १
९.	सूर्य का आभ्यन्तर मण्डल में उपसंक्रमण (भरतक्षेत्र से सूर्यदर्शन की दूरी का प्रमाण)	सम. ४७, सू. १
१०.	सूर्य का बाह्यमण्डल में उपसंक्रमण (भरतक्षेत्र से सूर्यदर्शन की दूरी का प्रमाण)	सम. ३१, सू. ३
११.	आभ्यन्तर तृतीयमण्डल में सूर्य का उपसंक्रमण (भरतक्षेत्र से सूर्यदर्शन की दूरी का प्रमाण)	सम. ३३, सू. ४
१२.	सूर्य से ऊपर और नीचे सूर्य का तापक्षेत्र	सम. १९, सू. २
१३.	रत्नप्रभा के ऊपर के सम भू-भाग से ऊपर-की ओर सूर्य की गति का क्षेत्र	सम. प्र. ४६
१४.	सूर्य का परिवार	सम. ८८, सू. १
१५.	उत्तरायण से निवृत्त सूर्य का अहोरात्र-के प्रमाण पर प्रभाव	सम. ७८, सू. ३
१६.	दक्षिणायन से निवृत्त सूर्य का अहोरात्र-के प्रमाण पर प्रभाव	सम. ७८, सू. ४
१७.	उत्तर दिशा में प्रथम सूर्योदय की दूरी का प्रमाण	सम. ८०, सू. ७

समवायांग

चन्द्र के सूत्र

१.	चन्द्रमण्डल का समांश	सम. ६०, सू. ३
२.	कृष्णपक्ष में और शुक्लपक्ष में चन्द्र की हानि-वृद्धि का प्रमाण	सम. ६२, सू. ३
३.	चन्द्र का परिवार	सम. ८८, सू. २

× × ×

चन्द्र और सूर्य के संयुक्त

१. क्षेत्र आभ्यन्तर पुष्करार्ध में चन्द्र-सूर्य	सम. ७२, सू. ५
२. समुद्र कालोदसमुद्र में चन्द्र-सूर्य	सम. ४२, सू. २

× × ×

ग्रहों का सूत्र

१. शुक्र का उदयास्त	सम. १९, सू. ३

× × ×

ग्रह और चन्द्र का संयुक्त सूत्र

१. ध्रुव राहु से चन्द्र के आवृत-अनावृत विभागों का क्रम	सम. १५, सू. ३/४

नक्षत्रों के सूत्र

१. जम्बूद्वीप में व्यवहार योग नक्षत्र	सम. २७, सू. २
२. नक्षत्रों का समांश	सम. ६४, सू. ४
३. पूर्व द्वारवाले नक्षत्र	सम. ७, सू. ८
४. दक्षिण द्वारवाले नक्षत्र	सम. ७, सू. ९
५. पश्चिम द्वारवाले नक्षत्र	सम. ७, सू. १०
६. उत्तर द्वारवाले नक्षत्र	सम. ७, सू. ११

× × ×

चन्द्र और नक्षत्रों के सूत्र

१. चन्द्र के साथ योग करने वाले नक्षत्र	सम. ५६, सू. १
२. चन्द्र के साथ प्रमर्दयोग करने वाले नक्षत्र	सम. ८, सू. ९
३ चन्द्र के साथ पन्द्रह मुहूर्त योग करने वाले नक्षत्र	सम. १५, सू. ५
४. चन्द्र के साथ उत्तर दिशा से योग करने वाले नक्षत्र	सम. ९, सू. ६
५. चन्द्र के साथ द्वयर्द्धक्षेत्र के नक्षत्रों का योगकाल	सम. ४५. सू. ७
६. चन्द्र के साथ अभिजित नक्षत्र का योगकाल	सम. ८, सू. ५

× × ×

ताराओं के सूत्र

१. उपरितन तारागणों का भ्रमण क्षेत्र	सम. ९, सू. ७

नक्षत्र-ताराओं के सूत्र

अश्विनी नक्षत्र तारा संख्या	सम. ३, सू. ११
भरणी नक्षत्र तारा संख्या	सम. ३, सू. १२
कृत्तिका नक्षत्र तारा संख्या	सम. ६, सू. ७
रोहिणी नक्षत्र तारा संख्या	सम. ५, सू. ९

मृगशिर नक्षत्र तारा संख्या	सम. ३. सूत्र ६
आर्द्रा नक्षत्र तारा संख्या	सम. १, सू. २६
पुनर्वसु नक्षत्र तारा संख्या	सम. ५, सू. १०
पुष्य नक्षत्र तारा संख्या	सम. ३, सू. ७
अश्लेषा नक्षत्र तारा संख्या	सम. ६, सू. ८
मघा नक्षत्र तारा संख्या	सम. ७, सू. ७
पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र तारा संख्या	सम. ४, सू. ८
उत्तराषाढ़ा नक्षत्र तारा संख्या	सम. ४, सू. ९
अभिजित नक्षत्र तारा संख्या	सम. ३, सू. ९
श्रवण नक्षत्र तारा संख्या	सम. ३, सू. २
धनिष्ठा नक्षत्र तारा संख्या	सम. ५, सू. १३
शतभिषक् नक्षत्र तारा संख्या	सम. १००, सू. २
पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र तारा संख्या	सम. २, सू. ५
उत्तराभाद्रपद नक्षत्र तारा संख्या	सम. २, सू. ६
रेवती नक्षत्र तारा संख्या	सम. ३१, सू. ६
उन्नीस नक्षत्रों की तारा संख्या	सम. ९८, सू. ७

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) में चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति से संबंधित सूत्र

ज्योतिषीदेवों के नामों के सूत्र—

भग० श० ३, उ० ७, सू० ४।४
भग० श० ८, उ० १, सू० १५
भग० श० ८, उ० १, सू० ३१
भग० श० ५, उ० ९, सू० १७

जम्बूद्वीप से स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त सभी द्वीप-समुद्रों में ज्योतिष्कों की संख्या—

भग० श० ९, उ० २, सू० २-५

जीवा० (सू० १७५-१७७) के अनुसार जानने की सूचना।

मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर और बाहर के ज्योतिषियों की उत्पत्ति का प्ररूपण—
भग० श० ८, उ० ८, सू० ४६-४७

ज्योतिषीदेवों के कर्मक्षय का प्ररूपण—

भग० श० १८, उ० ७, सू० ५१

सूर्य का स्वरूप, अर्थ, प्रभा, छाया और लेश्या का प्ररूपण—
भग० श० १४, उ० ९, सू० १३-१६

उदय, अस्त और मध्याह्न के समय सूर्य की समान ऊँचाई—
भग० श० ८, उ० ८, सू० ३६

उदय और अस्त के समय सूर्य के दूर तथा मूल में दीखने का कारण—

भग० श० ८, उ० ८, सू० ३६

सूर्य की त्रैकालिक गति—

भग० श० ८, उ० ८, सू० ३८

सूर्य की त्रैकालिक क्रिया—

भग० श० ८, उ० ८, सू० ४३, ४४

सूर्य का ऊर्ध्व, अधो तापक्षेत्र प्रमाण—

भग० श० ८, उ० ८, सू० ४५

सूर्य का छहों दिशाओं में त्रैकालिक प्रकाश—

भग० श० ८, उ० ८, सू० ३९-४०

सूर्य का छहों दिशाओं में त्रैकालिक उद्योत—

भग० श० ८, उ० ८, सू० ४१

उदय और अस्त के समय समान अन्तर से सूर्यदर्शन—

भग० श० १, उ० ६, सू० १

उदय और अस्त के समय सूर्य दर्शन—

भग० श० ८, उ० ८, सू० ३५

उदय के समय प्रकाशित क्षेत्र जितना ही सूर्य का तापक्षेत्र—

भग० श० १, उ० ६, सू० ४

जम्बूद्वीप में सूर्य की उदयास्त दिशायें तथा दिन-रात का प्रमाण—

भग० श० ५, उ० १, सू० ४-६

लवणसमुद्र, धातकीखण्ड. कालोदसमुद्र और पुष्करार्धद्वीप में सूर्य को उदयास्त दिशायें तथा दिन-रात का प्रमाण—

भग० श० ५, उ० १, सू० २२-२७

चन्द्र के उदयास्त का प्ररूपण—

भग० श० ५, उ० १०, सू० १

चन्द्र की अग्रमहिषी संख्या—

भग० श० १०, उ० ५, सू० २८
भग० श० १२, उ० ६, सू० ६, ७

चन्द्र-सूर्य शब्दों के विशेषार्थ—

भग० श० १२, उ० ६, सू० ४-५

चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण—
चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल—
प्रतिचन्द्र प्रतिसूर्य—

भग० श० ३, उ० ७, सू० ४, ५

चन्द्र और सूर्य के काम-भोगों की विशेषता—

भग० श० १२, उ० ६, सू० ८

चन्द्र और सूर्य के पुद्गलों का प्रकाश—

भग० श० १४, उ० ९, सू० २,३

ज्योतिष्कों के दो इन्द्र—

भग० श० ३, उ० ८, सू० ५

जीवाजीवाभिगम में चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति से संबन्धित सूत्र

चन्द्र परिवार सूत्र जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९४

× × ×

सूर्य परिवार सूत्र जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९४

× × ×

नक्षत्रों का सूत्र—
नक्षत्रों के आभ्यन्तर और बाह्य,
ऊपर और नीचे गति करने वाले नक्षत्र

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९६

× × ×

ताराओं के सूत्र
चन्द्र तथा सूर्य के नीचे, सम और ऊपर लघु तथा तुल्य तारा,
ताराओं की लघुता तथा तुल्यता के कारण,

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९३

एक तारा से दूसरे तारा का अन्तर

जीवा० प्र० ३, उ० २, सू० २०१

× × ×

चन्द्र के सूत्र
चन्द्र की अग्रमहिषियां तथा विकुर्वीत देवी परिवार,

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २०२

× × ×

चन्द्रविमान की सुधर्मासभा में चन्द्र द्वारा भोग भोगने का निषेध तथा निषेध का कारण—

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २०३

सूर्य के सूत्र—
सूर्य की अग्रमहिषियां तथा विकुर्वीत देवी परिवार
सूर्यविमान की सुधर्मासभा में सूर्य द्वारा भोग भोगने का निषेध तथा निषेध का कारण—

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २०४

× × ×

ग्रहों का सूत्र— जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २०४

× × ×

नक्षत्रों का सूत्र— जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २०४

× × ×

ताराओं का सूत्र— जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २०४

× × ×

चन्द्रादि पांचों ज्योतिष्कदेवों का गति सूचक सूत्र—
जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से चारों दिशाओं में ज्योतिष्कदेवों की गति का अन्तर—
लोकान्त से ज्योतिष्कदेवों की गति का अन्तर,
इस रत्नप्रभा पृथ्वी के समभाग से ऊपर की ओर तारा (सब से नीचे का तारा)

सूर्य, चन्द्र एवं ताराओं की गति का अन्तर—

नीचे के तारा से सूर्य का,
सूर्य से चन्द्र का,
चन्द्र से ऊपर के तारा का अन्तर

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९५

× × ×

(१) चन्द्रादि पांचों ज्योतिष्कदेव विमानों का संस्थान सूचक सूत्र—

चन्द्र विमान का संस्थान,
सूर्य विमान का संस्थान,
ग्रह विमानों का संस्थान,
नक्षत्र विमानों का संस्थान,
तारा विमानों का संस्थान,

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९७

× × ×

(२) चन्द्रादि पांचों ज्योतिष्कदेव विमानों के आयाम-विष्कम्भ, बाहल्य और परिधि प्रमाण का सूचक सूत्र—

१. चन्द्र विमान की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और परिधि
२. सूर्य विमान की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और परिधि,
३. ग्रह विमानों की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और परिधि,
४. नक्षत्र विमानों की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और परिधि
५. तारा विमानों की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और परिधि

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९७

× × ×

(३) चन्द्रादि पांच ज्योतिष्कदेव विमानों की चारों दिशाओं के विमान वाहक देवों का विकुर्वीत स्वरूप और उनकी संख्या—

१. चन्द्र विमान की चारों दिशाओं के विमान वाहक देवों का स्वरूप और उनकी संख्या—
२. सूर्य विमान की चारों दिशाओं के विमान वाहक देवों का स्वरूप और उनकी संख्या—
३. ग्रहों के विमानों की चारों दिशाओं के विमान वाहक देवों का स्वरूप और उनकी संख्या,
४. नक्षत्रों के विमानों की चारों दिशाओं के विमान वाहक देवों का स्वरूप और उनकी संख्या,
५. ताराओं के विमानों की चारों दिशाओं में विमान वाहक देवों का स्वरूप और उनकी संख्या,

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९८

चन्द्रादि पांचों ज्योतिष्क देवों की शीघ्रगति-मन्दगति का अल्प-बहुत्व

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० १९९

× × ×

चन्द्रादि पांचों ज्योतिष्क देवों की अल्पर्धि-महर्धि का अल्प-बहुत्व,

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २००

× × ×

चन्द्रादि पांचों ज्योतिष्क देवों का अल्प-बहुत्व,

जीवा० प्रति० ३, उ० २, सू० २०६

× × ×

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति से सम्बन्धित सूत्र

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। इनसे सम्बन्धित कुछ सूत्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं। उनकी सूची इस प्रकार है—

सूर्य के सूत्र—

१. क–सूर्य मण्डल संख्या,
ख–जम्बूद्वीप में सूर्य मण्डलों की संख्या,
ग–लवणसमुद्र में सूर्य मण्डलों की संख्या,
घ–जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र में सूर्य मण्डलों की संयुक्त संख्या,

जंबू० वक्ष० ७, सू० १२७

× × ×

सर्वाभ्यन्तर सूर्यमण्डल से सर्वबाह्य सूर्यमण्डल का अन्तर,

जंबू० वक्ष० ७, सू० १२८

प्रत्येक सूर्यमण्डल का अन्तर—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १२९

× × ×

प्रत्येक सूर्यमण्डल के आयाम-विष्कम्भ,
परिधि एवं बाहल्य का प्रमाण—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १३०

× × ×

मन्दर पर्वत से सर्वाभ्यन्तर सूर्यमण्डल का अन्तर,
मन्दर पर्वत से सर्वाभ्यन्तर (आभ्यन्तर द्वितीय)
सूर्यमण्डल का अन्तर—
मन्दर पर्वत से (आभ्यन्तर) तृतीय मण्डल का अन्तर,
इस प्रकार प्रत्येक सूर्यमण्डल का अन्तर,
सर्वबाह्य मण्डल प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि का अन्तर

जंबू० वक्ष० ७, सू० १३१

÷ × ×

सर्वाभ्यन्तर प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि सूर्यमण्डलों का आयाम-विष्कम्भ तथा उनकी परिधि का प्रमाण—

सर्वबाह्य प्रथम, द्वितीय, तृतीय सूर्यमण्डलों का आयाम-विष्कम्भ और परिधि का प्रमाण—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १३२

× × ×

सर्वाभ्यन्तर मण्डलों में तथा सर्वबाह्य मण्डलों में सूर्य के तापक्षेत्र और अन्धकारक्षेत्र के संस्थान और उनके प्रमाण—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १३५

× × ×

सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सूर्यदर्शन की दूरी प्रमाण—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १३६

× × ×

सूर्य का कालसापेक्ष गतिक्षेत्र—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १३७

सूर्य का कालसापेक्ष क्रियाक्षेत्र—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १३८

× × ×

सूर्य का उत्पत्ति क्षेत्र और गति क्षेत्र—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४०

× × ×

सूर्य का च्यवन विरहकाल व्यवस्था तथा विरह अवधि—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४१

× × ×

सूर्योदय, सूर्यास्त की दिशायें—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १५०

× × ×

चन्द्र के सूत्र—
चन्द्रमण्डलों की संख्या,
जम्बूद्वीप में चन्द्रमण्डलों की संख्या,
लवणसमुद्र में चन्द्रमण्डलों की संख्या,
जम्बूद्वीप तथा लवणसमुद्र में चन्द्रमण्डलों की संयुक्त संख्या—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४२

× × ×

सर्वाभ्यन्तर चन्द्रमण्डल से सर्वबाह्य चन्द्रमण्डल का अन्तर—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४३

प्रत्येक चन्द्रमण्डल का अन्तर—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४४

× × ×

प्रत्येक चन्द्रमण्डल का आयाम-विष्कम्भ, परिधि और बाहल्य का प्रमाण—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४५

× × ×

जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत से सर्वाभ्यन्तर प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि चन्द्रमण्डलों का अन्तर—
जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत से सर्वबाह्य प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि चन्द्रमण्डलों का अन्तर—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४६

× × ×

सर्वाभ्यन्तर प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि चन्द्रमण्डलों का आयाम-विष्कम्भ और परिधि का प्रमाण—

सर्वबाह्य प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि चन्द्रमण्डलों का आयाम-विष्कम्भ और परिधि का प्रमाण—

जंबू० वक्ष० ७, सू० १४७

× × ×

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के वृत्तिकार ने लिखा है—चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति बहुत बड़े आगम हैं[१]।

इस सूची में जितने सूत्र हैं वे सब चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति से उद्धृत हैं किन्तु इस सूची में अंकित सूत्रों में से अनेक सूत्र उपलब्ध चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति में नहीं हैं। अतः यह स्वयं सिद्ध है कि वर्तमान में चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति के सूत्रों का जो क्रम एवं संख्या है अतीत में उससे भिन्न रही होगी। ●

---

१. इच्चेसा जंबुद्दीवपण्णति—सूरपण्णति वत्थुसमासेणं सम्मत्ता भवइ। इत्येषा—अनन्तरोक्तस्वरूपा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः आद्यद्वीपस्य यथावश्यितस्वरूपनिरूपिका ग्रन्थपद्धतिस्तस्या मस्मिन्नुपांगे इत्यर्थः सूत्रे च विभक्तिव्यत्ययः प्राकृत त्वात्।
सूर्यं प्रज्ञप्तिः सूर्याधिकार प्रतिबद्धा पदपद्धतिर्वस्तूनां मण्डलसंख्यादीनां समासः सूर्यप्रज्ञप्तयादि महाग्रन्था पेक्ष या संक्षेपस्तेन समाप्ता भवति।
इच्चेसा इत्यादि व्याख्यानं पूर्ववत् परं सूर्यप्रज्ञप्ति स्थाने चन्द्रप्रज्ञप्तिवाच्या॥

जम्बू० वक्ष० ७, सू० १५०

अङ्ग आगमों के विषयवस्तु-सम्बन्धी उल्लेखों का तुलनात्मक विवेचन

डा० सुदर्शन लाल जैन

भगवान् महावीर ने अपनी दिव्यवाणी द्वारा जिस वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन किया, उसे अत्यन्त निर्मल अन्तःकरण वाले तथा बुद्धिवैभव के धनी गणधरों ने आचाराङ्ग आदि द्वादश अङ्ग-ग्रन्थों के रूप में ग्रथित करके अपने पश्चाद्वर्ती आचार्यों को श्रुत-परम्परा से प्रदान किया।[1] श्रुत की इस अलिखित परम्परा का स्मृति-लोप होने से क्रमशः ह्रास होता गया।

श्वेताम्बर-मान्यतानुसार स्मृति-परम्परा से प्राप्त ये अङ्ग ग्रन्थ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की वलभीवाचना (वीर नि० सं ९८०) के समय लिपिबद्ध किए गए। दृष्टिवाद नामक १२वाँ अंग-ग्रन्थ उस समय किसी को याद नहीं था, अत: वह लिपिबद्ध न किया जा सका। इसके पूर्व भी आचार्य स्थूलभद्र द्वारा पाटलिपुत्र (वीर नि० सं० २१९) में तथा आर्य स्कन्दिल द्वारा माथुरी वाचना (वीर नि० ८वीं शताब्दी) में भी इन ११ अङ्ग ग्रन्थों का संकलन किया गया था परन्तु उस समय उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था।

दिगम्बर-परम्परा इन वाचनाओं को प्रामाणिक नहीं मानती है। उनके अनुसार वीर नि० सं० ६८३ तक श्रुत-परम्परा चली, जो क्रमशः क्षीण होती गई। अङ्ग-ग्रन्थों के लिपिबद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, फलतः सभी अङ्ग ग्रन्थ लुप्त हो गए। इतना विशेष है कि वे दृष्टिवाद नामक १२वें अङ्गान्तर्गत पूर्वों के अंशांश के ज्ञाताओं द्वारा (वीर नि० ७वीं शताब्दी में) रचित षट्खण्डागम और कषायपाहुड को तथा वीर निर्वाण की १४वीं शती में रचित इनकी धवला और जयधवला टीकाओं को आगम के रूप में मानते हैं।[2]

---

१. भगवान् महावीर के ११ गणधर थे जिन्होंने उनके अर्थरूप उपदेशों को १२ अंग ग्रन्थों के रूप में ग्रथित किया था।

२. आचार्य धरसेन (ई० १-२ शताब्दी, वीर नि० ७वीं शताब्दी) के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की। षट्खण्डागम के प्रारम्भ के १७७ सूत्र आचार्य पुष्पदन्त ने और शेष आचार्य भूतबलि ने लिखे। इस ग्रन्थ का आधार द्वितीय अग्रायणी पूर्व के चयनलब्धि नामक अधिकार का चतुर्थ पाहुड 'कर्मप्रकृति' है। कषायपाहुड की रचना धरसेनाचार्य के समकालीन गुणधराचार्य ने ज्ञानप्रवाद नामक ५वें पूर्व की १०वें वस्तु के तीसरे 'पेज्जदोसपाहुड' के आधार पर की। इन दोनों पर क्रमशः 'धवला' और 'जयधवला' नामक टीकाएँ वीरसेनाचार्य ने लिखी हैं। चार विभक्तियों के बाद 'जयधवला' टीका की पूर्णता वीरसेन के शिष्य जिनसेन ने (शक सं० ७५९) की है।

बारह अङ्गों के नाम

उभय-परम्परा में मान्य १२ अंग-ग्रन्थों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) आचाराङ्ग, (२) सूत्रकृताङ्ग, (३) स्थानाङ्ग, (४) समवायाङ्ग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (अपरनाम भगवती[1]), (६) ज्ञाताधर्मकथा (नाथधर्मकथा), (७) उपासकदशा (उपासकाध्ययन), (८) अन्तकृद्दशा (अन्तकृद्दश) (९) अनुत्तरोपपादिकदशा (अनुत्तरौपपादिकदश), (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकसूत्र और (१२) दृष्टिवाद। छठें से नौवें तक के कोष्ठकान्तर्गत नाम दि० परम्परा में प्रचलित हैं।

इन अङ्गों के क्रम में कहीं कोई अन्तर नहीं मिलता है। साधारण नाम-भेद अवश्य पाया जाता है। जैसे[2]—छठें और सातवें अङ्ग का नाम दिगम्बर ग्रन्थों में क्रमशः "नाथधर्मकथा" (णाहधम्मकहा) तथा "उपासकाध्ययन" (उवासयज्झयण) मिलता है। इसी प्रकार पांचवें "व्याख्या-प्रज्ञप्ति" का प्राकृत नाम श्वे० ग्रन्थों में "विवाहपन्नत्ती" मिलता है जबकि दि० ग्रन्थों में "वियाह-पण्णत्ती" है जो व्याख्याप्रज्ञप्ति के अधिक निकट है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में सूत्रकृताङ्ग का प्राकृतनाम "सुद्दयडं" मिलता है जबकि स्थानाङ्ग आदि में "सूयगडो" और धवला आदि में "सूदयदं" मिलता है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में दृष्टिवाद को "दृष्टिपातः" कहा है जो चिन्त्य है। श्वे० ग्रन्थों में "अन्तकृद्दशा" और "अनुत्तरौपपादिकदशा" के लिए क्रमशः "अन्तगडदसाओ" और "अणुत्तरोववाइअदसाओ" नाम हैं जबकि दि० ग्रन्थों में "अन्तयडदसा" और "अणुत्तरोववादिग्रदसा" नाम मिलते हैं। शेष नामभेद प्राकृत भाषाभेद एवं लिपिप्रमाद के कारण हैं।

अब हम इन अङ्ग ग्रन्थों के विषयवस्तु की निम्न चार आधारों पर समीक्षा करेंगे।

१. श्वे० ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेख, (२) दिग० ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेख, (३) उपलब्ध अङ्ग आगमों का वर्तमान स्वरूप और (४) तुलनात्मक विवरण। अन्त में समस्त ग्रन्थों की समग्ररूप से समीक्षा करते हुए उपसंहार दिया जाएगा।

१—आचाराङ्ग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में अङ्ग ग्रन्थों की विषयवस्तु का उल्लेख—

श्वेताम्बर परम्परा में अंग ग्रन्थों की विषयवस्तु का उल्लेख स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, नन्दी और विधिमार्गप्रपा में मिलता है। अतः यहाँ इन्हीं आधारों पर अङ्ग ग्रन्थों की समीक्षा करेंगे—

१. स्थानाङ्गसूत्र में[3]—आचाराङ्ग की विषयवस्तु की चर्चा करते हुए उसके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी ९ अध्ययनों का उल्लेख किया गया है, जिनमें अन्तिम तीन का क्रम है—विमोह, उपधान और महापरिज्ञा। दस दशा के निरूपणप्रसङ्ग में जो आचारदशा के १० अध्ययनों का उल्लेख है, वह आचाराङ्ग से सम्बन्धित न होकर दशाश्रुतस्कन्ध से सम्बन्धित है।[4]

---

१. विवाहपन्नतीए णं भगवतीए चउरासीइं पयसहस्सा पदग्गेणं पण्णत्ता। समवायाङ्ग ८४-३९५

२. स्थानाङ्ग १०-११०; समवायाङ्गसूत्र ५११, ५७, ३००; नन्दी पृ० २८७-२८८; तत्त्वार्थाधिगमभाष्य १.२०; तत्त्वार्थराजवार्तिक १.२०, पृ० ७२; धवला १.१.२, पृ० १००; जयधवला गाथा १, पृ० ७२, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३५६

३. स्थानाङ्ग ९.२

४. स्थानाङ्ग १०.११०, ११५

२. **समवायाङ्ग में**[1]—आचाराङ्ग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, चंक्रमण, प्रमाण, योग-योजन, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त-पान, उद्गम, उत्पादन, एषणा-विशुद्धि, शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तपोपधान इन सबका सुप्रशस्त कथन किया गया है। वह आचार संक्षेप से ५ प्रकार का है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार।

अङ्गों के क्रम में यह प्रथम अङ्ग-ग्रन्थ है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, २५ अध्ययन हैं, ८५ उद्देशन काल हैं, ८५ समुद्देशन काल हैं और १८ हजार पद हैं।

परीत (परिमित) वाचनायें हैं, संख्यात अनुयोगद्वार हैं, संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं, संख्यात वेष्टक हैं, संख्यात श्लोक हैं, संख्यात निर्युक्तियाँ हैं, संख्यात अक्षर हैं, अनन्त गम हैं, अनन्त पर्यायें हैं, परिमित त्रस हैं, अनन्त स्थावर हैं, शाश्वत, कृत (अनित्य), निबद्ध (ग्रथित) और निकाचित (प्रतिष्ठित) हैं, जिनप्रज्ञप्त भाव हैं, जिनका सामान्य रूप से और विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है, दर्शाया गया है, निदर्शित किया गया है तथा उपदर्शित किया गया है। आचाराङ्ग के अध्ययन से आत्मा ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस तरह इसमें चरण और करण धर्मों की ही विशेषरूप से प्ररूपणा की गई है।

इस अन्तिम पैराग्राफ की समस्त बातें सभी १२ अङ्गों के सन्दर्भ में एक ही समान कही गई हैं।

समवायाङ्ग के ५७वें समवाय के सन्दर्भ में आचाराङ्ग (९+१५=२४ अध्ययन, आचार-चूला छोड़कर), सूत्रकृताङ्ग (२३ अध्ययन) और स्थानाङ्ग (१० अध्ययन) के अध्ययनों की सम्पूर्ण संख्या ५७ बतलाई है।[2] नवम समवाय में आचाराङ्ग के ९ ब्रह्मचर्य अध्ययन गिनाये हैं—शस्त्र-परिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, अवन्ती, धूत, विमोह, उपधानश्रुत और महा-परिज्ञा।[3] पच्चीसवें समवाय में चूलिका सहित २५ अध्ययन गिनाये हैं।[4]

३. **नन्दीसूत्र में**[5]—आचाराङ्ग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, शिक्षा, भाषा, अभाषा, करण, यात्रा, मात्रा (आहार परिमाण) आदि का कथन संक्षेप में है। आचार ५ प्रकार का है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपःआचार और वीर्याचार।

अङ्गक्रम और वाचना आदि का समस्त विवेचन समवायाङ्ग की तरह बतलाया है।

४. **विधिमार्गप्रपा में**[6]—आचाराङ्ग के २ श्रुतस्कध बतलाए गए हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन कहे गए हैं—शस्त्र-परिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, अवन्ती या लोकसार,

१. समवायाङ्गसूत्र ५१२-५१४
२. तिण्हं गणिपिडगाणं आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा आयारे सूयगडे ठाणे। समवायाङ्ग, समवाय ५७ सूत्र ३००।
३. समवायाङ्ग ९ ५३
४. समवायाङ्ग २५.१६८
५. नन्दीसूत्र, सूत्र ४६
६. विधिमार्गप्रपा पृ० ५०-५१।

धूत, विमोह, उपधानश्रुत और महापरिज्ञा। इसमें 'महापरिज्ञा' को विच्छिन्न बतलाया है जिसमें आकाशगामिनी विद्या का वर्णन था। यहाँ यह भी लिखा है कि शीलांकाचार्य ने महापरिज्ञा को आठवाँ और उपधानश्रुत को नवाँ कहा है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की ५ चूलायें बतलाई हैं, जिनका अध्ययनों में विभाजन इस प्रकार किया गया है—**प्रथम चूला** के ७ अध्ययन हैं—पिण्डैषणा, शय्या, ईर्या, भाषा, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा और अवग्रह-प्रतिमा (उवग्गहपडिमा)। इनमें कमशः ११,३,३,२,२,२,२ उद्देशक हैं। **द्वितीय चूला** के सात अध्ययन हैं (सत्तसत्तिक्कएहि बीया चूला)—स्थानसत्तिक्कय, निषीधिका-सत्तिक्कय, उच्चारप्रस्रवणसत्तिक्कय, शब्दसत्तिक्कय, रूपसत्तिक्कय, परक्रियासत्तिक्कय और अन्योन्यक्रियासत्तिक्कय। इनके उद्देशक नहीं हैं। **तृतीय चूला** में "भावना" नामक एक ही अध्ययन है। **चतुर्थ चूला** में "विमुक्ति" नामक एक ही अध्ययन है। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन और प्रथम चूला के सात अध्ययनों के २५ उद्देशक हैं, शेष के उद्देशक नहीं हैं। **पंचम चूला** में 'निशीथ' नामक एक ही अध्ययन है। इस चूला का आचाराङ्ग से पृथक् कथन किया गया है। यह चूला अब एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मान्य है।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेख—

दिगम्बर परम्परा में अङ्ग ग्रन्थों की विषयवस्तु का निरूपण प्रमुख रूप से तत्त्वार्थवार्तिक, धवला, जयधवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में हुआ है। यथा

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[1]—आचाराङ्ग में (मुनि) चर्या का विधान है जो ८ शुद्धि, ५ समिति और ३ गुप्ति रूप है।

२. धवला (षट्खण्डागम-टीका) में[2]—आचाराङ्ग में कैसे चलना चाहिए, कैसे खड़े होना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, कैसे शयन करना चाहिए, कैसे भोजन करना चाहिए और कैसे संभाषण करना चाहिए? इत्यादि रूप से मुनियों के आचार का कथन किया गया है। इसमें १८ हजार पद हैं।

३. जयधवला (कषायपाहुड–टीका) में[3]—आचाराङ्ग में 'यत्नपूर्वक गमनादि करना चाहिए' इत्यादि रूप से साधुओं क आचार का वर्णन है।

४. अङ्गप्रज्ञप्ति में[4]—आचाराङ्ग में १८ हजार पद हैं। भव्यों के मोक्षपथगमन में कारण-भूत मुनियों के आचार का वर्णन है। धवला और जयधवलावत् कथन है। मुनियों के केशलोंच, अवस्त्र, अस्नान, अदन्तधावन, एकभक्त, स्थितिभोजन आदि का भी उल्लेख है।

(ग) वर्तमान रूप—

उपलब्ध आचाराङ्ग में विशेषरूप से साधुओं के आचार का प्रतिपादन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं—

प्रथम श्रुतस्कन्ध—इसका नाम ब्रह्मचर्य है जिसका अर्थ है "संयम"। यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध से प्राचीन है। इसमें ९ अध्ययन हैं—१–शस्त्रपरिज्ञा, २–लोकविजय, ३–शीतोष्णीय, ४–सम्यक्त्व, ५–आवन्ति (यावन्तः) या लोकसार, ६–धूत, ७–महापरिज्ञा, ८–विमोह या विमोक्ष और ९–उप-

१. तत्त्वार्थवार्तिक १.२०, पृ० ७२-७३।
२. धवला १.१.२ पृ० ११०।
३. जयधवला गाथा, १, पृ० १११।
४. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा १५ १९ पृ० २६०।

धानश्रुत। कुल मिलाकर इस श्रुतस्कन्ध में ४४ उद्देशक हैं। पहले ५१ उद्देशक थे[1] जिनमें से ७वें महापरिज्ञा के सातों उद्देशकों का लोप माना गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध—इसमें चार चूलायें हैं ("निशीथ" नामक पंचम चूला आज आचाराङ्ग से पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है) जिनका १६ अध्ययनों और २५ उद्देशकों में विभाजन विधि-मार्गप्रपा की तरह ही है।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के उल्लेखों से इतना स्पष्ट है कि इसमें साधुओं के आचार का वर्णन था तथा इसकी पद-संख्या १८ हजार थी। उपलब्ध आगम से पद-संख्या का मेल करना कठिन है।

वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में तो पद-संख्या का उल्लेख किया है, परन्तु जयधवला में उल्लेख नहीं किया है। आचाराङ्ग की विषयवस्तु के संदर्भ में दिगम्बर ग्रन्थों में केवल सामान्य कथन है जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों में आचाराङ्ग के अध्ययनों आदि का विशेष वर्णन है। स्थानाङ्ग में केवल प्रथम-श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययनों का उल्लेख मिलने से तथा समवायाङ्ग में ब्रह्मचर्य के ९ अध्ययनों का पृथक् उल्लेख होने से प्रथम श्रुतस्कन्ध की प्राचीनता और महत्ता को पुष्टि होती है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा अध्ययन का क्रम स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और विधिमार्गप्रपा में क्रमशः नवमां है, जबकि उपलब्ध आचाराङ्ग में 'महापरिज्ञा' का क्रम सातवां है। शीलांकाचार्य की व्याख्या में 'महापरिज्ञा' को आठवां स्थान दिया गया है।[2] इस तरह क्रम में अन्तर आ गया है। "महापरिज्ञा" का लोप हो गया है, परन्तु उस पर लिखी गई निर्युक्ति उपलब्ध है। निर्युक्ति में आचाराङ्ग के दस पर्यायवाची नाम भी गिनाए हैं—आयार, आचाल, आगाल, आगर, आसास, आयरिस, अंग, आइण्ण, आजाइ और आमोक्ख।[3] 'चूला' शब्द का उल्लेख हमें समवायाङ्ग में मिलता अवश्य है परन्तु वहां उसका स्पष्ट विभाजन नहीं है जैसा कि विधिमार्गप्रपा में मिलता है। समवायाङ्ग के ५७वें समवाय में आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग और स्थानाङ्ग के जो ५७ अध्ययन कहे गए हैं उनमें सूत्रकृताङ्ग के २३ और स्थानाङ्ग के १० अध्ययन हैं। इस तरह ३३ अध्ययन निकाल देने पर आचाराङ्ग के २४ अध्ययन शेष रहते हैं। इन २४ अध्ययनों की संगति किस प्रकार बैठाई जाए, यह विवादास्पद ही है। संभवतः विलुप्त 'महापरिज्ञा' को कम कर देने पर प्रथम के ८ अध्ययन और दूसरे के चूला (निशीथ) छोड़कर १६ अध्ययन माने जाने पर २४ अध्ययनों की संगति बैठाई जा सकती है जो एक विकल्प मात्र है। इस पर अन्य दृष्टियों से भी सोचा जा सकता है क्योंकि वहां 'महापरिज्ञा' के लोप का उल्लेख नहीं है।

---

१. नवण्हं बंभचेराणं एकावन्नं उद्देसणकाला पण्णत्ता। समवायाङ्ग ५१.२८०।

२. सीलंकापरियमारण पुण एयं अट्ठमं विमुक्खज्झयणं सत्तयं उवहाणसुयं नवमं ति। विधिमार्गप्रपा, पृ० ५१।

३. आचाराङ्ग निर्युक्ति गाथा २९०।

जहां तक आचाराङ्ग की विषयवस्तु के निरूपण का प्रश्न है, मेरी दृष्टि में श्वे० परम्परा के आचार्यों के सामने उपलब्ध आचाराङ्ग ही रहा है किन्तु दिगम्बर आचार्यों ने मूलाचार को ही आचाराङ्ग का रूप मानकर उसकी विषयवस्तु का निरूपण किया है क्योंकि वहाँ जो गाथा उद्धृत है वह मूलाचार में उसी रूप में मिलती है। श्वे० आगम साहित्य में यह गाथा दशवैकालिक में मिलती है, आचाराङ्ग में नहीं। दशवैकालिक ग्रन्थ भी मुनि के आचार का ही प्रतिपादक ग्रन्थ है।

२–सूत्रकृतांग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. **समवायाङ्ग[1] में**—सूत्रकृताङ्ग में स्वसमय, परसमय, स्वसमय-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक सूचित किए जाते हैं। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष तक के सभी पदार्थ सूचित किए गए हैं। जो श्रमण अल्पकाल से ही प्रव्रजित हुए हैं और जिनकी बुद्धि खोटे समयों (परसिद्धान्तों) को सुनने से मोहित तथा मलिन है उनकी पापकारी मलिनबुद्धि के दुर्गुणों के शोधन के लिए क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और वैनयिकों के ३२; इन सब ३६३ अन्यदृष्टि-समयों का व्यूहन करके स्वसमय की स्थापना की गई है। नाना दृष्टान्तयुक्त युक्ति-युक्त वचनों द्वारा परमतों की निस्सारता को बतलाया गया है। अनेक अनुयोगों द्वारा विविध प्रकार से विस्तारकर, परसद्भावगुणविशिष्ट, मोक्षपथ के अवतारक, उदार, अज्ञानान्धकाररूपी दुर्गों के लिए दीपकरूप, सिद्धि और सुगति के लिए सोपानरूप, विक्षोभ और निष्प्रकम्प सूत्रार्थ हैं।

अङ्गों के क्रम में यह दूसरा अङ्ग है। इसमें २ श्रुतस्कन्ध, २३ अध्ययन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल और ३६ हजार पद हैं।

वाचनादि का विवेचन आचाराङ्गवत् है। समवायाङ्ग में सूत्रकृताङ्ग के २३ अध्ययन भी गिनाये गये हैं[2]—१–समय, २–वैतालिक, ३–उपसर्गपरिज्ञा, ४–स्त्रीपरिज्ञा, ५–नरकविभक्ति, ६–महावीरस्तुति, ७–कुशीलपरिभाषित, ८–वीर्य, ९–धर्म, १०–समाधि, ११–मार्ग, १२–समवसरण, १३–आख्यातहित (याथातथ्य), १४–ग्रन्थ, १५–यमतीत, १६–गाथा, १७–पुण्डरीक, १८–क्रियास्थान, १९–आहारपरिज्ञा, २०–अप्रत्याख्यान क्रिया, २१–अनगारश्रुत, २२–आर्द्रीय और २३–नालन्दीय।

२. **नन्दीसूत्र में[3]**—सूत्रकृताङ्ग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय और स्वसमय-परसमय की सूचना की जाती है। इसमें १८० क्रियावादियों, ८४ अक्रियावादियों, ६७ अज्ञानवादियों और ३२ वैनयिकों के, कुल ३६३ परमतों का व्यूहन करके स्वसमय की स्थापना की गई है।

यह दूसरा अङ्ग है। इसमें २ श्रुतस्कन्ध, २३ अध्ययन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल और ३६ हजार पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

१. समवायाङ्गसूत्र ५१५-५१८।
२. वही, २३.१५५; ५७.३००।
३. नन्दीसूत्र ४७।

३. विधिमार्गप्रपा में[1]—इसमें स्पष्टरूप से प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययन गिनाये गए हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों को महाध्ययन कहा है। समवायाङ्ग में कथित सूत्रकृताङ्ग के २३ अध्ययन ही यहाँ गिनाये हैं परन्तु कहीं-कहीं किंचित् नामभेद है। यथा ५वां वीरस्तुति, १३वां अहतहं, १४ वाँ गन्ध (संभवतः यह लिपिप्रमाद है), २०वां प्रत्याख्यानक्रिया और २१वां अनगार।

(ख) दिगम्बर गन्थों में[४]—

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[2]—सूत्रकृताङ्ग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का प्ररूपण है।

२. धवला में[3]—सूत्रकृताङ्ग में ३६ हजार पद हैं। यह ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का निरूपण करता है। स्वसमय और परसमय का भी निरूपण करता है।

३. जयधवला में[4]—सूत्रकृताङ्ग में स्वसमय और परसमय का वर्णन है। इसके साथ ही इसमें स्त्रीसम्बन्धी-परिणाम, क्लीवता, अस्फुटत्व (मन की बातों को स्पष्ट न कहना), कामावेश, विलास, आस्फालनसुख, पुरुष की इच्छा करना आदि स्त्री के लक्षणों का प्ररूपण है।

४. अङ्गप्रज्ञप्ति में[5]—सूत्रकृताङ्ग में ३६ हजार पद हैं। यहां सूत्रार्थ तथा उसके करण को संक्षेप से सूचित किया गया है। ज्ञान-विनय आदि, निर्विघ्न अध्ययन आदि, सर्व सत्क्रिया, प्रज्ञापना, सुकथा, कल्प्य, व्यवहारवृषक्रिया, छेदोपस्थापना, यतिसमय, परसमय और क्रियाभेदों का अनेकशः कथन है।

५. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी टीका (प्रभाचन्द्रकृत) में[6]—सूत्रकृताङ्ग के २३ अध्ययनों के नाम तथा उनमें प्रतिपादित विषयों का कथन है। समवायाङ्गोक्त अध्ययननामों से इसके नामों में कुछ भिन्नता है।[7]

---

१. विधिमार्गप्रपा पृ० ५१-५२।
२. तत्त्वार्थ० १.२०, पृ० ७३।
३. धवला १.१.२, पृ० ७३।
४. जयधवला गाथा १, पृ० ११२।
५. अंगप्रज्ञप्ति गाथा २०-२२, पृ० २६१।
६. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी टीका, पृ० ५६-५८।
७. तेवीसाए सुद्दयडज्झयणेसु—

समए वेदालिज्झे एत्तो उवसग्ग इत्थिपरिणामे।
णिरयंतरवीरथुदी कुसीलपरिभासिए विरिए॥ १॥
धम्मो य अग्गमग्गे समोवसरणं तिकालगंथहिदे।
आदा तदित्थगाथा पुंडरिको किरियठाणेय॥ २॥
आहारयपरिणामे पच्चक्खाणाणगारगुणकित्ति।
सुद्द अत्था णालंदे सुद्दयडज्झाणाणि तेवीसं॥ ३॥

(ग) वर्तमान रूप—

इसमें धार्मिक उपदेशों के साथ मुख्यतः अन्य मतावलम्बियों का खण्डन है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है और दूसरा प्रथम श्रुतस्कन्ध के परिशिष्ट के समान है। भारत के धार्मिक सम्प्रदायों का ज्ञान कराने की दृष्टि से दोनों श्रुतस्कन्ध महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं—१. समय, २. वेयालिय, ३. उपसर्गपरिज्ञा, ४. स्त्रीपरिज्ञा, ५. नरकविभक्ति, ६. वीरस्तव, ७. कुशील, ८. वीर्य, ९. धर्म, १०, समाधि, ११. मार्ग, १२. समवसरण १३. याथातथ्य (आहत्तहिय), १४ ग्रन्थ (परिग्रह), १५. आदान या आदानीय (संकलिका = श्रृंखला; जमतीत या यमकीय ये सभी नाम सार्थक हैं) और १६. गाथा।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ महाध्ययन हैं—१ पुण्डरीक, २. क्रियास्थान, ३. आहारपरिज्ञा, ४. प्रत्याख्यान क्रिया ५. आचारश्रुत व अनगारश्रुत, ६. आर्द्रकीय और ७. नालंदीय या नालंदा।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

इस आगम के पदों की संख्या में उभय परम्परा में कोई मतभेद नहीं है। पं० कैलाशचन्द शास्त्री ने इसके निकास की संभावना दृष्टिवाद के सूत्र नामक भेद से की है क्योंकि इसका नाम सूत्रकृताङ्ग है[1] जो चिन्त्य है। तत्त्वार्थवार्तिक में परसमय के कथन का कोई उल्लेख नहीं है जबकि समवायाङ्ग, नन्दी, धवला, जयधवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में परसमय-कथन का भी उल्लेख है। समवायाङ्ग और नन्दी में तो स्थानाङ्ग आदि में भी परसमय-कथन का उल्लेख है जो एक प्रकार से गीतार्थ (अलङ्कारिक-कथन) मात्र है। जयधवला में स्पष्टरूप से ग्यारह अङ्गों का विषय स्वसमय ही बतलाया है।[2] फिर भी जयधवला में जो सूत्रकृताङ्ग का विषय परसमय बतलाया गया है वह उपलब्ध सूत्रकृताङ्ग का द्योतक है। जयधवला में स्त्री-सम्बन्धी विशेष वक्तव्यों का कथन भी बतलाया है जो उपलब्ध आगम में है। समवायाङ्ग, विधिमार्गप्रपा और प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी में जिन २३ अध्ययनों के नाम बतलाए हैं वे प्रायः परस्पर समान और वर्तमान रूप से मिलते हैं।

अर्थ—१. समय (त्रिकाल स्वरूप), २. **वेदालिग**—(त्रिवेदों का स्वरूप), ३. उपसर्ग (४ प्रकार के उपसर्ग), ४. स्त्रीपरिणाम (स्त्रियों का स्वभाव), ५. नरकान्तर (नरकादि चतुर्गति), ६. वीरस्तुति (२४ तीर्थङ्करों का गुण-कीर्तन), ७. कुशीलपरिभाषा (कुशीलादि ५ पार्श्वस्थों का स्वरूप वर्णन), ८. वीर्य—(जीवों के वीर्य के तारतम्य का वर्णन), ९. धर्म (धर्माधर्म का स्वरूप), १०. अग्र (श्रुताग्रपद वर्णन), ११. मार्ग (मोक्ष तथा स्वर्ग का स्वरूप एवं कारण), १२. समवसरण (२४ तीर्थङ्करों के समवसरण), १३. त्रिकालग्रन्थ (त्रिकालगोचर अशेषपरिग्रह का अशुभत्व), १४. आत्मा—(जीवस्वरूप), १५. तदित्थगाथा (वादमार्ग प्ररूपण), १६. पुंडरीक—(स्त्रियों के स्वर्गादि स्थानों के स्वरूप का वर्णन), १७. क्रियास्थान—(१३ क्रियास्थानों का वर्णन), १८. आहारकपरिणाम—(सभी धान्यों के रस, वीर्य विपाक तथा शरीरगत सप्तधातुस्वरूप वर्णन), १९. प्रत्याख्यान—(सर्वद्रव्य विषयों से निवृत्ति), २०. अनगारगुणकीर्तन—(मुनियों के गुण वर्णन), २१. श्रुत—(श्रुतमाहात्म्य), २२. अर्थ—(श्रुतफल वर्णन) और २३. नालंदा—(ज्योतिष्कदेवों के पटलों का वर्णन)।

—प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी टीका, पृ० ५६-५८।

१. जैनसाहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० ६४४।

२. जयधवला पृ० १२०।

नन्दी में केवल २३ अध्ययन-संख्या का उल्लेख है, स्पष्ट नाम नहीं हैं। प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी को छोड़कर दिगम्बर ग्रन्थों में इसका इतना स्पष्ट वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। आचार्य भद्रबाहुकृत सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति में सूत्रकृताङ्ग के तीन नामों का उल्लेख है—सूतगडं (सूतकृत), सुत्तकडं (सूत्रकृत) और सुयगडं (सूचाकृत)।

३—स्थानाङ्ग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. समवायाङ्ग में[1]—स्थानाङ्ग में स्वसमय, परसमय, स्वसमय-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल और पर्यायों की प्ररूपणा है। शैल (पर्वत), नदी (गङ्गादि), समुद्र, सूर्य, भवन, विमान, आकर (स्वर्णादि की खान), नदी (सामान्य नदी), निधि, पुरुषजाति, स्वर, गोत्र तथा ज्योतिष्क देवों के संचार का वर्णन है। एकविध, द्विविध से लेकर दसविध तक जीव, पुद्गल तथा लोकस्थानों का वर्णन है।

अङ्गों के क्रम में यह तीसरा अङ्ग है। इसमें १ श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, २१ उद्देशनकाल, २१ समुद्देशनकाल और ७२ हजार पद हैं। वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

२. नन्दीसूत्र में[2]—स्थानाङ्ग में जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्वसमय-परसमय, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। इसमें टङ्क (छिन्न तट), कूट (पर्वतकूट), शैल, शिखरि, प्राग्भार, कुण्ड, गुहा, आकर, तालाब और नदियों का कथन है।

शेष कथन समवायाङ्ग की तरह है—परन्तु यहाँ एकादि क्रम से वृद्धि करते हुए १० प्रकार के पदार्थों के कथन का उल्लेख नहीं है। इसमें संख्यात संग्रहणियों का अतिरिक्त कथन है।

३. विधिमार्गप्रपा में[3]—स्थानाङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध है। एक स्थान, द्विस्थान आदि के क्रम से दसस्थान नाम वाले १० अध्ययन हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[4]—स्थानाङ्ग में अनेक आश्रयवाले अर्थों का निर्णय है।

२. धवला में[5]—स्थानाङ्ग में ४२ हजार पद हैं। एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन हैं। जैसे—जीव का १ से १० संख्या तक का कथन—

एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो भणिदो।
चदुसंकमणाजुत्तो पंचग्गगुणप्पहाणो य ॥

१. समवायाङ्गसूत्र ५१९-५२१।
२. नन्दीसूत्र ४८।
३. विधिमार्गप्रपा, पृ० ५२।
४. तत्त्वार्थ० १.२०, पृ० ७३।
५. धवला १.१.२, पृ० १०१।

छक्कापक्कमजुत्तो उवगुत्तो सत्तभंगिसब्भावो।
अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दसट्ठाणिओ भणिओ॥

३. जयधवला में[१]—स्थानाङ्ग में जीव और पुद्गलादिक के एक से लेकर एकोत्तर क्रम (२,३,४ आदि) से स्थानों का वर्णन है। धवला में कथित "एक्को चेव महप्पा" गाथा भी उद्धृत है।

४. अंगप्रज्ञप्ति में[२]—स्थानाङ्ग में ४२ हजार पद हैं। एकादि क्रम से स्थान भेद हैं, जैसे—संग्रह नय से जीव एक है। संसारी और मुक्त के भेद से (व्यवहार नय से) जीव दो हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से जीव तीन प्रकार का है। चार गतियों में संक्रमण करने से जीव चार प्रकार का है। पाँच भावों के भेद से जीव पाँच प्रकार का है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधःगमन करने के कारण छः प्रकार का जीव है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादुभय, स्यादवक्तव्य स्याद् अस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादुभय-अवक्तव्य के भेद से जीव सात प्रकार का है। आठ प्रकार के कर्मों से युक्त होने से जीव आठ प्रकार का है। नवर्थक होने से जीव नौ प्रकार का है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक, निगोद, द्वि, त्रि, चतुः तथा पांच इन्द्रियों के भेद से १० प्रकार का जीव है। इसी प्रकार पुद्गल नाम से अजीव एक है। अणु और स्कन्ध के भेद से अजीव पुद्गल दो प्रकार का है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए।

(ग) वर्तमान रूप—

इसमें एक स्थानिक, द्विस्थानिक आदि १० स्थान या अध्ययन हैं जिनमें एक से लेकर दस तक की संख्या के अर्थों का कथन है। इसमें लोकसम्मत गर्भधारण आदि विषयों का भी कथन है। इसमें आठ निह्नवों में से "बोटिक" को छोड़कर केवल सात निह्नवों का कथन है। इससे ज्ञात होता है कि इसके रचनाकाल तक जैनों में सम्प्रदायभेद नहीं हुआ था। इस तरह इसमें वस्तु का निरूपण संख्या की दृष्टि से किया गया है, जिससे यह संग्रह प्रधान कोश-शैली का ग्रन्थ हो गया है।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थोक्त पद संख्या में अन्तर है। "इसके १० अध्ययन हैं" ऐसा स्पष्ट कथन समवायाङ्ग आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में तो है, परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं है। धवला में जीवादि के १ से १० संख्या तक के कथन का स्पष्ट उल्लेख होने से तथा जयधवला और अङ्ग-प्रज्ञप्ति में तदनुरूप ही उदाहरण मिलने से यह संभावना की जा सकती है कि इसमें १० अध्ययन रहे होंगे, परन्तु उनका विभाजन संख्या के आधार पर रहा होगा या विषय के आधार पर यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है। दिगम्बर-ग्रन्थोक्त शैली और उपलब्ध आगम की शैली में स्पष्ट अन्तर है। समवायाङ्ग के इस कथन से कि "इसमें एकविध, द्विविध से लेकर दसविध तक जीव, पुद्गल तथा लोकस्थानों का वर्णन है" स्पष्ट ही दिगम्बर शैली का संकेत है। तत्त्वार्थवार्तिककार का यह कथन कि "इसमें अनेक आश्रयवाले अर्थों का निर्णय है" पूर्ण स्पष्ट नहीं है।

---

१. जयधवला गाथा १, पृ० ११३.
२. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा २३-२८, पृ० २६१-२६२.

यह एक प्रकार का कोश ग्रन्थ है जिसकी शैली समवायाङ्ग से निश्चित ही भिन्न रही है। वर्तमान स्थानाङ्ग दिगम्बरोक्त स्थानाङ्ग-शैली से सर्वथा भिन्न है। आश्चर्य है कि स्थानाङ्ग में १० संख्या के वर्णन प्रसङ्ग में स्थानाङ्ग के १० अध्ययनों का उल्लेख नहीं है, जो होना चाहिए था। वर्तमान आगम में गर्भधारण आदि अनेक लौकिक बातों का समावेश कालान्तर में किया गया लगता है।

४–समवायाङ्ग

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. समवायाङ्ग में[1]—स्वसमयादि सूत्रकृताङ्गवत् सूचित किए जाते हैं। इसमें एक-एक वृद्धि करते हुए १०० तक के स्थानों का कथन है तथा जगत् के जीवों के हितकारक बारह प्रकार के श्रुत-ज्ञान का संक्षेप से समवतार है। नाना प्रकार के जीवाजीवों का विस्तार से कथन है। अन्य भी बहुत प्रकार के विशेष तत्त्वों का कथन है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और सुरगणों के आहार, उच्छ्वास, लेश्या, आवास-संख्या, आयाम-प्रमाण, उपपात-च्यवन, अवगाहना, उपधि, वेदना, विधान (भेद), उपयोग, योग, इन्द्रिय, कषाय, नाना प्रकार की जीव-योनियाँ, पर्वत आदि के विष्कम्भ (चौड़ाई), उत्सेध (ऊँचाई), परिरय (परिधि) के प्रमाण, मन्दर आदि महीधरों के भेद, कुलकर, तीर्थङ्कर, गणधर, समस्त भरतक्षेत्र के स्वामी, चक्रवर्ती, चक्रधर (वासुदेव), हलधर (बलदेव) आदि का निर्वचन है।

अङ्गों के क्रम में यह चौथा अङ्ग है। इसमें १ श्रुतस्कन्ध, १ अध्ययन, १ उद्देशन, १ समुद्देशन और १ लाख ४४ हजार पद हैं। वाचनादि का विवेचन आचाराङ्गवत् है।

२. नन्दीसूत्र में[2]—समवायाङ्ग में जीवादि का (समवायाङ्गवत्) समाश्रय किया गया है। एकादि से वृद्धि करते हुए १०० स्थानों तक के भावों की प्ररूपणा है। द्वादश गणिपिटक का संक्षेप से परिचय है।

शेष श्रुतस्कन्धादि तथा वाचनादि का कथन समवायाङ्गवत् है।

३. विधिमार्गप्रपा में[3]—इसमें श्रुतस्कन्ध, अध्ययन और उद्देशक का उल्लेख नहीं है।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[4]—समवायाङ्ग में सभी पदार्थों का समवाय (समानता से कथन) है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से वह समवाय ४ प्रकार का है, जैसे—**(क) द्रव्य समवाय—** धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश तथा एक जीव के एक समान असंख्यात प्रदेश होने से इनका द्रव्यरूप से समवाय है (पर्यायार्थिक नय से प्रदेशों के द्रव्यत्व की भी सिद्धि होती है)। **(ख) क्षेत्र समवाय—**जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक तथा नन्दीश्वरद्वीप की एक बावड़ी ये सब १ लाख योजन विस्तारवाले होने से इनका क्षेत्र की दृष्टि से समवाय है। **(ग) काल समवाय—**

---

१. समवायाङ्गसूत्र ५२२-५२५.

२. नन्दीसूत्र ४९.

३. विधिमार्गप्रपा, पृ० ५२.

४. तत्त्वार्थ १.२०, पृ० ७३.

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों १० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होने से इनमें काल समवाय है। **(घ) भाव समवाय**—क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र ये सब अनन्त विशुद्धिरूप होने से भाव समवाय वाले हैं।

२. धवला में[1]—समवायाङ्ग में १ लाख ६४ हजार पदों के द्वारा सभी पदार्थों के समवाय का कथन है। समवाय ४ प्रकार का है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। जैसे—(क) **द्रव्य समवाय**—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश परस्पर समान हैं। (ख) **क्षेत्र समवाय**—सीमन्तक नरक (प्रथम इन्द्रक बिल), मानुष क्षेत्र, ऋजु विमान (सौधर्म इन्द्र का पहला इन्द्रक) और सिद्धलोक ये चारों क्षेत्र की अपेक्षा समान हैं। (ग) **काल समवाय**—एक समय दूसरे समय के समान है और एक मुहूर्त दूसरे मुहूर्त के समान है। (घ) **भाव समवाय**—केवलज्ञान और केवलदर्शन समान हैं क्योंकि ज्ञेयप्रमाण ज्ञान-मात्र में चेतना शक्ति की उपलब्धि होती है।

३. जयधवला में[2]—समवायाङ्ग में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के समवाय का वर्णन है। शेष कथन प्रायः धवला के समान है।

४. अङ्गप्रज्ञप्ति में[3]—समवायाङ्ग में १ लाख ६४ हजार पद हैं। संग्रहनय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों की अपेक्षा पदार्थों के सादृश्य का कथन है। शेष कथन प्रायः धवला के समान है।

(ग) वर्तमान रूप—

यह अङ्गग्रन्थ भी स्थानाङ्ग की शैली में लिखा गया कोश ग्रन्थ है। इसमें १ से वृद्धि करते हुए १०० समवायों का वर्णन है। एक प्रकीर्ण समवाय है जिसमें १०० से आगे की संख्याओं का समवाय बतलाया गया है। इसके अन्त में १२ अङ्ग ग्रन्थों का परिचय दिया गया है जो नन्दीसूत्रोक्त श्रुतपरिचय से साम्य रखता है। जिससे इसके कुछ अंशों की परवर्तिता सिद्ध होती है।

(घ) तुलनात्मक समीक्षा—

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में बतलाई गई इसकी पदसंख्या में कुछ अन्तर है। दिगम्बरों के सभी ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का विषय एक जैसा बतलाया है। उदाहरण में यत्किञ्चित् अन्तर है। समवायाङ्ग और नन्दी में १०० समवायों तथा श्रुतावतार का उल्लेख है जो वर्तमान आगम में देखा जाता है। वर्तमान आगम में एक प्रकीर्ण समवाय भी है जिसमें १०० से अधिक के समवायों का कथन है। विधिमार्गप्रपा में अध्ययनादि के विभाजन का निषेध है। उसमें १०० समवाय और श्रुतावतार का भी उल्लेख नहीं है जो चिन्त्य है। दिगम्बर ग्रन्थों में भी १०० समवाय तथा श्रुतावतार का उल्लेख नहीं है। वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से ४ प्रकार के समवाय द्वारा सभी पदार्थों के विवेचन का निर्देश है। इस तरह उपलब्ध आगम की शैली दिगम्बर-ग्रन्थोक्त शैली से भिन्न है। उपलब्ध आगम की शैली उपलब्ध स्थानाङ्ग जैसी (संग्रह-प्रधान) ही है। वस्तुतः स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की शैली में अन्तर होना चाहिए था। दिगम्बर ग्रन्थोक्त स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की शैली में अन्तर है। दिगम्बर ग्रन्थोक्त स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की दो शैलियों से उपलब्ध स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की शैली भिन्न प्रकार की है।

---

१. धवला० १.१.२, पृ० १०२.
२. जयधवला गाथा १, पृ० ११३.
३. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा २९-३५, पृ० २६३-२६४.

५—व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. समवायाङ्ग में[1]—व्याख्याप्रज्ञप्ति में नानाविध देव, नरेन्द्र, राजर्षि तथा अनेक संशयग्रस्तों के प्रश्नों के भगवान् जिनेन्द्र ने विस्तार से उत्तर दिये हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय, क्षेत्र, काल, प्रदेश, परिणाम, यथास्थितिभाव, अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण और सुनिपुण उपक्रमों के विविध प्रकारों के द्वारा प्रकट रूप से प्रकाशक, लोकालोक का प्रकाशक, संसार-समुद्र से पार उतारने में समर्थ, सुरपति से पूजित, भव्य जनों के हृदय को आनन्दित करने वाले, तमःरज-विध्वंशक, सुदृष्ट-दीपकरूप, ईहामति-बुद्धिवर्द्धक, पूरे (अन्यून) ३६ हजार व्याकरणों (प्रश्नों के उत्तर) को दिखाने से व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्रार्थ के अनेक प्रकारों का प्रकाशक, शिष्यों का हितकारक और गुणों से महान् अर्थ वाला है।

स्वसमयादि का कथन पूर्ववत् है।

अंगों के क्रम में यह ५वां अंगग्रन्थ है। इसमें १ श्रुतस्कन्ध, १०० से कुछ अधिक अध्ययन, १० हजार उद्देशक, १० हजार समुद्देशक, ३६ हजार प्रश्नों के उत्तर तथा ८४ हजार पद हैं।

वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

यहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति के लिए "विवाहपन्नत्ती" और "वियाहपन्नत्ती" दोनों पदों का प्रयोग हुआ है। इसके लिए "भगवती" पद का भी प्रयोग किया गया है तथा यहाँ भी इसके ८४ हजार पद बतलाये गये हैं।[2]

२. नन्दीसूत्र में[3]—व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीवादि का कथन है (पूर्ववत्)। समवायांगोक्त "नानाविध देवादि०" यह अंश यहाँ नहीं है। यहाँ केवल "विवाहपन्नत्ती" शब्द का प्रयोग हुआ है। पद परिमाण दो लाख ८८ हजार बतलाया है। शेष कथन समवायाङ्गवत् है।

३. विधिमार्गप्रपा में[4]—व्याख्याप्रज्ञप्ति के लिए 'भगवती" और विवाहपन्नती" दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ किया गया है। इसमें श्रुतस्कन्ध नहीं हैं। 'शतक' नामवाले ४१ अध्ययन हैं जो अवान्तर शतकों के साथ कुल १३८ शतक हैं।[5] इसके १९२३।१९३२ उद्देशक बतलाये हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में —

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[6]—"जीव है या नहीं है" इत्यादि रूप से ६० हजार प्रश्नों के उत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति में हैं।

---

१. समवा० सूत्र ५२६-५२९; ८४-३९५।

२. समवा० सूत्र ८४-३९५।

३. नन्दीसूत्र ५०।

४. विधिमार्गप्रपा, पृ० ५३-५४।

५. एकतालीस शतकों का १३८ शतकों में विभाजन–३३ से ३९ तक के शतक १२-१२ शतकों के समवाय होने से (७ × १२ =)८४ शतक, ४०वाँ शतक २१ शतकों का समवाय है, शेष १ से ३२ तक तथा ४१वाँ प्रत्येक १–१ शतक होने से ३३ शतक हैं। (कुल ८४ + २१ + ३३ = १३८)

६. तत्त्वार्थ० १.२०, पृ० ७३।

२. धवला में[1]—इसमें २ लाख २८ हजार पदों के द्वारा क्या जीव है ? क्या जीव नहीं है ? इत्यादि रूप से ६० हजार प्रश्नों के व्याख्यान हैं।

३. जयधवला में[2]—इसमें ६० हजार प्रश्नों तथा ९६ हजार छिन्नच्छेदों से जनित शुभाशुभों का वर्णन है।

४. अङ्गप्रज्ञप्ति में[3]—इसे मूल गाथा में "विवायपण्णत्ति" कहा है तथा इसकी संस्कृत छाया में "विपाकप्रज्ञप्ति" कहा है। इसमें जीव हैं, नहीं है, नित्य है, अनित्य है आदि ६० हजार गणि प्रश्न हैं। पदसंख्या २२८००० है।

(ग) वर्तमान रूप—

इसमें गौतम गणधर प्रश्नकर्त्ता हैं तथा भगवान् महावीर उत्तर प्रदाता हैं। इस शैली का स्पष्ट उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिक में मिलता है—"एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम्····इति गौतम-प्रश्ने भगवता उक्तम्"।[4]

इस ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण पूर्वक होता है। ऐसा किसी अन्य अङ्ग ग्रन्थ में नहीं है। प्रारम्भ के २० शतक प्राचीन हैं। वेबर के अनुसार बाद के २१ शतक पीछे से जोड़े गए हैं।[5] रायपसेणीय, पन्नवणा आदि अङ्ग बाह्य ग्रन्थों के भी उल्लेख इसमें मिलते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों की भी चर्चा है। जयन्ति श्राविका का भी कथन है। इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति गणधरों के तो नाम हैं परन्तु सुधर्मा गणधर का नाम नहीं है। पौधे, लेश्या, कर्मबन्ध, समवसरण, त्रेता, द्वापर, कलियुग, ब्राह्मी-लिपि आदि का वर्णन है।

व्याख्यात्मक कथन होने से इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं तथा पूज्य और विशाल होने से इसे "भगवती" भी कहते हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

इसके पद-प्रमाण के सम्बन्ध में दिगम्बर ग्रन्थों में तो एकरूपता है, परन्तु श्वेताम्बरों के समवायाङ्ग और नन्दीसूत्र में एकरूपता नहीं है। इस तरह पदप्रमाण के सम्बन्ध में ३ मत हैं—(१) दिगम्बर ग्रन्थों का, (२) समवायाङ्ग का और (३) नन्दीसूत्र का। नन्दी में आचाराङ्ग से व्याख्याप्रज्ञप्ति तक स्पष्ट रूप से क्रमशः दुगुना-दुगुना पद-प्रमाण बतलाया गया है; परन्तु समवायाङ्ग में यहाँ ऐसा नहीं किया गया है। समवायाङ्ग में दो स्थानों पर पदसंख्या उल्लिखित हुई है और दोनों स्थानों पर ८४ हजार पद बतलाए हैं। प्रश्नों के उत्तरों की संख्या के सन्दर्भ में भी ३ मत मिलते हैं—(१) श्वेताम्बर ग्रन्थों में ३६ हजार, (२) तत्त्वार्थवार्तिक, धवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में ६० हजार और (३) जयधवला में ६० हजार प्रश्नोत्तरों के साथ ९६ हजार छिन्नच्छेद। वर्तमान

१. धवला १.१.२, पृ० १०२.
२. जयधवला गाथा १, पृ० ११४.
३. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा ३६-३८, पृ० २६४.
४. तत्त्वार्थ० ४.२६.
५. जैन साहित्य इ० पूर्वपीठिका, पृ० ६५७.

व्याख्याप्रज्ञप्ति की दिगम्बर उल्लेखों से भिन्नता है। इसमें गौतम का प्रश्नकर्त्ता होना और सुधर्मा का नाम न होना चिन्त्य है। गौतम का प्रश्नकर्त्ता होना दिगम्बरों के अनुकूल है। इस ग्रन्थ का कुछ अंश निश्चय ही प्राचीन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु रायपसेणीय आदि अङ्गबाह्य ग्रन्थों के उल्लेखों, समवायाङ्ग आदि में निर्दिष्ट विषयवस्तु से भिन्नता होने, मंगलाचरण होने आदि कारणों से इसके कुछ अंशों को बाद में जोड़ा गया है।

इस ग्रन्थ का भगवती नाम श्वेताम्बरों में प्रसिद्ध है। समवायाङ्ग और विधिमार्गप्रपा में इस नाम का प्रयोग भी मिलता है। इस ग्रन्थ के प्राकृत नाम कई हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में इसे "विक्खापण्णत्ती" कहा है जो व्याख्याप्रज्ञप्ति के अधिक निकट प्रतीत होता है[१], परन्तु यह नाम धवला आदि में न होने से ज्ञात होता है कि यह नाम बाद में संस्कृत के स्वर-व्यञ्जन-परिवर्तन के आधार पर दिया गया है।

६—ज्ञाताधर्मकथा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. समवायाङ्ग में[२]—ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातों के (१) नगर, (२) उद्यान, (३) चैत्य, (४) वनखण्ड, (५) राजा, (६) माता-पिता, (७) समवसरण, (८) धर्माचार्य, (९) धर्मकथा, (१०) इहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धिविशेष, (११) भोगपरित्याग, (१२) प्रव्रज्या, (१३) श्रुतपरिग्रह, (१४) तपोपधान, (१५) पर्याय (दीक्षा पर्याय), (१६) सल्लेखना, (१७) भक्तप्रत्याख्यान, (१८) पादपोपगमन, (१९) देवलोक गमन, (२०) सुकुलप्रत्यागमन, (२१) पुनः बोधिलाभ (सम्यक्त्वप्राप्ति) और (२२) अन्तक्रियाओं का वर्णन है।

इसमें (१) श्रेष्ठ जिन-भगवान् के शासन की संयमरूपी प्रव्रजितों की विनयप्रधान प्रतिज्ञा के पालन करने में जो धृति, मति, और व्यवसाय (पुरुषार्थ) से दुर्बल, (२) तप-नियम, तपोपधानरूप युद्ध-दुर्धर भार को वहन करने में असमर्थ होने से पराङ्मुख, (३) घोर परीषहों से पराजित होकर सिद्धालय प्राप्ति के कारणभूत महामूल्य ज्ञानादि से पतित, (४) विषय सुखों की तुच्छ आशा के वशीभूत होकर रागादि दोषों से मूर्च्छित, (५) चारित्र, ज्ञान और दर्शन की विराधना से सर्वथा निःसार और शून्य, (६) संसार के अपार दुःखरूप दुर्गतियों के भवप्रपञ्च में **पतित ऐसे पतित पुरुषों की कथाएँ हैं।**

जो धीर हैं, परीषहों और कषायों को जीतने वाले है, धर्म के धनी हैं, संयम में उत्साहयुक्त हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और समाधियोग की आराधना करने वाले हैं, शल्यरहित होकर शुद्ध सिद्धालय के मार्ग की ओर अभिमुख हैं ऐसे **महापुरुषों की कथायें** हैं।

जो देवलोक में उत्पन्न होकर देवों के अनुपम सुखों को भोगकर कालक्रम से वहां से च्युत होकर पुनः मोक्षमार्ग को प्राप्तकर अन्तक्रिया से विचलित (अन्तसमय में विचलित) हो गए हैं उनकी पुनः मोक्षमार्ग-स्थिति की कथायें हैं।

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३५६.
२. समवा० सूत्र ५३०-५३४.

अङ्गक्रम में यह छठा अङ्ग है। इसमें २ श्रुतस्कन्ध और १९ अध्ययन हैं जो संक्षेप से दो प्रकार के हैं—चरित और कल्पित। २९ उद्देशनकाल, २९ समुद्देशनकाल और संख्यात सहस्र पद हैं।

धर्मकथाओं के १० वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में ५००-५०० आख्यायिकायें हैं, प्रत्येक आख्यायिका में ५००-५०० उपाख्यायिकायें हैं, प्रत्येक उपाख्यायिका में ५००-५०० आख्यायिका-उपाख्यायिकायें हैं। इस तरह पूर्वापर सब मिलाकर साढ़े तीन करोड़ अपुनरुक्त कथायें हैं।

शेष वाचना आदि का कथन आचाराङ्गवत् है।

२ **नन्दीसूत्र में**[1]—इसमें ज्ञाताधर्मकथा की विषयवस्तु प्रायः समवायाङ्गवत् ही बतलाई है। क्रम में अन्तर है। 'पतित प्रव्रजित पुरुषों की कथायें हैं', यह पैराग्राफ नहीं है। उद्देशन काल १९ और समुद्देशनकाल भी १९ बतलाये हैं।

३. विधिमार्गप्रपा में[2]—इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं—ज्ञाता और धर्मकथा। ज्ञाता के १९ अध्ययन हैं—(१) उत्क्षिप्त, (२) संघाट, (३) अंड, (४) कूर्म, (५) शैलक, (६) तुम्बक, (७) रोहिणी, (८) मल्ली, (९) माकन्दी, (१०) चंदिमा, (११) दावद्रव, (१२) उदक, (१३) मंडुक, (१४) तेतली, (१५) नंदिफल, (१६) अवरकंका, (१७) आकीर्ण, (१८) संसुमा और (१९) पुंडरीक।

धर्मकथाओं के १० वर्ग हैं—जिनमें क्रमशः १०,१०,४,४,३२,३२,४,४,८,८, अध्ययन हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. **तत्त्वार्थवार्त्तिक में**[3]—अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का वर्णन है।

२. धवला में[4]—नाथधर्मकथा में ५ लाख ५६ हजार पद हैं जिनमें सूत्र-पौरुषी-विधि (सिद्धान्तोक्त-विधि) से तीर्थंकरों की धर्मदेशना का, गणधरों के संदेह निवारण की विधि का तथा बहुत प्रकार की कथा-उपकथाओं का वर्णन है।

३. जयधवला में[5]—नाथधर्मकथा में तीर्थंकरों की धर्मकथाओं के स्वरूप का वर्णन है। तीर्थंकर दिव्यध्वनि द्वारा धर्मकथाओं के स्वरूप का कथन करते हैं। इसमें उन्नीस धर्मकथायें हैं।

४. अङ्गप्रज्ञप्ति में[6]—इसमें "णाणकहा" तथा "णाहकहा" दोनों शब्दों का प्रयोग है जिनकी संस्कृत-छाया 'ज्ञातृकथा' तथा 'नाथकथा' की है। पुष्पिका में "णादाधम्मकहा" लिखा है इसमें ५५६००० पद हैं। इसे नाथकथा के कथन से संयुक्त कहा है —(नाथ = त्रिलोक स्वामी, धर्मकथा =

---

१. नन्दीसूत्र ५१।
२. विधिमार्गप्रपा पृ० ५५।
३. तत्त्वार्थ० १.२० पृ० ७३।
४. धवला १.१.२ पृ० १०२-१०३।
५. जयधवला गाथा १ पृ० ११४-११५।
६. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा ३९-४४ पृ० २६५-२६६।

तत्त्व-संकथन)। इसमें गणधर, चक्रवर्ती और इन्द्र के द्वारा प्रश्न करने पर दश धर्म का कथन या जीवादि वस्तु का कथन है। अथवा ज्ञातृ, तीर्थंकर, गणि, चक्रि, राजर्षि, इन्द्र आदि की धर्मानुकथादि का कथन है।

(ग) वर्तमान रूप—

छठें से ग्यारहवें तक के कथा-प्रधान अङ्ग-ग्रन्थों में सुधर्मा और जम्बू स्वामी के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। क्रिया पद अन्यपुरुष में है जिससे लगता है कि इनका रचयिता स्वयं सुधर्मा या जम्बू स्वामी नहीं है अपितु उनको प्रमाण मानकर किसी अन्य व्यक्ति ने रचना की है।

इस कथा-ग्रन्थ की मुख्य और अवान्तर कथाओं में आई हुई अनेक घटनाओं से तथा विविध प्रकार के वर्णनों से तत्कालीन इतिहास और संस्कृति की जानकारी प्राप्त होती है। इसके दो श्रुत-स्कन्ध हैं—

प्रथम श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययन हैं—

(१) उत्क्षिप्त (मेघकुमार की कथा), (२) संघाटक (धन्नासेठ), (३) अंडक (चम्पानगरी-वर्णन तथा मयूर-अण्डकथा), (४) कूर्म (वाराणसी नगरी-वर्णन तथा कछुआ की कथा), (५) शैलक (द्वारका-वर्णन तथा शैलक की कथा), (६) तुम्बक (राजगृह का वर्णन), (७) रोहिणीज्ञात (वधू रोहिणी की कथा), (८) मल्ली (१९वें तीर्थंकर की कथा), (९) माकन्दी (वणिक् पुत्र जिनपालित और जिनरक्षित की कथा), (१०) चन्द्र, (११) दावद्रव (दावद्रव समुद्र तट पर स्थित वृक्ष की कथा), (१२) उदकज्ञात (कलुषित जलशोधन), (१३) मंडुक ज्ञात या दर्दुरज्ञात (नन्द के जीव मेढ़क की कथा), (१४) तेतलि-पुत्र, (१५) नन्दीफल, (१६) द्रौपदी, (१७) आकीर्ण (जंगली अश्व), (१८) संसुमा (सेठ कन्या) और (१९) पुंडरीक।

इन कथाओं में कथा को अपेक्षा उदाहरण पर विशेष बल दिया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध—विषय और शैली की दृष्टि से यह प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा भिन्न प्रकार का है। इसमें धर्मकथाओं के १० वर्ग हैं जिनमें चमर, बलि, चन्द्र, सूर्य, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र, आदि देवों की पटरानियों के पूर्वभव की कथायें हैं। इन पटरानियों के नाम उनके पूर्वभव (मनुष्य भव) की स्त्री-योनि से सम्बन्धित हैं। जैसे काली, रजनी, मेघा आदि।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक में अनेक आख्यान-उपाख्यान कहे हैं परन्तु जयधवला में ज्ञाताधर्म की १९ धर्मकथाओं के कथन का उल्लेख मिलता है जो संभवतः १९ अध्ययनों का द्योतक है। इससे तथा श्वे० ग्रन्थों के उल्लेख से एक बात ज्ञात होती है कि मूलतः इसमें १९ अध्ययन रहे होंगे। 'धर्म-कथाओं के १० वर्ग हैं जिनमें ३½ करोड़ कथायें हैं' इत्यादि कथन अतिरंजनापूर्ण है। इन १० धर्म-कथाओं का स्थानाङ्ग में कोई उल्लेख भी नहीं मिलता है। श्वे० ग्रन्थोक्त संख्यात सहस्र पद-संख्या अनिश्चित है जबकि दिग० ग्रन्थों में एक निश्चित पदसंख्या का उल्लेख किया गया है। समवायाङ्गोक्त २९ उद्देशन और २९ समुद्देशन काल में संभवतः १९ अध्ययन और १० धर्मकथाओं के वर्ग को जोड़कर २९ कहा है जबकि नंदी में मात्र १९ उद्देशन और १९ समुद्देशन काल कहे हैं।

"ज्ञाता" शब्द का अर्थ "उदाहरण" ऐसा जो टीकाकार अभयदेव ने लिखा है वह प्राप्त किसी भी उद्धरण से सिद्ध नहीं है। ऐसा उन्होंने संभवतः उपलब्ध आगम के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है अन्यथा यह ज्ञातवंशी (दिग० नाथवंशी) भगवान् महावीर की धर्मकथाओं से सम्बन्धित रहा है। ऐसा दिग० ग्रन्थों से स्पष्ट है। जब इस अङ्ग ग्रन्थ के नाम के शब्दार्थ पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि दिग० इसे नाथधर्मकथा (णाहधम्मकहा) कहते हैं और श्वे० ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्म-कहा) 'ज्ञातृ' से श्वेताम्बर-मान्यतानुसार ज्ञातृवंशीय महावीर का तथा 'नाथ' से दिगम्बर-मान्यतानुसार नाथवंशीय महावीर का ही बोध होता है। अतः भगवान् महावीर से सम्बन्धित या उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म कथाओं का ही संचयन इसमें होना चाहिए। धर्मच्युतों को पुनः धर्माराधना में संस्थापित करना उन कथाओं का उद्देश्य रहा है ऐसा समवायांग और नन्दी के उल्लेखों से स्पष्ट है। समवायांग से ज्ञात होता है कि इसमें तीन प्रकार की कथायें थीं—(१) पतितों की, (२) दृढ़ धार्मिकों की और (३) धर्ममार्ग से विचलित होकर पुनः धर्ममार्ग का आश्रय लेने वालों की।

७—उपासकदशा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. स्थानाङ्ग में[1]—इसके १० अध्ययन हैं—आनन्द, कामदेव, चूलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और लेयिकापिता।

२. समवायाङ्ग में[2]—इसमें उपासकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथायें, इहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धिविशेष, शीलव्रत-विरमण-गुण-प्रत्याख्यान-प्रोषधोपवास प्रतिपत्ति, सुपरिग्रह (श्रुतपरिग्रह), तपोपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, सल्लेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, सुकुलप्रत्यागमन, पुनः बोधिलाभ और अन्तक्रिया का कथन किया गया है।

उपासकदशा में उपासकों (श्रावकों) के ऋद्धिविशेष, परिषद, विस्तृत धर्मश्रवण, बोधिलाभ आदि के क्रम से अक्षय सर्व-दुःखमुक्ति का वर्णन है।

अङ्गों के क्रम में सातवां अङ्ग है—१ श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, १० उद्देशनकाल, १० समुद्देशनकाल और संख्यात लाख पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

२. नन्दीसूत्र में[3]—इसमें प्रायः समवायाङ्गवत् वर्णन है। क्रम में अन्तर है। उपासकों के ऋद्धिविशेष, परिषद आदि वाला अंश यहां नहीं है। पद-संख्या संख्यात सहस्र बतलाई है।

३. विधिमार्गप्रपा में[4]—इसमें एक श्रुतस्कन्ध तथा १० अध्ययन हैं। अध्ययनों के नाम

१. स्थानाङ्गसूत्र १०.११२।
२. समवायाङ्गसूत्र ५३५-५३८।
३. नन्दीसूत्र ५२।
४. विधिमार्गप्रपा पृ० ५६।

हैं—१. आनन्द, २. कामदेव, ३. चूलनीपिता, ४. सुरादेव, ५. चुल्लशतक, ६. कुंडकोलिक, ७. सद्दलपुत्र, ८. महाशतक, ९. नन्दिनीपिता और १०. लेतिआपिता।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. **तत्त्वार्थवार्तिक में**[1]—श्रावकधर्म का कथन है।

२. **धवला में**[2]—उपासकाध्ययन में ११७०००० पद हैं जिनमें दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ११ प्रकार के उपासकों के (श्रावकों के) लक्षण, उनके व्रतधारण करने की विधि तथा आचरण का वर्णन है।

३. **जयधवला में**[3]—दर्शनिक आदि ११ प्रकार के उपासकों के ग्यारह प्रकार के धर्म का वर्णन उपासकाध्ययन में है।

४. **अङ्गप्रज्ञप्ति में**[4]—उपासकाध्ययन में ११७००० पद हैं जिनमें दर्शनिक आदि ११ प्रकार के देशविरतों (श्रावकों) के श्रद्धा, दान, पूजा, संघसेवा, व्रत, शीलादि का कथन है।

(ग) वर्तमान रूप—

इसमें उपासकों के आचारादि का वर्णन है। उपोद्घात ज्ञाताधर्मकथावत् है। आनन्द आदि जिन १० उपासकों के नाम स्थानाङ्ग और विधिमार्गप्रपा में हैं उनकी ही कथायें इसमें हैं। सभी कथायें एक जैसी हैं उनमें केवल नामादि का अन्तर है।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

यह एकमात्र ऐसा अङ्गग्रन्थ है जिसमें उपासकों के आचार आदि का वर्णन किया गया है, ऐसा दिग० और श्वे० दोनों के उल्लेखों से प्रमाणित होता है। 'दशा' शब्द १० संख्या का बोधक है। इस तरह यह अङ्ग-ग्रन्थ स्वनामानुरूप है। धवला और जयधवला में उपासकों की ११ प्रतिमाओं का भी उल्लेख है परन्तु तत्त्वार्थवार्तिक में ऐसा उल्लेख नहीं है। समवायाङ्ग और नन्दी में 'प्रतिमा' शब्द तो मिलता है परन्तु प्रतिमा के दर्शनिक आदि नाम नहीं हैं। शीलव्रत आदि शब्दों का भी प्रयोग समवायाङ्ग और नन्दी में मिलता है। समवायाङ्ग और नन्दी में आनन्द आदि १० उपासकों के नामों का उल्लेख तो नहीं है परन्तु १० अध्ययन संख्या से १० उपासकों की पुष्टि होती है। दिग० इस विषय में चुप हैं। वर्तमान आगम में स्थानाङ्गोक्त आनन्द आदि १० उपासकों की ही कथायें हैं।

पदसंख्या से सम्बन्धित तीन प्रकार के उल्लेख हैं—(१) समवायाङ्ग में संख्यात लाख, (२) नन्दी में संख्यात सहस्र और (३) धवला में ११ लाख ७० हजार।

---

१. तत्त्वार्थ० १.२० पृ० ७३।
२. धवला १.१.१ पृ० १०३।
३. जयधवला गाथा १ पृ० ११८।
४. अंगप्रज्ञप्ति गाथा ४५-४७ पृ० २६६।

उपोद्घातादि से यह अपेक्षाकृत परवर्ती रचना सिद्ध होती है। श्रावकधर्म का प्रतिपादक यह प्राचीनतम ग्रन्थ रहा है ऐसा उभय परम्परानुमत है।

८—अन्तकृद्दशा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. स्थानाङ्ग में[1]—इसमें १० अध्ययन हैं—नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकष, चिल्वक (चिल्लक), पाल और अंबडपुत्र।

२. समवायाङ्ग में[2]—इसमें कर्मों का अन्त करने वाले अन्तकृतों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोग-परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रह, तप-उपधान, बहुत प्रकार की प्रतिमायें, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य, शौच, सत्रह प्रकार का संयम, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य, तप, त्याग समितियों तथा गुप्तियों का वर्णन है। अप्रमादयोग, स्वाध्याय और ध्यान का स्वरूप, उत्तम संयम को प्राप्त करके परीषहों को सहन करने वालों को चार घातियाँ कर्मों के क्षय से प्राप्त केवल ज्ञान, कितने काल तक श्रमण पर्याय और केवलि पर्याय का पालन किया, किन मुनियों ने पादोपगमसंन्यास लिया और कितने भक्तों का छेदनकर अन्तकृत मुनिवर अज्ञानान्धकार से विप्रमुक्त हो अनुत्तर मोक्षसुख को प्राप्त हुए, उन सबका विस्तार से वर्णन है।

अङ्गों के क्रम में यह आठवाँ अङ्ग है। इसमें १ श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, ७ वर्ग, १० उद्देशनकाल, १० समुद्देशनकाल और संख्यात हजार पद हैं।

शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

३. नन्दीसूत्र में[3]—इसमें अन्तकृतों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक-परलोक ऋद्धिविशेष, भोग-परित्याग, प्रव्रज्या, पर्याय (दीक्षा पर्याय), श्रुतपरिग्रह, तपोपधान, सल्लेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन और अन्तक्रिया (शैलेशी-अवस्था) का वर्णन है। इस आठवें अङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध, ८ वर्ग, ८ उद्देशनकाल और ८ समुद्देशनकाल हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

४. विधिमार्गप्रपा में[4]—इस आठवें अङ्ग में १ श्रुतस्कन्ध तथा ८ वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में क्रमशः १०,८,१३,१०,१०,१६,१३ और १० अध्ययन हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[5]—जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया है उन्हें अन्तकृत कहते हैं।

---

१. स्थानाङ्गसूत्र १०.११३।
२. समवायाङ्गसूत्र ५३९-५४२।
३. नन्दीसूत्र ५३।
४. विधिमार्गप्रपा, पृ० ५६।
५. तत्त्वार्थ० १.२० पृ० ७३।

चौबीसों तीर्थङ्करों के समय में होने वाले १०-१० अन्तकृत अनगारों का वर्णन है जिन्होंने दारुण उपसर्गों को सहनकर मुक्ति प्राप्त की। भगवान् महावीर के समय के १० अन्तकृत हैं—नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कम्बल, पाल और अम्बष्ठपुत्र।

अन्तकृतों की दशा अन्तकृद्दशा है, अतः इसमें अर्हत्, आचार्य और सिद्ध होने वालों की विधि का वर्णन है।

२. **धवला में**[1]—२३२८००० पदों के द्वारा इसमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहनकर, प्रातिहार्यों (अतिशय-विशेषों) को प्राप्तकर निर्वाण को प्राप्त हुए १०-१० अन्तकृतों का वर्णन है। तत्त्वार्थभाष्य में कहा है—"संसारस्यान्तःकृतो येस्तेऽन्तकृतः" (जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया है, वे अन्तकृत हैं। वर्धमान तीर्थङ्कर के तीर्थ में होने वाले १० अन्तकृत हैं—नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंबिल, पालम्ब और अष्टपुत्र। इसी प्रकार ऋषभदेव आदि तीर्थङ्करों के तीर्थ में दूसरे १०-१० अन्तकृत हुए हैं। इन सबकी दशा का इसमें वर्णन हैं।

३. **जयधवला में**[2]—इसमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में चार प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्यों को प्राप्तकर निर्वाण को प्राप्त हुए सुदर्शन आदि १०-१० साधुओं का वर्णन है।

४. **अङ्गप्रज्ञप्ति में**[3]—अन्तकृत में २३२८००० पद हैं, जिनमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ के १०-१० अन्तकृतों का वर्णन है। वर्धमान तीर्थङ्कर के तीर्थ के १० अन्तकृतों के नाम धवलावत् है—मातंग, रामपुत्र, सोमिल, यमलीक, किष्कंबी, सुदर्शन, वलोक, नमि, पाल और अष्ट (मूल में "अलंबद्ध" पद का प्रयोग है जिसकी संस्कृत छाया पालम्बष्ट की है)।

(ग) वर्तमान रूप—

अन्तकृत शब्द का अर्थ है—संसार का अन्त करने वाले। इसका उपोद्घात ज्ञाताधर्मकथावत् है। इसमें ८ वर्ग हैं—

प्रथम वर्ग—इसमें गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, थिमिअ, अयल, कंपिल्ल, अक्षोभ, पसेणई और विष्णु इन अन्धकवृष्णि के १० पुत्रों से सम्बन्धित १० अध्ययन हैं। **द्वितीय वर्ग**—इसमें १० मुनियों के १० अध्ययन हैं। **तृतीय वर्ग**—इसमें १३ मुनियों के १३ अध्ययन हैं। **चतुर्थ वर्ग**—इसमें जालि आदि १० मुनियों के १० अध्ययन हैं। **पंचम वर्ग**—इसमें पद्मावती आदि १० अन्तकृत स्त्रियों के नामवाले १० अध्ययन हैं। **षष्ठ वर्ग**—इसमें १६ अध्ययन हैं। **सप्तम वर्ग**—इसमें १३ अध्ययन हैं, जिनमें अन्तकृत स्त्रियों (साध्वियों) की कथायें हैं। **अष्टम वर्ग**—इसमें राजा श्रेणिक की काली आदि १० अन्तकृत स्त्रियों (साध्वियों) से सम्बन्धित १० अध्ययन हैं।

इन आठ वर्गों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे (१) प्रथम पाँच वर्ग कृष्ण और वासुदेव से सम्बन्धित व्यक्तियों की कथा से सम्बन्धित हैं, (२) षष्ठ और सप्तम वर्ग भगवान्

१. धवला १.१.२, पृ० १०३-१०४।
२. जयधवला गाथा, १, पृ० ११८।
३. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा ४८-५१, पृ० २६७.

महावीर के शिष्यों की कथा से सम्बन्धित हैं तथा (३) अष्टम वर्ग राजा श्रेणिक की काली आदि १० भार्याओं की कथा से सम्बन्धित हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

स्थानाङ्ग, तत्त्वार्थवार्तिक, धवला, जयधवला और अङ्गप्रज्ञप्ति में नमि आदि भगवान् महावीर कालीन १० अन्तकृतों के नाम प्रायः एक समान मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि मूल में इनका वर्णन रहा है। समवायाङ्ग, नन्दी और विधिमार्गप्रपा में इन नामों का उल्लेख नहीं मिलता है। दिगम्बर ग्रन्थों में एक स्वर से कहा गया है कि इसमें न केवल भगवान् महावीर-कालीन १० अन्तकृतों का वर्णन रहा है अपितु चौबीसों तीर्थङ्करों के काल के १०-१० अन्तकृतों का वर्णन रहा है। वर्तमान ग्रन्थ में न तो १० अध्ययन हैं और न नमि आदि अन्तकृतों का वर्णन है। यह परवर्ती रचना है जिसमें नमि और महावीर-कालीन कुछ अन्तकृतों का वर्णन है परन्तु पूर्वोक्त नमि आदि नामों से भिन्नता है।

स्थानाङ्ग से इसके केवल १० अध्ययनों का बोध होता है जबकि समवायाङ्ग से १० अध्ययनों के अतिरिक्त ७ वर्गों का भी बोध होता है। नन्दी में केवल ८ वर्गों का उल्लेख है, अध्ययनों का नहीं। विधिमार्गप्रपा में ८ वर्गों और उसके अवान्तर अध्ययनों का कथन है जो वर्तमान आगम के अनुरूप है सिर्फ द्वितीय वर्ग की अध्ययनसंख्या में अन्तर है।

९—अनुत्तरौपपातिकदशा

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. स्थानाङ्ग में[1]—अनुत्तरौपपातिकदशा में १० अध्ययन हैं—ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, संस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्त।

२. समवायाङ्ग में[2]—अनुत्तरौपपातिकदशा में अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होनेवाले महापुरुषों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धियाँ, भोग-परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रह, तपोपधान, पर्याय, प्रतिमा, सल्लेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, अनुत्तर विमानों में उत्पाद, सुकुलोत्पत्ति, पुनः बोधिलाभ और अन्तक्रिया का वर्णन है।

परम मंगलकारी, जगत् हितकारी तीर्थङ्करों के समवसरण आदि का वर्णन है। उत्तम ध्यान योग से युक्त होते हुए जीव जिस प्रकार अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं, वहाँ जैसे विषयसुख का भोग करते हैं उन सबका वर्णन इसमें किया गया है। पश्चात् वहाँ से च्युत होकर वे जिस प्रकार संयम धारणकर अन्तक्रिया करेंगे उस सबका वर्णन है।

इस नवम अङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल और संख्यात लाख पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

३. नन्दीसूत्र में[3]—इसमें अनुत्तरौपपातिकों के नगरादि का वर्णन है। १ श्रुतस्कन्ध,

---

१. स्थानाङ्गसूत्र १०.११४.

२. समवा० सूत्र ५४२-५४५.

३. नन्दीसूत्र ५४.

३ वर्ग, ३ उद्देशनकाल, ३ समुद्देशनकाल तथा संख्यात सहस्र पद हैं। शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

४. विधिमार्गप्रपा में[1]—इसमें १ श्रुतस्कन्ध और ३ वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में क्रमशः १०, १३ और १० अध्ययन हैं। जालि आदि अध्ययनों के नाम हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[2]—देवों का उपपाद जन्म होता है। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर देवों के विमान हैं। प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में अनेक प्रकार के दारुण उपसर्गों को सहनकर पूर्वोक्त अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले १०-१० मुनियों का इसमें वर्णन होने से इसे अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। महावीर के तीर्थ के १० अनुत्तरौपपातिक हैं—ऋषिदास, वान्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र।

अथवा अनुत्तरौपपादिकों की दशा, आयु, विक्रिया आदि का इसमें वर्णन है।

२. धवला में[3]—इसमें ९२४४००० पद हैं, जिनमें प्रत्येक तीर्थङ्कर के तीर्थ में उत्पन्न होने वाले १०-१० अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन है। महावीर के तीर्थ में उत्पन्न होने वाले १० अनुत्तरौपपादिकों के नाम 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' कहकर तत्त्वार्थभाष्यानुसार दिए हैं।

३. जयधवला में[4]—इसमें चौबीस तीर्थंकरों के तीर्थ में चार प्रकार के दारुण उपसर्ग सहनकर अनुत्तर विमान को प्राप्त हुए १०-१० मुनिवरों का वर्णन है।

४. अङ्गप्रज्ञप्ति में[5]—इसमें ९२४४००० पदों के द्वारा प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में उत्पन्न १०-१० अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन है। वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ के १० अनुत्तरौपपादिक मुनि हैं—ऋजुदास, शालिभद्र, सुनक्षत्र, अभय, धन्य, वारिषेण, नन्दन, नन्द, चिलातपुत्र और कार्तिकेय।

(ग) वर्तमान रूप—

उपपाद जन्म वाले देव औपपातिक कहलाते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि के वैमानिक देव अनुत्तर (श्रेष्ठ) कहलाते हैं। अतः जो उपपाद जन्म से अनुत्तरों में उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपातिक कहते हैं। इस तरह इसमें अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की दशा का वर्णन है। इसके तीन वर्ग हैं जिनमें ३३ अध्ययन हैं—

प्रथम वर्ग—जालि, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहायस और अभयकुमार से सम्बन्धित १० अध्ययन हैं।

द्वितीय वर्ग—दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुष्पसेन से सम्बन्धित १३ अध्ययन हैं।

तृतीय वर्ग—धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमातृक, पेढालपुत्र, पोट्टिल्ल और वेहल्ल से सम्बन्धित १० अध्ययन हैं।

---

१. विधिमार्गप्रपा, पृ० ५६.
२. तत्त्वार्थ० १.२०, पृ० ७३.
३. धवला १.१.२, पृ० १०४-१०५।
४. जयधवला गाथा १, पृ० ११९।
५. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा ५२-५५, पृ० २६७-२६८।

(घ) तुलनात्मक विवरण

दिगम्बर उल्लेखों से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भी अन्तकृत-दशा की तरह २४ तीर्थंकरों के तीर्थ में होने वाले १०-१० अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है। भगवान् महावीर के काल के जिन १० अनुत्तरौपपादिकों के नामों का उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थों में मिलता है उनमें से ५ नाम स्थानाङ्ग में शब्दशः मिलते हैं। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में इसके १० अध्ययनों का उल्लेख है। स्थानाङ्ग में नाम गिनाए हैं और समवायाङ्ग में नहीं। इसके अतिरिक्त समवायाङ्ग में तीन वर्गों का भी उल्लेख है परन्तु उद्देशन और समुद्देशन काल १० ही बतलाया है जो चिन्त्य है। नन्दी में अध्ययनों का उल्लेख ही नहीं है उसमें तीन वर्ग और तीन उद्देशन कालादि का ही कथन है। विधिमार्गप्रपा में तीन वर्गों के साथ उसके ३३ अध्ययनों का भी निर्देश है जिनका वर्तमान आगम के साथ साम्य है। वर्तमान ग्रन्थ में केवल ३ नाम ऐसे हैं जो स्थानाङ्ग और दिग० ग्रन्थों में एक साथ उक्त हैं। पद संख्या, समवायाङ्ग, नन्दी और दिग० ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न है। ज्ञाताधर्मकथा की तरह इसमें उपोद्घात भी है। इन सब कारणों से यह परवर्ती रचना सिद्ध होती है।

१०—प्रश्नव्याकरण

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. **स्थानाङ्ग में**[1]—इसमें १० अध्ययन हैं—उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमिकप्रश्न, कोमलप्रश्न, आदर्शप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

२. **समवायाङ्ग में**[2]—इसमें १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, विद्यातिशय तथा नाग-सुपर्णों के साथ दिव्यसंवाद हैं। स्वसमय-परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येक बुद्धों के विविध अर्थों वाली भाषाओं के द्वारा कथित वचनों का, आचार्यभाषितों का, वीरमहर्षियों के सुभाषितों का, आदर्श (दर्पण), अंगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, क्षौम (वस्त्र) और आदित्य (सूर्य)-भाषितों का, अबुधजनों को प्रबोधित करने वाले प्रत्यक्ष प्रतीतिकारक प्रश्नों के विविध गुण और महान् अर्थवाले जिनवर-प्रणीत उत्तरों का इसमें वर्णन है।

अङ्गों के क्रम में यह १०वाँ अङ्ग है। इसमें १ श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशन-काल और संख्यात लाख पद हैं।

शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

३. **नन्दीसूत्र में**[3]—इसमें १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं। जैसे—अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, आदर्शप्रश्न, अन्य विचित्र विद्यातिशय तथा नाग-सुपर्णों के साथ दिव्य संवाद।

श्रुतस्कन्ध-संख्या आदि का कथन समवायाङ्गवत् ही बतलाया है परन्तु यहाँ ४५ अध्ययन और संख्यात् सहस्रपदसंख्या बतलाई है।

---

१. स्थानाङ्गसूत्र १०.११६।

२. समवा० सूत्र ५४६-५४९।

३. नन्दीसूत्र ५५।

४. **विधिमार्गप्रपा में**[1]—इसमें १ श्रुतस्कन्ध है। इसके १० अध्यायों के क्रमशः नाम हैं—हिंसाद्वार, मृषावादद्वार, स्तेनितद्वार, मैथुनद्वार, परिग्रहद्वार, अहिंसाद्वार, सत्यद्वार, अस्तेनितद्वार, ब्रह्मचर्यद्वार और अपरिग्रहद्वार। यहाँ कोई ५-५ अध्ययनों के दो श्रुतस्कन्ध भी बतलाते हैं।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. **तत्त्वार्थवार्तिक में**[2]—"प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणम्"। इसमें युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेपरूप प्रश्नों के उत्तर हैं जिनमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।

२. **धवला में**[3]—इसमें ९३१६००० पद हैं जिनमें आक्षेपिणी (तत्त्वनिरूपिका) विक्षेपणी (स्वसमयस्थापिका), संवेदनी (धर्मफलनिरूपिका) और निर्वेदनी (वैराग्यजनिका) इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है। आक्षेपिणी आदि कथाओं का स्वरूप तथा कौन किस प्रकार की कथा का अधिकारी है ? इसका भी यहाँ उल्लेख किया गया है। अन्त में प्रश्न के अनुसार हृत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी प्ररूपण है।

३. **जयधवला में**[4]—पदसंख्या को छोड़कर शेष कथन प्रायः धवलावत् है।

४. **अङ्गप्रज्ञप्ति में**[5]—इसका विवेचन धवलावत् है।

(ग) वर्तमान रूप—

इसमें पांच आस्रवद्वार और पांच संवरद्वाररूप १० अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः हिंसा, झूठ, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, अहिंसा, सत्य, अदत्ताग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन है। उपोद्घात ज्ञाताधर्मकथा की ही तरह है। इसमें प्रश्नों के व्याकरण (उत्तर) नहीं हैं।

(घ) **तुलनात्मक विवरण—**

उपलब्ध आगम सर्वथा नवीन रचना है क्योंकि इसमें न तो ग्रन्थ के नामानुसार प्रश्नोत्तर शैली है और न उपलब्ध प्राचीन उल्लेखों से कोई साम्य है। वर्तमान रचना केवल विधिमार्गप्रपा के वक्तव्य से मेल रखती है। विधिमार्गप्रपा बहुत बाद की रचना है जो उपलब्ध आगम को दृष्टि में रखकर लिखी गई है अन्यथा यहाँ नन्दी को आधार होना चाहिए था। स्थानाङ्ग में जिन १० अध्ययनों का उल्लेख है उनसे वर्तमान १० अध्ययनों का दूर तक कोई साम्य नहीं है। नन्दी और समवायाङ्ग में जिन विद्यातिशयों का उल्लेख है वे भी नहीं हैं। इस सन्दर्भ में वृत्तिकार अभयदेव का यह कथन कि "अनधिकारी चमत्कारी-विद्यातिशयों का प्रयोग न करें। अतः उन्हें हटा दिया गया है", समुचित नहीं है क्योंकि कुछ तो अवशेष अवश्य मिलते। उपोद्घात भी इसे नूतन रचना सिद्ध करता है।

---

१. विधिमार्गप्रपा, पृ० ५६।

२. तत्त्वार्थ० १.२०, पृ० ७३-७४।

३. धवला १.१.२, पृ० १०५-१०८।

४. जयधवला गाथा १, पृ० ११९।

५. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा ५६-६७, पृ० २६८-२७०।

स्थानाङ्ग में १० अध्ययन गिनाए हैं और नन्दी में ४५ अध्ययन। समवायाङ्ग में अध्ययनों का उल्लेख तो नहीं है परन्तु उसके ४५ उद्देशन और समुद्देशन काल बतलाए हैं जिससे इसके ४५ अध्ययनों की कल्पना को जा सकती है। समवायाङ्ग के ५४·२९२वें समवाय में कहा है कि भगवान् महावीर ने एक दिन में एक आसन से बैठे हुए ५४ प्रश्नों के उत्तर रूप व्याख्यान दिए। यहाँ कथित ५४ संख्या चिन्त्य है। समवायाङ्ग, नन्दी और दिगम्बर ग्रन्थों में पद-संख्या भिन्न-भिन्न है। दिग० ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इसमें आक्षेप-विक्षेप के जनक प्रश्नों के उत्तर थे तथा लौकिक एवं वैदिक शब्दों का नयानुसार शब्दार्थ-निर्णय था। स्थानाङ्ग में कथित क्षौमिक प्रश्न आदि से भी इसकी पुष्टि होती है। सम्भवतः इसके ऋषिभाषित, आचार्यभाषित और महावीरभाषित अंश स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हैं।

११—विपाकसूत्र

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. स्थानाङ्ग में[1]—कर्मविपाक के १० अध्ययन हैं—मृगापुत्र, गोत्रास, अण्ड, शकट, ब्राह्मण, नन्दिषेण, शौरिक, उदुम्बर, सहस्रोद्दाह, आमरक और कुमारलिच्छवी।

२. समवायाङ्ग में[2]—दुष्कृत और सुकृत कर्मों के फलों का वर्णन होने से यह दो प्रकार का है—दुःखविपाक और सुखविपाक। प्रत्येक के १०-१० अध्ययन हैं। दुःखविपाक में दुष्कृतों के नगरादि का वर्णन है तथा सुखविपाक में सुकृतों के नगरादि का वर्णन है। प्राणातिपात, असत्य-वचन आदि पाप कर्मों से नरकादि गतिप्राप्तिरूप दुःखविपाक होता है। शील, संयम आदि शुभ भावों से देवादिगति-प्राप्ति (परम्परया मोक्ष-प्राप्ति) रूप सुखविपाक होता है। ये दोनों विपाक संवेग में कारण हैं।

अङ्गों के क्रम में यह ग्यारहवाँ अङ्ग है। इसमें २० अध्ययन, २० उद्देशनकाल, २० समुद्देशनकाल और संख्यात लाख पद हैं।

शेष वाचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

३. नन्दीसूत्र में[3]—प्रायः समवायाङ्गवत् कथन है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध तथा संख्यात-सहस्र पद कहे हैं।

४. विधिमार्गप्रपा में[4]—इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम दुःखविपाक श्रुतस्कन्ध में १० अध्ययन हैं—मृगापुत्र, उज्झितक, अभग्नसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त, नन्दिवर्धन, उंबरिदत्त, शौरिक-दत्त, देवदत्ता और अंजु। द्वितीय सुखविपाक श्रुतस्कन्ध के १० अध्ययन हैं—सुबाहु, भद्रनन्दि, सुजात, सुवासव, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दि, महाचन्द्र और वरदत्त।

---

१. स्थानाङ्गसूत्र १०.१११।

२. समवायाङ्गसूत्र ५५०-५५६।

३ नन्दीसूत्र ५६।

४. विधिमार्गप्रपा पृ० ५६।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. तत्त्वार्थवार्तिक में[1]—इसमें पुण्य और पाप कर्मों के फल (विपाक) का विचार किया गया है।

२. धवला में[2]—इसमें १८४००००० पद हैं जिनमें पुण्य और पाप कर्मों के विपाक (फल) का वर्णन है।

३. जयधवला में[3]—इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर शुभाशुभ कर्मों के विपाक का वर्णन है।

४. अङ्गप्रज्ञप्ति में[4]—धवला-जयधवलावत् कथन है।

(ग) वर्तमानरूप—

इसमें ज्ञाताधर्मकथावत् उपोद्घात है। विपाक का अर्थ है "कर्मफल"। यहाँ इन्द्रभूति गौतम संसार के प्राणियों को दुःखी देखकर भगवान् महावीर से उसका कारण पूछते हैं। भगवान् महावीर पापरूप और पुण्यरूप कर्मों के फलों का कथन करके धर्मोपदेश देते हैं। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं— (१) **दुःखविपाक**—इसमें १० अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः मृगापुत्र, उज्झितक (कामध्वजा), अभग्नसेन (चोर), शकट, बृहस्पतिदत्त (पुरोहितपुत्र), नन्दिवर्धन, उम्बरदत्त (वैद्य), शोरिक (सोरियदत्त मछलीमार), देवदत्ता और अंजु की कथाएँ हैं। इनमें पाप कर्मों के परिणामों का कथन है। (२) **सुखविपाक**—इसमें १० अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दी, महाचन्द्र और वरदत्तकुमार की कथाएँ हैं। इनमें पुण्यकर्मों के परिणामों का कथन है।

यहाँ इतना विशेष है कि दुःखविपाक में असत्यभाषी और महापरिग्रही की तथा सुखविपाक में सत्यभाषी और अल्पपरिग्रही की कथायें नहीं हैं जो चिन्त्य हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण —

दिग० और श्वे० दोनों के उल्लेखों से इतना तो निश्चित है कि इसमें कर्मों के दुःखविपाक और सुखविपाक का विवेचन रहा है। यद्यपि इसमें कर्मों के दुःखविपाक और सुखविपाक का ही विवेचन है परन्तु इसकी मूलरूपता चिन्त्य है। समवायाङ्ग, नन्दी और विधिमार्गप्रपा के अनुसार अध्ययनों की तो संगति बैठ जाती है परन्तु समवायाङ्ग में इसके दो श्रुतस्कन्धों का उल्लेख नहीं है। स्थानाङ्ग में १० अध्ययन ही बतलाए हैं। यद्यपि वहाँ केवल कर्मविपाक शब्द का प्रयोग है, परन्तु वह सम्भवतः सम्पूर्ण विपाकसूत्र का प्रतिनिधि है अन्यथा दुःखविपाक और सुखविपाक के १०-१० अध्ययन पृथक्-पृथक् गिनाए जाते। वर्तमान दुःखविपाक के अध्ययनों के साथ स्था-

---

१. तत्त्वार्थ० १.२०, पृ० ७४।
२. धवला १.१.२, पृ० १०८।
३. जयधवला गाथा १, पृ० १२०।
४. अङ्गप्रज्ञप्ति गाथा ६८-६९, पृ० २७०-२७१।

नाङ्गोक्त १० अध्ययनों का पूर्ण साम्य नहीं है। समवायाङ्ग के ५५वें समवाय में कहा है—"भगवान् महावीर अन्तिम रात्रि में पुण्यफल-विपाकवाले ५५ और पापफल विपाकवाले ५५ अध्ययनों का प्रतिपादन करके सिद्ध, बुद्ध मुक्त हो गए।" इस कथन से प्रकृत ग्रन्थ-योजना संगत नहीं बैठती है। उपोद्घात भी इसकी परवर्तिता का सूचक है।

१२—दृष्टिवाद

(क) श्वेताम्बर ग्रन्थों में—

१. स्थानाङ्ग में—इसके ४ भेद गिनाए हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत और अनुयोग।[1] दृष्टिवाद के १० नामों का भी उल्लेख है—दृष्टिवाद, हेतुवाद, भूतवाद, तच्चवाद (तत्त्ववाद या तथ्यवाद), सम्यग्वाद, धर्मवाद, भाषाविचय (भाषाविजय), पूर्वगत, अनुयोगगत और सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह।[2] इसके अतिरिक्त उत्पादपूर्व की १० वस्तु और आस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व की १० चूलावस्तु का उल्लेख है परन्तु नाम नहीं गिनाए हैं।[3] द्रव्यानुयोग के १० प्रकार गिनाए हैं—द्रव्यानुयोग, मातृकानुयोग, एकार्थिकानुयोग, करणानुयोग, अर्पितानर्पितानुयोग, भाविताभावितानुयोग, बाह्याबाह्यानुयोग, शाश्वताशाश्वतानुयोग, तथाज्ञानानुयोग और अतथाज्ञानानुयोग।[4] अरिष्टनेमी के समय के चतुर्दशपूर्ववेत्ता मुनियों की संख्या ४०० बतलाई है।[5]

२. समवायाङ्ग में[6]—दृष्टिवाद में सब भावों की प्ररूपणा की जाती है। संक्षेप से वह ५ प्रकार का है—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।

(अ) **परिकर्म** ७ प्रकार का है—सिद्धश्रेणिका, मनुष्यश्रेणिका, पृष्टश्रेणिका, अवगाहनश्रेणिका, उपसंपद्यश्रेणिका, विप्रजहत्श्रेणिका और च्युताच्युतश्रेणिका। (१) **सिद्धश्रेणिका** के १४ भेद हैं—मातृकापद[7], एकार्थकपद, अर्थपद, पाठपद, आकाशपद, केतुभूत, राशिबद्ध, एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत प्रतिग्रह, संसारप्रतिग्रह, नन्द्यावर्त और सिद्धबद्धा। (२) **मनुष्यश्रेणिका** परिकर्म के ११ भेद हैं—मातृकापद से लेकर पूर्वोक्त नन्द्यावर्त तक तथा मनुष्यबद्ध। (३-७) **पृष्टश्रेणिका** परिकर्म से लेकर शेष सभी परिकर्म—इनके ११-११ भेद हैं। मूल में इनके भेद नहीं गिनाए हैं, परन्तु नन्दी में भेदों को गिनाया गया है। सम्भवतः समवायाङ्ग के अनुसार इनके भेद मनुष्यश्रेणिका परिकर्मवत् बनेंगे, अन्तिम भेद केवल बदलता जायेगा। पूर्वोक्त सातों परिकर्म स्वसामयिक (जैनमतानुसारी) हैं, सात आजीविका मतानुसारी हैं, छः परिकर्म चतुष्कनयवालों के हैं और सात त्रैराशिक

१. स्थानाङ्गसूत्र ४.१३१।
२. वही, १०.९२।
३. वही १०.६७-६८।
४. वही, १०.४७।
५. वहीं, ४.६४७।
६. समवा० सूत्र ५५७-५७०.
७. समवायाङ्ग के ४६वें समवाय में दृष्टिवाद के ४६ मातृकापदों का उल्लेख है परन्तु उनके नाम नहीं गिनाए हैं।

मतानुसारी हैं। इस प्रकार ये सातों परिकर्म पूर्वापर भेदों की अपेक्षा ८३ (१४+१४+११+११+११+११+११) होते हैं।

(आ) सूत्र—ये ८८ होते हैं। जैसे—ऋजुक, परिणतापरिणत, बहुभंगिक, विजयचर्या, अनन्तर, परम्पर, समान, संजूह (संयूथ), संभिन्न, अहाच्चय, सौवस्तिक, नन्द्यावर्त, बहुल, पृष्टापृष्ट, व्यावृत्त, एवंभूत, द्वयावर्त, वर्तमानात्मक, समभिरूढ, सर्वतोभद्र, पणाम (पण्णास) और दुष्प्रतिग्रह। ये २२ सूत्र स्वसमयसूत्रपरिपाटी में छिन्नच्छेदनयिक हैं। ये ही २२ सूत्र आजीविका सूत्र परिपाटी से अच्छिन्नच्छेदनयिक हैं। ये ही २२ सूत्र त्रैराशिक सूत्र परिपाटी से त्रिकनयिक हैं और ये ही २२ सूत्र स्वसमय सूत्र परिपाटी से चतुष्कनयिक हैं। इस तरह कुल मिलाकर २२×४=८८ भेद सूत्र के हैं।

(इ) पूर्वगत—इसके १४ प्रकार हैं—१. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यप्रवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, १०. विद्यानुप्रवादपूर्व, ११. अबन्ध्यपूर्व, १२. प्राणायुपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. लोकबिन्दुसारपूर्व। पूर्वों की वस्तुएँ और चूलिकायें निम्न प्रकार हैं—

पूर्व क्रमाङ्क	श्वे० वस्तु	दिग० वस्तु	श्वे० चूलिका	दिग० चूलिका
१	१०	१०	४	०
२	१४	१४	१२	०
३	८	८	८	०
४	१८	१८	१०	०
५	१२	१२	०	०
६	२	१२	०	०
७	१६	१६	०	०
८	३०	२०	०	०
९	२०	३०	०	०
१०	१५	१५	०	०
११	१२	१०	०	०
१२	१३	१०	०	०
१३	३०	१०	०	०
१४	२५	१०	०	०

नोट—प्रथम ४ पूर्वों की ही श्वे० में चूलिकाएँ मानी गई हैं, शेष की नहीं। दिग० में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।

(ई) अनुयोग—यह दो प्रकार का है—**(क) मूलप्रथमानुयोग**—इसमें अर्हतों के पूर्वभव, देवलोक गमन, देवायु, च्यवन, जन्म, जन्माभिषेक, राज्यवरश्री, शिविका, प्रव्रज्या, तप, भक्त (आहार) केवलज्ञानोत्पत्ति, वर्ण, तीर्थप्रवर्तन, संहनन, संस्थान शरीरउच्चता, आयु, शिष्यगण, गणधर, आर्या, प्रवर्तिनी, चतुर्विध संघ-परिमाण, केवलिजिन, मनःपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, सम्यक्-

श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होने वाले साधु, सिद्ध, पादपोपगत, जो जहाँ जितने भक्तों का छेदनकर उत्तम मुनिवर अन्तकृत हुए, तमोरज से विप्रमुक्त हुए, अनुत्तरसिद्धिपथ को प्राप्त हुए, इन महापुरुषों का तथा इसी प्रकार के अन्य भाव मूल-प्रथमानुयोग में कहे गए हैं। (ख) **गंडिकानुयोग**—यह अनेक प्रकार का है। जैसे—कुलकरगंडिका, तीर्थंकरगंडिका, गणधरगंडिका, चक्रवर्तीगंडिका, दशारगंडिका, बलदेवगंडिका, वासुदेवगंडिका, हरिवंशगंडिका, भद्रबाहुगंडिका, तपःकर्मगंडिका, चित्रान्तरगंडिका, उत्सर्पिणीगंडिका, अवसर्पिणीगंडिका, देवमनुष्यतिर्यञ्च और नरक गति में गमन, विविध योनियों में परिवर्तनानुयोग इत्यादि गंडिकाएँ इस गंडिकानुयोग में कही जाती हैं।

(ङ) **चूलिका**—आदि के चार पूर्वों की ही (पूर्वोक्त) चूलिकायें हैं, शेष पूर्वों की नहीं, यही चूलिका है।

अङ्गों के क्रम में यह १२वाँ अङ्ग है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, चौदह पूर्व, संख्यात वस्तु, संख्यात चूलावस्तु, संख्यात प्राभृत, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृतिक, प्राभृत-प्राभृतिक हैं। पद संख्या संख्यात लाख है। शेष वचनादि का कथन आचाराङ्गवत् है।

३. नन्दीसूत्र में[1]—दृष्टिवाद में सर्वभावप्ररूपणा है। नन्दी में प्रायः समवायाङ्ग की तरह ही दृष्टिवाद की समग्र विषयवस्तु बतलाई गई है। कहीं-कहीं क्रम और नाम में यत्किंचित् परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पृष्टश्रेणिका आदि परिकर्मों के भेद गिनाए हैं जबकि समवायाङ्ग में नहीं हैं। जैसे—**तृतीय पृष्ठश्रेणिका परिकर्म**—इसके ११ भेद हैं—पृथगाकाशपद, केतुभूत, राशिबद्ध, एकगुण, द्विगुण, त्रिगुण, केतुभूत, प्रतिग्रह, संसार-प्रतिग्रह, नन्दावर्त और पृष्टावर्त्त। यहाँ केतुभूत दो बार आया है। **चतुर्थ अवगाढ़श्रेणिका (अवगाहनश्रेणिका) परिकर्म**—पृथगाकाशपदादि दश तथा ओगाढावत्त। पंचम से सप्तम परिकर्म के प्रथम १० भेद पूर्ववत् होंगे तथा अंतिम स्वनामयुक्त होगा। जैसे क्रमशः—उपसंपादनावर्त, विप्रजहदावर्त, च्युताऽच्युतावर्त। इस तरह समवायाङ्ग के भेदों से कुछ अन्तर है। दृष्टिवाद की पदसंख्या यहाँ संख्यात सहस्र बतलाई है।

४. विधिमार्गप्रपा में[2]—दृष्टिवाद को उच्छिन्न बतलाकर यहाँ कुछ भी कथन नहीं किया है।

(ख) दिगम्बर ग्रन्थों में—

१. तत्त्वार्थवार्त्तिक में[3]—दृष्टिवाद में ३६३ जैनेतर दृष्टियों (कुवादियों) का निरूपण करके जैनदृष्टि से उनका खण्डन किया गया है। कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि क्रियावादियों के १८० भेद हैं। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि अक्रियावादियों के ८४ भेद हैं। साकल्य, वाल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनि आदि अज्ञानवादियों के ६७ भेद हैं। वशिष्ठ, पराशर, जतुकर्णि, वाल्मीकि, रौमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थुण आदि वैनयिकों के ३२ भेद हैं। कुल मिलाकर ३६३ मतवाद हैं।

१. नन्दी सूत्र ५७।
२. विधिमार्गप्रपा पृ० ५६।
३. तत्त्वार्थ० १.२०, पृ० ७४।

दृष्टिवाद के ५ भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इन ५ भेदों में से केवल पूर्वगत के उत्पादपूर्व आदि १४ भेदों का तत्त्वार्थवार्तिक में विवेचन है, शेष का नहीं, जो संक्षेप से निम्न प्रकार है—

(१) **उत्पादपूर्व**—काल, पुद्गल, जीव आदि द्रव्यों का जब जहाँ और जिस पर्याय से उत्पाद होता है, उसका वर्णन है।

(२) **अग्रायणी पूर्व**—क्रियावादियों की प्रक्रिया और अङ्गादि के स्व-समयविषय का वर्णन है।

(३) **वीर्यप्रवाद पूर्व**—छद्मस्थ और केवली की शक्ति, सुरेन्द्र और दैत्येन्द्र की ऋद्धियां, नरेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेव की सामर्थ्य तथा द्रव्यों के लक्षण हैं।

(४) **अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व**—पाँच अस्तिकायों का अर्थ तथा नयों का अनेक पर्यायों के द्वारा "अस्ति-नास्ति" का विचार। अथवा छहों द्रव्यों का भावाभाव-विधि से, स्व-पर-पर्याय से, अर्पित-अनर्पितविधि से विवेचन है।

(५) **ज्ञानप्रवाद पूर्व**—पाँचों ज्ञानों तथा इन्द्रियों का विवेचन है।

(६) **सत्यप्रवाद पूर्व**—वचनगुप्ति, वचनसंस्कार के कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषायें, दस प्रकार के सत्य तथा वक्ता के प्रकारों का वर्णन है।

(७) **आत्मप्रवाद पूर्व**—आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों का तथा छः प्रकार के जीवों के भेदों का सयुक्तिक विवेचन है।

(८) **कर्मप्रवाद पूर्व**—कर्मों की बन्ध, उदय, उपशम आदि दशाओं का तथा उनकी स्थिति आदि का वर्णन है।

(९) **प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व**—व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्पोपसर्ग, आचार, प्रतिमा आदि का तथा मुनित्व में कारण, द्रव्यों के त्याग, आदि का वर्णन है।

(१०) **विद्यानुवाद पूर्व**—समस्त विद्याएँ (अंगष्ठप्रसेना आदि ७०० अल्पविद्याएँ और महारोहिणी आदि ५०० महाविद्याएँ), अन्तरिक्ष आदि आठ महा निमित्त, उनका विषय, लोक (रज्जुराशि विधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोकप्रतिष्ठा), समुद्घात आदि का विवेचन है।

(११) **कल्याणनामधेय पूर्व**—रवि, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों का गमन, शकुन व्यवहार, अर्हत्, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि के गर्भावतरण आदि -महाकल्याणकों का वर्णन है।

(१२) **प्राणावाय पूर्व**—कायचिकित्सा, अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जाङ्गुलिप्रक्रम (इन्द्रजाल), प्राणापान-विभाग का वर्णन है।

(१३) **क्रियाविशाल पूर्व**—लेख, ७२ कलायें, ६४ स्त्रियों के गुण, शिल्प, काव्य गुण, दोष, क्रिया, छन्दोविचितिक्रिया और क्रियाफलभोक्ता का विवेचन है।

(१४) **लोकबिन्दुसार पूर्व**—आठ व्यवहार, चार बीज, परिकर्म, राशि (गणित) तथा समस्त श्रुत-सम्पत्ति का वर्णन है।

२. **धवला में**[1]—अनेक दृष्टियों का वर्णन होने से "दृष्टिवाद" यह गुण नाम है। अक्षर, पद-संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वार की अपेक्षा यह संख्यात् संख्या प्रमाण है और अर्थ की अपेक्षा अनन्त संख्या प्रमाण है। इसमें तदुभय-वक्तव्यता है।

इसमें कौत्कल, कण्ठेविद्धि, कौशिक हरिश्मश्रु मांधपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि क्रियावादियों के १८० मतों का; मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि अक्रियावादियों के ८४ मतों का; शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यन्दिन, मोद, पैप्पलाद, वादरायण, स्वेष्टकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनी आदि अज्ञानवादियों के ६७ मतों का; वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि वैनयिकवादियों के ३२ मतों का वर्णन तथा उनका निराकरण है। कुल मिलाकर ३६३ मतों का वर्णन है।

दृष्टिवाद के ५ अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म—परिकर्म के ५ भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। (१) **चन्द्रप्रज्ञप्ति** में चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई का वर्णन है। (२) **सूर्यप्रज्ञप्ति** में सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन, किरण और प्रकाश का वर्णन है। (३) **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** में जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि के मनुष्यों, तिर्यञ्चों, पर्वत, द्रह, नदी, बेदिका, वर्ष, आवास और अकृत्रिम जिनालयों का वर्णन है। (४) **द्वीपसागरप्रज्ञप्ति** में उद्धारपल्य से द्वीप और सागर के प्रमाण का द्वीप-सागरान्तर्गत अन्य पदार्थों का वर्णन है। (५) **व्याख्याप्रज्ञप्ति** में रूपी अजीवद्रव्य (पुद्गल), अरूपी अजीवद्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश और काल), भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीवों का वर्णन है। इनके पदों का पृथक्-पृथक् पदप्रमाण भी बताया गया है।

सूत्र—इसमें ८८ लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, सर्वगत ही है अणुप्रमाण ही है, नास्तिस्वरूप ही है, अतिस्वरूप ही है, पृथिवी आदि पाँच भूतों के समुदायरूप से उत्पन्न होता है, चेतना-रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से आत्मा का [पूर्वपक्ष के रूप में] वर्णन है। त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन है। 'कहा भी है' के द्वारा एक गाथा उद्धृत है—'सूत्र के ८८ अधिकारों में से केवल चार अधिकारों का अर्थनिर्देश मिलता है—अबन्धक, त्रैराशिकवाद, नियतिवाद और स्वसमय।'[2]

प्रथमानुयोग—इसमें ५ हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन किया गया है। कहा भी है—जिनवंश और राजवंश से सम्बन्धित १२ पुराणों का वर्णन है। जैसे–अर्हन्तों (तीर्थङ्करों), चक्रवर्तियों, विद्याधरों, वासुदेवों (नारायणों-प्रतिनारायणों), चारणों, प्रज्ञाश्रमणों, कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंश, वादियवंश और नाथवंश।

---

१. धवला १.१.२, पृ० १०८-१२३।

२. धवला १.१.२, पृ० ११३।

पूर्वगत—९५ करोड़ ५० लाख और ५ पदों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि का वर्णन है। उत्पाद पूर्व आदि १४ पूर्वों की विषयवस्तु का वर्णन प्रायः तत्त्वार्थवार्तिक से मिलता है परन्तु यहाँ विस्तार से कथन है तथा पदादि की संख्या का भी उल्लेख है।

चूलिका—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका के ५ भेद हैं। (१) **जलगता** में जलगमन और जलस्तम्भन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्या आदि का वर्णन है। (२) **स्थलगता** में भूमिगमन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्या आदि का वर्णन है। वास्तुविद्या और भूमिसम्बन्धी शुभाशुभ कारणों का भी वर्णन है। (३) **मायागता** में इन्द्रजाल आदि का वर्णन है। (४) **रूपगता** में सिंह, घोड़ा, हरिण आदि के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्या का वर्णन है। चित्रकर्म, काष्ठ, लेप्यकर्म, लेनकर्म आदि के लक्षणों का भी वर्णन है। (५) **आकाशगता** में आकाशगमन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन है। सभी चूलिकाओं का पद-प्रमाण २०९८९२०० × ५ = १०४९४६००० है।

३. **जयधवला में**[१]—दृष्टिवाद नाम के १२वें अङ्गप्रविष्ट में ५ अर्थाधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। **परिकर्म** के ५ अर्थाधिकार हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। **सूत्र** में ८८ अर्थाधिकार हैं परन्तु उनके नाम ज्ञात नहीं हैं क्योंकि वर्तमान में उनके विशिष्ट उपदेश का अभाव है।[२] **प्रथमानुयोग** में २४ अर्थाधिकार हैं क्योंकि २४ तीर्थङ्करों के पुराणों में सभी पुराणों का अन्तर्भाव हो जाता है।[३] **चूलिका** में ५ अर्थाधिकार हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।[४] **पूर्वगत** के १४ अर्थाधिकार हैं—उत्पादपूर्व आदि धवलावत्। प्रत्येक पूर्व के क्रमशः १०, १४, ८, १८, १२, १२, १६, २०, ३०, १५, १०, १०, १०, १० वस्तुएँ (महाधिकार) हैं। प्रत्येक वस्तु में २०-२० प्राभृत (अवान्तर अधिकार) हैं और प्रत्येक प्राभृत में २४-२४ अनुयोगद्वार हैं। पृ० २३ पर यह लिखा है कि १४ विद्यास्थानों (१४ पूर्वों) के विषय का प्ररूपण जानकर कर लेना चाहिए[५] परन्तु पृष्ठ १२८-१३६ पर इनके विषय का प्ररूपण किया गया है जो प्रायः धवला से मिलता है।

४. **अंगप्रज्ञप्ति में**[६]—इसमें ३६३ मिथ्यावादियों की दृष्टियों का निराकरण होने से इसे दृष्टिवाद कहा गया है। पदों की संख्या १०८६८५६००५ है। दृष्टिवाद के ५ प्रकार हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्व, प्रथमानुयोग और चूलिका। यद्यपि यहाँ पर पूर्व को प्रथमानुयोग के पहले लिखा है परन्तु विषय-विवेचन करते समय पूर्वों के विषय का विवेचन प्रथमानुयोग के बाद किया है। इसमें सूत्र के ८८ लाख पद कहे हैं तथा इसे मिथ्यादृष्टियों के मतों का विवेचक कहा है। कालवाद, ईश्वरवाद, नियतिवाद आदि को नयवाद कहा है। इसका आधार धवला और जयधवला है।

---

१. जयधवला गाथा १, पृ० २३, १२०-१३८।
२. वही पृ० १३७।
३. विस्तार के लिए देखें, वही, पृ० १२६।
४. वही पृ० १२०-१२८।
५. एदेसिं चोद्दसविज्जाट्ठाणाणं विसयपरूवणा जाणिय कायव्वा।—जयधवला गाथा १, पृ० २३।
६. अंगप्रज्ञप्ति गाथा ७१-७६ तथा आगे भी, पृ० २७१-३०४

(ग) वर्तमान रूप—

वर्तमान में यह आगम अनुपलब्ध है। दिगम्बरों के अनुसार द्वितीय अग्रायणीपूर्व के चयन-लब्धि नामक अधिकार के चतुर्थ पाहुड नामक कर्म-प्रकृति के आधार पर षट्खण्डागम की तथा पंचम ज्ञानप्रवादपूर्व के १०वें वस्तु-अधिकार के अन्तर्गत तीसरे पेज्जदोसपाहुड से कषायपाहुड की रचना हुई हैं जिन पर क्रमशः धवला और जयधवला टीकाएँ उपलब्ध हैं।

(घ) तुलनात्मक विवरण—

यद्यपि वर्तमान में इसके अनुपलब्ध होने से इसकी तुलना करना संभव नहीं है फिर भी प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इसमें स्वसमय और परसमय की सभी प्रकार की प्ररूपणायें थीं। ग्रन्थ बहुत विशाल था तथा १४ पूर्वों के कारण इस ग्रन्थ का बहुत महत्त्व था। पूर्ववेत्ताओं के क्रमशः ह्रास होने से यह ग्रन्थ लुप्त हो गया। उभय परम्पराओं में इसके क्रमशः क्षीण होने की परम्परा के उल्लेख उपलब्ध हैं। स्थानाङ्ग को छोड़कर उभय-परम्पराओं में इसके ५ प्रमुख भेद बतलाए गए हैं। दिगम्बर परम्परा में तृतीय स्थान प्रथमानुयोग का है और चतुर्थ स्थान पूर्वगत का है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में तृतीय स्थान पूर्वगत का है और चतुर्थ स्थान अनुयोग का। दिग० अङ्गप्रज्ञप्ति की कारिका में यद्यपि "पूर्व" का उल्लेख श्वे० की तरह अनुयोग के पहले किया है परन्तु विवेचन बाद में ही किया है। स्थानाङ्ग में चूलिका को छोड़कर ४ भेद गिनाए हैं। परिकर्म के भेदों की संख्या तथा विषयविवेचन उभयपरम्पराओं में भिन्न-भिन्न है। सूत्र के ८८ भेद या अधिकार दोनों परम्पराओं ने माने हैं। परन्तु धवला में केवल चार भेदों को गिनाया है और शेष को अज्ञात कहा है। समवायाङ्ग और नन्दी में इनके ८८ भेदों को गिनाया गया है। समवायाङ्ग और नन्दी में अनुयोग के दो भेद किए हैं परन्तु धवलादि में इसे प्रथमानुयोग कहा है और उसके दो भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया है। पूर्वों की संख्या दोनों ने १४ स्वीकार की है परन्तु श्वे० ने 'कल्याणप्रवाद' और 'प्राणावायप्रवाद' पूर्व को क्रमशः 'अबन्ध्य' और 'प्राणायुः' कहा है। चूलिका के ५ भेद दिगम्बरों ने किये हैं जबकि ऐसा समवायाङ्ग आदि में नहीं है। समवायाङ्ग और नन्दी में प्रथम चार पूर्वों की ही चूलिकायें मानी गई हैं। स्थानाङ्ग में दृष्टिवाद के १० नामों का उल्लेख है तथा पूर्वों के ज्ञाताओं का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु दृष्टिवाद के ५ भेदों का उल्लेख नहीं मिलता है। जयधवला में पूर्वों के १४ भेदों का कथन करके लिखा है कि इन १४ विद्यास्थानों की विषयप्ररूपणा जानकर कर लेना चाहिए। तत्त्वार्थवार्तिक में दृष्टिवाद के ५ भेद तो गिनाए हैं परन्तु विवेचन केवल पूर्वों का ही किया है विधिमार्गप्रपा में इसे उच्छिन्न कहकर इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा है।

उपसंहार—

श्वेताम्बर परम्परानुसार ११ अङ्ग-ग्रन्थों के उपलब्ध संस्करण वीर नि० सं० ९८० में बलभी में हुई देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में अंतिमरूप से लिपिबद्ध किए गए थे। श्रुतपरम्परा से प्राप्त ये ग्रन्थ अपने मूलरूप में यद्यपि पूर्ण सुरक्षित नहीं रह गए थे परन्तु इन्हें सुरक्षित रखने के उद्देश्य से जिसे जो कुछ याद था उसका संकलन इस वाचना में किया गया था। स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और नन्दी में इन अंग ग्रन्थों की जो विषय-वस्तु प्रतिपादित की गयी है उसका उपलब्ध सभी अङ्ग

ग्रन्थों के साथ पूर्ण मेल नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि बलभीवाचना के बाद भी कुछ ग्रन्थ मूल रूप से सुरक्षित नहीं रह सके और जो सुरक्षित रहे भी उनमें भी कई संशोधन और परिवर्द्धन हो गए। दृष्टिवाद का संकलन क्यों नहीं किया गया जबकि उसकी विस्तृत विषय-वस्तु समवायाङ्ग और नन्दी में उपलब्ध है। स्थानाङ्ग में भी दृष्टिवाद के कुछ संकेत मिलते हैं। समवायाङ्ग और नन्दी में कहीं भी उसके उच्छिन्न होने का संकेत नहीं है अपितु सभी अंगों को हिन्दुओं के वेदों की तरह नित्य बतलाया है। विधिमार्गप्रपा जो १३-१४ वीं शताब्दी की रचना है उसमें अवश्य दृष्टिवाद को व्युच्छिन्न बतलाकर उसकी विषयवस्तु की चर्चा नहीं की गई है। विधिमार्गप्रपा के लेखक के समक्ष वर्तमान आगम उपलब्ध रहे हैं जिससे उसमें प्रतिपादित विषयवस्तु का उपलब्ध आगमों से प्रायः मेल बैठ जाता है। यद्यपि वह नन्दी पर आधारित है परन्तु उसमें पूर्णरूप से नन्दी का आश्रय नहीं लिया गया है। समवायाङ्ग के १०० समवायों और श्रुतावतार के सन्दर्भ में विधिमार्गप्रपा एकदम चुप है, जबकि स्थानाङ्ग के १० स्थानों का स्पष्ट उल्लेख करता है। समवायाङ्ग और नन्दी में इन दोनों बातों का स्पष्ट उल्लेख है। इससे समवायाङ्ग की विषयवस्तु विधिमार्गप्रपाकार के समक्ष थी या नहीं। यह चिन्त्य है।

दिगम्बर परम्परानुसार वीर नि० सं० ६८३ के बाद श्रुत-परम्परा का उच्छेद हो गया परन्तु दृष्टिवाद के अंशांश के ज्ञाताओं के द्वारा रचित षट्खण्डागम और कषायपाहुड ये दो ग्रन्थ लिखे गये। पश्चात् शक सं० ७०० में उन पर क्रमशः धवला और जयधवला टीकायें लिखी गयीं। इन ग्रन्थों में तथा इनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ तत्त्वार्थवार्तिक में द्वादश अंगों की जो विषयवस्तु मिलती है उससे उपलब्ध आगमों का पूर्ण मेल नहीं है। कई स्थलों पर तो श्वेताम्बर अङ्गों में बतलाई गई विषयवस्तु से भी पर्याप्त अन्तर है। पदसंख्या आदि में सर्वत्र साम्य नहीं है। दृष्टिवाद की विषय-वस्तु बतलाते समय जयधवला में स्पष्ट लिखा है कि "सूत्र" के ८८ भेद ज्ञात नहीं हैं क्योंकि इनका विशिष्ट उपदेश नहीं पाया जाता है।[1] धवला में मात्र ४ भेदों का कथन किया गया है।[2] इससे ज्ञात होता है कि उनके पास शेष अङ्गज्ञान की परम्परा कुछ न कुछ अवश्य रही है अन्यथा वे "सूत्र के ८८ भेदों के विशिष्ट उपदेश नहीं पाये जाते" ऐसा नहीं लिखते। समवायाङ्ग और नन्दी में इसके जो ८८ भेद गिनाए हैं वे भिन्न प्रकार के हैं।

ग्यारह अङ्ग ग्रन्थों का दृष्टिवाद से पृथक् उल्लेख दोनों परम्पराओं में प्राप्त होता है। दोनों ने दृष्टिवाद में स्वसमय और परसमय-सम्बन्धी समस्त विषय-प्ररूपणा मानी है। ग्यारह अङ्गों को दिगम्बरों ने स्वसमय-प्ररूपक कहा है[3]। केवल सूत्रकृताङ्ग को परसमय का भी प्ररूपक बतलाया है। श्वेताम्बरों ने सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग और व्याख्याप्रज्ञप्ति को भी समान रूप से स्वसमय और परसमय का प्ररूपक स्वीकार किया है। जयधवला में उक्त ज्ञाताधर्म की १९ कथायें

१. "सुत्ते अट्ठासीदि अत्थाहियारा। ण तेसिं णामाणि जाणिज्जंति, संपहि विसिट्ठुवएसाभावादो।
—जयधवला गाथा १, पृ० १३७

२. उत्तं च—
अट्ठासी-अहियारेसु चउण्हमहियारणमत्थणिद्देसो।
पढमो अबंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धव्वो ॥ ७६ ॥
तदियोय णियइ–पक्खे हवइ चउत्थो ससमयम्मि।—धवला १.१.२ पृ० ११३

३. जेणेवं तेणेक्कारसण्हमंगाणं वत्तव्वं ससमओ।—जयधवला गाथा १, पृ० १२०

संभवतः उसके १९ अध्ययनों की बोधक हैं जो बहुत महत्त्वपूर्ण कथन है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में सूत्रकृताङ्ग के २३ अध्ययनों के नाम आए हुए है जो समवायाङ्गोक्त अध्ययनों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। उपलब्ध ६ से ११ तक के अङ्गों में कथा की प्रधानता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में गौतम, अग्निभूति और वायुभूति के नाम आना और सुधर्मा का नाम न होना चिन्त्य है। इसी प्रकार प्रश्न-व्याकरण में जम्बू स्वामी का नाम तो है परन्तु सुधर्मा का नाम नहीं है। प्रश्नव्याकरण की मंगलयुक्त नवीन शैली है तथा ६ से ११ तक के अङ्गों की उत्थानिका एक जैसी अन्यपुरुष-प्रधान है। इससे इनकी रचना परवर्ती काल में हुई है यह निर्विवाद सत्य है। यह सम्भव है कि इनमें कुछ प्राचीन रूप सुरक्षित हों। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग की जो विषयवस्तु दिग० धवला आदि में मिलती है और जो वर्तमान ग्रन्थों में उपलब्ध है उसमें बहुत अन्तर है। संभव है ये भी परवर्ती रचनाएँ हों। इनमें ऐसे भी बहुत से लौकिक विषय आदि आ गये हैं जिनका इनमें समावेश करना अपेक्षित नहीं था। वर्तमान प्रश्नव्याकरण प्रश्नों के उत्तर के रूप में नहीं है। विधिमार्गप्रपा जो बहुत बाद की रचना है उसमें स्थानाङ्ग के १० स्थानों का तो उल्लेख है परन्तु समवायाङ्ग के १०० समवायों और श्रुतावतार की चर्चा तक नहीं है। नन्दी आदि अङ्ग बाह्य-ग्रन्थों का उल्लेख होने से भी समवायाङ्ग बहुत बाद की रचना सिद्ध होती है। अन्तकृद्दशा में जो वर्णन मिलता है वह स्थानाङ्ग आदि के कथन से मेल नहीं रखता है। यही स्थिति ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा आदि की है।

इन सभी कारणों से ज्ञात होता है कि उपलब्ध आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध अधिक प्राचीन हैं। शेष में परवर्ती आचार्यों के कथनों का अधिक समावेश है। इतना होने पर भी उपलब्ध आगम हमारे लिए बहुत उपयोगी हैं। दिगम्बरों ने इनको सुरक्षित करने का प्रयत्न न करके बहुत बड़ी भूल की है। सभी ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् समालोचन करके इनकी समयसीमा तथा विषय-वस्तु की मूलरूपता का विस्तार से निर्धारण अपेक्षित है। जो उभय परम्परा को मान्य हो।

●

रीडर,
संस्कृत विभाग,
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

श्रमण ज्ञान-मीमांसा

—प्रोफेसर भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

श्रमण संस्कृति में सम्यक् ज्ञान का उतना ही महत्त्व है जितना सम्यक् चारित्र का। ये सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र सम्यग्दर्शन पर प्रतिष्ठित रहते हैं इसलिए निर्वाण की साधना इन तीनों महास्तम्भों पर अवलम्बित है। महावीर और बुद्ध दोनों महापुरुषों ने रत्नत्रय और आष्टाङ्गिक मार्ग को इसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया था ताकि जीवन में साध्य और साधन अधिकाधिक विशुद्ध रह सकें। इसलिए उन्होंने परीक्षावादी होने के लिए आग्रह किया है।

आत्मा अथवा चित्त का गुण 'विजानन' माना गया है, जहाँ विजानन होता है वहाँ दर्शन भी होता है। अतः ज्ञान और दर्शन आत्मा का गुण है। पर पदार्थों का ज्ञान होने पर साकार होने के कारण उसे ज्ञान कहते हैं और जब वह मात्र चैतन्य रूप रहता है तब उसे दर्शन कहते है। यह दर्शन निराकार और चैतन्याकार रहता है। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के उपयोग में प्रवृत्त होने के बीच की निराकार अवस्था दर्शन है। बौद्धदर्शन में इसे निर्विकल्पक कहा गया है। जैन दर्शन इसे प्रमाण कोटि से बाहर मानता है। दर्शनोपयोग निराकार और निर्विकल्प होता है जबकि ज्ञानोपयोग साकार और सविकल्पक होता है। दर्शन में सत्ता की मात्र प्रतीति होती है और उसका निर्णय ज्ञान करता है।[1]

ज्ञान अथवा प्रमाण

ज्ञान प्रमा का साक्षात् साधकतम होता है। जैन-बौद्ध दर्शन में इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि को प्रमाण नहीं माना गया क्योंकि वे स्वयं अचेतन हैं। प्रमाण लक्षण की तार्किक परंपरा का प्रारंभ कणाद से होकर अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पतिमिश्र और उदयनाचार्य तक पहुँचा। न्याय-वैशेषिक परंपरा में कारण-शुद्धि पर विचार करते हुए विषय बोधक अर्थ पद का सन्निवेश किया गया पर स्वप्रकाशकत्व और अपूर्वता का सन्निवेश नहीं हो सका। मीमांसक परंपरा ने अदुष्टकारणारब्ध, निर्बाधत्व तथा अपूर्वार्थत्व विशेषणों से एक ओर न्याय-वैशेषिक परंपरा में कथित कारण दोष को दूर कर दिया वहीं दूसरी ओर बौद्ध परंपरा को भी अंगीकार कर लिया। अभी तक न्याय-वैशेषिक और मीमांसक परंपरा में स्वप्रकाशकत्व को कोई स्थान नहीं था। बौद्ध नैयायिकों ने इस कमी की पूर्ति की। दिङ्नाग ने प्रमाण के लक्षण में "स्वसंवित्ति" शब्द देकर इसका सूत्रपात किया। विज्ञानवाद की स्थापना का यह फल था। धर्मकीर्ति ने 'अविसंवादित्व' विशेषण से वात्स्यायन और कुमारिल की बात कह दी तथा शांतरक्षित ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति को एकत्रित करके परिभाषा बना दी।

जैन परंपरा में समन्तभद्र और सिद्धसेन ने स्वपरावभासक पद से प्रमाण के लक्षण की कमी की पूर्ति कर दी, यद्यपि बौद्ध नैयायिकों ने इसका पहले ही आभास करा दिया था। अकलंक ने धर्म-

---

१. सन्मतिप्रकरण, ३-१; न्यायविनिश्चय, १-३; सर्वार्थसिद्धि, २-९.

कीर्ति का अनुकरण कर प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादिज्ञानम्' पद नियोजित किया। उनकी दृष्टि यह थी कि अविसंवादत्व प्रमाण की शर्त होना चाहिए। जैसे इत्रादि में रूप, रस, गंध आदि के होने पर भी गन्ध के आधिक्य के कारण उसे गन्धवान् कहा जाता है। इन्द्रिय द्वारा ज्ञात विषय इतना प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसलिए उनको परोक्ष के अन्तर्गत रखा है। अविसंवादी ज्ञान वही कहलाता है जिसमें बाह्य पदार्थ की यथावत् प्रतीति अथवा प्राप्ति हो।

अकलंक के पूर्व बौद्ध परम्परा की सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी शाखाओं ने ज्ञान का धर्म "स्वसंवेदित्व" स्वीकार कर लिया था। इसलिए दिङ्नाग ने "स्वसंविदित्ति" को ही प्रमाण का फल बताया है।

उत्तरकालीन आचार्यों में विद्यानन्द, हेमचन्द्र, माणिक्यनंदि आदि प्रायः सभी आचार्यों ने अकलंक की परंपरा को सुरक्षित रखा। प्रभाचंद ने धारावाहिक ज्ञान को अप्रामाणिक बताने के लिए 'अपूर्व' शब्द का संयोजन किया।

प्रमाण के लक्षण में जैनाचार्य बौद्धाचार्यों से उपकृत हुए हैं। अगृहीतग्राहि—'अपूर्वार्थक विशेषण भी बौद्धों की ही देन है। विद्यानन्द ने 'अविसंवाद' के खण्डन करने का प्रयत्न अवश्य किया पर उन्होंने जहाँ कहीं उसे स्वीकार भी किया। वस्तुतः स्वार्थव्यवसाय और अविसंवादि शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। प्रमाण को स्वपरावभासक होना आवश्यक है। जैन-बौद्ध, दोनों ज्ञान को प्रमाण मानते हैं पर बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं और यही दोनों के बीच विवाद का विषय रहा है। सविकल्पक को यदि अप्रमाण माना जाय तो अनधिगत अर्थ का ग्राहक न होने से तो अकलंक की दृष्टि में अनुमान भी प्रमाण कोटि से बाहर हो जायगा। बौद्धों ने इसके उत्तर में कहा कि इस स्थिति में तो पूर्व निश्चित अर्थ की स्मृति भी प्रमाण के क्षेत्र में आ जायगी। अकलंक ने इसका उत्तर देते हुए यह स्पष्ट किया कि यदि स्मृति भी विशिष्ट ज्ञान कराती है तो वह भी प्रमाण है। इतने विवाद के वावजूद दोनों दार्शनिक स्वप्रत्यक्षवादी हैं और आत्मा-ज्ञान में अभेदवादी हैं।

जैन दर्शन कारक व्यवहार को कल्पित मानते हैं। वह प्रमाण कोटि से बाहर है। एक ही वस्तु को हम विवक्षा के भेद से कर्ता-कर्म-करण आदि निश्चित करते हैं। इस विवक्षा में जैन दार्शनिक अनेकान्तात्मकता को आधार मानकर तत् तत् व्यवहार को कारण मानते हैं जबकि बौद्ध दार्शनिक विवक्षा के मूल में वासना को स्वीकार करते हैं।[1]

ज्ञान और सुख में क्या भेद है यह भी विवाद का विषय रहा है। धर्मकीर्ति के अनुसार ज्ञान और सुख में कोई भेद नहीं क्योंकि विज्ञान और सुख की उत्पत्ति के कारण समान हैं। जैन दार्शनिक इस तथ्य को द्रव्यार्थिक दृष्टि से तो स्वीकार कर लेते हैं पर पर्यायदृष्टि से वे यह कहते हैं कि ज्ञान और सुख एक ही आत्मा की भिन्न-भिन्न पर्याय हैं। अतः उन्हें एकान्तिक रूप से भिन्न या अभिन्न नहीं कह सकते। वे कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न हैं। जैन-बौद्ध, दोनों दर्शन सुखादि को चैतन्यरूप और स्वसंविदित मानते हैं इसमें कोई विवाद नहीं।[2]

जैन-बौद्ध दोनों ने सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना।[3] सन्निकर्ष के प्रकारों में समवाय विशेष

१. प्रमाणवार्तिक, २,३१९; न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, पृ० १७।

२. न्यायावतार वार्तिकवृत्ति, पृ० २०; प्रमाणवार्तिक २.२६८।

३. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २९; प्रमाणवार्तिक, २.३१६, विशेष देखिये लेखक को पुस्तक "जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ० १९०।

विवाद का कारण रहा है। धर्मकीर्ति आदि बौद्धाचार्यों ने समवाय को निम्न कारणों से अस्वीकार किया है—

१. वह अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्षग्राह्य नहीं। अवयव विषयक प्रतीति वासना वश होती है, वस्तुकृत नहीं।
२. प्रतीति के मूल में आधाराधेयभाव या तन्मूलक समवाय न होकर कार्यकारण-भाव है।
३. द्रव्य और गुण का भी भेद नहीं है। इसलिए 'घटे रूपम्' इस प्रतीति के बल पर भी समवाय सिद्ध नहीं होता। समवाय के अभाव में भी यह प्रतीति बनी रहती है।
४. समवाय यदि स्वतन्त्र पदार्थ है तो उसका सम्बन्ध दूसरे द्रव्य से कैसे हो पायेगा? एक और समवाय मानने पर अनवस्था दोष होगा।
५. मीमांसकों का रूपरूपित्व भी लगभग ऐसा ही है।
६. सांख्यों ने भी समवाय का खण्डन किया है।

जैन दार्शनिक भेदाभेदवादी हैं। वे नैयायिकों के समवाय के खण्डन में बौद्धाचार्यों का ही अनुकरण करते हैं। उनके मत से समवाय द्रव्य का एक पर्याय मात्र है।[1]

जैन-बौद्धों ने सन्निकर्ष को समान आधार पर प्रमाण नहीं माना। बौद्धों ने तो श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी माना है। कुमारिल ने इन्द्रियों के व्यापार को सन्निकर्ष कहकर सन्निकर्ष का अर्थ ही बदल दिया। यहाँ संप्रयोग का अर्थ है—ऋजु देश स्थिति और इन्द्रिय की योग्यता। जैनों ने इसी को स्वीकार किया है पर योग्यता का अर्थ दूसरा कर दिया। उनके अनुसार योग्यता का अर्थ है—ज्ञानावरण के दूर होने से उत्पन्न शक्ति विशेष। यही ज्ञान का कारण है।[2]

प्रमाण के संदर्भ में बौद्धदर्शन द्वारा मान्य निर्विकल्पक ज्ञान की भी चर्चा करना आवश्यक है। वस्तु का स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के अनुसार प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और अभिलाप अर्थात् शब्द विशिष्ट प्रतीति को कल्पना कहते हैं। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और वह क्षणिक है इसलिए प्रत्यक्ष में शब्दसंसृष्ट अर्थ का ग्रहण संभव नहीं है। नाम देते-देते वह विलीन हो जाता है। तब हम उसे सविकल्पक कैसे कह सकते हैं? और फिर अर्थ में शब्दों का रहना संभव नहीं है और न अर्थ और शब्द का तादात्म्य संबन्ध ही है। ऐसी दशा में अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग कैसे रह सकता है? क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता, वह उसके आकार को धारण नहीं करता। जैसे रस से उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने अजनक रूप आदि के आकार को धारण नहीं करता और इन्द्रिय ज्ञान केवल नील आदि अर्थ से ही उत्पन्न होता है, शब्द से उत्पन्न नहीं होता। तब वह शब्द के आकार को धारण नहीं कर सकता और जब शब्द के आकार को वह धारण नहीं कर सकता, तब वह शब्दग्राही कैसे हो सकता है क्योंकि बौद्धमत के अनुसार जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं होता (अतः जो ज्ञान अर्थ से संसृष्ट शब्द को

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २०।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३१।

वाचक रूप से ग्रहण करता है, वही सविकल्पक है, अन्य नहीं। यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान में संभव नहीं है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।[1]

जैन दार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मत में निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञानद्वैतवादी, संवेदनाद्वैतवादी बौद्धों का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा कि निर्विकल्पक ज्ञान निराकार होने से लोक-व्यवहार चलाने में असमर्थ होते हैं और उससे पदार्थ का निश्चय भी नहीं होता। जो स्वयं निश्चयात्मक नहीं है वह निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न कैसे कर सकता है।[2] अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं।

मिथ्याज्ञान को प्रमाण कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में से विपर्यय ज्ञान के विषय में मतभेद अधिक है। शुक्तिका होते हुए भी उसमें रजतज्ञान कैसे हो जाता है? यह प्रश्न दार्शनिकों के समक्ष रहा है। बाह्यार्थवादी और अद्वैतवादी दार्शनिकों ने इस प्रश्न का समाधान अपने-अपने ढंग से किया है।

सौत्रान्तिक और माध्यमिक दार्शनिकों ने विपर्ययज्ञान को 'असत्ख्यातिवाद' माना है। उनके अनुसार सीप में "यह चाँदी है" यह प्रतिभास न ज्ञान का धर्म है और न अर्थ का। सुषुप्ति अवस्था में होने वाले प्रतिभास के समान यह प्रतिभास असत् का ही प्रतिभास है। वस्तु का स्वभाव ही निःस्वभाव है।[3]

परन्तु जैनाचार्य इसे नहीं मानते। उनका कहना है कि आकाशकुसुम की तरह असत् का प्रतिभास होना ही संभव नहीं है। ज्ञान और अर्थ में वैचित्र्य माने बिना भ्रान्ति का जन्म हो नहीं सकता अतः असत्ख्यातिवाद ठीक नहीं।

योगाचारवादियों ने इस विपर्ययज्ञान को आत्मख्यातिवाद कहा है। उनके अनुसार भ्रम दो प्रकार के हैं—मुख्य भ्रम और प्रातिभासिक भ्रम। सभी ज्ञान भ्रान्त होते हैं पर हम उन्हें अभ्रान्त मानकर चलते हैं। सीप में 'यह चाँदी है' यह ज्ञान का ही आकार है जो अनादिकालीन अविद्या वासना के बल से बाहर में प्रतिभासित होता है। इसलिए इसे आत्मख्याति कहा जाता है। सविकल्पक ज्ञान वस्तुतः इन्द्रियजन्य नहीं बल्कि मनोजन्य है।

जैनाचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। यदि अनादि अविद्या वासना के कारण स्वात्मनिष्ठ ज्ञानाकार का प्रतिभास बहिःस्थित रूप से हुआ मानते हैं तब तो यह विपरीत ख्याति ही हुई, क्योंकि ज्ञान से अभिन्न चाँदी वगैरह के आकार का विपरीत रूप से अर्थात् बहिःस्थित रूप से अध्यवसाय होता है।

जैन दर्शन नैयायिकों के समान विपरीख्यातिवादी है। उसके अनुसार इन्द्रियादि दोष के कारण शुक्तिका में रजत का प्रत्यय होता है। बाह्यार्थ रजत नहीं, शुक्तिका है। अतएव यह प्रत्यय विपर्यय है।[4]

इस प्रकार जैन दार्शनिक ज्ञान को स्वसंवेदी मानते हैं। उनके अनुसार पदार्थज्ञान के लिए

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ४६; न्यायविनिश्चय, पृ० ११; तत्त्वसंग्रह, पृ० ३९०; जैन न्याय, पृ० ६४-६५।

२. राजवार्तिक, १.१२।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४९; न्यायकुमुदचंद्र, पृ० ६०।

४. राजवार्तिक, १.१२।

अन्य ज्ञान के सहायता की अवश्यकता नहीं। ज्ञान 'स्व' को जानता है इसलिए 'अर्थ' को जानता है। 'स्व' को न जानने वाला 'अर्थ' को नहीं जान सकता। स्वसंवेदन को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है।

अब हम पञ्चज्ञानों की तुलना पर पहुँचते हैं।

ज्ञान के भेद

मतिज्ञान और चित्तवीथि

पदार्थज्ञान-प्रक्रिया के क्षेत्र में जैन दर्शन का मतिज्ञान और बौद्धदर्शन की चित्तवीथि दोनों का समान महत्त्व है। दोनों दर्शनों में सामान्य व्यक्ति के ज्ञान में पदार्थ का निश्चयीकरण किस प्रकार होता है और उसे कितनी अवस्थायें पार करनी पड़ती हैं, इसका समुचित ज्ञान मतिज्ञान और चित्त-वीथि के माध्यम से ही हो पाता है। इन दोनों की तुलना यहाँ द्रष्टव्य है।

मतिज्ञान

जैनदर्शन के अनुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक जीव में होते हैं। मतिज्ञान 'पर' की सहायता से उत्पन्न होता है और इस पर में जड़ रूप द्रव्य, इन्द्रियाँ, मन, आलोक, उपदेश आदि बाह्य निमित्त प्रमुख हैं।[१] इस ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। अकलंक ने इसी को एकदेश एकदेशतः स्पष्ट होने के कारण सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है।[२]

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सत्ता का प्रति-भास होने पर मनुष्यत्व आदि रूप से अर्थग्रहण 'अवग्रह' है। चक्षु आदि इन्द्रियों और घटादि पदार्थों का जब प्रथम सम्पर्क होता है तब उसे 'दर्शन' कहते हैं। इस प्रकार का दर्शन वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है। बाद में वस्तु के आकार आदि का निर्णय होने पर उसी ज्ञान को अवग्रह कहा गया है। अवग्रह के दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। वस्तु का अस्पष्ट ग्रहण व्यंजना-वग्रह है और स्पष्ट ग्रहण अर्थावग्रह है। व्यंजनावग्रह स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इंद्रियों से होता है। वे इन्द्रियाँ विषय से सम्बद्ध होकर ही उसे जानती हैं। अर्थावग्रह वैसे पांचों इन्द्रियों और मन से होता है पर विशेषतः चक्षु और मन अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करते हैं। वीरसेन ने दो अन्य नाम सुझाये हैं—विशदावग्रह और अविशदावग्रह। विशदावग्रह निर्णयात्मक होता है और वह ईहादि ज्ञान की उत्पत्ति में कारण बनता है। अविशदावग्रह में भाषादि विशेषों का ग्रहण नहीं हो पाता, पुरुष मात्र का ग्रहण होता है।[३] यहाँ अकलंक आदि आचार्यों ने अवग्रह को निर्णयात्मक ही माना है। दर्शन और अवग्रह के स्वरूप के विषय में भी इसी प्रकार आचार्यों की मान्यताओं में मतभेद है जिन्हें हम यहाँ चर्चा का विषय नहीं बना रहे हैं।

'यह मनुष्य है' ऐसा जानने के बाद उसकी भाषादि विशेषताओं के कारण यह संदेह होता है 'यह पुरुष दक्षिणी है या पश्चिमी', इस प्रकार के संशय को दूर करते हुए 'ईहा' ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसमें निर्णय की ओर झुकाव होता है। यह ज्ञान जितने विशेष को जानता है, उतना वह निश्चयात्मक है। अतः इसे संशयात्मक नहीं कह सकते। 'यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए' इस

१. सर्वार्थसिद्धि, १.११।

२. लघीयस्त्रय कारिका, ३।

३. धवला, ९, पृ० १४४-१४५।

प्रकार सद्भूत पदार्थ की ओर झुकता हुआ ज्ञान 'ईहा' है। 'ईहा' ज्ञान के बाद आत्मा में ग्रहण-शक्ति का इतना विकास हो जाता है कि वह भाषा आदि विशेषताओं द्वारा यह यथार्थ ज्ञान कर लेता है कि 'यह मनुष्य दक्षिणी ही है'। इसी ज्ञान को 'अवाय' या 'अपाय' कहा जाता है। इसके बाद अवाय द्वारा गृहीत पदार्थ को संस्कार के रूप में धारण कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति हो सके, धारणा है। पदार्थ ज्ञान का यही क्रम है। ज्ञात वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बड़ी द्रुत गति से चलता है।

चित्तवीथि

चित्त परम्परा को चित्तवीथि कहते हैं।[1] चित्त को विभिन्न स्थितियों से परिचित होने का यह सुन्दर साधन है। बौद्ध दर्शन में पदार्थों को छः भागों में विभाजित किया गया है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श (काय) और मन। इस प्रकार यहाँ पदार्थ-ज्ञान की प्रक्रिया छः प्रकार से मानी जाती है—चक्षुद्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि, घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि, कायद्वारवीथि एवं मनोद्वारवीथि। प्रथम पाँच वीथियाँ बाह्यालम्बन को लेकर प्रवृत्त होती हैं। ये बाह्यालम्बन चार प्रकार के हैं—अतिमहद्, महद्, परीत्त (अल्पसूक्ष्म) और अतिपरीत्त। आलम्बन के अभिनिपात से लेकर उसके निरोध तक होने वाले चित्तक्षणों की गणना के आधार पर ये नाम दिये गये हैं।[2]

इन वीथियों को अभिधर्म में दो भागों में विभाजित किया गया है—पंचद्वारवीथि और मनोद्वारवीथि। दोनों का पदार्थज्ञान प्रक्रिया में उपयोग होता है। पंचद्वारवीथि में पाँच इन्द्रियों से यह क्रिया होती है। यह कोई परिचित मनुष्य है और अमुक नाम का है; ऐसा ज्ञान होने के पूर्व निम्नलिखित मानसिक और इन्द्रियगत क्रियायें होती हैं—

१. **भवंग**— चक्षु इन्द्रिय के क्षेत्र में रूपालम्बन के आने के एक क्षण पूर्व की मानसिक दशा। इसमें मन प्रवाह रहित होता है। इसे अतीत अभंग भी कहते हैं।

२. **भवंग चलन**—इन्द्रिय पथ में विषय के आते ही मन प्रकम्पित हो उठता है।

३. **भवंग विच्छेद**–मन का पूर्व प्रवाह समाप्त हो जाता है, उपस्थिति आलम्बन के कारण।

४. **पंच द्वारावज्जन**–इसके बाद चित्त प्रवाह आलम्बन की ओर अभिमुख होता है और पाँचों इन्द्रियां उसे ग्रहण करने के लिए सजग हो उठती हैं।

५. **चक्खुविञ्ञाण**–चक्षु के क्षेत्र में रूपालम्बन के आने पर चक्षु इन्द्रिय अपना कार्य करने लगती है। इस कार्य में चक्षु द्वारा रूप का स्पर्शात्मक दर्शन मात्र चक्षु विज्ञान कहलाता है।

६. **सम्परिच्छन्न**–चक्षु विज्ञान के बाद मन उस विषय को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है। इस स्थिति में 'यह कुछ है' इतना मात्र वह जान पाता है।

७. **सन्तीरण**— पूर्व दृष्ट विषय के वर्ण, आकार, प्रकार आदि के विषय में सम्यक् विचार करना।

८. **वोट्ठपन**— इस अवस्था में मन उस पदार्थ का निर्धारण कर लेता है। मन की यह विनिश्चयात्मक प्रवृत्ति है।

१, अ. सं. प. दी, पृ० १२१।

२. अ. सं. विभा. पृ. १०५।

९. जवन— शीघ्रता के साथ गमन को जवन कहते हैं। इस अवस्था में मन का ज्ञात आलम्बन के साथ ग्रहण-त्याग के रूप में सीधा परिभोगात्मक संबंध हो जाता है।

१०. तदारमण— इस अवस्था में मन आलम्बन के विषय में अपनी अनुभूतियाँ अंकित करता है। इसके बाद भवंगपात हो जाता है अर्थात् तद्विषयगत वीथि का अवरोध हो जाता है।

इन दश अवस्थाओं के व्यतीत होने के बाद ही इन्द्रिय और मन आलम्बन को जान पाते हैं। मनोद्वारवीथि में दो प्रकार के आलम्बन होते हैं—विभूत (स्पष्ट) और अविभूत (अस्पष्ट) चित्त की शक्ति की अपेक्षा से आलम्बन के इन दो भेदों का अभिधान हुआ है। चित्त यदि निर्मल होता है, समाधि की प्रबलता से तो आलम्बन उसमें विभूत रूप से प्रतिबिम्बित हो उठता है और यदि चित्त समाधि की दुर्बलता से निर्मल नहीं हुआ तो आलम्बन उसमें अस्पष्ट बना रहता है।

आलम्बन और विषय प्रवृत्ति समानार्थक हैं। इन्द्रियाँ और रूप के साथ ही आलोक और मनसिद्वार, इन चार प्रकार के प्रत्ययों के होने पर ही चक्षुविज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी संदर्भ में प्रत्येक चित्त की उत्पाद, स्थिति और भंग ये तीन अवस्थायें बनायी गई हैं। इन तीनों अवस्थाओं के सम्मिलित रूप को क्षुद्र-क्षण या एकचित्त क्षण कहते हैं। इस एकचित्त क्षण में उत्पाद-स्थिति भंग इतनी शीघ्रता से प्रवृत्त होते हैं कि एक अच्छरा (चुटकी बजाने या पलक झपने जितना काल) में ये लाखों-करोड़ों बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार के १७ चित्तक्षणों का काल रूप-धर्म की आयु है। अर्थात् नामधर्म और रूपधर्म समान रूप से अनित्य और संस्कृत होने पर भी नाम-धर्मों की आयु अल्प और रूपधर्मों की आयु दीर्घ होती है। इस अन्तर का कारण यह है कि नाम-रूप धर्मों में महाभूत प्रधान होते हैं जो स्वभावतः गुरु हैं।

सम्बद्ध द्वार में होने वाले घट्टन को ही 'अभिनिपात' कहा जाता है। रूपालम्बन का चक्षु-प्रसाद से संघट्टन होने पर 'मनोद्वार' नामक भवंगचित्त (हृदय) में उस आलम्बन का प्रादुर्भाव हो जाता है। चित्त का प्रादुर्भाव भी वस्तु, आलम्बन एवं मनसिकार आदि संबद्ध कारणों के संनिपात होने पर स्वतः हो जाता है। बौद्धधर्म में चित्त के साथ ही 'मनोविज्ञान धातु' का भी आख्यान हुआ है जिसे अन्य चित्तों की अपेक्षा विशेष रूप से जानने वाली धातु माना गया है।

इस प्रकार चक्षुगत विषय विजानन प्रक्रिया में चक्षुर्वस्तु, हृदयवस्तु, चक्षुर्द्वार, रूपालम्बन, चक्षुर्विज्ञान तथा चक्षुर्द्वार के साथ अतिमहद्द आदि चतुर्विध विषय-प्रवृत्ति काम करती है। श्रोत्र-द्वारवीथि आदि में भी इसी प्रकार का क्रम होता है।

तुलना

उपर्युक्त दश अवस्थाओं में भवंग से भवंगविच्छेद तक की क्रियायें वीथि के पूर्वकृत्य हैं। अतः उन्हें चित्त नहीं कहा गया। चित्त की क्रिया पंचद्वारावज्जन से प्रारम्भ होती है और संपटिच्छन्न अवस्था तक मात्र यही जाना जाता है कि 'उपस्थित विषय कुछ है'। जैनदर्शन में इसी को अवग्रह कहा जाता है। इसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान व्यंजनावग्रह का नामान्तर है जिसमें दर्शन निर्विकल्पात्मक रहता है और संपटिच्छन्न को अर्थावग्रह कहा जा सकता है जिसमें वस्तु विशेष का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसी रूप में सन्तीरण को ईहा का, वोट्ठपन को अवाय का और जवन तथा तदारम्भण को धारणा का नामान्तर माना जा सकता है।

१-३. भवंग से भवंग विच्छेद तक—वीथि के पूर्व कृत्य हैं अतः वे चित्त नहीं।

४. पंचद्वारावज्जन	= दर्शन	
५. चक्षुर्विज्ञान	= व्यंजनावग्रह	अवग्रह
६. सम्पटिच्छन्न	= अर्थावग्रह	
७. सन्तीरण	=	ईहा
८. वट्ठपन	=	अवाय
९. जवन		धारणा
१०. तदारंभण		

जैनदर्शन प्रारम्भ से ही चक्षु और मन को अप्राप्यकारी मानता आ रहा है और शेष इन्द्रियों को प्राप्यकारी। परन्तु बौद्ध दर्शन इस विषय में एक मत नहीं। स्थविरवादी अभिधर्म दर्शन सभी इंद्रियों को प्राप्यकारी मानता-सा दिखाई देता है पर उत्तरवादी दर्शनों में इसके संबंध में मतभेद हो गया। सौत्रान्तिक और वैभाषिक जैनदर्शन के समान चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं, विज्ञानवादी उसे चक्षुर्विज्ञान का कार्य स्वीकार करते हैं और शून्यवादी चक्षु, श्रोत्र और मन, सभी को अप्राप्यकारी बताकर उनका प्रतिषेध कर देते हैं।

विज्ञानवादी के अनुसार देखने का कार्य चक्षु नहीं, चक्षुर्विज्ञान करता है पर वैभाषिक उसे अप्राप्यकारी ही मानते हैं। सौत्रांतिक 'निर्व्यापार' की बात करते हैं।[1] शून्यवादी आर्यदेव चार महाभूतों और चार उपादान भूतों से उत्पन्न होने वाला घट-चक्षु द्वारा संपूर्णतः दिखाई नहीं देता। इतना ही नहीं, उन्होंने तो चक्षुरादिक इन्द्रियों की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया, विज्ञान की असंभवनीयता बताते हुए और आगे चक्षु को अप्राप्यकारी सिद्ध करने में लगभग वही सब तर्क प्रस्तुत किये जो जैन दर्शन करता है।[2]

समूचा बौद्ध दर्शन श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी कहता है और उसके पीछे उसका तर्क यह है कि वह दूरवर्ती शब्द को सुन लेता है, परन्तु जैन-दर्शन एक मत से श्रोत्र को प्राप्यकारी कहता है। उसके अनुसार श्रोत्र दूर से शब्द नहीं सुनता, बल्कि वह तो नाक की तरह अपने देश में आये हुए शब्द पुद्‍गलों को सुनता है। शब्द वर्गणायें कान के भीतर ही पहुँचकर सुनाई देती हैं। यदि कान दूरवर्ती शब्द को सुनता तो उसे कान में प्रविष्ट मच्छर का भिनभिनाना नहीं सुनाई देना चाहिए क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अतिनिकटवर्ती या दूरवर्ती दोनों प्रकार के पदार्थ को नहीं जान सकती।[3]

जैनदर्शन मन को भी अप्राप्यकारी मानता है। पर बौद्धदर्शन उसे स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शन में मन को अनिन्द्रिय और अन्तःकरण भी कहा गया है। वह सूक्ष्म और इन्द्रियों के समान नियत देश में अवस्थित नहीं। वह तो आत्मप्रदेश के रूप में सर्वत्र शरीर में अवस्थित रहता है। हृदयस्थान में आठ पांखुड़ी के कमल के आकार वाला है। यह द्रव्य मन है। संकल्प-विकल्पात्मक रूप ज्ञान भाव मन है।

---

१. अभिधर्मकोष, गाथा ४२-४३

२. चतुःशतकम्, ३१३-३१४

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, १.१९

बौद्धधर्म में मन के लिए चित्त और विज्ञान जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसे बहुत कुछ आत्मा का स्थान दिया गया है। चिन्तन गुण से विशिष्ट जो भाग है वही चित्त है[१]। चित्त की विविध प्रवृत्तियों को चैतसिक कहा जाता है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान भी चैतसिक कहलाते हैं। इन चारों को 'नाम' की संज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त एक 'रूप' नामक जड़ पदार्थ भी है। इन नाम और रूप के संयोग से सत्त्व की संरचना होती है।

जैनदर्शन में जिसे द्रव्यमन कहा है—बौद्धदर्शन में उसी को हृदयवस्तु कहा है। वस्तु का अर्थ आश्रय है। पञ्चद्वारावज्जन और सम्पटिच्छन्न नामक मनोधातुयें हृदय का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होती हैं। मनोविज्ञानधातु का भी आश्रय हृदय वस्तु ही है। भेद यह है कि जैनदर्शन मन को पौद्गलिक मानता है पर बौद्धदर्शन उसे पौद्गलिक स्वीकार नहीं करता।

स्पर्शन इन्द्रिय सर्व शरीर व्यापी है। प्रसाद रूप गुणधर्म और सभी संसारी जीवों के होती है। स्पर्श उसका विषय है। बौद्धदर्शन में इन्द्रियों को चैतसिक के अन्तर्गत रखा गया है। चार महाभूतों के आश्रय से उनकी उत्पत्ति मानी गई है। जैनधर्म में नामकर्म उनकी उत्पत्ति में कारण बताया गया है।

जिह्वा को बौद्धदर्शन में सनिदर्शन एवं सप्रतिघ प्रसाद रूप कहा गया है। बुद्धघोष ने इसे कमलदल आकार के प्रदेश में स्थित बताया है[३] और मूलाचार में अर्धचन्द्राकार अथवा खुरपा के समान माना है।

घ्राण चातुर्महाभूतज, प्रसाद रूप, गुणमात्र, अनिदर्शन तथा सप्रतिघ है। बुद्धघोष ने इसे घ्राण विवर के भीतर बकरी के खुर की बनावट का माना है तथा शिवार्य ने अतिमुक्तक पुष्प जैसा कहा है।[४] इसी प्रकार बुद्धघोष ने क्रमशः चक्षु और श्रोत्र को ऊका के शिर बराबर तथा अंगुलिवेष्टन की आकृतिवाला और शिवार्य ने मसूर और जौ की नली जैसा बताया है।

इस प्रकार मतिज्ञान और चित्तवीथि के बीच यह संभाव्य तुलना का एक चित्र हमने प्रस्तुत किया है। चित्तवीथि के जवननियमों की तुलना जैनधर्म के क्षिप्रग्राहित्व के साथ की जा सकती है। विषय-विजाजन प्रक्रिया में बौद्धधर्म छोटी-छोटी अवस्थाओं का चित्रण करता है पर जैनधर्म उनको चार अवस्थाओं में ही समाहित कर देता है। दोनों दर्शनों में इस प्रकार की तुलना के लिए अनेक विषय हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिए। जैनधर्म के कर्मग्रन्थ बौद्धधर्म के अभिधर्मपिटक से पूर्वतर हैं। अतः बहुत कुछ संभावना यही है कि जैनधर्म का प्रभाव बौद्धधर्म के अभिधर्मपिटक पर रहा होगा।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान

जैनधर्म के अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को अभिज्ञाओं में खोजा जा सकता है। समाधिप्राबल्य के कारण शक्ति तीव्र हो जाने से विशेष रूप से जानने वाला रूपावचरपञ्चम ध्यानगत ज्ञान

१. चेतना हं भिक्खवे कम्मं वदामि, अं. नि. ३, पृ. ४१५

२. विसुद्धिमग्ग, पृ. ३११

३. विसुद्धिमग्ग, पृ० ३११.

४. वही, पृ० ३११ : मूलाचार, १०९१.

ही 'अभिज्ञा' है। इस अवस्था में पारमिताओं की प्राप्ति कर ली जाती है। इससे निम्न प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं—

१. **इद्धिविध**—अनेक प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न ज्ञान। बौद्ध साहित्य में विशेषतः १० प्रकार की ऋद्धियों का उल्लेख मिलता है। १. अधिष्ठान ऋद्धि (एक होकर भी अनेक होना)

२. **विकुर्वाण ऋद्धि**—(नाना रूपों को धारण करना)

३. **मनोमय ऋद्धि**—(काय के भीतर उसी तरह का दूसरा रूप धारण करना) आदि

४: **दिव्य श्रोत्र**—(देव भूमि में होने वाले श्रोत्र को सुनना)

५. **परचित्त विज्ञान**—(दूसरे के चित्तों को जानना)

६. **पुब्बेनिवासानुस्मृति** (पूर्व भवों का ज्ञान होना)

७. **दिव्य चक्षु**—(च्युति-उत्पाद-ज्ञान)

८. **आश्रवक्षयज्ञान**– अर्हत् मार्गज्ञान,

इनमें विकुर्वाण ऋद्धि और मनोमय ऋद्धि क्रमशः वैक्रियक और आहारक शरीर जैसे हैं। परचित्तविज्ञान मनःपर्याय ज्ञान से पुब्बेनिवासानुस्मृति से जातिस्मरण और दिव्यचक्षु से अवधि-ज्ञान की समानता देखी जा सकती है।

केवलज्ञान और सर्वज्ञता

आश्रवक्षयज्ञान केवलज्ञान से मिलता-जुलता ज्ञान है। कर्माश्रवों के क्षय हो जाने पर पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है। यह अभिज्ञा लोकोत्तर मानी गई है। प्रथम पाँच अभिज्ञायें लौकिक मानी जाती हैं। साधक परम विशुद्धि को प्राप्त करने के बाद ही इस अवस्था तक पहुँचता है। दिव्यचक्षु प्राप्त हो जाने पर यह अवस्था मिलती है।

सर्वज्ञता और केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं। पर यहाँ बुद्ध की सर्वज्ञता और अन्य की सर्वज्ञता के बीच अन्तर दिखाई देता है। बुद्धेतर साधकों के ज्ञान का आलम्बन एकदेश रहता है जबकि बुद्ध का ज्ञान सर्वविध आलम्बन लिये रहता है। इस ज्ञान को "सब्बञ्ञुतञाण" कहा गया है (यह ज्ञान बुद्ध के सिवा और किसी में नहीं रहता)।[1]

बौद्धधर्म में बुद्ध ने प्रारम्भ में स्वयं को सर्वज्ञ कहना-कहलाना उचित नहीं समझा पर वे अपने आपको 'त्रैविद्य' कहा करते थे (इसी का विकास उत्तर काल में धर्मज्ञ और तदनन्तर सर्वज्ञ की मान्यता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ) बौद्ध धर्म सर्वज्ञता के इस विकासात्मक इतिहास को मैं अन्यत्र प्रस्तुत कर चुका हूँ।[2]

बौद्धदर्शन का मन्तव्य है कि भगवान् बुद्ध का ज्ञान सर्वार्थविषयक नहीं अपितु हेयोपादेय तत्त्व विषयक है। संसारी के सर्वार्थविषयक ज्ञान न तो संभव है और न ही उसकी आवश्यकता है। अन्यथा उसके सर्वज्ञ होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। निर्भयसार्थी को सर्वज्ञ होने का प्रयोजन

१. अभिधम्मत्थसंगह, ३.५८

२. Jainism is Buddhist Literature, P. 278-288.

क्या ? उन्हें तो हेयोपादेय ज्ञान होना चाहिए। कीटसंख्या परिज्ञान आदि की उपयोगिता मानी जाय तो अभ्यास से तथागत के अनुष्ठेय वस्तु का साक्षात्करण पर भी विचार किया जा सकता है।

तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्या परिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥[1]

परन्तु जैन कहते हैं—तथागत के अनुष्ठेय वस्तु के साक्षात्करण में प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाण व्यर्थ सिद्ध होते हैं। यदि इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाय तो अनुष्ठान व्यर्थ सिद्ध हो जाता है क्योंकि प्रमाण विषय का साक्षात्कार करना ही अनुष्ठान का प्रयोजन है और जब प्रत्यक्ष है हो तो साक्षात्करणत्व में अनुष्ठान का क्या प्रयोजन? अनुमान इसलिए नहीं कि प्रतिबन्धग्रहण के बिना अनुष्ठान दर्शन संभव नहीं।[2]

चतुरार्यसत्य का ज्ञाता होने से बुद्ध भी 'अशेषवादी' कहे जा सकते हैं—

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥[3]

जैनाचार्य पुनः उत्तर देते हुए कहते हैं कि कीटसंख्यापरिज्ञान चतुसत्य के व्याकरण में उपयोगी है। यदि उसे न माना जाय तो चतुसत्य का उपदेश ही असंभव हो जायगा। कूप को देखे बिना कूप में जल नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है। यदि कीटसंख्यापरिज्ञान को उपयोगी नहीं मानते तो भिक्षुसंख्यापरिज्ञान की भी क्या आवश्यकता?[4] कीटादि चेतनवर्ग का ज्ञान पुरुषार्थकर है। अन्यथा बुद्ध को जगत् हितैषी कैसे कहा जायगा।[5] पुरुषार्थकर यदि न माना जाय तो उपदेश व्यर्थ हो जायगा निरवशेष ज्ञान न होने से।

अनुमान के अभ्यास से तत्त्वदर्शन नहीं हो सकता अन्यथा रसादि के अभ्यास से अन्धा भी रूपदर्शन कर सकेगा और फिर अनुमान को ही मानते हैं तो कषादि में सर्वज्ञता क्यों नहीं मानी जा सकती।[6] इसलिए "प्रमाणं नापरः" कथन ठीक नहीं।

इस प्रकार धर्मज्ञ ही नहीं बल्कि सर्वज्ञ की सिद्धि अपरिहार्य है।

शक्ति कल्पना

वस्तु के सामर्थ्य को शक्ति कहा जाता है। यह सामर्थ्य क्या-कैसी है, यह मतभेद का विषय है। कार्यकारण की व्यवस्था में शक्ति की कल्पना निहित है। अद्वैतवादी कार्यकारण को सांवृतिक सत्य मानते हैं और बाह्यार्थवादी उसे पारमार्थिक सत्य कहते हैं। माध्यमिक संप्रदाय पदार्थों को निःस्वभाव मानता है इसलिए वहाँ कार्यकारणभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। कार्यकारणभाव की

१. प्रमाणवार्तिक, २.३।
२. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग १, पृ० १०।
३. प्रमाणवार्तिक, १.३४।
४. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग १, पृ० १८, कारिका ४८-५२।
५. प्रमाणसमुच्चय, १.१।
६. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग १, कारिका ८८-९१।

पूर्ति अनादिकालीन अविद्या वासना से चला लिया जाता है। यही वासना संसार के वैचित्र्य का कारण है।

जैन दर्शन में मीमांसकों के समान द्रव्य में एक अतीन्द्रिय शक्ति का समर्थन किया गया है। इस शक्ति की तुलना हम अर्थ पर्याय से कर सकते हैं। अर्थपर्याय पदार्थ की वह सूक्ष्म पर्याय है जो हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं हो पाता। व्यञ्जनपर्याय पदार्थ की स्थूल पर्याय है जिसे इन्द्रियां अपना विषय बना लेती हैं। अर्थपर्याय पदार्थ की अनन्त शक्ति का प्रतीक है। इसी के बल पर वह अनेक कार्य करने में समर्थ होता है।[1] व्यंजनपर्याय ही अर्थपर्याय नहीं हो सकते क्योंकि उनका स्वरूप तो प्रत्यक्ष है। परन्तु अर्थपर्याय का बोध तो किसी कार्य को देखकर ही अनुमान से होता है।[2]

परमाणुवाद

परमाणुवाद पर सृष्टि-प्रक्रिया आधारित है। जैनधर्म का परमाणुवाद और अनिरुद्धाचार्य का रूपकलाप समानार्थक प्रतीत होता है। जैनदर्शन के अनुसार परमाणु अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से नही छेदा-भेदा जा सकता है और न जल-अग्नि आदि द्वारा जलाया जा सकता है।[3] वह एक प्रदेशी है, शून्य नहीं। परमाणु दो प्रकार का है—कारणरूप और कार्यरूप। शरीर, इन्द्रिय, महाभूत आदि स्कन्ध रूप कार्यों से परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है। उसके अभाव में स्कन्ध रूप कार्य हो ही नहीं सकता।[4] वस्तुतः परमाणु स्कन्ध ही पुद्गल है। स्कन्धों की उत्पत्ति, भेद, संघात तथा भेद-संघात से होती है।

बौद्ध दर्शन में परमाणुवाद की कल्पना अभिधम्मत्थसंगहो में अधिक स्पष्ट हो सकी। वहाँ अवयव धर्मों के समूह को रूपकलाप कहा गया है। रूपों की उत्पत्ति अन्योन्य सापेक्ष होती है। यही स्कन्ध है। एक कलाप में कम से कम आठ या इससे भी अधिक रूप होते हैं तथापि एक रूप कलाप में उत्पाद, स्थिति और भंग एक ही होता है।

सर्वास्तिवादियों का संघात, अनिरुद्ध का कलाप तथा जैनाचार्यों का स्कन्ध-संघात समानार्थक है। सर्वास्तिवादियों ने परमाणु के १४ प्रकार बताये हैं—पाँच विज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय तथा चार महाभूत। वसुबंधु की परमाणु को व्याख्या जैनधर्म के परमाणु से अधिक समीप है। उनका उत्पाद चार महाभूत और रूप, रस गंध और स्पृष्टव्य इन आठ द्रव्यों के साथ होता है। वह अविभागी तथा अस्पर्शी है। आर्यदेव ने भी परमाणु का लक्षण हेतुत्व, परिमाण्डल्य और अप्रदेशत्व माना है। उसे अनित्य भी कहा है।[5] यह इस सिद्धान्त के विकास का परिणाम हैं। आर्यदेव के पूर्व नागार्जुन ने उसकी सत्ता को अस्वीकृत किया था। इतना ही नहीं, उसके उपादानोपादेयभाव का भी निराकरण

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५१०।
२. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३०५-६, अष्टसहस्री, १८३।
३. तिलोयपण्णत्ती, १.९६।
४. राजवार्तिक, ५.२५.१४.१५।
५. चतुःशतकम्, २१३-२१९।

किया।[1] दिङ्नाग, आर्यदेव, धर्मकीर्ति आदि सभी बौद्धाचार्यों ने परमाणुवाद के विरोध में समान तर्क प्रस्तुत किये हैं।

दृश्य स्थूल अवयवी का निषेध करके उसकी सत्ता-प्रतीति में अविद्या-वासना को मूल कारण माना। परमाणुवादी सौत्रान्तिक वैभाषिकों ने स्थूल पदार्थ को परमाणुपुञ्ज मात्र माना। इस संदर्भ में बौद्धों में तीन मत उपलब्ध हैं। १. प्राचीन बौद्धों के अनुसार परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है और शेष दोनों इस प्रकार के संयोग को स्वीकार नहीं करते।[2]

जैनधर्म परमाणु के विषय में भेदाभेदवादी है। अन्तर यह है कि बौद्धधर्म परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त स्कन्ध की स्वतंत्र सत्ता को नहीं मानते जबकि जैनों के मत में पुद्गल द्रव्य अणु-स्कन्ध रूप है। अवयव-अवयवी में कथंचित् तादात्म्य है।

सौत्रांतिक बौद्धधर्म में वस्तु को क्षणिक मानकर क्षणभंगुरवाद की स्थापना की गई है। जैन-धर्म भी क्षणभंगुरवाद को स्वीकार करता है पर वस्तु का वह निरन्वय विनाश नहीं मानता। अन्यथा अर्थक्रिया का अभाव हो जायगा और अर्थक्रिया का अभाव हो जाने पर वस्तु-सत् की सिद्धि ही नहीं होगी।[3] क्षणभंगुरता की यह चरम स्थिति स्थविरवाद में नहीं मिलती। आचार्य अनिरुद्ध ने रूप की आयु ५१ क्षण की बताई है।

सर्वास्तिवाद में तो नाम और रूप, दोनों को पारमार्थिक माना है और यह स्पष्ट किया है कि सभी वस्तुओं का त्रैकालिक अस्तित्व है। जैनधर्म की दृष्टि से यह मत सही है क्योंकि यह मूल तत्त्व को नित्य मानता है। सर्वास्तिवाद का परमाणु समुदायवाद जैनदर्शन के द्रव्य-पर्यायवाद से समानता रखता है।

बौद्धधर्म में जिसे पारमार्थिक भूततथतावाद कहा है, जैनधर्म में वह 'सत्' माना जा सकता है। जैनों का निश्चयक नय की दृष्टि से आत्मा है वह। भूततथता के सांवृतिकस्वरूप पर दृष्टिपात करते हुए वस्तु के व्यावहारिक स्वरूप पर समानता की दृष्टि से ध्यान केन्द्रित हो जाता है। अन्तर यह है कि भूततथता जैसा एक मात्र परम तत्त्व निश्चय-व्यवहार नय रूप आत्मा जैनधर्म में नहीं। जीव (आत्मा) के अतिरिक्त अजीव तत्त्व भी जैनधर्म में वर्णित है।

प्रमाण के भेद

बौद्धधर्म प्रमाण के दो ही भेद मानता है—प्रत्यक्ष और अनुमान। जैनधर्म में मूल संख्या तो वही रही, नाम में अन्तर पड़ा। यहाँ प्रमाण के दो भेद माने गये—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के लक्षण में समय-समय पर विकास होता रहा। परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को रखा गया।

इन सब के विषय में मैंने "जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास" तथा "बौद्ध संस्कृति का इतिहास" नामक पुस्तकों में लिखा है। अतः उनको यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं।

---

१. माध्यमिक कारिका, ४, १, ५. ६; १०. १५।

२. तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, पृ. ५५६।

३. क्षणभंगवाद का खण्डन हर जैन दार्शनिक ने किया है।

नयवाद और अनेकान्तवाद

नयवाद और अनेकान्तवाद के इतिहास आदि को भी हम उपर्युक्त पुस्तकों में स्पष्ट कर चुके हैं। अतः यहाँ उसे भी नहीं प्रस्तुत करते। मात्र इतना कहना चाहते हैं कि जैन-बौद्धधर्म ने इन दोनों सिद्धान्तों को प्रारम्भ से ही अपनाया है। दोनों धर्मों के आगमों और उत्तरकालीन ग्रंथों में इनका उपयोग दार्शनिकों ने भलीभाँति किया है। इतना अवश्य है कि जैन दार्शनिकों ने इसे अपनी मूल भित्ति मान ली जबकि बौद्ध दार्शनिक इसमें पीछे रहे।

बौद्धधर्म में तत्त्व का विचार दो दृष्टियों से किया गया है—परमार्थ और प्रज्ञप्त्यर्थ। परमार्थ तत्त्व को अविपरीत तथा मूल स्वभाव माना गया है और प्रज्ञप्त्यर्थ वस्तु का व्यावहारिक रूप है जिसे साधारण व्यक्ति अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं। इनको क्रमशः पारमार्थिक और सांवृतिक भी कहा गया है।[1] जैनदर्शन का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चयनय और व्यवहारनय अथवा पारमार्थिक और व्यावहारिक नय लगभग समान हैं। नयों की भेद दृष्टि जैनों की अपनी है। यह बौद्धधर्म में नहीं दिखती।

अनेकान्तवाद भी बौद्धधर्म में मिलता है। विभज्यवाद और चतुष्कोटिक सत्य इसी के नामान्तर हैं। अन्तर यह है कि उत्तरकाल में बौद्धाचार्यों ने विभज्यवाद की मूल भावना छोड़ दी और वे एकान्तवाद की ओर अधिक झुकते गये। जबकि जैन दार्शनिकों ने इसे अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। इसलिए जैन साहित्य में इस पर चिन्तन भी बहुत हुआ।[2] बौद्धधर्म का मध्यममार्ग मूलतः आचार विषयक था। उसी का आगे विकास हुआ। जैनधर्म ने अनेकान्तवाद का प्रयोग आचार और विचार, दोनों क्षेत्रों में किया।

विभज्जवाद और अनेकान्तवाद

सृष्टि का हर सर्जक तत्त्व भिन्न है और वह अपने विविध रूपों को समाहित किये हुए हैं। प्रेक्षक और चिन्तक उन रूपों में से कुछ रूपों को देख-समझ लेता है और कुछ अनबुझी पहेली से अदृश्य और अचिन्तित बने रहते हैं। हर युग में दार्शनिकों ने इस विश्वसत्य को समझा है और उसे अपने दृष्टिकोण से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। इसी दृष्टिकोण को बुद्ध ने विभज्जवाद कहा और महावीर ने अनेकान्तवाद।

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। न वह सर्वथा सत् ही है और न वह सर्वथा असत् ही है। न वह सर्वथा नित्य ही है और न वह सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से वस्तु असत् है, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य आदि प्रकार के एकान्तों का निरसन करके वस्तु का कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य इत्यादि रूप होना अनेकान्त है और अनेकान्तात्मक

---

१. अभिधम्मत्थ संगहो, १. २ : मिलिन्द प्रश्न और उसके पूर्व संयुक्त निकाय आदि ग्रन्थों में भी इसका वर्णन मिलता है।

२. विस्तार के लिए देखिये, लेखक की पुस्तक—जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. २२१-२५०; विभज्जवाद और अनेकान्तवाद, तुलसीप्रज्ञा, १९७५।

वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है। ये दोनों वाद वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन मुख्य-गौण भाव से करते हैं। ये दोनों शब्द समानार्थक हैं, फिर भी भेद यह है कि अनेकान्तवाद ज्ञानरूप है और स्याद्वाद वचनरूप। दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं।

विभज्जवाद का तात्पर्य है—वस्तु तत्त्व को विभक्त करके प्रस्तुत करना। भगवान् बुद्ध ने विवादग्रस्त प्रश्नों का समाधान इसी के माध्यम से किया था। शुभ माणवक ने बुद्ध से प्रश्न किया—क्या गृहस्थ ही न्यायकुशल धर्म (निर्वाण) का आराधक होता है, प्रव्रजित संन्यासी नहीं ? बुद्ध ने कहा—मैं यहाँ विभज्जवादी हूँ, एकंशवादी नहीं। गृही के लिए भी और प्रव्रजित के लिए भी मैं मिथ्या-प्रतिपत्ति (झूठा विश्वास) की प्रशंसा नहीं करता। चाहे गृही हो या प्रव्रजित, मिथ्या प्रतिपत्ति के कारण यह न्याय-कुशल धर्म का आराधक नहीं होगा। गृही के लिए भी और प्रव्रजित के लिए भी मैं सम्यक् प्रतिपत्ति की प्रशंसा करता हूँ।[1]

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि बुद्ध ने एकंशवाद को मिथ्या-प्रतिपत्ति और विभज्जवाद को सम्यक्-प्रतिपत्ति के रूप में स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध विभज्जवाद का प्रयोग पदार्थ के सम्यक् स्वरूप के विवेचन के लिए किया करते थे। उनके अन्य कथनों से पता चलता है कि उन्होंने तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों को उत्तर देने के लिए चार प्रकार की विधियाँ प्रयुक्त की थीं—

१. एकंस व्याकरणीय
२. पटिपुच्छा व्याकरणीय
३. ठापनीय, और
४. विभज्जव्याकरणीय

इन चार प्रकारों में मूल प्रकार दो रहे होंगे—एकंस व्याकरणीय, और अनेकंस व्याकरणीय। अनेकंस व्याकरणीय के ही बाद में दो भेद हुए होंगे—विभज्जव्याकरणीय और ठापनीय। पटिपुच्छा व्याकरणीय विभज्जव्याकरणीय का ही भेद रहा होगा।

उक्त चार विधियों के अतिरिक्त बुद्ध ने विवादग्रस्त प्रश्नों को अव्याकृत कह दिया। दीघनिकाय में उन्हीं अव्याकृत प्रश्नों को दो भागों में विभाजित किया गया है—एकंसव्याकरणीय और अनेकंस व्याकरणीय। यथा—एकंसकापि खो, पोट्ठपाद मया धम्मा देसिता पञ्ञत्ता, अनेकंसिकापि हि खो, पोट्ठपाद, मया धम्मा देसिता। अव्याकृत प्रश्नों को बुद्ध ने अनेकंसिक माना और कहा कि वे प्रश्न न सार्थक हैं, न धर्म उपयोगी हैं, न निर्वेद के लिए हैं और न वैराग्य के लिए हैं—न हेते पोट्ठपाद, अत्थसंहिता, न धम्मसंहिता, न आदिब्रह्मचरिका, न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न संबोधाय, न निब्बानाय संवत्तन्ति।[2]

यहाँ बुद्ध ने जिन विवादग्रस्त प्रश्नों को 'अनेकंसिक' कहा है वे प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर एकान्तिक दृष्टि से दिया ही नहीं जा सकता। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त अनेकान्तवाद के अधिक समीप है।

---

१. मज्झिमनिकाय, सुभसुत्तन्त
२. दीघनिकाय, पोट्ठपाद, भाग १, पृ. १५९।

बुद्ध ने एक अन्य प्रकार से भी प्रश्नों का समाधान किया था जिसे 'चतुष्कोटि' कहा गया है—

१. अत्थि
२. नत्थि
३. अत्थि च, नत्थि च, और
४. नेव अत्थि, न च नत्थि

इस चतुष्कोटि का उपयोग बुद्ध ने अनेक स्थानों पर किया है। उदाहरणतः—

१. छन्नं फस्सायतनं असेसविरागनिरोधा अत्थि अञ्ञं किञ्चि ति।
२. छन्नं····नत्थि अञ्ञं किञ्चि ति।
३. छन्नं ···अत्थि च नत्थि च अञ्ञं किञ्चि ति।
४. छन्नं····नेव अत्थि न न अत्थि च अञ्ञं किञ्चि ति।

बुद्ध ने तत्त्व का वर्णन कहीं-कही दो सत्यों के माध्यम से भी किया है—संमुतिसच्च और परमत्थसच्च। आत्मा के सिद्धान्त को बुद्ध ने अव्याकृता से लेकर संमुतिसच्च तक पहुँचाया। 'न च सो न च अञ्ञो' जैसे कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के विभज्जवाद ने पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से पदार्थ के विश्लेषण को प्रारम्भ कर दिया था—

यथा हि अंगसंभारा होती सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति संतो ति संमुति॥[1]

इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बुद्ध मूलतः विभज्जवादी थे और उस विभज्जवाद के उन्होंने क्रमशः निम्नलिखित विभाग किये। दूसरे शब्दों में इसे हम विभज्जवाद की विकासात्मक अवस्थायें कह सकते हैं—

१. अव्याकृततावाद
२. एकंसिक-अनेकंसिकवाद
३. व्याकरणीय प्रकार
४. चतुष्कोटिविधा, और
५. सच्च प्रकार

जैसा हम शुभ माणवक के प्रसंग में देख चुके है, महात्मा बुद्ध ने परमत्थसच्च को अधिक महत्व दिया। परमत्थदीपिनी; परमत्थजोतिका जैसे शब्द भी इसी अर्थ को व्यक्त करते हैं। बौद्ध साहित्य में नय, सुनय, दुर्नय शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। ज्ञान के जिन आठ साधनों को भगवान् बुद्ध ने बताया है उसमें एक नय हेतु भी है।[2] एक निर्णय विशेष करने के लिए नय की आवश्यकता होती है।[3] सुत्तनिपात में कहा है कि संमुतिसच्च श्रमण-ब्राह्मणों का सर्वसाधारण सिद्धान्त था

---

१. मिलिन्दपञ्ह, २७-३०
२. अनुस्सवेन परम्पराय, इतिकिरियाय, पिटकसंपदाय, भवपरूपताय, समणो न गुरु, तक्किहेतु, नयहेतु, आकारपरिवितक्केन····दिट्ठिनिज्झानक्खन्तिया—अंगुत्तरनिकाय (२.१.१९१:९) (रोमन)
३. न येन नेति, सं. नि. २, पृ. ५८; अनयेन नयति दुम्मेधो, जातक ४, पृ. २४१

और परमत्थसच्च को विशेष रूप से उन्होंने साध्य माना था।[१] परमत्थसच्च ही तथलक्खण है।[२]

बाद में बुद्ध ने विभज्जवाद के स्थान पर मध्यममार्ग को अपनाया—सब्बं अत्थीति खो ब्राह्मण अयं एको अन्तो....सब्बं नत्थीति, खो ब्राह्मण, अयं दुतियो अन्तो। एते ते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्य मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति अविज्जापच्चया संखारा ....।[३] उत्तरकाल में यही मध्यममार्ग भगवान् बुद्ध का पर्यायवाचक बन गया।

विभज्जवाद के समान ही अनेकान्तवाद का उद्देश्य रहा है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, अनेकान्तवाद में पदार्थ के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। इसी संदर्भ में एकान्तिक और अनेकान्तिक तथा एकंस और अनेकंस शब्दों का प्रयोग हुआ है इसके प्राचीन रूप को हम बौद्ध साहित्य में खोज सकते हैं।

पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी सच्चक से बुद्ध ने कहा कि तुम्हारे पूर्व और उत्तर के कथन में परस्पर व्याघात हो रहा है—न खो संधियति पुरिमेन वा पच्छिमं, पच्छिमेन वा पुरिमं।[४] बुद्ध के शिष्य चित्तगहपति और निगण्ठनातपुत्त के बीच हुए विवाद में भी चित्तगहपति ने निगण्ठनातपुत्त पर यही दोषारोपण किया—सचे पुरिमं सच्चं परिच्छमेन ते मिच्छा, सचे पच्छिमं सच्चं पुरिमेन ते मिच्छा।[५]

इसमे यह पता चलता है कि भगवान् महावीर ने भी भगवान् बुद्ध के समान मूलतः दो भंगों से विचार किया था—अत्थि और नत्थि। इन्हीं भंगों में स्वात्मविरोध का दोषारोपण लगाया गया। महात्मा बुद्ध के भंगों में भी परस्पर विरोध झलक रहा है पर बुद्ध द्वारा महावीर पर लगाये गये आरोप में जो तीव्रता दिखाई देती है वह वहाँ नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि महावीर के विचारों में अनेकान्तिक निश्चिति थी और बुद्ध एकान्तिक निश्चिति के साथ अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते थे। 'निश्चय' के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग यहाँ अवश्य नहीं मिलता पर उसका प्रयोग उस समय महावीर अवश्य किया करते रहे होंगे। जैसा उत्तरकाल में प्रायः देखा जाता है, प्रतिपक्षी दार्शनिक स्यात् में निहित तथ्य की उपेक्षा करते रहे हैं। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य बुद्धघोष ने स्वयं अनेकान्तवाद को शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का संमिश्रित रूप कहा है।[६]

जो भी हो, इतना निश्चित था, बुद्ध के समान महावीर ने भी अत्थि-नत्थि रूप में दो भगों को ही मूलतः स्वीकार किया था। भगवतीसूत्र में भी इन्हीं दो भंगों पर विचार किया गया है। गौतम गणधर ने उन्हीं का अवलम्बन लेकर तीर्थिकों के प्रश्नों का उत्तर दिया था—नो खलु वयं देवाणुप्पिया, अत्थि भावं नत्थित्ति वदामो, नत्थि भावं अत्थित्ति वदामो। अम्हे णं देवाणुप्पिया! सब्बं अत्थिभावं अत्थीति वदामो, सब्बं नत्थिभावं नत्थीति वदामो।[७]

१. सुत्तनिपात, ६८.२१९; कथावत्थु, अट्ठकथा ३४
२. अंगुत्तर, अट्ठकथा, १, पृ. ९५ (रो.)
३. संयुत्तनिकाय
४. मज्झिम. १. २३२
५. संयुत्तनिकाय, भाग ४, पृ. २९८-९।
६. मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, भाग २, पृ ८३१; दीघनिकाय अट्ठकथा, भाग ३, पृ. ९०६।
७. भगवतीसूत्र, ७.१०.३०४. चूलराहुलोवाद सुत्त (मज्झिमनिकाय) में 'सिया' शब्द का प्रयोग तेजोधातु के निश्चित भेदों के अर्थ में किया गया है।

बौद्ध साहित्य के ही एक अन्य उद्धरण से यह पता चलता है कि भगवान् महावीर तीन भंगों का भी उपयोग किया करते थे। उनके शिष्य दीघनख परिब्बाजक का निम्न कथन भगवान् बुद्ध की आलोचना का विषय बना था—

१. सब्बं मे खमति
२. सब्बं मे न खमति
३. एकच्चं मे खमति एकच्चं मे न खमति

वेदों और त्रिपिटक ग्रन्थों में चतुष्कोटियों का उल्लेख आता है पर प्राचीन बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के साथ उक्त तीन ही भंग दिखाई देते हैं। इसलिए ऐसा लगता है कि भगवान् महावीर ने मूलतः इन्हीं तीन भंगों को स्वीकार किया होगा। अतः अवक्तव्य का स्थान तीसरा न होकर चौथा ही रहना चाहिए।

जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद पर विशेष चिन्तन किया। उनके चिन्तन का यही सम्बल था। इसलिए जब तृतीय अथवा चतुर्थ भंग के साथ एकान्तिक दृष्टि के साथ भी आक्षेप किया गया तो उन्होंने उससे बचने के लिए सप्त भंगों का सृजन किया। इस सप्तभंगी साधना में हर प्रकार का विरोध और एकान्तिक दृष्टि समाधिस्थ हो जाती है। भगवतीसूत्र, सूत्रकृतांग, पंचास्तिकाय आदि प्राचीन ग्रन्थों में यही विकसित रूप दिखाई देता है। उत्तरकालीन बौद्ध साहित्य में भी इसके संकेत मिलते हैं। थेरगाथा में कहा गया है—"एकङ्गदस्सी दुम्मेधो सतदस्सी च पण्डितो"।[1] यहाँ सत-दस्सी के स्थान पर, लगता है, 'सत्तदस्सी' पाठ होना चाहिए था। इसे यदि सही मानें तो सप्तभंगी का रूप स्पष्ट हो जाता है।

जैनदर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय, निश्चय और व्यवहारनय, शुद्ध और अशुद्धनय, पारमार्थिक और व्यावहारिक नय आदि रूप से भी पदार्थ का चिन्तन किया है परन्तु इनका विशेष उल्लेख प्राचीन बौद्ध साहित्य अथवा अन्य जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता। संभव है, इसे उत्तरकाल में नियोजित किया गया हो।

इस विवेचन से हम अनेकान्तवाद के विकास को निम्नलिखित सोपानों में विभक्त कर सकते हैं—

१. एकंसवाद-अनेकंसवाद
२. सत्-असत्-उभयवाद
३. चतुर्थ भंग-अवक्तव्य
४. सप्तभंग, और
५. द्विनय अथवा सप्तनय

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध का समान उद्देश्य था—पदार्थ-स्वरूप का सम्यक् विवेचन करना। बुद्ध के समान महावीर ने भी विभज्जवादी भाषा के प्रयोग को अपेक्षित माना। शायद यह समानता इसलिए भी हो कि दोनों महान् व्यक्तित्व मूलतः एक ही परम्परा के अनुयायी थे। इसलिए दोनों ही प्राथमिक स्तर पर विभज्जवादी हैं। उत्तरकाल में बुद्ध का विभज्जवाद जिस पक्ष की ओर

१. थेरगाथा, १०६।

भी झुका, उसमें एकान्तिक दृष्टि ही छिपी रही, पर महावीर ने उसमें 'स्यात्' जैसे निश्चयवाचक पद को जोड़कर उस दोष से अपने को बचा लिया। इसलिए बुद्ध का विभज्जवाद सीमित और एकान्तिक दिखाई देता है जबकि महावीर का विभज्जवाद असीमित और अनेकान्तिक प्रतीत होता है।

बुद्ध का विभज्जवाद अव्याकृत से चलकर मध्यमप्रतिपदा तक पहुँचा, पर महावीर के विभज्जवाद ने सप्तभंगी, नय और निक्षेप की यात्रा की। बुद्ध के विभज्जवाद पर उतना अधिक चिन्तन नहीं हो सका जितना महावीर के विभज्जवाद अथवा अनेकान्तवाद पर हुआ। फलतः बुद्ध का विभज्जवाद अनेकान्तवादी होने पर भी एकान्तवाद की ओर अधिक झुका पर महावीर का विभज्जवाद अनेकान्तवाद को ही प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पकड़े रहा। यही कारण है कि "स्याद्वाद पदलाञ्छनः" जैसे शब्दों का प्रयोग महावीर के साथ ही हुआ है।

बुद्ध ने आचार और विचार में मध्यममार्ग (मज्झिमपटिपदा) को अपनाया और महावीर ने अनेकान्त शैली का आश्रय लिया। दोनों शैलियों ने अपने-अपने ढंग से उत्तरकाल में विकास किया। दार्शनिक क्षेत्र में दोनों महापुरुषों का यही प्रदेय था। ज्ञान के संदर्भ में उनका यही योगदान था।

•

अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
न्यू एक्सटेंशन एरिया
सदर, नागपुर-४४०००१

बृहद्गच्छ का संक्षिप्त इतिहास

शिव प्रसाद

सातवीं शताब्दी में पश्चिम भारत में निर्ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जो चैत्यवास की नींव पड़ी वह आगे को शताब्दियों में उत्तरोत्तर दृढ़ होती गयी और परिणामस्वरूप अनेक आचार्य एवं मुनि शिथिलाचारी हो गये। इनमें से कुछ ऐसे भी आचार्य थे जो चैत्यवास के विरोधी और सुविहितमार्ग के अनुयायी थे। चौलुक्य नरेश दुर्लभराज [वि० सं० १०६७-७८/ई० सन् १०१०-२२] की राजसभा में चैत्यवासियों और सुविहितमार्गियों के मध्य जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें सुविहितमार्गियों की विजय हुई। इन सुविहितमार्गियों में बृहद्गच्छ के आचार्य भी थे।

बृहद्गच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये हमारे पास दो प्रकार के साक्ष्य हैं—

१—साहित्यिक   २—अभिलेखिक

साहित्यिक साक्ष्यों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है, प्रथम तो ग्रन्थों एवं पुस्तकों की प्रशस्तियाँ और द्वितीय गच्छों की पट्टावलियाँ, गुर्वावलियाँ आदि।

प्रस्तुत निबन्ध में उक्त साक्ष्यों के आधार पर बृहद्गच्छ के इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

वडगच्छ/बृहद्गच्छ के उल्लेख वाली प्राचीनतम प्रशस्तियाँ १२वीं शताब्दी के मध्य की हैं। इस गच्छ के उत्पत्ति के विषय में चर्चा करने वाली सर्वप्रथम प्रशस्ति वि० सं० १२३८/ई० सन् ११८२ में बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि द्वारा रचित **उपदेशमालाप्रकरणवृत्ति**[१] की है, जिसके अनुसार आचार्य उद्योतनसूरि ने आबू की तलहटी में स्थित धर्माण नामक सन्निवेश में न्यग्रोध वृक्ष के नीचे सात ग्रहों के शुभ लग्न को देखकर सर्वदेवसूरि सहित आठ मुनियों को आचार्यपद प्रदान किया। सर्वदेवसूरि वडगच्छ के प्रथम आचार्य हुये। तत्पश्चात् तपगच्छीय मुनिसुन्दरसूरि

---

१. श्रीमत्यर्बुदतुंगशैलशिखरच्छायाप्रतिष्ठास्पदे
धर्माणाभिधसन्निवेशविषये न्यग्रोधवृक्षो बभौ।
यत्शाखाशतसंख्यपत्रबहलच्छायास्वपायाहतं
सौख्येनोषितसंघमुख्यशटकश्रेणीशतीपंचकम् ॥ १ ॥

लग्ने क्वापि समस्तकार्यजनके सप्तग्रहलोकने
ज्ञात्वा ज्ञानवशाद्, गुरुं…… देवाभिधः।
आचार्यान् रचयांचकार चतुरस्तस्मात् प्रवृद्धो बभौ
वंशोऽयं वटगच्छनाम रुचिरो जीयाद् युगानां शतीम् ॥ २ ॥

—गांधी, लालचन्द भगवानदास—"**कैटलाग ऑव पाम लीफ मैन्युस्क्रिप्ट्स् इन द शान्तिनाथ जैन भंडार कैम्बे**" भाग २, पृ. २८४-८६

द्वारा रचित **गुर्वावली**[1] (रचनाकाल वि० सं० १४६६|ई० सन् १४०९), हरिविजयसूरि के शिष्य धर्मसागरसूरि द्वारा रचित **तपागच्छपट्टावली**[2] [रचनाकाल वि० सं० १६४८/ई० सन् १५९१] और मुनिमाल द्वारा रचित **बृहद्गच्छगुर्वावली**[3] [रचनाकाल वि० सं० १७५१/ई० सन् १६९४]; के अनुसार "वि० सं० ९९४ में अर्बुदगिरि के तलहटी में टेली नामक ग्राम में स्थित वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि सहित आठ मुनियों को आचार्य पद प्रदान किया गया। इस प्रकार निर्ग्रन्थ श्वेताम्बर संघ में एक नये गच्छ का उदय हुआ जो वटवृक्ष के नाम को लेकर वटगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।" चूंकि वटवृक्ष के शाखाओं-प्रशाखाओं के समान इस गच्छ की भी अनेक शाखायें-प्रशाखायें हुईं, अतः इसका एक नाम बृहद्गच्छ भी पड़ा।

गच्छ निर्देश सम्बन्धो धर्माण सन्निवेश के सम्बन्ध में दो दलीलें पेश की जा सकती हैं—

प्रथम यह कि उक्त मत एक स्वगच्छीय आचार्य द्वारा उल्लिखित है और दूसरे १५वीं शताब्दी के तपगच्छीय साक्ष्यों से लगभग दो शताब्दी प्राचीन भी है अतः उक्त मत को विशेष प्रामाणिक माना जा सकता है।

जहाँ तक धर्माण सन्निवेश का प्रश्न है आबू के निकट उक्त नाम का तो नहीं बल्कि **वरमाण** नामक स्थान है, जो उस समय भी जैन तीर्थ के रूप में मान्य रहा। अतः यह कहा जा सकता है कि लिपि-दोष से वरमाण की जगह धर्माण हो जाना असंभव नहीं।

सबसे पहले हम वडगच्छीय आचार्यों की गुर्वावली को, जो ग्रन्थ प्रशस्तियों, पट्टावलियों एवं अभिलेखों से प्राप्त होती है, एकत्र कर विद्यावंशवृक्ष बनाने का प्रयास करेंगे। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हम वडगच्छ के सुप्रसिद्ध आचार्य नेमिचन्द्रसूरि द्वारा रचित **आख्यानकमणिकोष**[4] (रचनाकाल ई० सन् ११वीं शती का प्रारम्भिक चरण) की उत्थानिका में उल्लिखित बृहद्गच्छीय आचार्यों की विद्यावंशावली का उल्लेख करेंगे, जो इस प्रकार है।[5]

अब हम **उत्तराध्ययनसूत्र** की **सुखबोधा टीका**[6] (रचनाकाल वि० सं० ११२९/ई० सन् १०७२) में उल्लिखित नेमिचन्द्रसूरि के इस वक्तव्य पर विचार करेंगे कि ग्रन्थकार ने अपने गुरुभ्राता मुनिचन्द्रसूरि के अनुरोध पर उक्त ग्रन्थ की रचना की।

---

१. मुनि दर्शन विजय—संपा० **पट्टावलीसमुच्चय**, भाग १, पृ. ३४;

२. वही, पृ. ५२-५३;

३. वही, भाग २, पृ. १८८;

४. प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी द्वारा ई० सन् १९६२ में प्रकाशित.

५. देखिये—तालिका नं० १;

६ देवेन्द्रगणिश्चेमामुद्धृतवान् वृत्तिकां तद्विनेयः।
गुरुसोदर्यश्रीमन्मुनिचन्द्राचार्यवचनेन ॥ ११ ॥
शोधयतु बृहदनुग्रहबुद्धिं मयि संविधाय विज्ञजनः।
तत्र च मिथ्यादुष्कृतमस्तु कृतमसंगतं यदिहि ॥ १२ ॥
—गांधी, लालचन्द भगवान दास—पूर्वोक्त भाग १, पृ० ११४

मुनिचन्द्रसूरि ने स्वरचित ग्रन्थों में जो गुरु परम्परा दी है, उससे ज्ञात होता है कि उनके गुरु का नाम यशोदेव और दादागुरु का नाम सर्वदेव[1] था। प्रथम तालिका में उद्योतनसूरि द्वितीय के समकालीन जिन ५ आचार्यों का उल्लेख है, उनमें से चौथे आचार्य का नाम देवसूरि है। ये देवसूरि मुनिचन्द्रसूरि के प्रगुरु सर्वदेवसूरि से अभिन्न हैं ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार नेमिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्रसूरि परस्पर सतीर्थ्य सिद्ध होते हैं।

मुनिचन्द्रसूरि का शिष्य परिवार बड़ा विशाल था। इनके ख्यातिनाम शिष्यों में देवसूरि[2], मानदेवसूरि[3] और अजितदेवसूरि[4] के नाम मिलते हैं। इसी प्रकार देवसूरि (वादिदेव सूरि) के परिवार में भद्रेश्वरसूरि, रत्नप्रभसूरि, विजयसिंहसूरि आदि शिष्यों एवं प्रशिष्यों का उल्लेख मिलता है।[5] इसी प्रकार वादिदेवसूरि के गुरुभ्राता मानदेवसूरि के शिष्य जिनदेवसूरि और उनके शिष्य हरिभद्रसूरि का नाम मिलता है।[6] वादिदेवसूरि के तीसरे गुरुभ्राता अजितदेवसूरि के शिष्यों में विजयसेनसूरि और उनके शिष्य सुप्रसिद्ध सोमप्रभाचार्य भी हैं।[7] मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य परिवार का जो वंशवृक्ष बनता है, वह इस प्रकार है[8] —

नेमिचन्द्रसूरि द्वारा रचित **महावीरचरियं** [रचनाकाल वि० सं० ११४१/ई० सन् १०८४] की प्रशस्ति में वडगच्छ को चन्द्रकुल से उत्पन्न माना गया है,[9] अतः समसामयिक चन्द्रकुल [जो पीछे चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ] की आचार्य परम्परा पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। चन्द्रगच्छ में प्रख्यात वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, बुद्धिसागरसूरि, नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि आदि अनेक आचार्य हुए। आचार्य जिनेश्वर जिन्होंने चौलक्य नरेश दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर गुर्जरधरा में विधिमार्ग का बलतर समर्थन किया था, वर्धमानसूरि के शिष्य थे।[10] आबू स्थित विमलवसही के प्रतिमा प्रतिष्ठापकों में वर्धमानसूरि का भी नाम लिया जाता है।[11] इनका समय विक्रम संवत् की ११वीं शती सुनिश्चित है। वर्धमानसूरि कौन थे ? इस प्रश्न का भी उत्तर ढूंढना आवश्यक है।

खरतरगच्छीय आचार्य जिनदत्तसूरि द्वारा रचित **गणधरसार्धशतक** [रचनाकाल वि० सं० बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध] और जिनपालोध्याय द्वारा रचित **खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली**

---

१. देसाई 'मोहनलाल दलीचन्द—**जैनसाहित्य नो संक्षिप्त इतिहास**, पृ० २४१-४२।
२. वही, पृ० २४८-४९।
३. वही, पृ० २८३।
४. वही, पृ० ३२१।
५. गाँधी, पूर्वोक्त, भाग २, पृ० २८८।
६. गाँधी, पूर्वोक्त भाग २, पृ० २३९-४०।
७. देसाई, पूर्वोक्त पृ० २८३-४।
८. देखिये—तालिका न० २।
९. गाँधी, पूर्वोक्त भाग २, पृ० ३३९।
१०. **कथाकोशप्रकरण**—प्रस्तावना विभाग, संपादक—मुनि जिनविजय, पृ० २।
११. नाहटा, अगरचन्द—"विमलवसही के प्रतिष्ठापकों में वर्धमानसूरि भी थे।"
—**जैन सत्य प्रकाश**, वर्ष ५, अंक ५-६ पृ० २१२-२१४।

[रचनाकाल वि० सं० तेरहवीं शती का अंतिम चरण] से ज्ञात होता है कि वर्धमानसूरि पहले एक चैत्यवासी आचार्य के शिष्य थे, परन्तु बाद में उनके मन में चैत्यवास के प्रति विरोध की भावना जागृत हुई और उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा लेकर सुविहितमार्गीय आचार्य उद्योतनसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की।[1]

गणधरसार्धशतक की गाथा ६१-६३ में देवसूरि, नेमिचन्द्रसूरि और उद्योतनसूरि के बाद वर्धमानसूरि का उल्लेख है। पूर्वप्रदर्शित तालिका नं० १ में देवसूरि, नेमिचन्द्रसूरि (प्रथम), उद्योतनसूरि (द्वितीय) के बाद आम्रदेवसूरि का उल्लेख है। इस प्रकार उद्योतनसूरि के दो शिष्यों का अलग-अलग साक्ष्यों से उल्लेख प्राप्त होता है। इस आधार पर उद्योतनसूरि (प्रथम) और वर्धमानसूरि को परस्पर गुरुभ्राता माना जा सकता है। अब वर्धमानसूरि की शिष्य परम्परा पर भी प्रसंगवश कुछ प्रकाश डाला जायेगा।

वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जिनेश्वरसूरि ने चौलुक्यनरेश दुर्लभराज की सभा में शास्त्रार्थ में चैत्यवासियों को परास्त कर विधिमार्ग का समर्थन किया था।

जिनेश्वरसूरि के ख्यातिनाम शिष्यों में नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि, जिनभद्र अपरनाम धनेश्वरसूरि और जिनचन्द्रसूरि के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[3] इनमें से अभयदेवसूरि की शिष्य परम्परा आगे चली।

अभयदेवसूरि के शिष्यों में प्रसन्नचन्द्रसूरि, जिनवल्लभसूरि और वर्धमानसूरि के उल्लेख मिलते है।[4] प्रसन्नचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि हुए, जिन्होंने जिनवल्लभसूरि और जिनदत्तसूरि को आचार्यपद प्रदान किया।[5]

जिनवल्लभसूरि वास्तव में एक चैत्यवासी आचार्य के शिष्य थे, परन्तु इन्होंने अभयदेवसूरि के पास विद्याध्ययन किया था और बाद में अपने चैत्यवासी गुरु की आज्ञा लेकर अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की।[6] जिनवल्लभसूरि से ही खरतरगच्छ का प्रारम्भ हुआ। युगप्रधानाचार्यगुर्वावली में यद्यपि वर्धमानसूरि को खरतरगच्छ का आदि आचार्य कहा गया है, परन्तु वह समीचीन प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः अभयदेवसूरि के मृत्योपरान्त उनके अन्यान्य शिष्यों के साथ जिनवल्लभसूरि की प्रतिस्पर्धा रही, अतः इन्होंने विधिपक्ष की स्थापना की, जो आगे चलकर **खरतरगच्छ** के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[7]

अभयदेवसूरि के तीसरे शिष्य और पट्टधर वर्धमानसूरि हुए। इन्होंने **मनोरमाकहा** [रचनाकाल वि० सं० ११४०/ई० सन् १०८३] और **आदिनाथचरित** [रचनाकाल वि० सं० ११६०/ई० सन्

१. मुनि जिनविजय—पूर्वोक्त पृ० २६।
२. वही, पृ० ८।
३. देसाई, पूर्वोक्त पृ० २०८।
४. देसाई—पूर्वोक्त पृ० २१७-१९।
५. मुनि जिनविजय—पूर्वोक्त पृ० १५।
६. वही, पृ० १६।
७. वही, पृ० ५।

११०३] की रचना की।[1] वि० सं० ११८७ एवं वि० सं० १२०८ के अभिलेखों में वडगच्छीय चक्रेश्वरसूरि को वर्धमानसूरि का शिष्य कहा गया है।[2] इसी प्रकार वि० सं० १२१४ के वडगच्छ से ही सम्बन्धित एक अभिलेख में वडगच्छीय परमानन्दसूरि के गुरु का नाम चक्रेश्वरसूरि और दादा-गुरु का नाम वर्धमानसूरि उल्लिखित है।[3] इसी प्रकार वडगच्छीय चकेश्वरसूरि के गुरु और परमानन्दसूरि के दादागुरु वर्धमानसूरि और अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि को अभिन्न माना जा सकता है। जहाँ तक गच्छ सम्बन्धी समस्या का प्रश्न है, उसका समाधान यह है कि चन्द्रगच्छ और वडगच्छ दोनों का मूल एक होने से इस समय तक आचार्यों में परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना नहीं दिखाई देती। गच्छीयप्रतिस्पर्धा के युग में भी एक गच्छ के आचार्य दूसरे गच्छ के आचार्य के शिष्यों को विद्याध्ययन कराना अपारम्परिक नहीं समझते थे। अतः बृहद्गच्छीय चक्रेश्वरसूरि एवं परमानन्द-सूरि के गुरु चन्द्रगच्छीय वर्धमानसूरि हों तो यह तथ्य प्रतिकूल नहीं लगता।

इस प्रकार चन्द्रगच्छ और खरतरगच्छ के आचार्यों का जो विद्यावंशवृक्ष बनता है, वह इस प्रकार है[4] :—

अब हम वडगच्छीय वंशावली और पूर्वोक्त चन्द्रगच्छीय वंशावली को परस्पर समायोजित करते हैं, उससे जो विद्यावंशवृक्ष निर्मित होता है, वह इस प्रकार है[5]—

अब इस तालिका के बृहद्गच्छीय प्रमुख आचार्यों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायेगा।

नेमिचन्द्रसूरि[6]—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वडगच्छ के उल्लेख वाली प्राचीनतम

---

१. वही, पृ० १४।

२. सं[वत्] ११८७ [वर्षे] फागु[ल्गु]ण वदि ४ सोमे रूद्रसिणवाडास्थानीय प्राग्वाटवंसा[शा]न्वये श्रे० साहिलसंताने पलाद्दंदा [?] श्रे० पासल संतणाग देवचंद्र आसधर आंबा अंबकुमार श्रीकुमार लोयण प्रकृति श्वासिणि शांतीय रामति गुणसिरि प्रडूहि तथा पल्लडीवास्तव्य अंबदेवप्रभृतिसमस्तश्रावकश्राविकासमुदायेन अर्बुद-चैत्यतीर्थे श्रीरि[ऋ]षभदेवबिंबं निःश्रेयसे कारितं बृहद्गच्छीय श्रीसंविज्ञविहारि श्रीवर्धमानसूरिपाद-पद्मोप[सेवि] श्रीचक्रेश्वरसूरिभिः प्रतिष्ठितं ॥

मुनि जयन्तविजय—संपा० **अर्बुद प्राचीन जैन लेख सन्दोह**, लेखाङ्क ११४।

ॐ। संवत् १२०८ फागुणसुदि १० रवौ श्रीबृहद्गच्छीयसंविज्ञविहारी[रि]श्रीवर्धमानसूरिशिष्यैः श्रीचक्रे-श्वरसूरिभिः प्रतिष्ठितं प्राग्वाट वंशीय……।

मुनि विशाल विजय, संपा० श्रीआरासणातीर्थ, लेखाङ्क ११।

३. संवत् १२१४ फाल्गुण वदि 'शुक्रवारे श्रीबृहदगच्छोद्भवसंविग्नविहारि श्रीवर्धमानसूरीयश्रीचक्रेश्वरसूरि शिष्य……श्रीपरमानन्दसूरिसमेतैः………प्रतिष्ठितं।

मुनि विशाल विजय, वही, लेखाङ्क १४।

४. देखिये, तालिका न० ३।

५. तालिका न० ४।

६. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—

मुनि पुण्यविजय द्वारा सम्पादित **आख्यानकमणिकोष** की प्रस्तावना, पृ० ६-८;

देसाई, मोहनलाल दलीचन्द, **जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास** पृ० २१८।

प्रशस्तियाँ इन्हीं की हैं। इनका समय विक्रम सम्वत् की बारहवीं शती सुनिश्चित है। इनके द्वारा लिखे गये ५ ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो इस प्रकार हैं—

१. आख्यानकमणिकोष [मूल]
२. आत्मबोधकुलक
३. उत्तराध्ययनवृत्ति [सुखबोधा]
४. रत्नचूड़कथा
५. महावीरचरियं

इनमें प्रथम दो ग्रन्थ सामान्य मुनि अवस्था में लिखे गये थे, इसी लिये इन ग्रन्थों की अन्त्य प्रशस्तियों में इनका नाम **देविन्द** लिखा मिलता है। उत्तराध्ययनवृत्ति और रत्नचूड़कथा की प्रशस्तियों में देवेन्द्रगणि नाम मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ गणि "पद" मिलने के पश्चात् लिखे गये। उक्त दोनों ग्रन्थों के कुछ ताड़पत्र की प्रतियों में नेमिचन्द्रसूरि नाम भी मिलता है। अन्तिम ग्रन्थ **महावीरचरियं** वि० सं० ११४१/ई० सन् १०८५ में लिखा गया है। उक्त ग्रन्थों की प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम आम्रदेवसूरि और प्रगुरु का नाम उद्योतनसूरि था, जो सर्वदेवसूरि की परम्परा के थे।

मुनिचन्द्रसूरि[1]—आप उपरोक्त नेमिचन्द्रसूरि के सतीर्थ्य थे। आचार्य सर्वदेवसूरि के शिष्य यशोभद्रसूरि एवं नेमिचन्द्रसूरि थे। यशोभद्रसूरि से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की एवं नेमिचन्द्रसूरि से आचार्य पद प्राप्त किया। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने कुल ३१ ग्रन्थ लिखे थे। इनमें से आज १० ग्रन्थ विद्यमान हैं जो इस प्रकार हैं—

१. अनेकान्तजयपताका टिप्पनक
२. ललितविस्तरापञ्जिका
३. उपदेशपद–सुखबोधावृत्ति
४. धर्मबिन्दु–वृत्ति
५. योगविन्दु-वृत्ति
६. कर्मप्रवृत्ति-विशेषवृत्ति
७. आवश्यक [पाक्षिक] सप्ततिका
८. रसाउलगाथाकोष
९. सार्धशतकचूर्णी
१०. पार्श्वनाथस्तवनम्

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनके ख्यातिनाम शिष्यों में वादिदेवसूरि, मानदेवसूरि और अजितदेवसूरि प्रमुख थे। वि० सं० ११७८ में इनका स्वर्गवास हुआ।

वादिदेवसूरि—आप मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे। आबू से २५ मील दूर **मडार** नामक ग्राम में

१. परीख, रसिक लाल छोटा लाल एवं शास्त्री, केशवराम काशीराम—
संपा० **गुजरात नो राजकीयअने सांस्कृतिक इतिहास**, भाग ४, पृ० २९०-९१;
देसाई, पूर्वोक्त पृ० ३४१-४३।

वि० सं० ११४३/ई० सन् १०८६ में इनका जन्म हुआ था।[1] इनके पिता का नाम वारिनाग और माता का नाम जिनदेवी था। आचार्य मुनिचन्द्रसूरि के उपदेश से माता-पिता ने बालक को उन्हें सौंप दिया और उन्होंने वि० सं० ११५२/ई० सन् १०९६ में इन्हें दीक्षित कर मुनि रामचन्द्र नाम रखा। वि० सं० ११७४/ई० सन् १११७ में इन्होंने आचार्य पद प्राप्त किया और देवसूरि नाम से विख्यात हुए।[2] वि० सं० ११८१-८२/ई० सन् ११२४ में अणहिलपत्तन स्थित चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज की राजसभा में इन्होंने कर्णाटक से आये दिगम्बर आचार्य कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया और वादिदेवसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए।[3] वादविषयक ऐतिहासिक उल्लेख कवि यशश्चन्द्र कृत "**मुद्रितकुमुदचन्द्र**" नामक नाटक में प्राप्त होता है। ये गुजरात में प्रमाणशास्त्र के श्रेष्ठ विद्वानों में से थे। इन्होंने प्रमाणशास्त्र पर "**प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार**" नामक ग्रन्थ आठ परिच्छेदों में रचा और उसके ऊपर "**स्याद्वादरत्नाकर**" नामक मोटी टीका की भी रचना की। इस ग्रन्थ की रचना में आपको अपने शिष्यों भद्रेश्वरसूरि और रत्नप्रभसूरि से सहायता प्राप्त हुई।[4] इसके अलावा इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

मुनिचन्द्रसूरिगुरुस्तुति, मुनिचन्द्रगुरुविरहस्तुति, यतिदिनचर्या, उपधानस्वरूप, प्रभातस्मरण, उपदेशकुलक, संसारोद्विग्नमनोरथकुलक, कलिकुंडपार्श्वस्तवनम्[5] आदि।

हरिभद्रसूरि[6]—बृहद्गच्छीय आचार्य मानदेव के प्रशिष्य एवं आचार्य जिनदेव के शिष्य हरिभद्रसूरि चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के समकालीन थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि द्रव्यानुयोग, उपदेश, कथाचरितानुयोग आदि विषयों में संस्कृत-प्राकृत भाषा में इनकी खास विद्वत्ता और व्याख्या शक्ति विद्यमान थी। वि० सं० ११७२/ई० सन् १११६ में इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की जो इस प्रकार है—

"**बंध स्वामित्व**" षटशीति कर्म ग्रन्थ के ऊपर वृत्ति; जिनवल्लभसूरि द्वारा रचित "**आगमिक वस्तुविचारसारप्रकरण**" पर वृत्ति और **श्रेयांसनाथचरित**"।

वि० सं० ११८५/ई० सन् ११२९ के पाटण में यशोनाग श्रेष्ठी के उपाश्रय में रहते हुए इन्होंने **प्रशमरतिप्रकरण** पर वृत्ति की रचना की।

रत्नप्रभसूरि[7]—आचार्य वादिदेवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि विशिष्ट प्रतिभाशाली, तार्किक, कवि और विद्वान् थे। इन्होंने **प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार** पर ५००० श्लोक प्रमाण **रत्नाकरावतारिका** **नाम** की टीका की रचना की है। इसके अलावा इन्होंने **उपदेशमाला** पर **दोघट्टी वृत्ति** [रचनाकाल

१. त्रिपुटी महाराज—जैनपरम्परा नो इतिहास, भाग २, पृ० ५६०।
२. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त भाग ४, पृ० २९४।
३. वही।
४. वही।
५. मुनि चतुर विजय—संपा० **जैन स्तोत्र सन्दोह**, भाग १, पृ० ११८।
६. परीख और शास्त्री-वही;
   देसाई, पूर्वोक्त पृ० २५०।
७. परीख और शास्त्री,—पूर्वोक्त पृ० ३०३-४;

वि० सं० १२३८/ई० सन् ११८२], **नेमिनाथचरित** [रचनाकाल वि० सं० १२३३/ई० सन् ११७६], **मतपरोक्षापंचाशत**; **स्याद्वादरत्नाकर** पर लघु टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है।

हेमचन्द्रसूरि[1] — आप आचार्य अजितदेवसूरि के शिष्य एवं आचार्य मुनिचन्द्रसूरि के प्रशिष्य थे। इन्होंने **नेमिनाभेयकाव्य** की रचना की, जिसका संशोधन महाकवि श्रीपाल ने किया। श्रीपाल जयसिंह सिद्धराज के दरबार का प्रमुख कवि था।

हरिभद्रसूरि—इनका जन्म और दीक्षादि प्रसंग जयसिंह सिद्धराज के काल में उन्हीं के राज्य प्रदेश में हुआ, ऐसा माना जाता है।[2] ये प्रायः अणहिलवाड़ में ही रहा करते थे। सिद्धराज और कुमारपाल के मन्त्री श्रीपाल की प्रार्थना पर इन्होंने संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में चौबीस तीर्थङ्करों के चरित्र की रचना की। इनमें से चन्द्रप्रभ, मल्लिनाथ और नेमिनाथ का चरित्र ही आज उपलब्ध हैं। तीनों ग्रन्थ २४००० श्लोक प्रमाण हैं। यदि एक तीर्थङ्कर का चरित्र ८००० श्लोक माना जाये तो तो २४ तीर्थङ्करों का चरित्र कुल दो लाख श्लोक के लगभग रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है।[3] **नेमिनाथचरिउ** की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १२१६ में हुई थी।[4] अपने ग्रन्थों के अन्त में इन्होंने जो प्रशस्ति दी है, उसमें इनके गुरुपरम्परा का भी उल्लेख है जिसके अनुसार वर्धमान महावीर स्वामी के तीर्थ में कोटिक गण और वज्र शाखा में चन्द्रकुल के वडगच्छ के अन्तर्गत जिनचन्द्रसूरि हुए। उनके दो शिष्य थे, आम्रदेवसूरि और श्रीचन्द्रसूरि। इन्हीं श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य थे आचार्य हरिभद्रसूरि जिन्हें आम्रदेवसूरि ने अपने पट्ट पर स्थापित किया।[5]

सोमप्रभसूरि[6]—आचार्य अजितदेवसूरि के प्रशिष्य एवं आचार्य विजयसिंहसूरि के शिष्य आचार्य सोमप्रभसूरि चौलुक्य नरेश कुमारपाल [वि० सं० ११९९-१२२९/ई० सन् ११४२-११७२] के समकालीन थे। इन्होंने वि० सं० १२४१/ई० सन् ११८४ में कुमारपाल की मृत्यु के १२ वर्ष पश्चात् अणहिलवाड़ में "**कुमारपालप्रतिबोध**" नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में हेमचन्द्रसूरि और कुमारपाल सम्बन्धी वर्णित तथ्य प्रामाणिक माने जाते हैं। इनकी अन्य रचनाओं में "**सुमतिनाथचरित**", "**सूक्तमुक्तावली**" और "**सिन्दूरप्रकरण**" के नाम मिलते हैं।

नेमिचन्द्रसूरि[7]—ये आम्रदेवसूरि [आख्यानकमणिकोषवृत्ति के रचयिता] के शिष्य थे। इन्होंने "**प्रवचनसारोद्धार**" नामक दार्शनिक ग्रन्थ जो ११९९ श्लोक प्रमाण है, की रचना की।

अन्य गच्छों के समान वडगच्छ से भी अनेक शाखायें एवं प्रशाखायें अस्तित्व में आयीं। वि० सं० ११४९ में यशोदेव-नेमिचन्द्र के शिष्य और मुनिचन्द्रसूरि के ज्येष्ठ गुरुभ्राता आचार्य चन्द्रप्रभ-

---

१. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द — पूर्वोक्त पृ० २३५।
२. गांधी लालचन्द भगवानदास — "**ऐतिहासिक जैन लेखो**" पृ० १३३।
३. वही पृ० १३३।
४. वही पृ० १३४।
५. मुनि पुण्य विजय संपा० **आख्यानकमणिकोषवृत्ति**, प्रस्तावना पृ० ८।
६. देसाई, पूर्वोक्त पृ० २७५।
७. मुनिपुण्यविजय, पूर्वोक्त पृ० ८।

सूरि से पूर्णिमा पक्ष का आविर्भाव हुआ ।[1] इसी प्रकार आचार्य वादिदेवसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि ने वि० सं० ११७४/ई० सन् १११७ में नागौर में तप करने से **"नागौरी तपा"** विरुद् प्राप्त किया और उनके शिष्य **"नागोरीतपगच्छीय"** कहलाने लगे ।[2] इसी प्रकार इस गच्छ के अन्य शाखाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है ।[3]

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रकाशित जैन लेख संग्रहों में वडगच्छ से सम्बन्धित अनेक लेख संग्रहीत हैं। इन अभिलेखों में वडगच्छीय आचार्यों द्वारा जिन प्रतिमा प्रतिष्ठा, जिनालयों की स्थापना आदि का उल्लेख है। ये लेख १२वीं शताब्दी से लेकर १७वीं-१८वीं शताब्दी तक के हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वडगच्छीय आचार्य साहित्य सृजन के साथ-साथ जिनप्रतिमा प्रतिष्ठा एवं जिनालयों की स्थापना में समान रूप से रुचि रखते रहे। वर्तमान काल में इस गच्छ का अस्तित्व नहीं है।

(क्रमशः पृ० ११४ पर तालिका है)

शोध सहायक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

१. नाहटा, अगरचन्द—"जैन श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश" **श्रीयतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ** पृ० १५३ ।
२. वही पृ० १५१ ।
३. वही पृ० १५४ ।

तालिका नं० १

आख्यानकमणिकोष की प्रस्तावना में दी गयी बृहद्गच्छीय आचार्यों की तालिका

- बृहद्गच्छीय देवसूरि के वंश में
  - अजितदेव सूरि
    - आनन्दसूरि (पट्टधर)
      - नेमिचन्द्रसूरि (पट्टधर) [आख्यानकमणिकोष (मूल) के कर्त्ता]
      - प्रद्योतनसूरि (पट्टधर)
      - जिनचन्द्रसूरि (पट्टधर)
        - आम्रदेवसूरि (शिष्य) [आख्यानकमणिकोष के वृत्तिकार]
          - हरिभद्रसूरि (मुख्य-पट्टधर)
          - विजयसेनसूरि (शिष्य-पट्टधर)
            - समन्तभद्रसूरि
          - नेमिचन्द्रसूरि (शिष्य-पट्टधर)
          - यशोदेवसूरि (शिष्य-पट्टधर)
          - गुणाकरसूरि (शिष्य)
          - पार्श्वदेव (शिष्य)
        - श्रीचन्द्रसूरि (शिष्य)
          - हरिभद्रसूरि (शिष्य)

तालिका नं० २

वडगच्छीय आचार्य मुनिचन्द्रसूरि के गुरु-शिष्य परम्परा की तालिका

- उद्योतनसूरि (प्रथम)
  - सर्वदेवसूरि
    - देवसूरि (विहारुक)
      - नेमिचन्द्रसूरि (प्रथम)
        - उद्योतनसूरि (द्वितीय)
          - आम्रदेवसूरि (प्रथम)
            - देवेन्द्रगणि अपरनाम नेमिचन्द्रसूरि (द्वितीय)

उद्योतनसूरि (द्वितीय) के समकालीन ५ आचार्य

- यशोदेवसूरि
- प्रद्युम्नसूरि
- मानदेवसूरि
- देवसूरि (सर्वदेवसूरि)
  - यशोभद्रसूरि-नेमिचन्द्रसूरि
    - मुनिचन्द्रसूरि
      - वादिदेवसूरि विक्रम संवत्‌ ११७४-१२२५
        - भद्रेश्वरसूरि (पट्टधर) वि० सं० १२२६
          - परमानन्दसूरि **खण्डन-मण्डन** नामक ग्रन्थ के प्रणेता
        - रत्नप्रभसूरि वि० सं० १२३८ में **उपदेशमालावृत्ति** की रचना
        - विजयदेवसूरि
      - मानदेवसूरि
        - जिनदेवसूरि
          - हरिभद्रसूरि वि० सं० ११८५ में **क्षेत्रसमासवृत्ति** की रचना
      - अजितदेवसूरि
        - हेमचन्द्रसूरि वि० सं० ११८० में **नेमिनाभेयकाव्य** की रचना
        - विजयसिंहसूरि
          - सोमप्रभसूरि वि० सं० १२४१ में **कुमारपालप्रतिबोध** की रचना
- अजितदेवसूरि

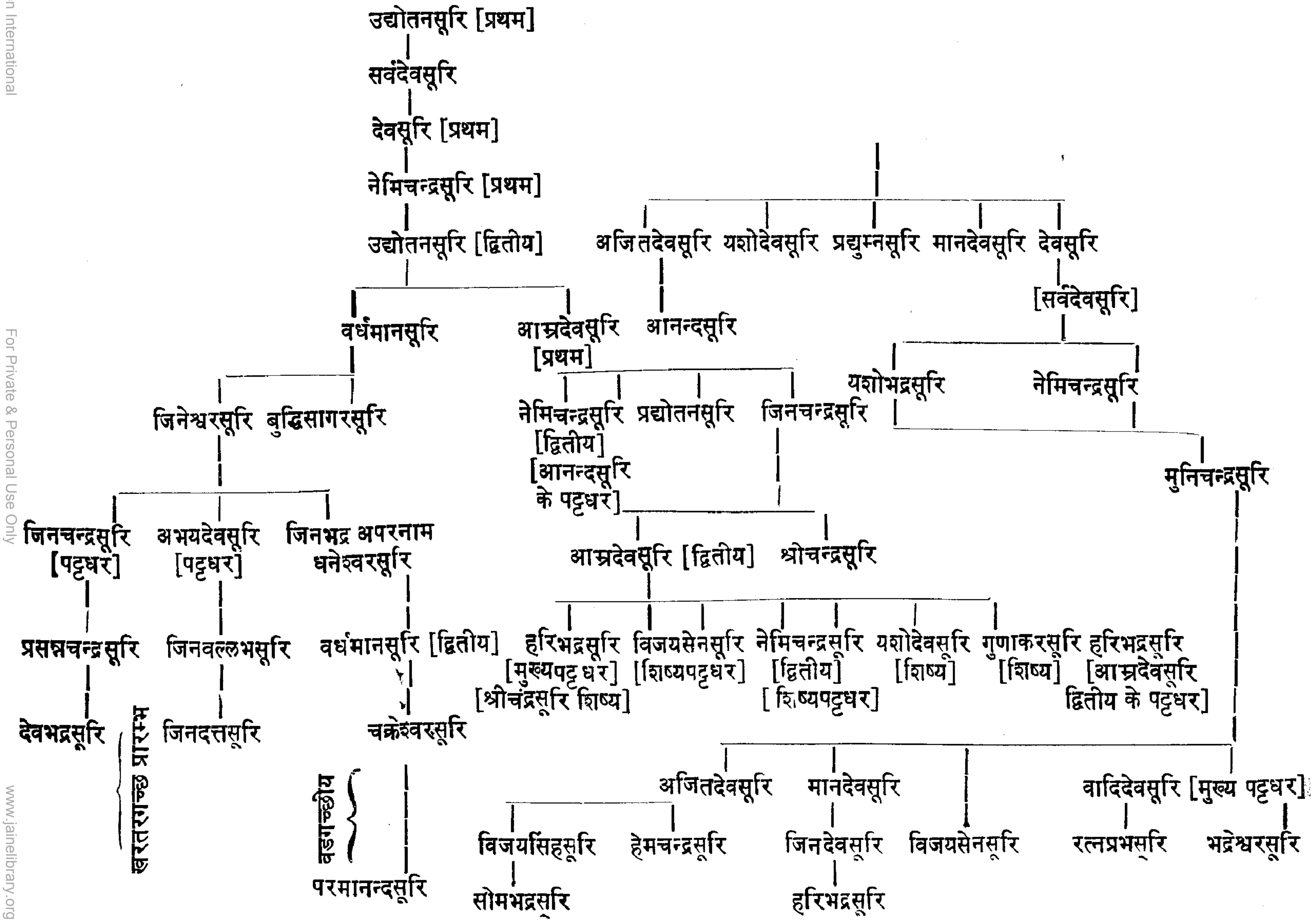
तालिका नं० ३

चन्द्रकुल (चन्द्रगच्छ) के आचार्यों का विद्यावंशवृक्ष

- उद्योतनसूरि
  - वर्धमानसूरि — उपदेशपद [हरिभद्र] टीका, उपदेशमाला बृहद्टीका, उपमितिभवप्रपंचनामसमुच्चय आदि ग्रन्थों के प्रणेता; वि० सं० १०८८ में आबू स्थित विमलवसही में प्रतिमा प्रतिष्ठापक
    - जिनेश्वरसूरि — प्रमालक्षण [सटीक], पञ्चलिंगीप्रकरण, निर्वाणलीलाकथा, वीरचरित्र, हरिभद्रसूरि के अष्टकों पर टीका, षटस्थानप्रकरण, कथाकोषप्रकरण आदि ग्रन्थों के प्रणेता
      - जिनचन्द्रसूरि [पट्टधर] संवेगरंगशाला के रचनाकार [वि० सं० ११२५]
      - अभयदेवसूरि [पट्टधर]
        - प्रसन्नचन्द्रसूरि
          - देवभद्रसूरि
            - चन्द्रगच्छीय
        - जिनवल्लभसूरि (खरतरगच्छ प्रारम्भ)
          - जिनदत्तसूरि
        - वर्धमानसूरि — [अभयदेवसूरि के पट्टधर] वि० सं० ११४० में मनोरमाकहा, वि० सं० ११६० में आदिनाथचरित्र
          - चक्रेश्वरसूरि (बृहद्गच्छीय) [वि० सं० ११८७-१२८८ अभिलेखानुसार]
            - परमानन्दसूरि (बृहद्गच्छीय) वि० सं० १२१४ [अभिलेखानुसार]
      - जिनभद्र अपरनाम धनेश्वरसूरि — सुरसुन्दरीकहा [वि० सं० १०९५]
    - बुद्धिसागरसूरि [वि० सं० १०८० में पञ्चग्रंथीव्याकरण की रचना]

तालिका नं० ४

वडगच्छीय वंशावली और चन्द्रगच्छीय वंशावली के परस्पर समायोजन से निर्मित विद्यावंशवृक्ष



नाट्यदर्पण पर अभिनवभारती का प्रभाव

काजी अञ्जुम सैफ़ी

आचार्य अभिनवगुप्त के अतुलनीय ज्ञान एवं अद्वितीय मेधा की प्रतीक अभिनवभारती स्वयं टीका होते हुए भी प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण विवेचन के कारण स्वतन्त्र नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। निःसन्देह रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण की रचना से पूर्व उसका सम्यक् आलोडन किया है। इसी कारण उसकी विवेचन-पद्धति, तथ्यों, मन्तव्यों और विचारों का अत्यधिक प्रभाव नाट्यदर्पण पर परिलक्षित होता है।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि सम्पूर्ण नाट्यदर्पण में कहीं भी अभिनवभारती का नाम प्राप्त नहीं होता है। 'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में मात्र एक स्थल पर आचार्य अभिनव गुप्त की नामतः आलोचना प्राप्त होती है[1]। इससे इस तथ्य की भी प्रतीति होती है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्वग्रन्थलेखन में स्वतन्त्र ग्रन्थ-लेखन की परम्परा का निर्वाह किया है, किसी का अन्धानुकरण नहीं किया। इसलिये अनेक स्थलों पर उन्होंने तथ्यों को नवीन रूप में परिभाषित और प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। ऐसे अवसरों पर सामान्यरूपेण प्राचीन परम्परा और स्वयं से भिन्न मत रखने वाले आचार्यों के विचारों का भी उन्होंने निर्देश किया है। इसके लिये उन्होंने 'केचिद्' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इसी शैली में कतिपय ऐसे मन्तव्यों का भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सङ्केत किया है, जो अभिनवभारती में भी प्रस्तुत किये गये हैं। नाट्य-दर्पण में ऐसे उद्धरण निम्नलिखित हैं—

नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
१. अन्ये तु कार्यार्थमसह्यस्याप्यर्थस्य सहनं छादनमामनन्ति। विवृत्ति पृ० ८४	·········तेन दुष्टोऽप्यर्थोऽपमानेन बहुमतीकृतः। तदपमानकलङ्कापवारणाच्छादनमिति। ना० शा० भाग–३ पृ० ५५-५६।
२. अपरे तु क्रोधादेः प्राप्तस्य शमनं द्युतिमामनन्ति। पूर्वोक्त पृ० १०९	सामर्थ्यात्प्रशमनोयस्य क्रोधादेरर्थस्य प्राप्तस्यापि यत्प्रशमनं सा द्युतिः। पूर्वोक्त पृ० ५८।
३. केचिदस्य द्वादशनेतृकत्वमाम्नासिषुः। पूर्वोक्त पृ० १०९	यथा समवकार इति द्वादशेत्यर्थः। पूर्वोक्त भाग-२ पृ० ४४४।
४. केचित् पुनरल्पाक्षरं गायत्र्यादिकमर्धसम-विषमादिकं चात्र पद्यं मन्यन्ते। पूर्वोक्त पृ० १११	उष्णिक् सप्तभिः गायत्री षड्भिः बन्धकुटिलानि विषमार्धसमानि तान्यत्र समवकारे सम्यग्योज्यानीति। पूर्वोक्त पृ० ४४१।

१. विवृति ना० द० पृ० २५।

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में अन्य आचार्यों के मतों को विपुल सङ्ख्या में प्रदर्शित किया है। अभिनवभारती में भी इसी रूप में विविध विचारधाराओं का उल्लेख प्राप्त होता है। नाट्यदर्पण में प्रदर्शित अनेक मत ऐसे हैं जो अभिनवभारती में भी प्राप्त होते हैं। वस्तुतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में प्रदर्शित विभिन्न मत-मतान्तरों का पर्याप्त अंश अभिनवभारती से प्राप्त किया है। इनमें से कुछ मत अभिनवभारती के पाठ-भेद के रूप में भी प्राप्त होते हैं। नाट्यदर्पण में उल्लिखित ऐसे मतों का जो अभिनवभारती में भी निर्दिष्ट हैं—हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं—

नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
१. केचित् तु मुखादयः सन्धयोऽवस्थाश्च यत्र पृथक्-पृथक् सङ्क्षेपतः पुनरुल्लिङ्ग्यन्ते, तं निर्वहणसन्धिमाहुः। विवृत्ति पृ० ५१	अत्र केचिमून् सर्वान् सन्धीनवस्थापञ्चकनिर्वहणे पृथग्वृत्त्या योज्यमानानिच्छन्ति। ना० शा० भाग-३ पृ० २९।
२. अन्ये तु विपदां शमनं करणमाहुः। पूर्वोक्त पृ० ५६	अन्ये तु विपदां शमनं करणमाहुः। पूर्वोक्त पृ० ४१।
३. अन्ये तु वर्णानां ब्राह्मणादीनां यथासम्भवं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वैकत्र मीलनं वर्णसंहारमाचक्षते। पूर्वोक्त पृ० ६५	यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदफलत्वादनादृत्यमेव। पूर्वोक्त पृ० ४७।
४. अन्ये तु 'चित्रार्थं रूपकं वचः' इति पठन्ति। पूर्वोक्त पृ० ७४	अन्ये तु चित्रार्थमेव वचो रूपकमिति मन्यन्ते। पूर्वोक्त पृ० ४८।
५. अन्ये त्वस्य स्थाने युक्ति पठन्ति। पूर्वोक्त पृ. ९०	युक्तिरित्यन्ये इदमङ्गं व्यवहरन्ति। पूर्वोक्त पृ० ५६
६. केचिदन्यतमाङ्गानङ्गीकारेण द्वादशाङ्गमेवैतं सन्धिमिच्छन्ति, एवं गर्भसन्धिमपीति। पूर्वोक्त पृ० ९१	केचिदत्रान्यतममङ्गं नाधीयते, द्वादशाङ्गमेवैतत्सन्धिमाहुः। पूर्वोक्त पृ० ५६।
७. अन्ये तु—'स्वभाव शुद्ध-पाखण्डयादेश्चरितं प्रहस्यते, तत् सङ्कीर्णचरितविषयत्वात् सङ्कीर्णम्' इत्याहुः। पूर्वोक्त पृ० ११३	अन्ये त्वाहुः—येषां स्वभावत एव चरितं शिष्टमध्ये सभ्येतरतमत्वेन प्रहसानर्हं तदविशुद्धत्वात् सङ्कीर्णम्, तद्योगाच्च रूपकम्। पूर्वोक्त भाग-२ पृ० ४४८।
८. सङ्कीर्णमनेकाङ्कं केचिदनुस्मरन्ति। पूर्वोक्त पृ० ११३	प्रहसनस्याङ्कनियमानभिधानात् . शुद्धमेकाङ्कं सङ्कीर्णं त्वनेकाङ्कं वेश्यादिचरितसङ्ख्याबलादिति केचित्। पूर्वोक्त पृ० ४४९।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की शैली की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि उन्होंने विषयों को परिभाषित कर उनके स्पष्टीकरण के लिये एक अथवा अधिक उदाहरण तत्सम्बद्ध विविध ग्रन्थों से प्रस्तुत किये हैं। निश्चितरूपेण शुष्क शास्त्रीय नियमों के व्यावहारिक प्रदर्शन से विषय-बोधन में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। यहाँ भी उन्होंने अभिनवभारती की सामग्री का लाभ उठाया है, क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों को उन्होंने तत्-तत् प्रसङ्गों में अनेकशः स्वीकार कर नाट्यदर्पण में अनेक स्थलों पर प्रदर्शित किया है। अभिनवभारती पर आधारित नाट्यदर्पण के निम्न उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

विषय	नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
१. नाटक में दिव्य पात्र	पृ० २५	ना० शा० भाग-२ पृ० ४४१
२. वृत्तबन्धशिक्षा	„ ३०	„ पृ० ४२९
३. पताकास्थानक	„ ४०-४१	„ भाग-३ पृ० २०-२१
४. फलागम	„ ४७	„ पृ० ८
५. दैवायत्त फल में पुरुष व्यापार की गौणता से सम्बद्ध शङ्का।	„ ४७	„ „ ५८
६. मुखसन्धि	„ ४८	„ „ २४
७. प्रतिमुखसन्धि	„ ४९	„ „ २४-२५
८. निर्वहण सन्धि	„ ५१	„ „ २९
९. परिकर सन्ध्यङ्ग	„ ५३	„ „ ३८
१०. परिन्यास	„ ५३	„ „ ३८
११. समाहिति	„ ५४	„ „ ४०
१२. उद्भेद	„ ५५	„ „ ४१
१३. करण	„ ५६	„ „ ४१
१४. विलोभन	„ ५६	„ „ ३८
१५. भेद	„ ५७	„ „ ४२
१६. प्रापण	„ ५७	„ „ ३९
१७. विलास	„ ६१	„ „ ४२
१८. वर्ण संहृति	„ ६४	„ „ ४७
१९. नर्म	„ ६५	„ „ ४४
२०. नर्मद्युति	„ ६७	„ „ ४४
२१. सङ्ग्रह	„ ७२	„ „ ४९
२२. उदाहृति	„ ७५	„ „ ४८
२३. क्रम	„ ७६	„ „ ४९
२४. शङ्का	„ ७७	„ „ ५२
२५. आक्षेप	„ ७८	„ „ ५०
२६. अधिबल	„ ७९	„ „ ५१
२७. द्रव	„ ८२	„ „ ५३
२८. छादन	„ ८४	„ भाग-३ पृ० ५६
२९. शक्ति	„ ८८	„ पृ० ५३
३०. व्यवसाय	„ ९१	„ „ ५४
३१. सन्धि	„ ९२	„ भाग-३ पृ० ५७
३२. आनन्द	„ ९६	„ पृ० ५८
३३. विनय रहित वेश्या नायिका से युक्त प्रकरण	„ १०४	„ भाग-२ पृ० ४३३

विषय	नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
३४. वीथी	पृ० ११७	ना० शा० पृ० ४५९
३५. व्याहार	,, ११९	,, ,, ४५८
३६. त्रिगत	,, १२६	,, ,, ४५८
३७. असत्प्रलाप	,, १२७	,, ,, ४५६
३८. वाक्केली	,, १२८	,, ,, ४५६
३९. नालिका	,, १२९	,, ,, ४५५
४०. उद्घात्यक	,, १३२	,, ,, ४५४
४१. अवस्पन्दित	,, १३३	,, ,, ४५५
४२. आमुख	,, १३६	,, भाग-३ पृ० ९३
४३. आरभटी वृत्ति में विचित्र नेपथ्य एवं माया-शिर-दर्शन।	,, १४०	,, पृ० १०४
४४. आरभटी वृत्ति में विचित्र भाव कार्यान्तर।	,, १४१	,, ,, १०४
४५. आक्षेपिकी ध्रुवा	,, १७३	,, भाग-४ पृ० ३६०

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अभिनवभारती में प्रदर्शित उदाहरणों की विपुल सङ्ख्या का नाट्यदर्पण में उदारतापूर्वक प्रयोग किया गया है। अतः इस दृष्टि से भी रामचन्द्र गुणचन्द्र अभिनवगुप्त के ऋणी हैं।

तथ्यों के तार्किक विवेचन की दृष्टि से नाट्यदर्पण में यत्र-तत्र विविध शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस क्षेत्र में भी उस पर अभिनवभारती का स्पष्ट भाव परिलक्षित होता है। नाट्यदर्पण में अनेक ऐसी निरुक्तियाँ हैं, जिनका अभिनवभारती से पूर्ण साम्य है। दोनों ग्रन्थों में समान रूप में निर्दिष्ट ऐसे स्थल निम्नलिखित हैं—

नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
१. नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम्। विवृत्ति पृ० २५	...तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोल्लासनया हृदयं शरीरं चोपायव्युत्पत्तिपरिघट्टितया चेष्टया नर्तयति ....नाटकमिति। ना० शा० भाग-१ पृ० ४१३
२. स प्रसिद्धि प्राशस्त्य हेतुत्वात् पताकेव पताका। पूर्वोक्त पृ० ३९	...प्रसिद्धिप्राशस्त्ये सम्पादयति।...पताकावदुपयोगित्वादियं पताकेति चिरन्तनाः। पूर्वोक्त भाग-३ पृ० १५
३. अर्थः कर्म–करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च। पूर्वोक्त पृ० ३९	....अर्थः प्रयोजनमुपायश्च, कर्म-करणव्युत्पत्त्या। पूर्वोक्त पृ० १८-१९
४. ... प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी। विवृत्ति पृ० ४१।	प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति। ना० शा० भाग—३ पृ० १५।
५. स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखम्। पूर्वोक्त पृ० ४८।	प्रतिमुखं प्रतिराभिमुख्येन यतोऽत्र वृत्तिः। पूर्वोक्त पृ० २५।

नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
६. नर्मणो द्योतनं नर्मद्युतिः। पूर्वोक्त पृ० ६७	नर्म च सुतरां द्योतितं भवतीति नर्मद्युतिः। पूर्वोक्त पृ० ४४।
७. स उत्कर्षहरणादुदाहृतिः। पूर्वोक्त पृ० ७५	उत्कर्षमाहरतीत्युदाहरणम्। पूर्वोक्त पृ० ४८।
८. बुद्धिस्तत्र क्रमते, न प्रतिहन्यत इत्यर्थः। पूर्वोक्त पृ० ७६	बुद्धिर्हि तत्र क्रमते न प्रतिहन्यते। पूर्वोक्त पृ० ४९
९. सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनयेति द्रवः। पूर्वोक्त पृ० ७७	विद्रवति विलीयते हृदयं येनेति। पूर्वोक्त पृ० ५२।
१०. तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम्। पूर्वोक्त पृ० ८१	भिनत्ति यतो हृदयं ततस्तोटकम्। पूर्वोक्त पृ० ५१
११. मार्गाच्चलनम् (द्रवः) पृ० ८२	....द्रवणं चलनं मार्गादिति द्रवः। पूर्वोक्त पृ० ३३
१२. प्रकर्षेण रोच्यते....इति प्ररोचना। पृ० ९०	प्रकर्षेण रोचत इति प्ररोचना। पूर्वोक्त पृ० ५६
१३. आनन्दहेतुत्वादानन्दः। पृ० ९६।	तदानन्त(नन्द)हेतुत्वादानन्दः। पूर्वोक्त पृ० ५८
१४. डिमो डिम्बो विप्लव इत्यर्थः, तद्योगादयं डिमः। पृ० ११४	डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्यायाः, तद्योगादयं डिमः। पूर्वोक्त भाग—२ पृ० ४४३
१५. उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिर्जीवितं यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कितत्वादुत्सृष्टिकाङ्कः। पृ० ११५	उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कित इति तथोक्तः। पूर्वोक्त पृ० ४४६
१६. ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्थात्रेतीहामृगः। पृ० ११६	ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृगः। पूर्वोक्त पृ० ४४२
१७. विविधोऽर्थ आह्रियतेऽनयेति व्याहारः। पृ० ११७	व्याहारः विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन। पूर्वोक्त पृ० ४५८
१८. तदधिकबलसम्बन्धादधिबलम्। पृ० ११९	अधिबलसम्बन्धादधिबलम्। पूर्वोक्त पृ० ४५७
१९. वचनं तद् दुष्टार्थगर्भत्वाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव गण्डः। पृ० १२१	तद्वचनं दृष्टार्थगर्भत्वात्गण्ड इव गण्डः। पूर्वोक्त पृ० ४५८
२०. त्रिगतमनेकार्थगतम्। पृ० १२४	अनेकमर्थं गतमिति त्रिगतम्। पूर्वोक्त पृ० ४५८
२१. नाली व्याजरूपा प्रणालिका। पृ० १२९	नालिका प्रणालिका व्याजेत्यर्थः। पूर्वोक्त पृ०४५५
२२. मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम्। पृ० १२९	मृदवमिति मर्दनं मृत्परपक्षमर्दनेन स्वपक्षभवति रक्षतीति। पूर्वोक्त पृ० ४५७
२३. उद्घाते प्रश्नात्मके साधूद्घात्यम्। पृ० १३१	प्रश्नात्मके उद्घाते साध्विति यत्। ना० शा० भाग—२, पृ० ४५४
२४. अन्य कार्यावलगनादवलगितम्। पृ० १३२	अन्यकार्यावलगनादवलगितम्। पूर्वोक्त पृ० ४५४
२५. अवस्पन्दितं चक्षुःस्पन्दनादिवदन्तर्गतसूचनीयसम्भवात्। पृ० १३३	अवस्पन्दितं चक्षुःस्पन्दनादिवदन्तर्गतसूचनीयसम्भवात्। पूर्वोक्त पृ० ४५५

नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
२६. 'आङ्मर्यादायाम्' तेन मुखसन्धि सम्प्राप्य निवर्तते। पृ० १३६	मुखसन्धेर्निवर्तते यतः आङ्मर्यादायाम्। ना० शा० भाग—३ पृ० ९३
२७. प्रसादप्रयोजना प्रासादिकी। पृ० १७३	प्रसादयोजनः। प्रासादिकीं विधात्। पूर्वोक्त भाग—४ पृ० ३६
२८. विशेषेण दूषयन्ति विनाशयन्नि···विस्मारयन्तीति विदूषकाः। पृ० १७८	दूषयतीति विदूषकः····दूषयन्ति विस्मारयन्ति। पूर्वोक्त भाग—३ पृ० २५१-२५२

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में 'वेणीसंहार' की आलोचना करते हुए भानुमती के साथ दुर्योधन के रत्यभिलाष रूप विलास को तत्कालीन परिवेश में असङ्गत होने के कारण अनुचित कहा है।[1] इसी रूप में 'वेणीसंहार' की यह आलोचना आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा भी की गयी है।[2] रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार 'पुष्पदूषितक' में अशोकदत्त के कथन से नन्दयन्ती के चरित्र के सम्बन्ध में प्रदर्शित व्यलीक सम्भावना निर्वहण सन्धि पर्यन्त उपयोगी होने के कारण दोषपूर्ण नहीं है। निर्वासन के पश्चात् उस जैसी उत्तम प्रकृति की नायिका का अधम प्रकृति वाले शबर सेनापति के घर में निवास अवश्य ही दोषपूर्ण एवं अनुचित है।[3] इन्हीं तथ्यों के आधार पर 'अभिनवभारती' में भी 'पुष्पदूषितक' की आलोचना एवं समर्थन किया गया है।[4]

नाट्यदर्पण की विवृत्ति पर भी अभिनवभारती का अत्यधिक प्रभाव है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्वरचित विवृत्ति में विपुल मात्रा में अभिनव भारतीय के अंशों का समाहार किया है। कहीं उसके भावों, कहीं शब्दों, कहीं वाक्यों और कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण अनुच्छेद को ही यथावत् अथवा यत्किञ्चित् परिवर्तन सहित नाट्यदर्पण में ग्रहण कर लिया गया है। नाट्यदर्पण के अभिनवभारती से प्रभावित अंशों को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
१. यद्यपि समवकारे शृङ्गारत्वमस्ति, तथापि न तत्र कैशिकी। न खलु काममात्रं शृङ्गारः, किन्तु विलासोत्कर्षः, न चासौ रौद्रप्रकृतीनां नेतृणाम्। पृ० २४	नन्वेवं शृङ्गारयोगे काव्ये कैशिकीहीनता।····न कामसद्भावमात्रादेव कैशिकी सम्भवः, रौद्र प्रकृतीनां तद्भावात्। विलासप्रधानं यद्रूपं सा कैशिकी···· । ना० शा० भाग–२, पृ० ४४०-४४१.
२. इह ख्यातत्वं त्रिधा नाम्ना चेष्टितेन देशेन च। पृ० २४	····इह त्रिविधया प्रसिद्धया प्रसिद्धत्वं भवति, अमुक एवंकारी अमुत्रदेश इति। पूर्वोक्त पृ० ४११
३. नायिका तु दिव्याऽपि भवति यथोर्वशी, प्रधाने मर्त्यचरिते तच्चरितान्तर्भावात्। पृ० २५	नायिका तु दिव्याप्यविरोधिनी यथोर्वशीनायकचरितेनैव तद्वृत्तस्याक्षेपात्। पूर्वोक्त पृ० ४१२

---

१. ना० द० पृ० ६२।

२. अभि० भा० (ना० शा० भाग–३) पृ० ४२।

३. विवृत्ति ना० द० पृ० १०३।

४. अभि० भा० (ना० शा० भाग–२) पृ० ४३२।

नाट्यदर्पण	अभिनवभारती
४. अत्यन्तभक्तानामेवं नाम देवताः प्रसीदन्तीति देवताऽऽराधनपुरःसरमुपायानुष्ठानमाधेयमिति । पृ० २५	निरन्तर भक्ति भावितानामेवन्नामदेवताः प्रसीदन्ति, तस्माद् देवताराधनपुरस्सरमुपायानुष्ठानं कार्यमिति । पूर्वोक्त पृ० ४१२
५. इह तावत् न निसर्गतः किञ्चित् चरितं मुख्यमङ्गं वा, किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्यात्यन्तमुत्कर्षमभिप्रैति तत्फलमिष्टम् ।····रामप्रबन्धेषु हि सुग्रीवमैत्रीशरणागतविभीषणरक्षण·······सीताप्रत्यानयनादिषु सीताप्रत्यानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम् । पृ० २७	···न निसर्गतः किञ्चिदाधिकारिकम् । पूर्वोक्त भाग–३ पृ० २;····जगत्कण्टकरावणोद्धरणं शरणागतविभीषणरक्षणमित्याद्यपि हि प्रधानफले सीताप्रत्यानयनलक्षणे विवक्षिते न शक्यन्तरव्यापारसाध्यम्···· । पूर्वोक्त पृ० ३;····कविर्यत्फलमुत्कर्षेण विवक्षिते तत्प्रधानफलम् । पूर्वोक्त पृ० ४
६. प्रयत्नान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात् तापसवत्सराजे हि वत्सराजस्य मुख्याय कौशाम्बीराज्यलाभाय प्रवृत्तेनैव यौगन्धरायण-व्यापारेण प्रासङ्गिकं वासवदत्तासङ्गमपद्मावती प्राप्त्यादिकर्मापि साध्यते । पृ० २७	शक्त्यन्तरेऽपिपृथक् व्यापार्यमाणे तस्याप्याधिकारिकत्वमेव स्यात् ।····तापसवत्सराजे राज्यप्रत्यापत्तेः प्रधानफलत्वे वासवदत्तासङ्गमपद्मावती प्राप्त्यादौ क्रियान्तरानुपयोग एव मन्तव्यः । पूर्वोक्त पृ० ३
७. उपायस्वरूपापरिज्ञाने तद्विषयाणामारम्भादीनाम्····नैषामौद्देशिको निबन्धक्रमः····फलस्य मुख्यसाध्यस्य हेतव उपायाः । इह हेतुर्द्विधा अचेतनः···· चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च । उपकरणभूतो द्विधा स्वार्थसिद्धियुतः परार्थसिद्धिपरः । परार्थसिद्धिपरश्च पूर्वः पताका, अन्यः प्रकरीति । पृ० ३७	तदनभिधाने उपायादिस्वरूपापरिज्ञानात् प्रारम्भाद्यवस्थानाम्····यत्रार्थः फलं तस्य प्रकृतय उपाया फलहेतवः इत्यर्थः । तत्र जडचेतनतया द्विधाकरणम्.... । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च, अन्त्योऽपि द्विधा स्वार्थसिद्धिसहिततया परार्थसिद्धया युक्तः शुद्धयापि च, तत्राद्यो बिन्दुः द्वितीयः पताका तृतीयः प्रकरी ।····तासामौद्देशिकोक्तिवदुपनिबन्धक्रमनियम इत्यर्थः । पूर्वोक्त पृ० १२
८. गोपुच्छस्य च केशाः केचित्स्तोकमात्रयायिनः, केचिन्मध्यावधयः, केचिदंतव्यापिनः, एवं प्रबन्धवस्तून्यपि । यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठितः, मुखोपक्षिप्तो बाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे रत्नावलीप्राप्त्यादयश्च साररूपाः पदार्था अन्त इति । पृ० ३०	अन्ये तु यदा गोपुच्छे केचिद्वालाः ह्रस्वाः, केचिद्दीर्घाः ।····तद् यथारत्नावल्यां -प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव निष्ठित इत्यादि यावत् बाभ्रव्यवृत्तान्तो मुखोपक्षिप्तो निर्वहणनिष्ठां प्राप्तः । साररूपाश्च पदार्थाः पर्यन्ते कर्तव्याः । पूर्वोक्त भाग–२ पृ० ४२८-४२९
९. इत्यादि नायक-प्रतिनायकामात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो बीजोपन्यास । पृ० ३९	तत्रापि कचिन्नायकोद्देशेन कचित्प्रतिनायकाश्रयेणेत्यादिभेदैर्बहुधा भिद्यते । पूर्वोक्त भाग–३ पृ० १३

१०. ....परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति ....। सुग्रीव विभीषणादिर्हि रामादिनोपक्रियमाणो रामादेरात्मनश्चोपकाराय भवन् रामादेः प्रसिद्धिं प्राशस्त्यं च सम्पादयति। पृ० ३९	....परस्य प्रयोजनसंपत्तये भवदपि स्वप्रयोजनं सम्पादयति।...एवं सुग्रीवविभीषणप्रभृतिरपि रामादिनोपक्रियमाणे रामादेरात्मनश्चोपकाराय प्रभवमाने प्रसिद्धिप्रशस्त्यै सम्पादयतीति।.... पताकावदुपयोगित्वादियं पताकेति चिरन्तनाः। पूर्वोक्त पृ० १५
११. तावत्येव पताकानायकस्य स्वफलसिद्धिर्निबध्यते। निर्वहणसन्धावपि तत्फले निबध्यमाने तुल्यकालयोरुपकार्योपकारकत्वाभावात् न तेन प्रधानस्योपकारः स्यात्। सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाणो भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्य इति। पृ० ३९	....तावत्येव पताकानायकस्य स्वफलसिद्धिरूपनिबन्धनीया, सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाण आसीनोऽपि भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्यो न मुख्यत्वेन।....निर्वहणपर्यन्ते तत्फले क्रियमाणे तुल्यकालयोरुपकारकत्वाभावात् तेन प्रधानोपकारो न भवेत्। पूर्वोक्त पृ० १८
१२. अन्यस्मिन्नुपाये चिन्तिते सहसोपायान्तर प्राप्तिर्यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शङ्खचूडादप्राप्तवध्यपटस्य कञ्चुकिना वासोयुगलार्पणम्। पृ० ४०	अस्मिन्नुपाये चिन्तिते सहसोपायान्तरप्राप्ति यथा-नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शङ्खचूडाप्राप्तवध्यपटस्य कञ्चुकिना वासोयुगलार्पणम्। पूर्वोक्त पृ० २०
१३. यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के सीतां प्रति सुग्रीवस्य संदेशोक्तिः—'बहुनाऽत्र किमुक्तेन' ....।अत्र पारेऽपि जलधेरित्यतिशयोक्तिरपि सीतां प्रति तथैव वृत्तत्वात् प्रकृतसम्बद्धा। अत्र चातिशयोक्तिमात्राच्चिन्तितात् प्रयोजनादपरं तथैव सीताहरणं प्रयोजनं सम्पन्नमिति सामान्यलक्षणम्। पृ० ४०	यथा रामाभ्युदये तृतीयेऽङ्के सीतां प्रति सुग्रीवस्य संदेशोक्तिः—'बहुनात्र किमुक्तेन....।।' अत्रान्य प्रयोजने नातिशक्त्याशयेन प्रयुक्तेऽपि वचसि पारेऽपीत्यादिप्रकृतोपयोगातिशयात् पताकास्थानकम्। पूर्वोक्त पृ० २०
१४. उपायानुष्ठानस्यावश्यकर्तव्यादिना व्यवधाने सति नायक-प्रतिनायकामात्यदीनां यदनुसन्धानं ज्ञानमसौ ज्ञानविचारणफललाभोपायत्वाद् बिन्दुः। सर्वव्यापित्वाद् वा जले तैलबिन्दुरेव बिन्दुः।....केवलं बीजं मुखसन्धेरेव प्रभृति निबध्यते, बिन्दुस्तु तदनन्तरमिति। पृ० ४१	प्रयुज्यते फलं यैरुपायानुष्ठानैः तेषामितिवृत्तवशादवश्यकर्तव्यतादिभिर्विच्छेदेऽपि सति यदनुसन्धानात्मकं प्रधाननायकप्रतं सन्धिद्रव्यज्ञानं बिन्दु, ज्ञानविचारणं फललाभोपायत्वात्। पूर्वोक्त पृ० १३;....तैलबिन्दुवत् सर्वव्यापकत्वादपि बिन्दुः। बीजं च मुखसन्धेरेव प्रवर्त्यात्मानमुन्नेषयति बिन्दुस्तदनन्तरमिति विशेषोऽनयोः.... । पूर्वोक्त पृ० १४
१५. प्रधाननायक-पताकानायक - प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोत्क्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-	प्राज्ञैः प्रधाननायकपताकानायकप्रकरीनायकैश्चेतनरूपैः....सम्पूर्णतादायी पूर्वपरिगृहीतस्य प्रधानस्य बीजाख्योपायस्य फलम् आरभत इत्यारम्भ शब्दवाच्यो द्रव्य क्रियागुणप्रभृतिः सर्वोऽर्थः सहकारी

सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रिया-प्रभृतिः सर्वोऽर्थश्चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम् । पृ० ४२	कार्यमित्युच्यते, चेतनैः कार्यते फलमिति व्युत्पत्त्या ....तेन जनपदकोश दुर्गादिक व्यापार वैचित्र्यंसामाधुपायवर्गं इत्येतत्सर्वं कार्येऽन्तर्भवति । पूर्वोक्त पृ० १६.
१६. ....बाहुल्यं प्राधान्यं वा निबन्धनीयम् । पृ० ४२	....प्रधानत्वेन बाहुल्येन निबन्धनीयम् । पूर्वोक्त पृ० १६.
१७. पञ्चानामवश्यम्भावमाह । ....उद्देशोक्तक्रमेणैव निबध्यन्ते ।....प्रेक्षापूर्वकारिणां हि प्रथमारम्भस्ततः प्रयत्नस्ततः सम्भावना ततो निश्चयस्ततः फलप्राप्तिरित्ययमेव क्रम इति । पृ० ४४	उद्देशक्रमेणैव प्रयोक्तृभिः कविभिः निबन्धनीयतया ज्ञातव्याः । ....चावश्यंभाविक्रमत्वमासामुच्यते । न हि प्रेक्षापूर्वकारिणोऽवस्थान्तरासम्भावनायां प्रारम्भ उचितो भवति, तत् प्रारम्भश्चेदुत्तरोत्तरावस्थाप्रसर एव । पूर्वोक्त पृ० ६.
१८. तदर्थमौत्सुक्यमुपायविषयमनेनोपायेनैतत् सिध्यतीति स्मरणोत्कण्ठाऽऽदिकर्म तदनुगुणो व्यापारश्चोभयमारम्भः । पृ० ४४	....यदौत्सुक्यमात्रं तद्विषयस्मरणोत्कण्ठानुरूपं, अनेनोपायेनैतत् सिद्ध्यतीति,....प्रारम्भः । पूर्वोक्त पृ० ६.
१९. मात्रशब्देन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयश्च व्यवच्छिद्यते । पृ० ४५	तस्यकार्यान्तरयोगः प्रतिबन्धकवारणं च मात्रपदेनावधारितम् । पूर्वोक्त पृ० ७.
२०. ....निश्चयो नियता फलव्यभिचारिण्याप्तिः । पृ० ४६	....नियतां नियन्त्रितां फलव्यभिचारिणीं पश्यति तदा नियतफलप्राप्तिर्नामावस्था । पूर्वोक्त पृ० ७.
२१. इह च तावत् पुरुषकारमात्राभिनिवेशिनां दैवमपाकुर्वतां नास्तिकानां दैवबहुमानव्युत्पत्तये पुरुषकारोऽप्यफलस्तदभावोऽपि सफल इति दर्शनीयम् । पृ० ४७	पुरुषकारमात्राभिमानिनां दैवमवजानानां चार्वाकादितमेमधुषां, स दैवबहुमान व्युत्पत्तये हि पुरुषकारोऽप्यफलः, तदभावोऽपि सफलः प्रदर्शनीयः....। पूर्वोक्त पृ० ८.
२२. अपरथा परतः प्राप्तमपि फलं नाङ्गीकुर्यादिति । पृ० ४७	अपरथा परतः प्राप्तमपि फलं नाङ्गीकुर्यात् । पूर्वोक्त पृ० ९.
२३. महावाक्यार्थस्यांशा भागाः परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्त इति सन्धयः । पृ० ४८	महावाक्यार्थरूपस्य....तेनार्थावयवा सन्धीयमानाः परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति । पूर्वोक्त पृ० २३.
२४. प्रारम्भावस्थाभावित्वात् प्रधानवृत्तस्य भागो मुखमिव मुखम् ।....प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान् मुखसन्धिरित्यर्थः । यथा रत्नावल्यां प्रथमोऽङ्कः । अत्र हि सागरिका-राजदर्शनरूपे अमात्यप्रारम्भविषयीकृतेऽर्थराशौ अमात्ययौगन्धरायणस्य पृथ्वीसाम्राज्यविजिगीषोर्वीरः, वत्सराजस्य वसन्तविभावः शृङ्गारः, पौर-	प्रागारम्भभावित्वान्मुखमिवमुखम् । प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्रास्वाद आपतितः तावान् मुखसन्धिः । पूर्वोक्त पृ० २३; यथा रत्नावल्यां प्रथमोऽङ्कः, तथा हि आमात्यस्य वीरो, वत्सराजस्य शृङ्गाराद्भुतौ, ततः शृङ्गार इति इयानयं सागरिकाया राजदर्शनेऽमात्यप्रारम्भविषयीकृतेऽर्थराशिरुपयोगीति मुखसन्धिः । पूर्वोक्त भाग-३ पृ० २४.

प्रमोदावलोकनाददद्भुतः, ततः उद्यानगमनादारभ्य पुनः श्रृङ्गारः इति । पृ० ४८

२५. ···स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखम् । पृ० ४८

····प्रतिमुखं प्रतिराभिमुख्येन यतोऽत्र वृत्तिः । पूर्वोक्त पृ० २५.

२६. ह्यमात्येन सागरिकाचेष्टितरूपं बीजं मुखसन्धौ न्यस्तं वसन्तोत्सव-कामदेवपूजाऽऽदिना तिरोहितत्वादीषल्लक्ष्यम् । तस्य च सुसङ्गतारचित-राज-सागरिकी-समागम-नेन द्वितीयाङ्के उद्घाट इति । पृ० ४९

····अमात्येन सागरिकाचेष्टितं वसन्तोत्सवकामदेव पूजादिना तिरोहितं नष्टमिव····सुसङ्गतारचित-राजतत्समागमपर्यन्तं काव्यं द्वितीयाङ्कगतं प्रतिमुखसन्धिः । पूर्वोक्त पृ० २४-२५.

२७. उत्पत्त्युद्घाटन—दशाद्वयाविष्टस्य बीजस्योन्मुख्यं फलजननाभिमुख्यं तद्वान् । पृ० ४९

उत्पत्त्युद्घाटन दशाद्वयाविष्टस्य बीजस्य यत्रोद्भेदः फलजननाभिमुख्यत्वं स गर्भ । पूर्वोक्त पृ० २५.

२८. अत्रमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानम् । पृ० ४९

अवमर्शे त्वप्राप्तेरेव प्रधानता····। पूर्वोक्त पृ० २६.

२९. जनक-विघातकयोस्तुल्यबलत्वात् सन्देहात्मकत्वम्····नियतफलाप्तिरूपत्वम् । 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति' इति····। पृ० ५०.

····जनक विघातकयोस्तुल्यबलत्वात् कथं न संदेहः ।····नियता फलप्राप्तिरुच्यते । श्रेयांसि बहुविघ्नानीति···· । पूर्वोक्त पृ० २७

३०. यथा रत्नावल्यामैन्द्रजालिकप्रवेशात् प्रभृत्यासमाप्तेरिति । पृ० ५१

उदाहरणं रत्नावल्यामैन्द्रजालिकप्रवेशात्प्रभृत्यासमाप्तेः । पूर्वोक्त पृ० २९.

३१. नृ-स्त्रियोः परस्परमीहा····। पृ० ६१

····प्रमदा पुरुषो या तदर्था या समीहा····। पूर्वोक्त पृ० ४२.

३२. य एव मुखे रस उपक्षिप्यते । ····कामफले च रूपके···प्रतिमुखे विलासेन स एव विस्तार्यते । ··यस्तु वेणीसंहारे भानुमत्या सह दुर्योधनस्य दर्शितो रत्यभिलाषरूपो विलास·, स नायकस्य तादृशेऽवसरेऽनुचितः । यदाह—सन्धि—सन्ध्यङ्गघटनं रसबन्धव्यपेक्षया । न तु केवल शास्त्रार्थस्थितिसम्पादनेच्छया ॥', इति । पृ० ६२

····एव हि रसो मुख उपक्षिप्तः । पूर्वोक्त पृ० ४३; कामफलेषु रूपकेषु प्रतिमुख एव ह्यास्थाफलत्वेन रतिरूपेण भाव्यम् ।····यस्तु वेणीसंहारे भानुमत्या सह दुर्योधनस्य दर्शितो विलासः, स नायकस्य तादृशेऽवसरेऽत्यनुचितः इति चिरन्तनैरेवोक्तम् । यथा सहृदयालोककारः—'सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसबन्धव्यपेक्षा । न तु कवलशास्त्रार्थस्थितिसम्पादनेच्छया । पूर्वोक्त पृ० ४२.

३३. दोषाच्छादनाय यत् पुनर्हसनं हास्यहेतुर्वाक्यं सा तस्य नर्मणो द्योतनं नर्मद्युतिः । यथा रत्नावल्याम्—····अत्र मौर्ख्यदोषंछादयितुं यद् विदूषकेणोच्यते, तद् राज्ञो हास्यहेतुत्वान्नर्मद्युतिः । पृ० ६७

दोषो येनोक्तेन प्रच्छादयितुमिष्यते तस्यापि हास्यजननत्वेन नर्म च सुतरां द्योतितं भवतीति नर्मद्युतिः । यथा च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के विदूषकः । ····अत्र हि मौर्ख्यदोषं छादयितुं यद्विदूषकेणोच्यते तद्राज्ञो हास्यजननमिति नर्मैव द्योतितं भवति । पूर्वोक्त पृ० ४४.

३४. अनियतो ह्याकारो रूपमुच्यते। पृ० ७३

····रूपमिति चानियता आकृतिरुच्यते। पूर्वोक्त पृ० ४८.

३५. निश्चयरूपत्वादेव चोहरूपाया युक्तेर्भिद्यते। पृ० ७४

····निश्चयात्मकत्वादूहः। पूर्वोक्त पृ० ४९.

३६. लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यः समुत्कर्षः समुत्कृष्टोऽर्थः, स उत्कर्षाहरणादुदाहृतिः। पृ० ७५

लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यत् सातिशयमुच्यते उत्कर्षमाहरतीत्युदाहरणम्। पूर्वोक्त पृ० ४८.

३७. भावस्य परोऽभिप्रायस्याथवा भाव्यमानस्यार्थस्योह प्रतिभाऽऽदिवशान्निर्णयो। ····बुद्धिस्तत्र क्रमते, न प्रतिहन्यत इत्यर्थः। पृ० ७६

भावस्य भाव्यमानस्य वस्तुनो भावनातिशये सत्यूहं प्रतिभावनादिबलात्····। बुद्धिर्हि तत्र क्रमते न प्रतिहन्यते। पूर्वोक्त पृ० ४९.

३८. भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्काऽपायकारकत्वसम्भावना, सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनयेति द्रवः। पृ० ७७

भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्का यदाशङ्कनं स विद्रवः, विद्रवति विलीयते हृदयं येनेति। पूर्वोक्त पृ० ५२.

३९. ····प्रकर्षेणाविर्भावनमाक्षेपः।····अभिप्रायस्य बहिष्कर्षणमाक्षेपः। यथा रत्नावल्यां वासवदत्तायामेव सागरिकेति राज्ञा विदूषकेण च परिगृहीतायां तदुक्तिषु-प्रियसागरिके! शीतांशुर्मुखमुत्पले····। पृ० ७८

····अभिप्रायस्य हि तत्राक्षेपो बहिः कर्षणम्। वासवदत्तायामेव सागरिकेति राज्ञा विदूषकेण च परिगृहीतायां तदुक्तिषु सागरिके शीतांशुर्मुखमुत्पले इत्यादिषु। पूर्वोक्त पृ० ५०.

४०. परस्परवञ्चनप्रवृत्तयोर्यस्य बुद्धिसहायादिबलाधिक्येन यत्कर्मेतरमभिसन्धातुं समर्थं, तत् कर्म छलविषये अधिक(बल)-छलयोगादधि(बल)छलम्। यथा रत्नावल्याम्—'किं पद्मस्य····।' अत्र सागरिकावेषं धारयन्ती विदूषकबुद्धिदौर्बल्याद् वासवदत्ता राजानमभिसन्धत्ते। पृ० ७९

परस्परवचनप्रवृत्तयोर्यस्यैवाधिकं (कर्म) सहाय बुद्ध्यादोनबलम्बयति स एव तमतिसन्धातुं वञ्चयितुं समर्थ इति तदिदं कर्माधिबलम्। यथा—सागरिकावेषं धारयन्ती वासवदत्ता विदूषकबुद्धिदौर्बल्याद्राजानमतिसंधत्ते किं पद्मस्य····' इत्यादि श्लोकान्तमधिबलम्। पूर्वोक्त पृ० ५१.

४१. क्रोध-हर्षादि-सम्भूतावेग-गर्भितं वचनं तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम्। पृ० ८१

आवेगगर्भं यद् वचनं तत्तोटकम्। स चावेगो हर्षात्, क्रोधात् अन्यतोऽपि वा। भिनत्ति यतो हृदयं ततस्तोटकम्। पूर्वोक्त पृ० ५१.

४२. व्यतिक्रमो मार्गाच्चलनम्। यथा रत्नावल्यां सन्निहितं भर्तारमवगणय्य विदूषकस्य सागरिकायाश्च वासवदत्तया बन्धनमिति। पृ० ८२

यथा भर्तृसंनिधानेऽपि विदूषकस्य सागरिकायाश्च वासवदत्तया बन्धनम्।····द्रवणं चलनं मार्गादिति द्रवः। पूर्वोक्त पृ० ५३.

४३. यद्यपि श्रमोद्वेग-वितर्कादयो व्यभिचारि-मध्ये लक्षयिष्यन्ते, तथापि रसविशेष-पुष्टयर्थं सन्ध्यङ्गावसरेऽपि लक्ष्यन्त इति। पृ० ८६

यद्यपि श्रमोद्वेग वितर्कलज्जाप्रभृतयो व्यभि-चारिवर्गे···सत्यवसरेऽवश्यप्रयोज्याः····सन्ध्यङ्गत्वे-नोक्ता मन्तव्याः। पूर्वोक्त पृ० ५५.

४४. क्रुद्धस्य प्रसादनमनुकूलनं बुद्धि-विभवादि-शक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः। पृ० ८८

विरोधिनः कुपितस्य प्रशमः प्रसादनं शक्तिः बुद्धि-विभवादिशक्तिकार्यत्वात्। पूर्वोक्त पृ० ५३.

४५. अथनिर्वहणसन्धेरङ्गानि लक्षयितुमुद्दि-शति। पृ० ९१

अथ निर्वहणसन्धावुद्देशक्रमेणाङ्गानि लक्षयितुं प्रक्रमते। पूर्वोक्त पृ० ५७.

४६. स्वापराधोद्घट्टनं परिभाषा। पृ० ९३

····अन्योन्यापराधोद्घट्टनं वचनम्। पूर्वोक्त पृ० ५८.

४७. प्रकारशतैर्वाञ्छितस्यार्थितस्य सामस्त्येन आगमः प्राप्तिरानन्दहेतुत्वादानन्दः। पृ० ९६

अर्थितस्य तथेति प्रकारशतै प्रार्थितस्य सम्यगपुन-र्वियोगवद्यदागमनं तदानन्तहेतुत्वादानन्दः। पूर्वोक्त पृ० ५८.

४८. ····इतिवृत्तस्याविच्छेदश्च रसपुष्ट्यर्थः, विच्छेदे हि स्थाय्यादेस्त्रुटित्वात् कुतस्त्यो रसास्वादः ? पृ० १०२

इति वृत्ताविच्छेदोऽपि हि रसस्यैव पोषकः, अन्यथा विच्छेदे स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् क्व रस-वार्ताः। पूर्वोक्त भाग-३ पृ० ६२.

४९. योग्यतां च रसनिवेशैकव्यवसायिनः प्रबन्धकवयो विदन्ति, न पुनः····मुक्तक-वयः। पृ० १०२

योग्यतां च कविरेव जानाति, न च मुक्तक कविः। पूर्वोक्त पृ० ६२.

५०. एवं च पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दा-कर्णनेन समुद्रदत्तस्य नन्दयन्त्यां या व्य-लोकशङ्कोपनिबद्धा, सा न दोषाय। पर-पुरुषसम्भावनाया निर्वहणं यावदत्रोपयो-गित्वात्।····पुत्रे दूरस्थिते निर्वासनं, निर्वा-सितायाश्च शबरसेनापतिगृहेऽवस्थानमनु-चितमेव।····वणिगमात्यविप्राश्च स्ववर्गा-पेक्षयैवोत्तमाः, न राजापेक्षया।········ प्रकरणे हि नायको व्युत्पादस्य। पृ० १०३

एतदेवाभिमन्यमानेन पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादि-शब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य शङ्का योपनिबद्धा सा न दोषाय निर्वहणान्तोपयोगिनो हि नन्दयन्तीनि-र्वासनं तस्याश्च गृहान्तरावस्था। इदमेव मुख-सन्धौ मूलं परपुरुषसम्भावनामूलत्वात्। एवमन-भ्युपगमे तु श्वशुरेण बध्वा असन्निहिते पुत्रे निर्वासनं शबरसेनापतिगृहेऽवस्थानमित्युत्तमप्रकृ-तीनामनुपपन्नमेव। तस्मात् स्ववर्गापेक्षयेदमुत्तम-त्वमद्यतनेराजोचितानामुत्तमप्रकृतीनां वणिङ्मात्रे ····। प्रकरणे हि तादृश एव नायकः।····व्युत्पा-द्यश्च। पूर्वोक्त भाग-२ पृ० ४३२.

५१. तथा च वेश्यायां नायिकायां विनयरहित-मपि चेष्टितं निबध्यते। यथा विशाखदेव-कृते देवीचन्द्रगुप्ते माधवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तस्योक्तिः····। पृ० १०४

····आचारः कुलस्त्रियां विनयप्रधानः अन्यस्यां तद् विपरीतः। तथा च देवीचन्द्रगुप्ते वसन्तसेनामुद्-दिश्य चन्द्रगुप्तस्योक्तिः। पूर्वोक्त पृ० ४३३.

५२. तत्र कञ्चुकिस्थाने दासः। अमात्यस्थाने श्रेष्ठी। विदूषकस्थाने विटः। पृ० १०४	कञ्चुकिस्थाने दासः, विदूषकस्थाने विटः, अमात्यस्थाने श्रेष्ठीत्यर्थः। पूर्वोक्त पृ० ४३१.
५३. गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुलजैव स्त्री नायिकात्वेन वणिगादीनां निबन्धनीया····। पृ० १०४	····गार्हस्थ्योचिता वार्ता पुरुषार्थसाधकमितिवृत्तं न तत्र वेश्याङ्गना नायिकात्वेन निबन्धनीया। पूर्वोक्त पृ० ४३२.
५४. ····पूर्वकविकृतकाव्यादौ क्लृप्तं सत् समुद्रदत्ततच्चेष्टितादिवद् ग्राह्यम्। अथवा यदत्राकल्प्यं तत् पूर्वर्षिप्रणीतशास्त्रव्यतिरिक्तं बृहत्कथाऽऽद्युपनिबद्धं मूलदेवतच्चरितादिवदुपादेयम्। पृ० १०५	अनार्षमिति पुराणादिव्यतिरिक्तबृहत्कथाद्युपनिबद्धं मूलदेवचरितादि। आहार्यमिति पूर्वकविकाव्याद् वाहरणीयं समुद्रदत्तचेष्टितादि। पूर्वोक्त पृ० ४३०.
५५. तयोः प्रत्येकं प्रसिद्धयप्रसिद्धिभ्यां चतुर्भेदत्वान्नाटिकाऽपि चतुर्विधा। पृ० १०७	तथा हि देवी कन्या च ख्याताख्याताभेदेन चतुर्धा। पूर्वोक्त पृ० ४३६.
५६. नियुद्धं बाहुयुद्धम्, स्पर्धनं शौर्य-विद्या-कुल-धन-रूपादि-कृतः संहर्षः। पृ० १०९	नियुद्धं बाहुयुद्धं संघर्षः शौर्यविद्याकुलरूपादिकृता स्पर्धा। पूर्वोक्त पृ० ४४५.
५७. अत एवात्र गद्यं पद्यं चौजोगुणयुक्तम्। ·······सेनापत्यमात्यादि - दीप्तरसनायक - सम्पन्नः। पृ० १०९	दीप्तं काव्यामोजोगुणयुक्तम्। पूर्वोक्त पृ० ४४५; ····अपि त्वमात्यसेनापतिप्रभृतेर्दीप्तरसस्य···। पूर्वोक्त पृ० ४४४.
५८. यथा शाक्यानां स्त्रीसम्पर्को गर्हणीयो न चौर्यम्। पृ० ११३	यथा शाक्यानां स्त्रीसम्पर्कः प्रहसनीयो भवति, न चौर्यम्। पूर्वोक्त पृ० ४४९.
५९. अङ्कावताररूपाश्चात्राङ्का विधेयाः। चूलिकाऽङ्कमुखयोरपि युद्धादिवर्णने निबंधो भवत्येव। पृ० ११४	अङ्कावतार एव चात्र भवति। चूलिकाङ्कमुखयोस्त्वत्रापि युद्धादिवर्णने समुपयोगोऽस्त्येव। पूर्वोक्त पृ० ४४४.
६०. दैवोपालम्भात्मनिन्दाऽऽदिरूपानुशोचनात्मकं परिदेवितम्···। पृ० ११५	परिदेवितं दैवोपालम्भात्मनिन्दारूपमनुशोचनं यत्र। पूर्वोक्त पृ० ४४६.
६१. ते च यथासम्भवं स्त्रीविषया अन्यविषया वा। पृ० ११६	····यथायोगं स्त्रीविषयाणि अन्यविषयाणि····। पूर्वोक्त पृ० ४४२.
६२. शरीरिणि व्याजेन पलायनादिना····। पृ० ११६	व्याजमिति पलायनादि। पूर्वोक्त पृ० ४४२.
६३. शङ्कुकस्त्वधमप्रकृतेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाणादौ हास्यरसप्रधाने विटादेर्नायकत्वं प्रतिपादयन् कथमुपादेयः स्यादिति। ····द्वाभ्यां पात्राभ्यामुक्ति-प्रत्युक्ति–वैचित्र्यविशिष्टाभ्यामेकेन वा पात्रेणाकाशभाषितसमन्वितेन युक्ताः···। पृ० ११७	अधमप्रकृतेस्तु न नायकत्वमिति ध्रुवं प्रहसनकभाणकादौ किं ब्रूयात्, हास्यादिरसप्रधानत्वे ह्यधम एव नायकः। पूर्वोक्त पृ० ४५९; एकहार्यैरित्याकाशपुरुषभाषितैरित्यर्थः। द्विहार्येति उक्तिप्रत्युक्तिवैचित्र्येणेत्यर्थः। पूर्वोक्त पृ० ४५३.

६४. मिथः परस्परं जल्पे उक्ति-प्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे स्वपक्षस्य स्वाभ्युपगमस्य परस्परप्रज्ञोपजीवनबलात् स्थापना सुघटितत्वं क्रियते यत्र, तदधिकबलसम्बन्धादधिबलम् । पृ० ११९

यत्रोक्तिप्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे परस्परप्रज्ञानोपजीवनबलात्स्वपक्षसुघटितादधिबलसंबन्धादधिब - लम् । पूर्वोक्त पृ० ४५७.

६५. एतद् वचः सख्या भर्तृप्रत्यायनप्रयोजनेनोक्तं विदग्धजनस्य हास्यं श्वशुरादेर्वञ्चनां, सपत्न्या रोषं जनयतीति । पृ० १२६

एतद्वचनं सखी-संबन्धि भर्तृप्रत्यायनं प्रयोजनमुद्दिश्य प्रयुक्तं तस्य पत्न्या अपि संबन्धिनां छलं विदग्धजनस्य हास्यं सपत्न्या वचनं रोषं जनयति । पूर्वोक्त पृ० ४५८.

६६. ····प्रत्यसतोऽसाधुभूतस्य प्रलपनम् असत्प्रलापः । पृ० १२७

असतोऽसाधुभूतस्य वस्तुनः प्रलपनमस्मिन्नित्यसत्प्रलाप इति । पूर्वोक्त पृ० ४५६.

६७. यथा वा व्यसनिना राजपुत्रेण किं सुखमिति पृष्टे मन्त्रिपुत्रेणोच्यते—'सर्वदा यो.... ।' पृ० १२७

····यथा व्यसनिना राजपुत्रेण किं सुखमिति पृष्ठे तेनोत्तरं दीयते—'सर्वथा यो···· ।' पूर्वोक्त पृ० ४५६.

६८. परविप्रतारणकारि यदुत्तरं हास्याय हास्यनिमित्तं निगूढार्थत्वाद् भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका । पृ० १२९

परवितारणकारि यदुत्तरं, अत एव हास्ययुक्ता सा नालिका प्रणालिका व्याजेत्यर्थः । पूर्वोक्त पृ० ४५५.

६९. गुणानां दोषत्वं, दोषाणां च गुणत्वं येनोत्तरेण व्यत्ययो विपर्यासः क्रियते, तन्मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम् । पृ० १२९

गुणानां दोषत्वं दोषाणां वा गुणत्वं यत्र क्रियते तन्मृदवम् । ···मृदवमिति मर्दनं मृत्परपक्षमर्दनेन स्वपक्षभवति रक्षतीति । पूर्वोक्त पृ० ४५७.

७०. ····उद्घाते प्रश्नात्मके साधूद्घात्यम् । यदा प्रष्टा विवक्षितोत्तरदानसमर्थः, किन्तु यन्ममाभिप्रेतं तद्युक्तमयुक्तं वेत्यभिसंधाय पृच्छति, प्रतिवक्ता चोचितमभिधत्ते तदोद्घात्यमित्यर्थः । पृ० १३१-१३२

तत्र यदा विवक्षितमुत्तरं दातुं शक्तोऽयं स्यादिति यन्मम मनसि वर्तते तदेव वक्ति नवेत्येवमादिना निमित्तेन यदा पृष्टैव प्रतिवचनं वैचित्र्यमभिसन्धाय पृच्छति, प्रतिवक्तोचितमभिधत्ते तदा तदुत्तरमुद्घात्यकम् । प्रश्नात्मके उद्घाते साध्विति यत् । पूर्वोक्त पृ० ४५४.

७१. विवक्षितप्रयोजनस्यान्यकार्यकरणव्याजेन सम्पत्तिर्यत्र तदन्यकार्यावलगनादवलगितम् । पृ० १३२

यत्रोत्तरे दीयमाने अन्यानुसन्धानपूर्वकेऽप्यन्यत्कार्यं सिध्यति तदान्यकार्यावलगनादवलगतम् । पूर्वोक्त पृ० ४५४.

७२. पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः । पृ० १३५

तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः । पूर्वोक्त पृ० ४५२.

७३. कायिक्यो हि व्यापृतयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सम्भिद्यन्ते । पृ० १३५

कार्यचेष्टा अपि हि मानसीभिः सूक्ष्माभिश्च वाचिकीभिश्चेष्टभिर्व्याप्यन्त एव । पूर्वोक्त भाग-३ पृ० ९१.

७४. वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिस्पन्दाविना-भाविन्य एव····प्राणादिरूपकायपरिस्पन्दा-भावे मनोव्यापृत्यनुपलक्षणाच्च। पृ० १३५

मानस्यापि वाचिक्यपि चेष्टा अवश्यं सूक्ष्मं कालं परिस्पन्दमन्दप्राणव्यापाररूपं नाभिवर्तते। पूर्वोक्त ना० शा० भाग-३ पृ० ९१.

७५. आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। पृ० १३५

····ताभ्योऽपि वाच्यरूपत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। पूर्वोक्त भाग-२ पृ० ४०८

७६. तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। पृ० १३५

वृत्त्यङ्गान्यवि सर्वकाव्येषु सन्त्येव।····यद्यपि सर्वेषामभिनेयानभिनेयानां काव्यानां वृत्तयः। पूर्वोक्त पृ० ४०८.

७७. ···न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद् वर्णनीयमस्ति। पृ० १३५

न च क्रियाशून्यः कश्चिदप्यंशोऽस्ति।····तेषु च न व्यापारत्रयशून्यः कश्चिदपि काव्यांशोऽस्ति। भाग-३, पृ० ८७.

७८. मूर्च्छादौ तु व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि···। पृ० १३५

मूर्च्छादौ तु व्यापाराभावे वृत्त्यभाव एव। पूर्वोक्त भाग-२ पृ० ४५२.

७९. 'आङ् मर्यादायाम्' तेन मुखसन्धि सम्प्राप्य निवर्तते। 'ईषदर्थे वा' तत ईषन्मुखं मुखसन्धिसूचकत्वादारम्भः। प्रस्तावना शब्देनाप्येतदुच्यते। पृ० १३६

मुखसन्धेर्निवर्तते यतः, आङ्मर्यादायाम्, यदि वात्रामुखं प्रारम्भमीषन्मुखं वा प्रस्ताव्यतेऽनयेति। पूर्वोक्त भाग-३ पृ० ९३.

८०. स्पष्टोक्तिस्त्वेवं यथा नागानन्दे नाटयितव्ये'····। पृ० १३६

स्पष्टोक्तिप्रत्युक्तिभिः, यथा नागानन्दे 'नाटयितव्ये····।' पूर्वोक्त पृ० ९३.

८१. सत् सत्त्वं प्रकाशस्तद् यत्रास्ति तत् सत्त्वम्मनस्तत्र भवा····। पृ० १३९

सत्सत्त्वं प्रकाशः तद्विद्यते यत्र तत्सत्त्वं मनः, तस्मिन् भवः। पूर्वोक्त पृ० ९६.

८२. आधर्षो वाचा न्यक्कारः। पृ० १३९

आधर्षणं वाचा न्यक्कारः। पूर्वोक्त पृ० ९७.

८३. ····सूत्रधारे तत्तुल्यगुणाकृतिस्थापक आमुखमनुतिष्ठति। पृ० १३९

एवं च यदा स्थापकोऽपि सूत्रधारतुल्यगुणाकारो···· आमुखं भवति। पूर्वोक्त पृ० ९३.

८४. दीप्ता रसा रौद्रादय औद्धत्यावेगादिहेतवः। पृ० १४०

दीप्तरसा रौद्रादयः उद्धताः।····क्रोधावेगाद्यास्ते····। पूर्वोक्त पृ० १०३.

८५. भय-हर्षातिशयाकुलितपात्रप्रवेशः। पृ० १४०

भयातिशयेन हर्षातिशयेन च क्षिप्रमेव प्रवेशनिर्गमौ····। पूर्वोक्त पृ० १०४.

८६. तत्र विचित्रं नेपथ्यं वेणीसंहारे अश्वत्थाम्नः।····मायाशिरोदर्शनं रामाभ्युदये। पृ० १४०

यथा मायाशिरोनिक्षेपे रामाभ्युदये चित्रं नेपथ्यम्, यथा वाश्वत्थाम्नः। पूर्वोक्त पृ० १०४.

८७. तथाहि अङ्गदेनाभिद्रूयमाणाया मन्दोदर्या भयम्, अङ्गदस्योत्साहोऽस्यैव रावणदर्शनेन

तत्रैव अङ्गदादभिद्रूयमाणाया मन्दोदर्या भयं, अङ्गदस्योत्साहः, ····रावणस्यातिक्रोधः, यस्तातेन

'एतेनापि सुरा जिताः' इत्यादि वदतो ह्रासः, 'यस्तातेन निगृह्य बालक इव प्रक्षिप्य कक्षान्ते' इति च जल्पतो जुगुप्सा ह्रास-विस्मयाः, रावणस्य रति-क्रोधौ। पृ०१४१

निगृह्य बालक इव प्रक्षिप्य कक्षान्तरे' इति वदतोऽङ्गदस्य जुगुप्सा-ह्रासविस्मयरसा....। पूर्वोक्त पृ० १०४.

८८. अनेन गृह-भृत्याद्युपमर्दनस्य ग्रहः।....गुणेष्वसूया मात्सर्यम्। द्रोहो जिघांसा दारादिखलीकार-विद्या-कर्म-देश-जात्यादि-निन्दा-राज्य-सर्वस्वहरणादिराधर्षः। पृ० १४८

आधर्षणं दारादिखलीकरणम्। अविक्षेपो देशजात्यभिजनविद्याकर्मनिन्दा। ....उपघातो गृह-भृत्याद्युपमर्दनम्।....अभिद्रोहो जिघांसा। मात्सर्यं गुणेष्वसूया। आदिग्रहणाद् राज्यापहरणादि। पूर्वोक्त भाग–१ पृ० ३२०.

८९. पराक्रमः परकीयमण्डलाद्याक्रमणसामर्थ्यम्। बलं हस्त्यश्व-रथ-पदाति-धन-धान्य-मन्त्र्यादिसम्पत्.... । न्यायः सामादीनां सम्यक्प्रयोगः। अनेनेन्द्रियजयो गृह्यते।....अनेन शत्रुविषये सन्तापकर्तृत्व प्रसिद्धिरूपः प्रतापो गृह्यते। पृ० १४९

सन्ध्यादिगुणानां सम्यक्प्रयोगो नयः। इन्द्रियजयो विनयः। बलं हस्त्यश्वरथपादातम्। पराक्रमः परकीयमण्डलाद्याक्रमेणावस्कन्दः।....प्रतापः शत्रुविषये सन्तापकारिणी प्रसिद्धिः। प्रभावोऽभिजनधनमन्त्रिसम्पत्। पूर्वोक्त पृ० ३२४-३२५.

९०. निष्ठेवः कफनिरसनम्। उद्वेगो गात्रधूननम्। पृ० १५०

निष्ठीवनं कफनिरासनम्। उद्वेजनं गात्रोद्धूननम्। पूर्वोक्त भाग–१ पृ० ३२९.

९१. इन्द्रजालं मन्त्र-द्रव्य-हस्तयुक्त्यादिनाऽसम्भवद्वस्तुप्रदर्शनम्। रम्यः सातिशयत्वेन हृद्योऽर्थः शिल्पकर्मरूप.... । पृ० १५०

इन्द्रजालं मन्त्रद्रव्यवस्तुयुक्त्यादिना असम्भववस्तुप्रदर्शनम्।....अतिशेत इत्यतिशयः।....यच्च शिल्पं कर्मरूपम्....। पूर्वोक्त पृ० ३२९-३३०.

९२. एवंविधरूपैव, अपरेषां तु पाठ्यानामुत्थापनादीनां पूर्वरङ्गाङ्गानां प्रयोगवशादन्यथात्वमपि भवति। पृ० १७१

एवं च नित्यमेवं रूपमेत्र। अन्यपाठ्यानामुत्थापनादीनां प्रयोगवशादन्यथात्वोपपत्तिर्दृष्यते। पूर्वोक्त पृ० २१७.

९३. अत एव कवयो रूपकारम्भे 'नाद्यन्ते सूत्रधारः' इति पठन्ति। पृ० १७२

पुराणकवयो लिखन्ति स्म 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इति। पूर्वोक्त पृ० २१७.

९४. यथा उदात्तराघवे रामस्य प्रस्तुतशृङ्गारोल्लङ्घनेन-'अरे रे तापस....। इत्यादिनेपथ्यवाक्याकर्णनेन वीररसाक्षेपः। पृ० १७३

यथा उदात्तराघवे रामस्य प्रस्तुतशृङ्गारक्रमोल्लङ्घनेन—'अरे तापस....।' इत्यादिना। यथा वाक्याकर्णनेन वीररसस्याक्षेपस्य तु रसस्य माश्रूण्यते। पूर्वोक्त भाग–४, पृ० २६०-२६१.

९५. इयं च प्रावेशिक्याक्षेपिक्यनन्तरमवश्यं प्रयोज्येति वृद्धसम्प्रदायः। पृ० १७३.

....इयं हि प्रावेशिक्याक्षेपिक्या अनन्तरमवश्यप्रयोज्या भवति। पूर्वोक्त पृ० ३६१.

९६.....अनुकर्तुर्यदा अनाशङ्कित एव धनविघातादिना विघात उद्धतप्रयोगश्रमाद् वा मूर्च्छा-भ्रमादिसम्भावना वस्त्राभरणादेर्वा

अनकर्जर्यदनाशङ्कितधनविषयादत्युद्धत प्रयोगश्रमवशाद् वा भ्रमादिदोष सम्भावना। वस्त्राभरणावकाशादित्सयागीयते सान्तराध्रुवा। तत्र

प्रच्युतिस्तदा तत्संवरणावकाशदित्सयेयं गीयते। अस्यां च प्राक्तनं भावि वा रसस्य स्वरूपमनुवर्त्यम्। छिद्राच्छादनमात्रप्रयोजनत्वात् चास्या न सार्थकपवनासनमुपयोगीति शुष्काक्षराण्येवास्यां निबध्यन्ते। पृ० १७३

च प्राक्तनं भावि वा रसस्वरूपमनुवृत्तिमित्यवश्यम्···। केवलं छिद्राच्छदन मात्र प्रयोजनायामस्यां न सार्थक पदकदम्बयोजनमुपगीति शुष्काक्षरैरेवेयं लक्ष्ये च···। पूर्वोक्त पृ० ३६१.

९७. यथोपश्रुतिशकुनन्यायेन प्रत्ययेन····। पृ० १७३

इत्यादि काकतालीय श्रुतिशकुनन्यायेन लौकिकस्य। पूर्वोक्त भाग–४ पृ० ३६१.

९८. ····न तु देशकालावस्थाद्यपेक्षयानी त्यावसहनपूर्वकं निर्यातनमिति। पृ० १७६

प्राणात्ययेऽपीति न तु नीत्यनुवर्तनेन कथञ्चित् देशकालाद्यनुवर्तनेन सहनपूर्वकं निर्यातनम्। पूर्वोक्त भाग–३, पृ० १६७.

९९. सहजा मुखराग-दृष्टिविकारादिरहिता। पृ० १७६

मुखराग दृष्टि विकारादयः। पूर्वोक्त भाग–२ पृ० १६६.

१००. यथासम्भवं सन्धिं विग्रहेण, विग्रहे सन्धिना च विशेषेण दूषयन्ति, विनाशयन्ति, विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्तीति विदूषकाः। पृ० १७८

विग्रहं वा सन्धिना दूषयतीति विदूषकः, विप्रलम्भनत्वे विनोदने दूषयन्ति विस्मारयन्ति। पूर्वोक्त भाग–३ पृ० २५१-२५२.

१०१. यथोर्वशी पुरूरवसः। 'नृपे दिव्ये न च प्रभौ' इत्यस्यापवादोऽयमिति। पृ० १७९

····इत्यस्यापवादमाह दिव्यवेश्येत्यादि। यथा पुरूरवसः उर्वश्या। पूर्वोक्त पृ० १९६.

१०२. अन्यनारी व्यासङ्गादिना····। पृ० १८१

व्यासङ्गादित्यन्यनारीविषयादित्यर्थः। पूर्वोक्त पृ० २०९.

१०३. बाल्येऽपि किञ्चिदुन्मीलन्ति, वार्धके तु प्राचुर्येण नश्यन्ति। पृ० १८१-१८२

ते हि यौवने उद्रिक्ता दृश्यन्ते बाल्ये त्वनुद्भिन्ना वार्धके तिरोभूताः। पूर्वोक्त पृ० १५४.

१०४. पुंसां तूत्साहादयो मुख्यतोऽलङ्काराः। तेन नायकभेदेषूद्धतादिषु धीरत्वं विशेषणमुक्तम्। भावादयस्तु पुरुषाणामुत्साहाद्याच्छादिता एव भवन्तीति ते गौणाः। पृ० १८२

पुंसस्तूत्साहवृत्त्यात एव परमालङ्काराः, तथा च सर्वेष्वेव नायकभेदेषु धीरत्वमेव विशेषणतयोक्तम्। तदाच्छादितास्तु शृङ्गारादयः धीरललित इत्यादौ। पूर्वोक्त पृ० १५८.

१०५. भ्रू-चिबुक-ग्रीवाऽऽदेश्च सातिशयो विकारः शृङ्गारोचित उद्भिद्योद्भिद्य विश्रान्तिमत्त्वेनासन्ततो हाव इति। पृ० १८२

चोद् भ्रूतारकचिबुकग्रीवादेः सातिशयो विकारः··· शृङ्गारोचितमाकारम्····। स्वेत्युद् भिद्योद्भिद्य विश्राम्यन् हावः। पूर्वोक्त पृ० १५६-१५७.

१०६. प्रसरणशीलं सश्रृङ्गारं समुचितविभावविशेषोपग्रहविरहादनियतविषयं प्रबुद्धरतिभावसमन्वितं हेला। पृ० १८२

····स तु प्रसरणैकधर्मकः, ····यदा तु रतिवासनाप्रबोधात्तां प्रबुद्धां रतिमभिमन्यते केवलं समुचितविभावोपग्रहविरहान्निर्विषयतया स्फुटीभावं न

प्रतिपद्यते तदा तज्जनितो देहविकारविशेषो हेला। पूर्वोक्त भाग–३ पृ० १५७.

१०७. एते च त्रयोऽङ्गजाः परस्परसमुत्थिता अपि भवन्ति। तथा हि कुमारीशरीरे प्रौढतम कुमारगतभाव-हाव-हेला-दर्शन-श्रवणाभ्यां भावादयोऽनुरूपा विरूपाश्च भवन्ति। पृ० १८२

····अप्येते परस्परसमुत्थिता भवन्ति। तथा हि कुमारीशरीरेप्रौढ़तमकुमार्यन्तरगतहेलावलोकने····। पूर्वोक्त पृ० १५५.

१०८. रागः प्रियतमं प्रत्येव बहुमानः।····मदो मद्यकृतश्चित्तोल्लासः। हर्षः सौभाग्यगर्वः। अन्यथा वक्तव्येऽन्यथा वचनम्, हस्तेनादातव्ये पादेनादानम्, कटीयोग्यस्य कण्ठे निवेशन-मित्यादिकः····। पृ० १८३

वचनेऽन्यथावक्तव्येऽन्यथाभाषणम्, हस्तेनादातव्ये, पादेनादानम्, रसनायाः कण्ठे न्यासः इत्यादि। मद्येन कृतो रागः प्रियतमं प्रत्येव बहुमानो हर्षः। सौभाग्यगर्वो यथा। पूर्वोक्त पृ० १६०.

१०९. प्रियतमप्रीत्यतिशयेन····। पृ० १८३

प्रियतमगतैः प्रीत्या तं प्रति बहुमानातिशयेन····। पूर्वोक्त पृ० १५९.

११०. रूपलावण्यादीनां च पुरुषेणोपभुज्यमानानां यदौज्ज्वल्यं छाया विशेषः····। पृ० १८४

तान्येव रूपादीनि पुरुषेणोपभुज्यमानानि छायान्तरं श्रयन्ति। पूर्वोक्त पृ० १६२।

इसके अतिक्ति पताकास्थानक, कार्यावस्था और अर्थप्रकृतियों की चेतन एवं अचेतन रूप में की गयी व्याख्या तथा अन्य विविध स्थल भी अभिनवभारती से वैचारिक दृष्टि से प्रभावित तथा अनुप्राणित प्रतीत होते हैं। यह सम्भावना भी सत्य प्रतीत होती है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा कथित 'नाट्यदर्पण-विवृत्ति' नाम भी अविनवगुप्त के 'नाट्यवेद-विवृत्ति' से प्रेरित रहा होगा।

इन समस्त तथ्यों को पृष्ठभूमि में भी यह कथन तो अनुचित ही होगा कि नाट्यदर्पण में अभिनवभारतो का अन्धानुकरण किया गया है। वस्तुतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अवसर के अनुरूप अभिनवगुप्त के मन्तव्य की आलोचना तथा उनमें संशोधन एवं परिवर्धन भी किया है, परन्तु प्रस्तुत शोध-पत्र की सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए हम यहाँ नाट्यदर्पण के एतत्सम्बद्ध स्थलों का उल्लेख उचित नहीं समझते हैं।

नाट्यदर्पण की विवृत्ति में २ स्थल ऐसे भी प्राप्त होते हैं जिन पर नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती का संयुक्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहीं उनका प्रदर्शन कर देना तो अनङ्ग-कीर्तन ज्ञात नहीं होता है—

१. भावानां साध्यफलोचितानां रतिहर्षोत्सवादीनां याचनं प्रार्थना। पृ० ७४

एतत्साध्यफलोचितभावलक्षणम्। ना० शा० भाग—३। पृ० ५०।
रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थना प्रार्थनाभवेत्। ८६।१९ ना० शा०.

२. चौर-नृपारि-नायकादिभ्यो भयमुद्वेगः। पूर्वोक्त पृ० ७६.

अरिशब्दान्नायकादि। अभि० भा० (ना० शा० भाग —३) पृ० ५१; भय नृपारिदस्यूत्थमुद्वेगः परिकीर्तितः। ८८।१९ ना० शा०।

इस समस्त विवेचन से नाट्यदर्पण पर अभिवभारती का अत्यधिक प्रभाव है यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः यदि नाट्यदर्पण के अभिनवभारती से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित सम्पूर्ण अंशों को उसमे पृथक् कर दिया जाये तो उसका मूल स्वरूप ही अस्त-व्यस्त हो जायेगा। यह सब उस समय और भी विचित्र प्रतीत होता है, जल नाट्यदर्पणकार स्वयं काव्यापहार की कटु शब्दों में करते हैं।[1]

काज़ी पाड़ा, बिजनौर (उ० प्र०)
२४६७०१

ग्रन्थ-सूची

१. नाट्यदर्पण (ना० द०)-रामचन्द्र-गुणचन्द्र, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५९।

२. नाट्यशास्त्र (ना० शा०)-भरत, भाग—१। ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, द्वितीय संस्करण १९५६।

३. नाट्यशास्त्र—भरत, भाग—२, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४।

४. नाट्यशास्त्र—भरत, भाग—३, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा १९५४।

५. नाट्यशास्त्र—भरत, भाग—४, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा १९६४।

६. हिन्दी नाट्यर्पण—रामचन्द्र-गुणचन्द्र, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६१।

७. दि नाट्यदर्पण ऑव रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र—ए क्रिटिकल स्टडी—त्रिवेदी के० एच०, इन्स्टीट्यूट ऑव इण्डोलॉजी, अहमदाबाद, फर्स्ट एडीशन, १९६६।

---

१. अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम्।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका॥ ना० द० प्रारम्भिक श्लोक सं० ११।

षट्त्रिंशिका या षट्त्रिंशतिका : एक अध्ययन

अनुपम जैन* एवं सुरेशचन्द्र अग्रवाल**

षट्त्रिंशिका या षट्त्रिंशतिका नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (१०वीं श० ई०) के प्रसिद्ध ग्रन्थ "**त्रिलोकसार**" के टीकाकार माधवचन्द्र त्रैविद्य (१०-११वीं० श० ई०) की एक अज्ञात गणितीय कृति है। वस्तुतः लेखक ने इस कृति का प्रणयन प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य (८५० ई० लगभग) कृत **गणितसार संग्रह** के आधार पर उसकी सामग्री के कुछ अंश में कतिपय नवीन सूत्र जोड़कर की है। प्रस्तुत लेख में हम इसी कृति के सन्दर्भ में चर्चा करेंगे।

१ ग्रन्थकार माधव चन्द्र त्रैवेद्य का परिचय—षट्त्रिंशिका या षट्त्रिंशतिका की पाण्डुलिपियों में आया निम्न उल्लेख इस कृति को माधवचन्द्र की रचना बताता है।

श्री वीतरागाय नमः ।छ। छत्तीस मेतेन सकल ८, भिन्न ८, भिन्न जाति ६, प्रकोर्णक १०, त्रैराशिक ४ इंता छत्तीस में बुदु वीराचार्यरू पेल्हगणित वनु माधवचन्द्र त्रैविद्याचार्यारू शोध सिदराग शोध्यसार संग्रहमेनिसिकोंबुदु।[१]

इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना माधवचन्द्र त्रैविद्य ने विद्वान् (महा)वीराचार्य के (गणित) सार संग्रह को शोध कर शोध कर की थी।

जैन ग्रन्थों में माधवचन्द्र नाम के १०-११ व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। ९वीं से १३वीं शती ई० के मध्य हमें तीन ऐसे माधवचन्द्र मिलते हैं, जिसके साथ त्रैविद्य की उपाधि जुड़ी है। प्राचीन काल में सिद्धान्त, व्याकरण एवं न्याय इन तीनों विषयों पर समान अधिकार रखने वाले को त्रैविद्य की उपाधि दी जाती थी।

प्रथम माधव चन्द्र त्रैविद्य का उल्लेख करते हुए नेमिचन्द्र शास्त्री[२] ने लिखा है कि—

"प्रथम माधव चन्द्र त्रैविद्य वे हैं जिनके शिष्य नाग चन्द्रदेव के पुत्र मादेय सेन बोवेंको तोलपुरुष विक्रम शान्तर की रानी पालियबक ने अपनी माता की स्मृति में निर्मापित पालियक्क बसति के लिए दान दिया था।[३] Luice Rice ने इस प्रकरण से सम्बद्ध अभिलेख का समय लगभग ९५० ई० अनुमानित किया है किन्तु स्वयं तोलपुरुष विक्रम शान्तर का शिलालेख सन् ८९७ ई० का प्राप्त है।[४] अतः यह माधव चन्द्र त्रैविद्य लगभग ९०० ई. में हुये होंगे।"

---

*. व्याख्याता, गणित विभाग, शासकीय महाविद्यालय, ब्यावरा (राजगढ़) (भारत)

**. रीडर, गणित विभाग, मेडूगरी विश्वविद्यालय, मेडूगरी (नाईजीरिया)।

१. षट्त्रिंशिका—जयपुर पाण्डुलिपि—पत्र सं० ३९।
षट्त्रिंशतिका—कारंजा"—पत्र सं० ४६।

२. देखें सन्दर्भ—६, II, पृ० ३४, पृ० २८८.

३. एपिग्राफी कर्णाटिका, भाग-८, नागर—४५.

४. एपिग्राफी कर्णाटिका, भाग–८, नागर—६०.

दूसरे माधव चन्द्र त्रैविद्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य हैं। दुर्गदेव ने श्री निवास राजा के शासन काल में रिष्टसमुच्चय की रचना कुम्भ नगर में की थी। दुर्गदेव ने अपने गुरु संयम सेन के साथ माधवचन्द्र का भी स्मरण किया है। उन्होंने लिखा है कि—

जयऊ जए जियमाणो संजमदेवो मुणीसरों इत्थ।
तहव हु संजम सेणो माहवचन्दो गुरू तह य॥[१]

अर्थात् संयम-देव के गुरु संयम सेन एवं संयमसेन के गुरु माधव चन्द्र बतलाये गये हैं। दुर्गदेव के गुरु का नाम संयमदेव था एवं उनका समय १०३२ ई० है। अतः माधवचन्द्र का समय इनसे लगभग ५० वर्ष पूर्व होना चाहिये। इस प्रकार माधवचन्द्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य ही होने चाहिए।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य माधव चन्द्र त्रैविद्य ने अपने गुरु की आज्ञा से त्रिलोकसार में यत्र-तत्र अनेक गाथायें समाविष्ट की थी, यह तथ्य निम्न गाथा से स्पष्ट है।

गुरुणेमिचंद सम्मदकादियवगाहा जहिं तहिं रडया।
माहव चंदतिविज्जोणिय मणु सदणिज्ज मज्जेहिं॥[२]

तीसरे माधवचन्द्र त्रैविद्य मूलसंघ, क्राणूर गण, तिन्त्रिणी गच्छ के विद्वान् जैन मुनि चन्द्रसूरि के प्रशिष्य थे।[३] जैनशिलालेख संग्रह, तृतीय भाग के लेख नं० ४३१ में (इसको वि. स. १२५४ में उत्कीर्ण किया गया था) जिन सकलचन्द्र का उल्लेख किया है, उनके शिष्य हो ये माधवचन्द्र (त्रैविद्य) हैं। इन्होंने क्षुल्लकपुर (वर्तमान कोल्हापुर) में क्षपणासार गद्य की रचना की थी।[४]

माधव चन्द्र ने इस ग्रंथ की रचना शिलाधर कुल के राजा वीर भोजदेव के प्रधानमन्त्री बाहुबली के लिए की थी जिन्हें माधवचन्द्र ने भोजराज के समुद्धरण में समर्थ बाहुबलयुक्त, दानादि गुणोत्कृष्ट, महामात्य एवं लक्ष्मीवल्लभ बतलाया है।[५] इन्होंने १२०३ ई० में क्षपणासार गद्य की रचना की थी। यह तथ्य निम्न गाथा से स्पष्ट है:

अमुना माधव चन्द्र दिव्य गणिना, त्रैविद्यचक्रेशिना,
क्षपणा सारम करि बाहुबलि सन्मंत्री सज्ञप्तये॥
सकलकाले शर-सूर्य-चन्द्रगणिते जाते पुरे क्षुल्लके,
शुमदेदुन्दुभि वत्सेर विजय तामा चन्द्र ताव मुवि॥[६]

षट्त्रिंशिका के कर्ता माधवचन्द्र त्रैविद्य इन तीनों में से कौन से माधवचन्द्र हैं, यह निर्धारित करने हेतु कोई ठोस प्रमाण नहीं है। तथापि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य

---

१. रिष्टसमुच्चय–गोधा जैन ग्रन्थमाला, इन्दौर–पद्य–२५४. पृ० १६८
२. त्रिलोक सार, माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला–१९१८।
३. सं० ७–I, पृ० ३९७।
४. वही, पृ० ३९७।
५. क्षपणासार गद्य प्रशस्ति–जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग–१, पृ० १५५।
६. सं० ७–I, पृ० ३९७।

त्रिलोकसार सदृश करणानुयोग के जटिल गणितीय प्रकरणों से समृद्ध ग्रंथ के टीकाकार होने के कारण लौकिक गणित में भी पर्याप्त रुचि रखते थे। इन्होंने जिस प्रकार त्रिलोकसार की टीका करते समय यत्र-तत्र अनेक गाथाओं को समाविष्ट किया है लगभग उसी प्रकार महावीराचार्य कृत गणितसारसंग्रह में से कुछ प्रकरण यथावत् लेकर एवं उसमें कुछ नवीन सामग्री जोड़कर षट्त्रिंशिका की रचना की गई है। फलतः यह अनुमान किया जा सकता है कि षट्त्रिंशिका के रचनाकार माधवचन्द्र त्रैविद्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य थे अर्थात् षट्त्रिंशिका के रचनाकार एवं त्रिलोकसार के टीकाकार से भिन्न हैं। इस दृष्टि से षट्त्रिंशिका का रचनाकाल १०-११ वीं श. ई. सिद्ध होता है।

षट्त्रिंशिका के उल्लेख—षट्त्रिंशिका का सर्वप्रथम उल्लेख महावीराचार्य की कृति के रूप में डा० कासलीवाल[१] ने किया था। उनकी सूची में दिया गया विवरण निम्न है :—

भंडार का नाम—श्री दि० जैन मन्दिर, ठोलियॉन, जयपुर।

४६८, षट्त्रिंशिका—महावीराचार्य, पत्र संख्या–४५, साईज ११" × ४$\frac{3}{4}$"

भाषा—संस्कृत, विषय—गणित, रचनाकाल— ×, लेखनकाल—विक्रमाब्द १६६५ आसाढ़ सुदी ८, पूर्ण, वेष्ठन संख्या ४६५।

४६९. प्रति नं. २, पत्र संख्या—१८, साइज—११ × ४$\frac{1}{2}$, लेखनकाल सं. १६३२ ज्येष्ठ सुदी–९,

विशेष—प्रति पर छत्तीसी टीका भी लिखी है।

कासलीवाल के उक्त विवरण के आधार पर १९६४ में मुकुट बिहारी लाल अग्रवाल ने अपने लेख में लिखा कि :—

"महावीराचार्य ने गणितसारसंग्रह के अतिरिक्त ज्योतिष पटल एवं षटत्रिंशिका आदि मौलिक एवं अभूतपूर्व ग्रन्थों की रचना की है जो कि ज्योतिष एवं गणित विषयवस्तु के कारण महत्त्वपूर्ण हैं।"

'गणितसारसंग्रह के अतिरिक्त षट्त्रिंशिका नामक पुस्तक का उल्लेख राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची में मिलता है। इसकी २ प्रतियाँ हैं—प्रथम में ४५ पत्र हैं एवं दूसरी में १८ पत्र। ये दोनों प्रतियाँ जयपुर के ठोलियॉन मन्दिर में विद्यमान है तथा इसमें महावीराचार्य ने बीजगणित की ही चर्चा की है।[२]

१९६९ में अंबा लाल शाह ने अपनी पुस्तक[३] में इस कृति का उल्लेख ग्रंथ सूची के आधार पर किया है।

१९६४ में अपने लेख में इतनी महत्त्वपूर्ण सूचना देने के बाद १९७२ में प्रस्तुत अपने शोध प्रबन्ध में[४] अग्रवाल ने इसका कोई उल्लेख भी नहीं किया। वहां आपने केवल गणितसारसंग्रह को

१. देखें, सं०–८–I, पृ० १४८।

२. देखें, सं०–१–I, पृ० ४२, ४३।

३. देखें, सं०–१०–I, पृ० ६४।

४. देखें, सं०–१–II,

ही महावीराचार्य की कृति के रूप में उद्धृत किया। षट्त्रिंशिका का महावीराचार्य की कृति अथवा अन्य किसी रूप में कोई भी उल्लेख शोध प्रबन्ध में नहीं है।

१९७४ में राधाचरन गुप्त ने अग्रवाल के लेख[१] के Digest of Indological Studies में प्रकाशित सारांश (Abstract) के आधार पर निम्न उल्लेख किया था। 'The other is Ṣaṭtriṁśikā which is said to be devoted to Algebra[२] उन्होंने कृति को स्वयं न देखने का स्पष्ट उल्लेख किया है।

ज्योति प्रसाद जैन, नेमिचन्द्र जैन शास्त्री एवं परमानन्द जैन आदि विद्वानों ने इस कृति का अपनी कृतियों में कोई उल्लेख नहीं किया है। गणित इतिहास की पुस्तकों में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता।

प्रतियों का विवरण एवं ग्रन्थ में निहित गणित :—देश के विविध शास्त्र भण्डारों में यद्यपि षट्त्रिंशिका की अनेक प्रतियाँ विद्यमान हैं तथापि उनका उल्लेख षट्त्रिंशिका के रूप में १-२ स्थानों पर ही है। ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य की पुष्पिकाओं एवं विषयवस्तु के आधार पर ये प्रतियाँ प्रथम दृष्टि से सूचीकारों को गणितसारसंग्रह की अपूर्ण प्रति प्रतीत होती है। फलतः उन्होंने इसकी प्रतियों की गणितसार संग्रह की अपूर्ण प्रति के रूप में ही सूचीबद्ध किया है।[३] कांरजा में संग्रहीत २ ग्रन्थों के नाम "छत्तीसी गणित" एवं "षट्त्रिंशतिका" है। वस्तुतः ये दोनों षट्त्रिंशिका ही हैं। अन्य कई स्थानों पर गणितसारसंग्रह की अपूर्ण प्रतियों के होने की सूचना है वस्तुतः प्रतियों के देखे बिना यह कहना संभव नहीं है कि वे वास्तव में गणितसारसंग्रह की अपूर्ण प्रतियाँ हैं अथवा षट्त्रिंशिका की। इस भ्रान्ति की सीमा का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सेन ने गणितसारसंग्रह की पाण्डुलिपियों के संदर्भ में सूचना संकलित करते हुए गणितसारसंग्रह का निम्न विवरण[४] दिया है।

MAHĀVĪRĀCĀRYA (C. 850 A. D.)

Gaṇita Sāra Saṃgraha, C. 850 A. D.
A Jaina work on Arithematic in 5 Chapters viz.
(i) Parikarmavidhi, (ii) Kalāsavarṇa vyavahāra, (iii) Prakīrṇaka vyavahāra, (iv) Trairāśika vyavahāra, (v) vargasaṃkalitānayana sūtra and Ghanasaṃkalitānayana sūtra.

स्पष्टतः उपरोक्त विवरण अशुद्ध है। वास्तव में यह विवरण षट्त्रिंशिका का है। गणितसार संग्रह में उपरोक्त प्रपत्र ४ के अतिरिक्त ४ और व्यवहार है जो क्रमशः मिश्रक व्यवहार, क्षेत्र गणित व्यवहार, खात व्यवहार एवं छाया व्यवहार है एवं उपरोक्त विवरण में से पाँचवा व्यवहार नहीं है।

---

१. Digest of Indological Studies, Vol-III, Port-2, Dec. 1965, PP. 622-623.

२. देखें, सं०–२–I, पृ० १७।

३. शीघ्र प्रकाश्य लेख—महावीराचार्य, व्यक्तित्व एवं कृतित्व।

४. देखें, सं०—९-१, पृ० १३२।

जिन्हें मिलाकर ८ अध्याय होते हैं[1] मुद्रित संस्करण में प्रथम व्यवहार के २ भाग होने के कारण ९ हैं।

अब हम क्रमिक रूप से इसकी विविध प्रतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

जयपुर प्रति—कासलीवाल ने ४६८ एवं ४६९ नं० पर जिन दो प्रतियों को षट्त्रिंशिका माना है उनमें से प्रथम प्रति अर्थात् ४६८ ही षट्त्रिंशिका है, दूसरी नहीं। हम ४६८ क्रमांक वाली प्रति को जयपुर प्रति की संज्ञा देंगे।

इस प्रति में कुल ४५ पत्र हैं। ११" × ४$\frac{३}{४}$" के आधार के प्रत्येक पत्र पर ११ पंक्तियाँ हैं। सन् १६०८ में लिखी गई (रचना नहीं) इस प्रति की दशा सामान्य है। कतिपय पृष्ठों को छोड़कर शेष पत्रों के अक्षर स्पष्ट एवं पठनीय है। उपलब्ध प्रति का प्रारम्भ गणितसारसंग्रह के समान ही "अलघ्यं त्रिजगत्सारं....." आदि मंगलाचरण से हुआ है। किन्तु इससे पूर्व "(६०) श्री वीतरागाय नमः" लिखा है। मंगलाचरण के उपरांत संज्ञाधिकार यथावत् गणितसारसंग्रह के समान है[2]। अधिकार के अन्त में निम्न पुष्पिका है—"इति सारसंग्रहे गणितशास्त्रे महावीराचार्यस्य कृतो संज्ञाधिकारः समाप्तः।"

इसके उपरांत परिकर्म व्यवहार नामक दूसरा प्रकरण है। इस प्रकरण को षट्त्रिंशिका में प्रथम प्रकरण लिखा गया है, गणितसारसंग्रह में भी इस प्रकरण के अन्त में निम्न प्रकार पुष्पिका लिखी है—

"इति सारसंग्रह गणितशास्त्रे महावीराचार्यस्य कृतो परिकर्म नाम प्रथमः व्यवहारः समाप्तः।"

इस प्रकरण की सामग्री भी (गणित) सारसंग्रह के समान ही है, पुष्पिका भी उपरोक्त प्रकार से ही है।

तीसरा कला सवर्ण व्यवहार प्रकरण विषयवस्तु की दृष्टि से तो गणितसारसंग्रह के समान ही है किन्तु पुष्पिका एवं अन्त का कुछ अंश षट्त्रिंशिका की इस प्रति में नहीं है।[3] चतुर्थ एवं पंचम क्रमशः प्रकीर्णक एवं त्रैराशिक व्यवहार प्रकरण भी न्यूनाधिक पाठान्तरों सहित समान है। पुष्पिकायें भी गणितसारसंग्रह के समान हैं।

इन अध्यायों का पत्रानुसार विवरण निम्न है—

(१) संज्ञाधिकार	पत्र संख्या १–४
(२) परिकर्म व्यवहार	पत्र संख्या ४–१४
(३) कला सवर्ण व्यवहार	पत्र संख्या १४–२८
(४) प्रकीर्णक व्यवहार	पत्र संख्या २८–३४
(५) त्रैराशिक व्यवहार	पत्र संख्या ३४–३९
(६) वर्ग संकलितादि व्यवहार	पत्र संख्या ३९–४५

१. विस्तृत विवरण हेतु देखें सं०—३-II एवं III

२. यह परिकर्म व्यवहार का ही एक भाग है।

३. षट्त्रिंशिका की अन्य कृतियों में क्या स्थिति है। इसका निर्धारण अन्य प्रतियों के अध्ययन से ही किया जा सकता है।

गणितसार संग्रह में छठाँ अध्याय मिश्रक व्यवहार प्रकरण है, जिसमें पंचराशिक, वृद्धि-विधान, विविध कुट्टीकार आदि है। जबकि चर्चित कृति में वर्ग संकलितादि व्यवहार है। इसमें निम्न १३ सूत्रों को उदाहरण सहित समझाया गया है—

(१) वर्ग संकलितानयन सूत्रं।
(२) धन संकलितानयन सूत्रं।
(३) एकवारादिसंकलितधनानयन सूत्रं।
(४) सर्वधनानयने सूत्रद्वयं।
(५) उत्तरोत्तरचयभवसंकलितधनानयन सूत्रं।
(६) उभयान्तादागत पुरुषद्वयसंयोगानयन सूत्रं।
(७) वणिक्करस्थितधनानयन सूत्रं।
(८) समुद्र मध्ये १-२-३।
(९) छेदोशशेष जातो करणसूत्रं।
(१०) करण सूत्र त्रयम्।
(११) गुणगुण्यमिश्रे सतिगुणगुण्यानयनसूत्रं।
(१२) बाहुकरणानयनसूत्रं।
(१३) व्यासाद्यानयनसूत्र।

उपरांत १ पत्र में संदृष्टि का विषय चर्चित है। "वर्ग संकलितादिनयनसूत्रं" नामक इस प्रकरण का प्रारम्भ निम्न प्रकार से हुआ है—

"श्री वीतरागाय नमः (६) छत्तीसमेतेन सकल ८, भिन्न ८, भिन्न जाति ६, प्रकीर्णक १०, त्रैराशिक ४, इंत्ता ३६ नू छत्तीस में बुट्ट वीराचार्यरुपेल्गणितवनु माधव चन्द्र त्रैवेद्याचार्यरू शोध सिदरामि शोध्य सार संग्रहमेनिसकोंबुट्ट। वर्ग संकलितानयन सूत्र"।

भावार्थ यह है—"म० जिनेन्द्र देव (तीर्थंकर) को नमस्कार है। इस छत्तीसी ग्रंथ में ८ परिकर्म, ८ परिकर्म भिन्नों पर, ६ भिन्न जातियां, १० प्रकीर्णक (भिन्नों पर आधारित प्रश्न), ४ त्रैराशिक इस प्रकार कुल ३६ विषयों की चर्चा है। विद्वान् (महा) वीराचार्य द्वारा पहले कहे गये (गणित) सारसंग्रह को शोध करके माधवचन्द्र त्रैविद्य ने इसकी रचना की। कन्नड़ शब्द, **पेल्हगणित**—कहे गये, बुन्टु—विद्वान्।

उपरांत पूर्व लिखित १३ सूत्रों की चर्चा के बाद अंक संदृष्टि के अन्तर्गत जैन साहित्य की परम्परा में बहुतायत से पाये जाने वाले ३४ के Magic Square का निर्माण किया गया है।

९	१६	२	७
६	३	१३	१२
१५	१०	८	१
४	५	११	१४

सम्पूर्ण पांडुलिपि में अधिकांश पत्रों में उपयोगी टिप्पण पत्र के किनारों पर दिये गये हैं। कहीं-कहीं गणनायें देकर विषय को स्पष्ट किया गया है। पत्र संख्या ४४ के किनारे पर १५ का Magic Square दिया है। त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने के सन्दर्भ में △ का चित्र भी टिप्पणी में दिया गया है।

अन्तिम पत्र पर "इति षट्त्रिंशिका ग्रन्थ समाप्तः"। लिखने के उपरांत निम्न प्रशस्ति लिखी है—

"वि० संवत् १६६४ वर्षे असौज सुदी व गुरो श्री मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भग० श्री पद्मनन्दिदेवा, तत्पट्टे १ ब्र० श्री सकलकीर्ति देवा, तत्पट्टे म० श्री भुवनकीर्ति देवा, तत्पट्टे म० श्रीज्ञान भूषण देवा, तत्पट्टे म० शुभ चन्द्र देवा, तत्पट्टे म० सुमतिकीर्ति देवा, तत्पट्टे म० श्री गुणकीर्ति देवा, तत्पट्टे वादिभूषण देवास्ताद गुरुभ्राता ब्र० श्री भीमा तत्शिष्य ब्र० मेघराज तत् शिष्य ब्र० केशव पठनार्थे ब्र० नेमदासस्येदं पुस्तकं।"

स्पष्टतः प्रशस्ति से रचयिता या रचनाकाल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

षट्त्रिंशिका के कृतित्व के संदर्भ में किसी अर्थमूलक परिणाम पर पहुँचने के लिए अन्य प्रतियों की खोज एवं उनका अध्ययन भी आवश्यक है। कारंजा भंडार प्रति–१ (छत्तीसी गणित) कारंजा के शास्त्र भंडार में (बलात्कारण मन्दिर-कारंजा) प्रतिक्रमांक ६३ पर छत्तीसी गणित ग्रन्थ सुरक्षित है।[1] ४९ पत्रों की इस प्रति के पत्रों का आकार ११.७५"×५" है एवं प्रत्येक पत्र पर ११ पंक्तियां हैं। इस कृति का भी प्रारम्भ ६०, ॐ नमः सिद्धेभ्य", अलघ्यं त्रिजगत्सारं···आदि मंगलाचरण से हुआ है।

पुनः परिकर्म व्यवहार पत्र संख्या	१ से १५ तक
कलासवर्ण व्यवहार पत्र संख्या	१५ से ३२ तक
प्रकीर्णक पत्र व्यवहार संख्या	३२ से ३६ तक
त्रैराशिक व्यवहार पत्र संख्या	३६ से ४२ तक

चर्चित है। इसके तत्काल बाद जयपुर प्रति के समान ही "श्री वीतरागाय नमः" (६) छत्तोसमेतेन सकल ८······शोध्य सार संग्रह मेनिसिकों बुट्ट (वर्ग संकलितानयन सूत्रं) आदि विवरण है। पत्र संख्या ४२-४९ तक विविध विषयों की चर्चा है। अंतिम पृष्ठ ४९ पर लिखा है कि "धनं ३५ अंक संदृष्टिः छः" इति छत्तीसी गणित ग्रन्थ समाप्तः (छः छ) श्री शुभं भूयात सर्वेषां। संवत् १७०२ वर्षे भगसिरवदी ४ बु० संवत् १७०२ वर्षे माघ श्रुदि ३ शुक्ल श्री मूल संघे·········छत्तीसी गणितशास्त्र दत्तं श्रीरस्तु।[2]

षट्त्रिंशिका का अर्थ छत्तीस होता है अतः ऐसा प्रतीत होता है मानों ग्रन्थ के शीर्षक का हिन्दी अनुवाद कर दिया गया है। यह ग्रन्थ भी षट्त्रिंशिका ही है।

१. विवरण स्रोत-गणितसार संग्रह, हिन्दी संस्करण, परिशिष्ट, ५ पृ० ५५।

२. वही।

कारंजा भंडार—प्रति–२ (षट्त्रिंशतिका) कारंजा भंडार का प्रति क्रमांक ६५ पर सुरक्षित ग्रन्थ में कुल ५३ पत्र हैं। ११"×४.७५" के आकार के प्रत्येक पत्र पर १० पंक्तियां हैं इस ग्रंथ में विविध अध्यायों का वर्गीकरण निम्नवत् है :—

परिकर्म व्यवहार पत्र संख्या	१ से १६ तक
कलासवर्ण व्यवहार पत्र संख्या	१६ से ३४ तक
प्रकीर्णक व्यवहार पत्र संख्या	३४ से ४० तक
त्रैराशिक व्यवहार पत्र संख्या	४० से ४६ तक
वर्ग संकलितादि व्यवहार पत्र संख्या	४६ से ५३ तक

"इति सार संग्रहे गणितशास्त्रे महावीराचार्यस्य कृतौ वर्ग संकलितादि व्यवहार: पंचम: समाप्त: ।"

उपरान्त निम्न प्रकार प्रशस्ति लिखी है—

"संवत् १७२५ वर्ष कार्तिक सुदि १० भौमे श्री मूल संघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री सकल कीर्त्यन्वये भ० श्री वादिभूषण देवास्तत्पट्टे भ० श्री रामकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री पद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री देवेन्द्रकीर्ति गुरुपदेशात् मुनि श्री श्रुतिकीर्तिस्तच्छिष्य मुनि श्री देवकीर्तिस्तच्छिष्य आचार्य श्री कल्याणकीर्तिस्तच्छिष्यरूप मुनि श्री त्रिभुवनचदेणेदं षट् त्रिशतिका गणितशास्त्रं कर्म क्षयार्थं लिखितं।"

प्रशस्ति से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का नाम षट्त्रिंशतिका है एवं उपलब्ध विवरण से स्पष्ट है कि इसमें वर्ग संकलितादि व्यवहार में जयपुर प्रति के समान ही विषय सामग्री है। ग्रंथ का परिचय देते हुए गणितसारसंग्रह (हिन्दी संस्करण) के परिशिष्ट में परिशिष्टकार ने लिखा है "मानों यह माधवचन्द्र त्रैविद्य का विविध ग्रंथ हो।

उदयपुर प्रति :—उदयपुर में भी श्री दि० जैन बीसपंथी मन्दिर, मण्डी नाल में गणितसार संग्रह की अपूर्ण प्रति के नाम से एक पांडुलिपि सुरक्षित है। यह पांडुलिपि भी षट्त्रिंशिका ही है। क्योंकि ५३ पत्रों वाली इस प्रति के पत्र ४६ पर "श्री वीतरागाय नम: (६) छत्तीसमेतेन···संग्रह मेनिकोंबुट्टु। वर्ग संकलितानयन सूत्रं है एवं आगे का प्रकरण अन्य प्रतियों के समान है। इस प्रति का लेखनकाल श्रावण शुक्ला ५, शुक्रवार, संवत् १९०५ है।

षट्त्रिंशिका की मौलिकता एवं कृतित्व के निर्धारण के समय गणितसारसंग्रह के वर्तमान मुद्रित संस्करण की मूल प्राचीन पांडुलिपियों से इसका (षट्त्रिंशिका) तुलनात्मक अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। गणितसारसंग्रह का वर्तमान संस्करण (हिन्दी एवं अंग्रेजी) निम्न पाँच पांडुलिपियों[1] के आधार पर तैयार किया गया है—

१. "P" यह प्रति Government Oriental Manuscript Lib., Madras में है इसमें मात्र ५ अध्याय हैं, साथ में संस्कृत टिप्पणियां भी हैं।

१. वही,

२. "K" यह प्रति भी Government Oriental Manuscript Lib., Madras में ही है। इसमें भी ५ अध्याय हैं, साथ में कन्नड़ भाषा में टिप्पणियां दी गयी हैं।

३. "M" यह प्रति Government Oriental Manuscript Library, Mysore में है। इसे एक जैन पंडित की ताड़पत्रीय प्रति की प्रतिलिपि कराकर तैयार किया गया था। यह प्रति पूर्ण है तथा इसके साथ वल्लभ कृत कन्नड़ की संक्षिप्त टीका भी है।

४. "K" यह प्रति भी Government Oriental Manuscript Lib., Madras में ही है, इसमें मात्र ७ वां अध्याय है, साथ में कन्नड़ व्याख्या है। ज्यामितीय रचनाओं को चित्रों द्वारा समझाया गया है।

५. "B" यह प्रति जैन मठ—मूडबिद्री (दक्षिण कनारा) में है एवं पूर्ण है। इसमें कन्नड़ भाषा के प्रश्नों के माध्यम से विषय को स्पष्ट किया गया है।

डा० हीरालाल जैन ने कारंजा (अकोला) भण्डार में उपलब्ध गणितसारसंग्रह की कतिपय (७) प्रतियों की सूचना गणितसारसंग्रह के हिन्दी संस्करण के परिशिष्ट में दी है।[१] अं० नं० ६०, ६१,६२ एवं ६६ की प्रतियों के पत्रों की संख्या क्रमशः २० ८, १९ एवं १५ है फलतः वे विशेष महत्त्व की नहीं है क्योंकि उनमें बहुत थोड़ा अंश है। हमारे विचार से प्रति "P" एवं "K" (५ अध्याय वाली) षट्त्रिंशिका के अध्ययन की दृष्टि से मूल्यवान हो सकती है। हमारे एक मित्र ने सूचित किया है कि कारंजा भंडार के वर्तमान सूची पत्र के अनुसार उसके क्रमांक ७०१, ७०५, ७०६ पर षट्-त्रिंशिका की प्रतियाँ सुरक्षित हैं। ये ग्रन्थ बस्ता क्रमांक १३१ में उपलब्ध है।[२]

उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) षट्त्रिंशिका, षट्त्रिंशतिका एवं छत्तीसी गणित ये तीनों एक ही ग्रन्थ है। कारंजा भंडार की प्रतियों एवं (छत्तीसी गणित एवं षट्त्रिंशतिका) के उपलब्ध विवरण एवं जयपुर की षट्त्रिंशिका प्रति की तुलना करने से इनकी सामग्री में पूर्णतः साम्य दृष्टिगत होता है। कारंजा भंडार की प्रतियाँ मिलने पर पाठान्तर आदि लेकर निष्कर्ष की पुष्टि की जा सकेगी। पुनः त्रैराशिक व्यवहार तक के अंश (जो कि गणितसारसंग्रह से पूर्णतः उद्धृत हैं) में सकल ८, भिन्न ८, भिन्न जाति ६, प्रकीर्णक १०, एवं त्रैराशिक ४ इस प्रकार के कुल ३६ विषय ही चर्चित हैं अतः इन तीनों में एक ही अर्थ के बोधक शीर्षकों की सार्थकता भी सिद्ध होती है।

(२) इसकी रचना माधव चन्द्र त्रैविद्य नामक दिगम्बर जैनाचार्य ने महावीराचार्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गणितसारसंग्रह को शोध कर की थी। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि महावीरा-चार्य की कृति के रूप में छत्तीस पूर्वाप्रति उत्तर प्रतिसह का भी उल्लेख विद्वानों ने किया है।[३]

(३) डा० मुकुटबिहारी लाल अग्रवाल का कथन 'इसमें बीजगणित की ही चर्चा है' समीचीन नहीं लगता।

---

१. वही,

२. व्यक्तिगत पत्राचार-श्री श्रीकान्त चंवरे—अकोला।

३. देखें सं०—६।

इस निष्कर्ष के संदर्भ में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि डा० अग्रवाल ने एक ओर तो लिखा है कि "गणितसारसंग्रह के अतिरिक्त षट्त्रिंशिका नामक पुस्तक का उल्लेख राजस्थान के जैन शास्त्रों के भण्डारों की ग्रन्थ सूची में मिलता है, वहीं उसी पैरा में आगे लिखते हैं कि "महावीराचार्य ने इसमें बीजगणित की ही चर्चा की है" स्पष्ट है कि डा० अग्रवाल ने प्रति नहीं देखी थी। कासलीवाल जी को (वे गणित विद्वान् नहीं हैं) पुष्पिकाओं से बार-बार "महावीराचार्यस्य-कृतो·······।" आदि आने के कारण महावीराचार्य की कृति होने की भ्रांति हो गयी तो अग्रवाल ने गणितसारसंग्रह में अंकगणित एवं क्षेत्रगणित के विषय होने एवं उनकी एक अन्य कृति ज्योतिष-पटल का उल्लेख मिलने के कारण शेष बचे (उस काल की परम्परा के अनुरूप) विषय को इसमें निहित मान लिया।

भारतीय गणित के स्वर्ण युग के गणितज्ञों में माधव चन्द्र त्रैविद्य का नाम इस कृति के प्रकाश में आने से अभिन्न रूप से जुड़ गया है। आशा है कि इस कृति का अनुवाद एवं तुलनात्मक अध्ययन मध्यकालीन गणित की प्रकृति को समझने के साथ ही महावीराचार्य के गणित को समझने में भी सहायक होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ एवं लेख

1. Agrawa, M. B. Lal— I महावीराचार्य की जैन गणित को देन, जैन सिद्धान्त भास्कर, (आरा), २४, १९६४, पृ० ४२-४७

II गणित एवं ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का योगदान, शोधप्रबन्ध, आगरा वि० वि०, १९७२, पृ० ३७७

2. Gupta, R. C. — Mahāvīrācārya on the perimeter & Area of Ellipse, M. E. (Shiwan) I (B), 1974, pp. 17-20

3. Jain, Anupam — I कतिपय अज्ञात जैन गणित ग्रन्थ, गणित भारती (दिल्ली), ४ (१,२) १९८२, पृ० ६१-७१

II महावीराचार्य, दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, १९८४

III Mahāvīrācārya, The men & the mathematician, due for Publication Acta Ciencia Indica

4. Jain, J. P. — राष्ट्रकूट युग का जैन साहित्य सम्वर्द्धन में योगदान, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश चन्द्र अभि० ग्रन्थ, रीवा, १९८० पृ० २७३-२८०

5. Jain, L. C. — महावीराचार्य कृत गणित सार संग्रह, प्रस्तावना परिशिष्ट एवं टिप्पण सहित सम्पादित, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९६३

6. Jain, N. C. — I भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन ज्योतिष, वर्णी अभि० ग्रन्थ, सागर, १९५०, पृ० ४६९-४८४

II तीर्थंकर महावीर एवं उनकी आचार्य परम्परा—३, भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४

7. Jain, Parmanand — जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग—२, दिल्ली, १९७४

8. Kasliwal, K. C.— राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची—भाग ३ श्री महावीर जी (राजस्थान)

9. Sen, S. N (with — Bag A. K & Rav. R.) Bibliography of Samskrita works on Astronomy & Mathematics, I. N. S. A. New Delhi, 1966

10. Shah, A. L. — जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग ५ पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी, १९६९।

●

विमलसूरिकृत पउमचरिय में प्रतिमाविज्ञान-परक सामग्री

डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी एवं डा० कमल गिरि

जैन दर्शन में प्रारम्भ से ही जनभावना के सम्मान की वृत्ति रही है। इसी कारण अन्य भारतीय धर्मों के देवताओं को जैन देवविभाव में औदार्यपूर्वक प्रवेश देकर सम्माननीय स्थान दिया गया। राम और कृष्ण जनमानस से जुड़े सर्वाधिक लोकप्रिय पात्र रहे हैं जिनके विस्तृत उल्लेख क्रमशः **रामायण** और **महाभारत** में हैं। इन महाकाव्यों के चरित्र नायक राम और कृष्ण की जनप्रियता के कारण ही ई० शती के प्रारम्भ या कुछ पूर्व में इन्हें जैन देवमण्डल में स्थान मिला। पौराणिक दृष्टि से राम के पूर्ववर्ती होने के बाद भी जैन परम्परा में राम की अपेक्षा कृष्ण के उल्लेख प्राचीन हैं। **उत्तराध्ययनसूत्र**, **अन्तकृतदशाः** एवं **ज्ञाताधर्मकथांग** जैसे प्रारम्भिक आगम ग्रन्थों में वासुदेव से सन्दर्भित विभिन्न प्रसंग वर्णित हैं। जैन परम्परा में राम का प्रारम्भिक और साथ ही विस्तृत उल्लेख नागेन्द्रकुल के (श्वेताम्बर) विमलसूरिकृत **पउमचरिय** (४७३ ई०) में हुआ है।[1] रामायण के तीनों प्रमुख पात्रों, राम, लक्ष्मण और रावण (दशानन), को जैन देवमण्डल में लगभग ५वीं शती ई० में ६३ शलाकापुरुषों की सूची में क्रमशः आठवें, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के रूप में सम्मिलित किया गया।[2] **पउमचरिय** में उल्लेख है कि सर्वप्रथम महावीर ने रामकथा का वर्णन किया जिसे कालान्तर में साधुओं ने धारण किया; विमलसूरि ने उसी कथा को अधिक विस्तार तथा स्पष्टता के साथ गाथाओं में निबद्ध किया।[3]

पउमचरिय में जैन प्रतिमाविज्ञान से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री भी है जिसका अध्ययन यहां उद्दिष्ट है। यद्यपि **पउमचरिय** के आधार पर सांस्कृतिक एवं भौगोलिक अध्ययन[4] के प्रयास हुए हैं,

---

१. **पउमचरिय में** राम का मुख्यतः पद्म और कहीं-कहीं राम (७८.३५, ४१, ४२), राघव (१.८८; ३९.१२६) एवं हलधर (३५.२२; ३९.२०,३१) नामों से भी उल्लेख हुआ है। **पउमचरिय** के पश्चात् जैन परम्परा में रामकथा से सम्बन्धित लिखे गए ग्रन्थों में संघदासकृत **वसुदेवहिण्डी** (ल० ६०९ ई०), रविषेणकृत **पद्मपुराण** (६७८ ई०), शीलाचार्य कृत **चउपन्नमहापुरुसचरिय** (ल० ८वीं शती ई०), गुणभद्रकृत **उत्तरपुराण** (ल० ९वीं शती ई०), पुष्पदन्तकृत **महापुराण** (९६५ ई०) एवं हेमचन्द्रकृत **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** (१२वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध) मुख्य हैं।

२. ६३ शलका-पुरुषों की सूची सर्वप्रथम **पउमचरिय** (५.१४५-५६) में ही मिलती है।

३. यह प्रचलित किंवदन्ती प्रतीत होती है। **पउमचरिय** १.९० (सं० एच० जेकोबी एवं मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, ग्रन्थांक—६, वाराणसी, १९६२)।

४. चन्द्र, के० आर०, **ए क्रिटिकल स्टडी ऑव पउमचरिय**, वैशाली, १९७०; मिश्रा, कामताप्रसाद **पउमचरियम् का भौगोलिक अध्ययन** पी-एच० डी० थीसिस (अप्रकाशित), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९८०।

किन्तु इसको प्रतिमाविज्ञान-परक सामग्री के अध्ययन का अब तक कोई प्रयास नहीं हुआ है। जैन मूर्तिविज्ञान के विकास की दृष्टि से गुप्तकाल का विशेष महत्व है। गुप्तकालीन कृति **पउमचरिय** में जैन देवमण्डल की स्पष्ट अवधारणा के साथ ही प्रतिमाविज्ञान-विषयक सामग्री का मिलना तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

६३ शलाकापुरुषों (श्रेष्ठजनों) की पूरी सूची सर्वप्रथम **पउमचरिय** में ही मिलती है। यद्यपि शलाकापुरुषों की कल्पना पूर्ववर्ती आगम ग्रन्थों (**स्थानांग, समवायांग** एवं **कल्पसूत्रों**) में भी उपलब्ध है, किन्तु इनमें ६३ के स्थान पर केवल ५४ ही उत्तम या शलाकापुरुषों के सन्दर्भ, और वह भी बिना नामोल्लेख के, हैं।

पउमचरिय में जिनमूर्ति-निर्माण और पूजा के तो अनेक उल्लेख हैं। जिन-बिम्बों से युक्त रत्नजटित मुद्रिकाओं के धारण करने के यहाँ मिलने वाले सन्दर्भ जिन प्रतिमाओं की उस काल में लोकप्रियता के साक्षी हैं। एक स्थल पर 'सिंहोदर' नाम के शासक द्वारा रत्ननिर्मित मुनिसुव्रत-बिंब से युक्त स्वर्णमुद्रिका को दाहिने अँगूठे में धारण करने, और मस्तक पर ले जाकर जिनेन्द्र को प्रणाम करने का उल्लेख मिलता है।[1] राम, लक्ष्मण और रावण की २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के साथ समकालिकता के बावजूद इस ग्रन्थ में कहीं भी इनके द्वारा मुनिसुव्रत-प्रतिमा की स्थापना या पूजन, या उनसे भेंट का कोई सन्दर्भ नहीं है।[2] साथ ही जिन मुनिसुव्रत के मन्दिर एवं मूर्तियों के उल्लेख भी अत्यल्प हैं। मुनिसुव्रत की अपेक्षा १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथ के मन्दिरों एवं मूर्तियों के अधिक सन्दर्भ हैं जो उस काल में शान्तिनाथ की विशेष लोकप्रियता के साक्षी हैं। इस ग्रन्थ में राम की तुलना में रावण का अधिक जिन भक्त के रूप में निरूपित किया गया है। राम द्वारा जहाँ केवल कुछ ही स्थलों पर जिन मन्दिर की स्थापना और उसमें पूजन[3] के उल्लेख हैं, वहीं रावण द्वारा अनेक स्थलों पर जिन प्रतिमाओं की स्थापना एवं पूजन तथा जिन मन्दिरों के जीर्णोद्धार के सन्दर्भ

---

१. कारेमि रयणचित्तं, सुव्वयजिणबिम्बसन्निहियं।
सा नरवईण मुद्दा, कारावेऊण दाहिणङ्गुट्ठे॥
पउमचरिय ३३.५६-५७

२. एक स्थल पर अग्नि में प्रवेश के पूर्व सीता द्वारा मुनिसुव्रतस्वामी की वन्दना करने का उल्लेख है।
पउमचरिय १०२.१४

३. सीयाएँ समं रामो, थोऊण जिणं विसुद्धभावेणं।
वरधम्मं आयरियं, पणमइ य पुणो पयत्तेणं॥
पउमचरिय ३७.६१

पउमो सीयाएँ समं, जिणवरभवणाण वन्दणं काउं।
सद्द-रस-रुवमाइं, भुञ्जइ देवो व्व विसयसुहं॥
पउमचरिय ९२.२६

जिणवरभवणाणि तहिं रामेणं कारियाणि बहुयाणि।
पउमचरिय ८०.१५;

द्रष्टव्य, **पउमचरिय** ४०.१६

मिलते हैं।[1] प्रस्तुत ग्रन्थ विद्यादेवियों के प्रारम्भिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। राम, लक्ष्मण, रावण एवं ग्रन्थ के अन्य पात्रों द्वारा युद्धादि के समय अनेकशः विद्याओं की प्राप्ति के लिए पूजन आदि के सन्दर्भ मिलते हैं। जैन धर्म पर तन्त्र के प्रभाव के अध्ययन की दृष्टि से भी ग्रन्थ की कुछ सामग्री महत्त्वपूर्ण है। राम और लक्ष्मण द्वारा प्राप्त की गई गरुडा और केसरी विद्याओं[2] से ही कालान्तर में क्रमशः अप्रतिचक्रा और महामानसी विद्याओं का स्वरूप विकसित हुआ।

पउमचरिय में यक्ष-यक्षियों के उल्लेख बहुत कम हैं। केवल प्राचीन परम्परा के पूर्णभद्र एवं माणिभद्र यक्षों के ही उल्लेख हैं।[3] इनके अतिरिक्त विनायकपूषण यक्ष,[4] महायक्ष अनादृत तथा सुनामा यक्षी[5] ~~के भी~~ उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रन्थ में प्राचीन परम्परा की बहुपुत्रिका या अंबिका यक्षी तथा सर्वानुभूति या कुबेर यक्ष के उल्लेख का अभाव आश्चर्यजनक है। एक स्थल पर ह्री, श्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, एवं लक्ष्मी नाम की देवियों का भी नामोल्लेख हुआ है।[6] पूर्ववर्ती आगम ग्रन्थों, विशेषतः **अंगविज्जा** एवं **व्याख्या-प्रज्ञप्ति** में हमें लोकपूजन में प्रचलित देवताओं की विस्तृत सूची मिलती है, किन्तु **पउमचरिय में** नाग-नागी, प्रेत, पितर, स्कन्द, विशाख तथा इसी प्रकार के अन्य किसी देवता का कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। पउमचरिय में वस्तुतः यक्ष-यक्षी एवं लोकोपासना में प्रचलित देवों के स्थान पर विद्या देवियों को अधिक महत्त्व दिया गया है।

पउमचरिय में राम के साथ हल और मूसल तथा लक्ष्मण के साथ चक्र एवं गदा के उल्लेख विचारणीय हैं।[7] हल-मूसल एवं चक्र-गदा क्रमशः बलराम और कृष्ण-वासुदेव के आयुध हैं, जो परम्परा से राम और लक्ष्मण के पश्चात्कालीन हैं। रामकथा के प्रसंग में मथुरा एवं कृष्णलीला से सम्बन्धित कुछ अन्य स्थलों का उल्लेख भी आश्चर्य का विषय है। **पउमचरिय** के अन्त में यह भी उल्लेख है कि पूर्व ग्रन्थों में आये हुए नारायण तथा हलधर के चरितों को सुनकर ही विमलसूरि ने राघव चरित की रचना की।[8] कई स्थलों पर राम को पद्म, हलधर, हलायुध और लक्ष्मण को

१. **पउमचरिय** ८.२०; ९.८७-८९; १०.४६-४७, ५३; ११.३।
२. लद्धाओ गरुड-केसरिविज्जाओ राम-चक्कीणं ॥
—**पउमचरिय** ७८.४२
३. **पउमचरिय** ६७.३५,३७,४०,४८
४. **पउमचरिय** ३५.२२-२६; ७.१५०
५. **पउमचरिय** ३५.३४
६. **पउमचरिय** ३.५९
७. पत्तो हलं समुसलं, रामो चक्कं च लक्खणो धीरो।
—**पउमचरिय** ७८.४१;
........देइ गयं लक्खणस्स सुरपवरो।
दिव्वं हलं च मुसलं, पउमस्स वि तं पणामेइ ॥
—**पउमचरिय** ५९.८६
८. सीसेण तस्स रइयं, राहवचरियं तु सूरिविमलेणं।
सोऊणं पुव्वगए, नारायण-सीरिचरियाइं ॥
—**पउमचरिय** ११८.११८

नारायण, चक्रधर तथा चक्रपाणि नामों या विशेषणों से भी अभिहित किया गया है।[1] एक स्थान पर विमलसूरि ने तीर्थंकरों के मध्य के कालान्तर से **भारत** (**महाभारत**) और **रामायण** के बीच ६ लाख से अधिक वर्षों के अन्तर का संकेत किया है।[2] (यह अंक निश्चित रूप से अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण है।[3])

पउमचरिय की ६३ महापुरुषों (शलाकापुरुषों) की सूची में वर्तमान अवसर्पिणी काल के २४ जिनों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती (भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभूम, पद्म, हरिषेण, जयसेन, ब्रह्मदत्त), ९ बलदेव (अचल, विजय, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दन, पद्म या राम, बलराम), ९ वासुदेव (त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषवर, पुण्डरीक, दत्त, नारायण या लक्ष्मण, कृष्ण) और ९ प्रतिवासुदेव (अश्वग्रीव, तारक, मैरक, निशुम्भ, मधुकैटभ, बलि, प्रह्लाद, रावण, जरासंध) के भी नामोल्लेख हैं।[4] ग्रन्थ में आगे के उत्सर्पिणी काल में भी इतने ही महापुरुषों के होने का उल्लेख है।[5] इस प्रकार जैन देवमण्डल की प्रारम्भिक अवधारणा की दृष्टि से **पउमचरिय** की ६३ महापुरुषों की सूची का विशेष महत्त्व है।

पउमचरिय में ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ एवं कुछ विद्याओं के अतिरिक्त अन्य किसी जैन देवता के लक्षणों की चर्चा नहीं है। ग्रन्थ के रचनाकाल (४७३ ई०) तक कला में भी केवल ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थंकरों के ही लक्षण मिलते हैं। तीर्थंकर मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों का अंकन ६ठी शती ई० में और यक्षों तथा विद्याओं का स्वतन्त्र निरूपण ल० आठवीं शती ई० में प्रारम्भ हुआ।

जैन संप्रदाय में आराध्य देवों के अन्तर्गत जिनों का सर्वाधिक महत्त्व है। इन्हें देवाधिदेव भी कहा गया है। रामकथा से सम्बन्धित ग्रन्थ होने के बावजूद पउमचरिय में संभवतः इसी कारण तीर्थंकरों से सम्बन्धित अनेक सन्दर्भ हैं।[6] २४ तीर्थंकरों की वन्दना के प्रसंग में ग्रन्थ के प्रारम्भ में ऋषभनाथ को जिनवरों में वृषभ के समान श्रेष्ठ तथा सिद्ध, देव, किन्नर, नाग, असुरपति एवं भवनेन्द्रों

---

१. अवहिविसएण नाउं, हलधर-नारायणा तुरियवेगा।

—**पउमचरिय** ३५.२२; ३९.२०, ३१,१२६; ७०.३३, ३६; ७२.२२; ७३.३,५, १९; ७६.३६; ७७.१; ७८.३२; ८०.२

२. छस्समंहिया उ लक्खा, वीरसाणं अन्तरं समक्खायं।
तित्थयरेहिं महायस !, भारह-रामायणाणं तु ॥

—**पउमचरिय** १०५.१६

३. ज्ञातव्य है कि **पउमचरिय** में ६३ महापुरुषों की सूची में ९ बलदेव और ९ वासुदेव के नामोल्लेख के क्रम में राम और लक्ष्मण का उल्लेख बलराम और कृष्ण के पूर्व ही हुआ है। (५.१५४-५५) साथ ही जैन परम्परा के अनुरूप राम २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत और कृष्ण २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के समकालीन बताए गए हैं।

४. **पउमचरिय** ५.१४५-५६

५. **पउमचरिय** ५.१५७

६. ग्रन्थ में जिन और तीर्थंकर के साथ ही अर्हत् शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। **पउमचरिय** १.१;५.१२२

के समूह द्वारा पूजित बताया गया है।[1] इसी प्रकार एक स्थल पर महावीर को भी तीनों लोकों द्वारा पूजित बताया गया है।[2] विभिन्न प्रसंगों में तीर्थंकरों को ब्राह्मण देवों से श्रेष्ठ या उनके समकक्ष भी बताया गया है। एक स्थल पर अजितनाथ को ब्रह्मा, त्रिलोचन शंकर, स्वयं बुद्ध, अनन्तनारायण और तीनों लोकों के लिए पूजनीय अर्हत् कहा गया है।[3] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर ऋषभनाथ को स्वयंभू, चतुर्मुख, पितामह, भानु, शिव, शंकर, त्रिलोचन, महादेव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, महेश्वर, ईश्वर, रुद्र और स्वयंसंबुद्ध नामों से संबोधित कर देवता और मनुष्यों द्वारा वंदित होने का भी उल्लेख है।[4]

पउमचरियं में २४ तीर्थंकरों की सूची तीन स्थलों पर वर्णित है।[5] इस सूची में चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ और महावीर का क्रमशः शशिप्रभ, कुसुमदंत (या पुष्पदन्त) और वीर नामों से भी उल्लेख हुआ है। ग्रन्थ में मन्दिरों में सिंहासनास्थित लम्बी जटा एवं मुकुट से शोभित ऋषभदेव[6], तथा धरणेन्द्र नाग के फणों से मण्डित पार्श्वनाथ[7] की मूर्तियों के उल्लेख हैं। कुछ उदाहरणों में ऋषभदेव को श्रीवत्स से लक्षित भी बताया गया है।[8] ऋषभनाथ, अजितनाथ, महावीर तथा कुछ अन्य तीर्थंकरों के जीवन चरितों का भी उल्लेख मिलता है। ग्रन्थ में विभिन्न तीर्थंकरों की प्रस्तर, स्वर्ण, रत्न एवं काष्ठ निर्मित प्रतिमाओं के भी अनेक सन्दर्भ हैं।[9] ये तीर्थंकर मूर्तियाँ विभिन्न आकारों

---

१. सिद्ध-सुर-किन्नरोरग-दणुवइ-भवणिन्दवन्दपरिमहियं।
उसहं जिणवरवसहं, अवसप्पिणिआइतित्थयरं॥
—**पउमचरिय** १.१; २८.४९

२. वीरं विलीणरयमलं, तिहुयणपरिवन्दियं भयवं॥
—**पउमचरिय** १.६

३. नाह। तुमं बम्भाणो, तिलोयणो संकरो सयंबुद्धो।
नारायणो अणन्तो, तिलोयपुज्जारिहो अरुहो॥
—**पउमचरिय** ५.१२२

४. सो जिणवरो सयंभू, भाणु सिवो संकरो महादेवो।
विण्हू हिरण्णगब्भो, महेसरो ईसरो रुद्दो॥
—**पउमचरिय** १०९.१२;
द्रष्टव्य, **पउमचरिय** २८-४८

५. ऋषभनाथ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ (शशिप्रभ), सुविधि (कुसुमदत्त या पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व एवं महावीर (वीर)—
—**पउमचरिय** १.१-७; ५.१४५-५१; २०.४-६

६. **पउमचरिय** २८.३९

७. **पउमचरिय** १.६

८. **पउमचरिय** ४.४

९. **पउमचरिय** ६६.११; ७७.२७; ८९.५९

में बनती थीं। जिन-बिम्ब-युक्त रत्नजटित मुद्रिका, अंगूठे-बराबर जिन प्रतिमा तथा रावण द्वारा लघुकाय जिन प्रतिमा के सर्वदा साथ रखने से सम्बन्धित विभिन्न सन्दर्भ जिन-प्रतिमा-पूजन की लोकप्रियता के साक्षी हैं[1]। **पउमचरिय** में विभिन्न स्थलों पर ऋषभनाथ एवं महावीर तीर्थंकरों के साथ सामान्यतः पांच (सिंहासन, छत्र, चामर, अशोक वृक्ष, भामण्डल)[2] या सात (आसन, छत्र, चामर, भामण्डल, कल्पवृक्ष, दुन्दुभिघोष, पुष्पवर्षा)[3] प्रातिहार्यों के उल्लेख मिलते हैं।[4] किन्तु दो स्थलों पर अजितनाथ और महावीर के साथ महाप्रातिहार्यों की संख्या आठ भी बताई गई है।[5] ज्ञातव्य है कि गुप्तकाल तक जिनमूर्तियों में अष्टप्रातिहार्यों का नियमित रूप से अंकन होने लगा था।[6]

पउमचरिय में जिन मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण के भी प्रचुर सन्दर्भ हैं। एक उल्लेख के अनुसार मथुरा में सात जैन मुनियों ने शत्रुघ्न को जिन मन्दिरों के निर्माण तथा घर-घर में जिन प्रतिमाओं की स्थापना का निर्देश दिया था।[7] एक स्थान पर कहा गया है कि अंगूठे के आकार की जिन प्रतिमा भी महामारी का विनाश करने में सक्षम है।[8] संभवतः घर-घर में जिन प्रतिमा की स्थापना का सन्दर्भ इसी सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से प्रेरित था। विदेह, साकेतपुरी, मथुरा, दशपुर, लंका, पोतनपुर, कैलाशपर्वत, सम्मेतशिखर एवं इसी प्रकार अन्य कई स्थलों पर जिन मन्दिरों (या चैत्यों) की विद्यमानता के उल्लेख हैं। मिथिला, लंकापुरी (२ मन्दिर), दशपुर और साकेतपुरी के मन्दिर क्रमशः ऋषभनाथ, पद्मप्रभ (और शान्तिनाथ), चन्द्रप्रभ एवं मुनिसुव्रत को समर्पित थे।[9] इस प्रकार **पउमचरिय** में केवल ऋषभनाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ एवं मुनिसुव्रत की ही मूर्तियों एवं मन्दिरों के उल्लेख मिलते हैं। अन्तिम तीन तीर्थङ्करों—नेमिनाथ पार्श्वनाथ एवं महावीर के मन्दिरों एवं मूर्तियों का सन्दर्भ न देकर रचनाकार ने ऐतिहासिक काल-

१. **पउमचरिय** ३३.५६-५७; १०.४५-४६

२. **पउमचरिय** २.५३

३. ....उप्पज्जइ आसणं जिणिन्दस्स। छत्ताइछत्त चामर, तहेव भामण्डलं विमलं ॥
कप्पद्दुमो य दिव्वो, दुन्दुहिघोसं च पुप्फवरिसं च।
सव्वाइसयसमग्गो, जिणवरइड्ढि समणुपत्तो ॥
—**पउमचरिय** ४.१८-१९

४. इस सूची में दिव्यध्वनि का अनुल्लेख है।

५. ....अट्ठमहापाडिहेरपरियरिओ। विहरइ जिणिन्दभाणू, बोहिन्तो भवियकमलाइं।
—**पउमचरिय** २.३६

....चोत्तीसं च अइसया, अट्ठ महापाडिहेरा य ॥
— **पउमचरिय** ५.६०

६. चामरधर, प्रभामण्डल एवं देव दुन्दुभि का उल्लेख मिलता है।

७. **पउमचरिय** ८९.५०-५१

८. **पउमचरिय** ८९.५३-५४

९. **पउमचरिय** २८.३९; ३३.१२६; ७७.२५,२७; ६६.२६; ६७.३६; ७७.३; ८९.२०

क्रम की मर्यादा का निर्वाह किया है। ज्ञातव्य है कि ये तीनों ही तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पश्चात्कालीन हैं। राम द्वारा पद्मप्रभ और चन्द्रप्रभ तथा रावण द्वारा शान्तिनाथ मन्दिरों में पूजन के कई सन्दर्भ मिलते हैं।[1] इनके अतिरिक्त हरिषेण (दसवें चक्रवर्ती), बालि, विनयवती (सामान्य-महिला) एवं शत्रुघ्न द्वारा भी जिन मन्दिरों के निर्माण, पुनरुद्धार तथा मूर्तिपूजन के उल्लेख हैं।[2]

पउमचरिय के उल्लेख से प्रकट है कि तीर्थंकर मूर्तियाँ अष्टप्रातिहार्यों सहित सामान्यतः ध्यानमुद्रा में सिंहासन पर विराजमान होती थीं। विमलसूरि ने जिनेन्द्रों की प्रतिमाओं को सर्वांग-सुन्दर बनाने का विधान किया है।[3] तीर्थंकरों के साथ यक्ष और यक्षी के निरूपण की कोई चर्चा नहीं है। केवल एक स्थल पर राजगृह के यक्ष मन्दिर का उल्लेख आया है।[4]

राम और लक्ष्मण की अपेक्षा **पउमचरिय** में रावण के अधिक उल्लेख हैं। **पउमचरिय** एवं परवर्ती ग्रन्थों में रामकथा के अनेकशः उल्लेख के बाद भी जैन स्थलों पर राम का मूर्त अंकन नहीं हुआ। मूर्त अंकन का एकमात्र उदाहरण खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर (ल० ९५०-७० ई०) पर है। इस मन्दिर की उत्तरी भित्ति पर राम-सीता और हनुमान की मूर्तियाँ हैं जिसमें चतुर्भुज राम, सीता सहित आलिंगन मुद्रा में खड़े हैं और समीप ही कपिमुख हनुमान की भी आकृति बनी है। राम का एक दक्षिण कर पालित मुद्रा में हनुमान के मस्तक पर स्थित है। इस मन्दिर के शिखर पर भी दक्षिण की ओर रामकथा का एक दृश्य उत्कीर्ण है।[5] दृश्य में क्लान्तमुख सीता को अशोकवाटिका में आसीन और कपिमुख हनुमान से राम की मुद्रिका प्राप्त करते हुए दिखाया गया है।

पउमचरिय में देवताओं के चतुर्वर्गों (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक) का अनुल्लेख आगम ग्रन्थों में उनकी चर्चा को दृष्टिगत करते हुए सर्वथा आश्चर्यजनक है। लोकपालों (परवर्ती दिक्पालों) में भी केवल पाँच ही के नामोल्लेख मिलते हैं। एक स्थान पर लोकपालों से घिरे इन्द्र के ऐरावत गज पर आरूढ़ होने तथा इन्द्र द्वारा ही शशि (सोम), वरुण, कुबेर और यम की क्रमशः पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में स्थापना का उल्लेख है।[6] **पउमचरिय** में

---

१. **पउमचरिय** ७७.२७; ६७.४२.

२. हरिषेण द्वारा काम्पिल्यपुर, विनयवती द्वारा गोवर्धन ग्राम तथा शत्रुघ्न द्वारा मथुरा में जिन मन्दिर निर्माण के उल्लेख मिलते हैं।

—**पउमचरिय** ८.२०९; २०.११७; ८९.५८; ९.३; ७४-७६.

३. **पउमचरिय** ४४.११

४. **पउमचरिय** ८२.४६

५. तिवारी, मारुति नन्दन प्रसाद, **एलिमेन्ट्स ऑव जैन आइकनोग्राफी**, वाराणसी, १९८३, पृ० ११५-१६

६. सोऊण रक्खसबलं, समागयं लोगपालपरिकिण्णो।
एरावणमारूढो, नयराओ निग्गओ इन्दो ॥—**पउमचरिय** ७.२२;
ठविओ पुव्वाएँ ससी, दिसाएँ वरुणो य तत्थ अवराए।
उत्तरओ य कुबेरो, ठविओ च्चिय दक्खिणाएँ जमो ॥—**पउमचरिय** ७.४७;
एक स्थल पर इन्द्र द्वारा पाँचवें दिक्पाल के रूप में वैश्रवण को प्रतिष्ठित करने का भी उल्लेख है।

—**पउमचरिय** ७.५६-५७

केवल इन्द्र, वरुण, कुबेर एवं यम का ही लोकपालों की सूची में उल्लेख दो सम्भावनाओं की ओर निर्दिष्ट करता है : या तो पाँचवीं शती ई० के अन्त तक आठ दिक्पालों की सूची नियत नहीं हुई थी या फिर उन्हें जैन परम्परा में मान्यता नहीं मिली थी। इस सन्दर्भ में शशि (या सोम) का लोकपाल के रूप में उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है।[1] इस ग्रन्थ में इन्द्र के आयुध वज्र और सेनापति हरिणैगमेषी के भी उल्लेख हैं।[2]

पउमचरिय में विभिन्न स्थलों पर विद्याधरों तथा उनके प्रमुखों के नाम और वंशावली भी दी गई है।[3] इन विद्याधरों में पूर्णधन, मेघवाहन, सुलोचन (विद्याधर अधिपति), सहस्रनयन, धनवाहन, श्रीधर, अशनिवेग एवं रत्नरथ मुख्य हैं।[4] विद्याधर पत्नियों एवं कन्याओं के हमें कुछ ऐसे ही नाम मिलते हैं जो कालान्तर में यक्षियों के नाम हुए। इनमें मनोवेगा और पद्मावती प्रमुख हैं।

पउमचरिय में विद्याओं के उल्लेख ही निःसन्देह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। एक स्थल पर उल्लेख है कि ऋषभदेव के पौत्र, नमि और विनमि, को धरणेन्द्र ने बल एवं समृद्धि की अनेक विद्यायें प्रदान की थीं।[5] युद्धादि अवसरों पर राम, लक्ष्मण, रावण, भानुकर्ण (कुम्भकर्ण), विभीषण आदि द्वारा अनेक विद्याओं की सिद्धि के विस्तृत सन्दर्भ हैं। ग्रन्थ में स्पष्टतः विद्याओं की सिद्धि से विभिन्न ऋद्धियों एवं शक्ति की प्राप्ति का संकेत दिया गया है। विद्याओं की प्राप्ति के लिए वीतरागी तीर्थंकरों की आराधना के सन्दर्भ सर्वप्रथम **पउमचरिय** में ही मिलते हैं। एक स्थल पर रावण द्वारा शान्तिनाथ के मन्दिर में बहुरूपा (या बहुरूपिणी) महाविद्या की सिद्धि करने तथा युद्धस्थल में इस महाविद्या के रावण के समीप ही स्थित होने के सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण हैं।[6] **पउमचरिय** के विवरण से विद्याओं की सिद्धि में तांत्रिक साधना का भाव भी स्पष्ट है। सिद्ध होने पर ये विद्याएँ स्वामी के लिए सभी प्रकार के कार्य करने में सक्षम थीं। रावण द्वारा सिद्ध बहुरूपा महाविद्या के लिए सम्पूर्ण त्रिलोक साध्य था।[7] विद्या की साधना में तत्पर रावण के ध्यान की एकाग्रता को एकाग्र मन से सीता का चिन्तन करने वाले राम के समान बताया गया है। विभीषण का राम से यह कहना कि बहुरूपिणी महाविद्या की सिद्धि के बाद देवता भी रावण को जीतने में समर्थ नहीं होंगे—अत्यन्त

---

१. मनु द्वारा वर्णित अष्टदिक्पालों की सूची में भी परवर्ती सूची के निर्ऋति एवं ईशान् के स्थान पर सोम एवं अर्क (सूर्य) के नामोल्लेख हैं। विमलसूरि की सूची मनु से प्रभावित प्रतीत होती है।

२. **पउमचरिय** ७.११

३. **पउमचरिय** ५.२५७

४. **पउमचरिय** ५.६५-७०, १६४; ६.१५७

५. **पउमचरिय** ३.१४४-४९

६. **पउमचरिय** ६७.१-३; ६९.४६-४७; ७२.१५

७. एयम्मि देसयाले, उज्जोयन्ती दिसाउ सव्वाओ।
जयसद्दं कुणमाणी, बहुरूवा आगया विज्जा॥
तो भणइ महाविज्जा, सिद्धा हं तुज्झ कारणुज्जुत्ता।
सामिय! देहाऽऽणत्तिं, सज्झं मे सयलतेलोक्कं॥

—**पउमचरिय** ६८.४६-४७

महत्त्वपूर्ण है।[1] बहुरूपा विद्या की सिद्धि में रावण ने भूमि पर योगस्थ रूप में सहस्रदल पद्मों के साथ साधना की थी।[2] एक स्थल पर राम का कुमारों और हनुमान की प्रव्रज्या पर टिप्पणी करते हुए यह कहना कि प्रयोगमती कुशल विद्या के न होने के कारण ही वे तप और संयम की ओर अभिमुख हुए हैं, विद्याओं के महत्त्व को प्रकट करता है।[3] युद्ध में विजय प्राप्ति के उद्देश्य से राम और लक्ष्मण ने महालोचन देव का स्मरण किया था जिसने तुष्ट होकर राम को सिंहवाहिनी विद्या और लक्ष्मण को गरुडा विद्या दी।[4] एक स्थान पर रावण द्वारा विविध रूपधारी हजारों विद्याओं की सिद्धि का भी उल्लेख हुआ है।[5] इस ग्रंथ में रावण द्वारा सिद्ध अनेक विद्याओं में से एक स्थल पर ५५ विद्याओं की सूची भी दी गई है। इस सूची में आकाशगामिनी, कामदायिनी, कामगामी, दुर्निवारा, जयकर्मा, प्रज्ञप्ति, भानुमालिनी, अणिमा, लघिमा, मनःस्तम्भनी, अक्षोभ्या, संवाहिनी, सुरध्वंसी, कौमारी, वधकारिणी, सुविधाना, तमोरूपा, विपुलाकारी, दहनी, शुभदायिनी, रजोरूपा, दिन-रजनीकरी, वज्रोदरी, समादिष्टी, अजरामरा, विसंज्ञा, जलस्तम्भनी, अग्निस्तम्भनी, गिरि-दारिणी, अवलोकनी, अरविध्वंसिनी, घोरा, वीरा, भुजंगिनी, वारुणी, भुवना, दारुणी, मदनाशनी, रवितेजा, भयजननी, ऐशानी, जया, विजया, बन्धनी, वाराही, कुटिला, कीर्ति, वायूद्भवा, शान्ति, कौबेरी, शंकरी, योगेश्वरी, बलमथनी, चाण्डाली, वर्षिणी विद्याओं के नाम हैं।[6] इसी प्रकार भानुकर्ण ने सर्वरोहिणी, रतिवृद्धि, आकाशगामिनी, जम्भिणी तथा निद्राणी नाम वाली पाँच और विभीषण ने सिद्धार्था, अरिदमनी, निर्व्याघाता एवं आकाशगामिनी इन चार विद्याओं की सिद्धि प्राप्त की थी।[7]

पउमचरिय में ही अन्यत्र रत्नश्रवा द्वारा सिद्ध मानससुन्दरी महाविद्या तथा रावण एवं उनके भ्राताओं द्वारा सिद्ध सर्वकामा नाम वाली अष्टाक्षरा विद्या के भी उल्लेख हैं।[8] इन महा-विद्याओं के स्वरूप एवं उनकी सिद्धि से प्राप्त होने वाली दिव्य शक्तियाँ तथा इनकी उपासना पद्धति के आधार पर इनका तांत्रिक देवियाँ होना निर्विवाद है। सर्वकामा नाम की अष्टाक्षरा विद्या की सिद्धि एक लाख जाप से हुई थी जिसके मंत्रों का परिवार दस करोड़ हजार बताया गया है।[9]

---

१. **पउमचरिय** ६७.४

२. **पउमचरिय** ६८.२३, २७

३. अहवा ताण न विज्जा, अत्थि सहीणा, पओगमइकुसला।
जेणुज्झिऊण भोगा, ठिया य तव-संजमाभिमुहा ॥—**पउमचरिय** १०९.३

४. पउमस्स देइ तुट्ठो, नामेणं सीहवाहिणी विज्जं।
गरुडा परियणसहिया, पणामिया लिच्छनिलयस्स ॥—**पउमचरिय** ५९.८४

५. **पउमचरिय** ७.१३०

६. **पउमचरिय** ७.१३५-४२

७. **पउमचरिय** ७.१४४-४५

८. **पउमचरिय** ७.७३,१०७

९. जविऊण **समाढत्ता**, विज्जा वि हु सोलसक्खरनिबद्धा।
दहकोडिसहस्साइं, जीसे मन्ताण परिवारो ॥—**पउमचरिय** ७.१०८

पउमचरिय में उल्लिखित विद्यादेवियों का कालान्तर में ल० आठवीं-नवीं शती ई० में १६ महाविद्याओं की सूची के निर्धारण की दृष्टि से विशेष महत्त्व रहा है। इन्हें सामान्यतः विद्या कहा गया है। केवल मानससुन्दरी, बहुरूपा तथा कुछ अन्य को ही महाविद्या माना गया है।[1] ग्रन्थ में सर्वकामा विद्या को षोडशाक्षर विद्या बताया गया है। संभव है षोडशाक्षराविद्या की कल्पना से ही कालान्तर में १६ महाविद्याओं की धारणा का विकास हुआ हो। उल्लेखनीय है कि जैन धर्म में विद्या-देवियों की कल्पना यक्ष-यक्षी युगलों (या शासनदेवताओं) से प्राचीन रही है। इसी कारण दिगम्बर परम्परा के २४ यक्षियों के नामों में से अधिकांश पूर्ववर्ती महाविद्याओं के नामों से प्रभावित हैं। इनमें रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, पुरुषदत्ता, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, वैरोट्या, मानसी और महामानसी के नाम उल्लेखनीय हैं। **पउमचरिय** की विद्यादेवियों की सूची में प्रज्ञप्ति, गरुडा, सिंहवाहिनी, दहनीय (या अग्निस्तंभनी), शंकरी, योगेश्वरी, भुजंगिनी, सर्वरोहिणी, वज्रोदयी जैसी विद्याओं के नाम ऐसे हैं जिन्हें १६ महाविद्याओं की सूची में या तो उसी रूप में या किंचित् नाम-परिवर्तन के साथ स्वीकार किया गया। १६ महाविद्याओं की सूची में इन्हें क्रमशः प्रज्ञप्ति, अप्रतिचक्रा, महामानसी, सर्वास्त्रमहाज्वाला (या ज्वाला), गौरी, काली (या महाकाली), वैरोट्या, रोहिणी तथा वज्रांकुशा नाम दिया गया है। इसी प्रकार बहुरूपा (या बहुरूपिणी) विद्या कालान्तर में दिगम्बर परम्परा में २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की यक्षी के रूप में मान्य हुई। रावण द्वारा सिद्ध ५५ विद्याओं में हमें कौमारी, कौवेरी, योगेश्वरी (या चाण्डाली) तथा वर्षिणी (ऐन्द्री ?) जैसी मातृकाओं तथा वारुणी एवं ऐशानी जैसी दिक्पाल-शक्तियों के नामोल्लेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अक्षोभ्या, मनःस्तंभिनी जैसी विद्याओं के नाम बौद्ध परम्परा से संबंधित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार **पउमचरिय** में उल्लिखित विद्यादेवियों में जैन परम्परा के साथ ही ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा की देवियाँ भी हैं।

●

रीडर, कला इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. **पउमचरिय** ७८.७३; ६७.२

जैनतंत्र साधना में सरस्वती

डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी,
डॉ० कमल गिरि,

तंत्र केवल धर्म या विश्वास ही नहीं वरन् एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति भी है। भारतीयों में प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में तंत्र भाव विद्यमान रहा है।[१] ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के समान जैन धर्म में भी प्राचीन काल से ही तंत्र का विशेष महत्त्व था। पर जैन धर्म में तंत्र मुख्यतः मंत्रवाद के रूप में था।[२] जैन धर्म में तांत्रिक साधना के घिनौने आचरण पक्ष को कभी भी मान्यता नहीं मिली। मंत्रवाद की जैन परम्परा गुप्तकाल में प्रारम्भ हुई और मध्यकाल तक उसमें निरन्तर विकास होता गया।[३]

जैन धर्म में मंत्रवाद के साथ ही शारीरिक, मानसिक और आत्मा की शान्ति तथा पवित्रता के लिए विद्या-शक्ति को भी महत्त्व दिया गया।[४] विद्वान् मंत्र और विद्या में भेद बताते हैं, किन्तु दिव्य शक्तियों से सम्बन्धित दोनों ही पद्धतियाँ मूलतः एक हैं। मंत्रवाद में ओम्, ह्रीम्, क्लीम्, स्वाहा जैसे अक्षरों एवं प्रतीकों द्वारा विभिन्न देवों का आह्वान किया जाता है जबकि विद्या, देवियों की साधना से सम्बन्धित है।[५] **समवायांगसूत्र** में मंत्र और विद्याओं की साधना को पाप श्रुत में रखा गया है जिसका व्यवहार जैन भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था।[६] पर दूसरी ओर **नायाधम्मकहाओ** में महावीर के शिष्य सुधर्मा को विज्जा (विद्या) और मंत्र दोनों ही का ज्ञाता भी कहा गया है।[७]

---

१. फ़िलिप, रॉसन, **दि आर्ट ऑव तंत्र**, दिल्ली, १९७३, पृ० ९-१२

२. द्रष्टव्य शाह, यू० पी०, 'ए पीप इनटू दि अर्ली हिस्ट्री आफ तंत्र इन जैन लिट्रेचर', **भरत कौमुदी खण्ड**—२, १९४७, पृ० ८३९-५४; शर्मा, बी० एन०, **सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया**, दिल्ली, १९६६, पृ० २१२-१३

३. झवेरी, मोहनलाल भगवानदास, **कम्परेटिव ऐण्ड क्रिटिकल स्टडी ऑव मंत्रशास्त्र**, अहमदाबाद, १९४४, पृ० २९३-९४; विमलसूरि (ल० ४७३ ई०), मानतुंगसूरि (ल० प्रारम्भिक ७वीं शती ई०) हरिभद्रसूरि (ल० ७४५-८५ ई०), उद्योतनसूरि (७७८ ई०) एवं बप्पभट्टिसूरि जैसे प्रारम्भिक जैन आचार्यों की रचनाओं में मंत्र और विद्याओं के पर्याप्त प्रारम्भिक संदर्भ हैं। नेमिचन्द्र, वर्धमानसूरि एवं अन्य अनेक परवर्ती जैन आचार्यों की रचनाओं के मांत्रिक श्लोकों में मंत्रों एवं विद्याओं के प्रचुर एवं विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

४. झवेरी, मोहनलाल भगवानदास, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० २९४

५. जिनभद्रक्षमाश्रमणकृत **विशेषावश्यकभाष्य** (ल० ५८५ ई०) गाथा ३५८९ : सं० दलसुख मालवणिया एवं बेचरदास, जे० दोशी, लालभाई दलपतभाई सिरीज़ २१, अहमदाबाद, १९६८; शाह, यू० पी०, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० ८५०-५१

६. शाह, यू० पी०, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० ८४३-४४

७. **नायाधम्मकहाओ** १.४ : सं० एन० बी० वैद्य, पूना, १९४०, पृ० १

विद्याओं के सन्दर्भ प्रारम्भिक आगम ग्रन्थों में भी हैं[1]। पाँचवी शती ई० तक जैन धर्म में इनका एक निश्चित स्थान बन चुका था। विमलसूरिकृत **पउमचरिय** (लगभग ४७३ ई०) में गरुडा (कालान्तर में चक्रेश्वरी), सिंहवाहिनी (अम्बिका), बहुरूपा (बहुरूपिणी), निद्राणी, सिद्धार्था, सर्वकामा, महासुन्दरी जैसी कई विद्याओं के सन्दर्भ हैं। विभिन्न अवसरों पर राम, लक्ष्मण, रावण आदि ने इनकी साधना की थी।[2] कोट्यार्यवादी गणि ने भी जैन तंत्र में प्रचलित कुछ विद्याओं के सन्दर्भ दिये हैं।[3] जैन परम्परा में विद्याओं की कुल संख्या ४८ हजार बतायी गयी है।[4] इनमें से १६ विद्याओं को लेकर आठवीं शती ई० में महाविद्याओं की सूची नियत हुई। इन्हीं महाविद्याओं में से कुछ को (रोहिणी, प्रज्ञप्ति, काली, अप्रतिचक्रा, महाकाली, गौरी, वैरोट्या, मानसी, वज्र-शृङ्खला, ज्वालामालिनी तथा महामानसी) ८वीं-९वीं शती ई० में २४ यक्षियों की सूची में भी सम्मिलित किया गया। देवगढ़ के शान्तिनाथ मन्दिर (सं० १२, ८६२ ई०) पर निरूपित २४ यक्षियों के समूह में इन महाविद्याओं (अप्रतिचक्रा, वज्रशृङ्खला, नरदत्ता, महाकाली, वैरोट्या, अच्छुप्ता तथा महामानसी) को स्पष्टतः पहचाना जा सकता है। मध्यकाल की लोकप्रिय विद्याओं में कुष्माण्डी (या अम्बिका), पद्मावती, वैरोट्या और ज्वालामालिनी सर्वप्रमुख थीं।[5]

जैन धर्म में श्रुत विद्या के रूप में सरस्वती की आराधना अत्यन्त प्राचीन है। द्वादशांग जैन ग्रन्थों को श्रुतदेवता के अवयव और १४ पूर्व ग्रन्थों को उनका आभूषण बताया गया है।[6] जैन धर्म में सरस्वती की साधना अज्ञानता तथा दुःखों को दूर करने के लिए की गयी है। ब्राह्मण धर्म में सरस्वती को प्रारम्भ से ही विद्या के साथ विभिन्न ललितकलाओं (संगीत) की देवी भी माना गया पर जैन धर्म में लगभग नवीं शती ई० तक सरस्वती केवल विद्या की ही देवी रहीं। यही कारण है कि १०वीं शती ई० के पूर्व उनके संगीत या अन्य ललितकलाओं से सम्बन्धित होने के संकेत साहित्य या मूर्त रूपों में हमें नहीं मिलते हैं।

---

१. **सूत्रकृतांग** (२.२.१५—पी० एल० वैद्य—सं०, १, १९२८, पृ० ८७) एवं **नायाधम्मकहाओ** (१६, १२९—एन० वी० वैद्य—सं०, पृ० १८९) में उत्पतनी, वेताली, गौरी, गन्धारी, जम्भणि, स्तम्भनी, अन्तर्धानी एवं अन्य कई विद्याओं के नामोल्लेख मिलते हैं।

२. **पउमचरिय** ७. ७३-१०७, ७.१४४-४५, ५९.८४, ६७.१-३ : एक स्थल पर **पउमचरिय** में राम के साथ युद्ध के प्रसङ्ग में रावण द्वारा ५५ विद्याओं की सामूहिक साधना की भी उल्लेख है (७.१३५-४४)

३. **विशेषावश्यक भाष्य** पर कोट्यार्यवादी गणि की टीका में भी अम्बकुष्माण्डी, महारोहिणी, महापुरुषदत्ता एवं महाप्रज्ञप्ति विद्याओं के नामोल्लेख हैं (गाथा ३५९०)

४. संघदासगणि (ल० ७०० ई०) के **वसुदेवहिण्डी** एवं हेमचन्द्रसूरि (१२वीं शती ई० का मध्य) के **त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र** में विद्याओं की कुल संख्या ४८००० बताई गई है।

५. दिगम्बर ग्रन्थकार मल्लिषेण एवं इन्द्रनन्दि ने क्रमशः भैरव **पद्मावतीकल्प** (ल० १०४७ ई०) और **ज्वालिनीमाता** (ल० ९३९ ई०) की रचना की थी।

६. द्वादशांगश्रुतदेवाधिदेवते सरस्वत्यै स्वाहा, **निर्वाणकलिका**, पृ० १७ : द्रष्टव्य शाह, यू० पी०, आइकनोग्राफी ऑव जैन गाडेस सरस्वती, **जर्नल ऑव यूनिवर्सिटी ऑव बॉम्बे**, खण्ड—१०, (न्यू सिरीज़), भाग—२, सितम्बर १९४१, पृ० १९६

ज्ञान और पवित्रता की देवी होने के कारण ही सरस्वती के साथ हंसवाहन और करों में पुस्तक, अक्षमाला, वरदमुद्रा तथा जलपात्र दिखाये गये। जैन धर्म में सरस्वती पूजन की प्राचीनता **व्याख्याप्रज्ञप्ति** (लगभग दूसरी-तीसरी शती ई०), शिवशर्मकृत **पक्षिकसूत्र** (लगभग ५वीं शती ई०), सिंहसूरि क्षमाश्रमणकृत **द्वादशारण्यचक्रवृत्ति** (लगभग ६७५ ई०), हरिभद्र सूरिकृत **पंचाशक** (लगभग ७७५ ई०) और **संसार-दावानल-स्तोत्र, महानिशीथसूत्र** (लगभग ९वीं शती ई०) तथा **बप्पभट्टि** सूरिकृत **शारदास्तोत्र** (लगभग ८वीं शती ई० का तीसरा चरण) के साहित्यिक सन्दर्भों एवं पुरातात्विक उदाहरणों में मथुरा से प्राप्त प्राचीनतम कुषाणकालीन (१३२ ई० या १४९ ई०) सरस्वती प्रतिमा से समझी जा सकती है। जैन मन्दिरों, विशेषतः पश्चिम भारत के मन्दिरों, पर सरस्वती के अनेकशः निरूपण से भी सरस्वती पूजन को लोकप्रियता सिद्ध होती है। श्वेताम्बर परम्परा में ज्ञानपंचमी और दिगम्बर परम्परा में श्रुतपंचमी का आयोजन भी सरस्वती की लोकप्रियता का ही साक्षी है। जैनों में प्रचलित श्रुतदेवता, तपस, श्रुतस्कन्ध और श्रुतज्ञान व्रत भी सरस्वती से ही सम्बन्धित हैं।[1]

दिगम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सरस्वती पूजन अधिक लोकप्रिय था। यही कारण है कि बादामी, ऐहोल एवं एलोरा जैसे दिगम्बर जैन स्थलों पर सरस्वती की मूर्तियाँ नहीं बनीं। पूर्व मध्यकाल में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सरस्वती की साधना शक्ति के रूप में भी की गई, जिसमें आगे चलकर तंत्र का भी प्रवेश हुआ।

प्रभाचन्द्राचार्यकृत **प्रभावकचरित** (लगभग १२५० ई०), मेरुतुंगाचार्यकृत **प्रबन्धचिन्तामणि** (लगभग १३०५-०६ ई०) राजशेखरसूरिकृत **प्रबन्धकोश** (लगभग १३४८-४९ ई०) तथा जिनमण्डन-कृत **कुमारपालचरित** (लगभग १४३५-३६ ई०) जैसे मध्यकालीन जैन ग्रन्थों में जैन भिक्षुओं एवं बप्पभट्टिसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेण, मल्लवादिसूरि (द्वितीय) तथा नरचन्द्रसूरि जैसे जैन आचार्यों द्वारा सरस्वती की तांत्रिक साधना के फलस्वरूप विभिन्न विद्यापरक शक्तियाँ प्राप्त करने के प्रचुर उल्लेख हैं। सरस्वती की मांत्रिक एवं तान्त्रिक साधनाओं से असाधारण कवि और वादी बनने के साथ ही अन्य कई प्रकार की विद्या शक्तियाँ भी प्राप्त होती थीं।[2] हेमचन्द्र ने **अलंकारचूडामणि** में ऐसे सारस्वत मंत्रों को पूर्ण मान्यता भी दी है।[3] प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय करने के लिए हेमचन्द्र तथा अन्य कई जैन आचार्यों ने ब्राह्मी देवी की कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्राह्मीदेश (कश्मीर) की यात्रा भी की थी।[4]

प्रबन्धकाव्यों में गोपगिरि के शासक आमराज के दरबार के बौद्ध भाषाकार वर्धनकुंजर को पराजित करने के लिए जैन आचार्य बप्पभट्टिसूरि द्वारा सरस्वती की साधना करने का विस्तृत

---

१. शाह, यू० पी०, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० १९६.

२. **चतुर्विंशतिका** (बप्पभट्टिसूरि कृत)—परिशिष्ट शारदास्तोत्र ११; **जैनस्तोत्रसंदोह** (अमरशत-नतांगिः कामधेनु कवीनाम्). खण्ड—१, सं० अमरविजयमुनि, अहमदाबाद, १९३२, पृ० ३४६

३. **अलंकारचूडामणि** १.४ (जी० ब्यूहलर के दि लाईफ ऑव हेमचन्द्राचार्य से उद्धृत, सिंघी जैन ग्रन्थमाला—११, शांतिनिकेतन, १९३६, पृ० १०)

४. जी० ब्यूहलर, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० १०.

उल्लेख मिलता है।[1] **प्रभावकचरित** में उल्लेख है कि बप्पभट्टि और वर्धनकुंजर के मध्य निरन्तर छः माह तक वाद चलता रहा, पर कोई निर्णय नहीं हो सका। तब बप्पभट्टि ने विजय के लिए गुरु से प्राप्त मंत्र द्वारा मध्यरात्रि में गिरादेवो (सरस्वती) का आह्वान किया। मंत्र इतना प्रभावशाली था कि सरस्वती बप्पभट्टि के समक्ष इतनी त्वरा में उपस्थित हुई कि वस्त्र धारण करना भी भूल गईं (अनावृत्तशरीरम्)। इस अवसर पर बप्पभट्टि ने सरस्वती की प्रशंसा में १४ श्लोकों वाले एक स्तोत्र की भी रचना की थी। इस पर प्रसन्न होकर सरस्वती ने बप्पभट्टि को बताया कि वर्धनकुंजर पिछले सात जन्मों से उनका अनन्य भक्त है और सरस्वती ने ही उसे वाद में अपराजेय बनाने वाली **अक्षयवचनगुटिका** दी है। बप्पभट्टि की प्रार्थना पर सरस्वती ने ही उन्हें वर्धनकुंजर पर विजय का उपाय भी बताया। वाद के दौरान मुखशौच का प्रस्ताव करने पर देवी की कृपा से मुखशौच के समय वर्धनकुंजर के मुख से जब **अक्षयवचनगुटिका** गिर जाएगी तभी बप्पभट्टि उसे पराजित कर सकेंगे। बप्पभट्टि ने देवी के आदेशानुसार कार्य किया और वर्धनकुंजर को को पराजित कर **वादिकुंजरकेशरी** बने।[2] यह कथा सरस्वती साधना से प्राप्त अलौकिक शक्ति को प्रकट करती है। सरस्वती ने बप्पभट्टि को यह भी निर्देश दिया कि १४ श्लोकों वाले स्तोत्र को वे किसी अन्य व्यक्ति को न बतायें क्योंकि वह स्तोत्र (मंत्र) इतना प्रभावशाली है कि उसके उच्चारणमात्र से ही उन्हें साधक के समक्ष विवशतः उपस्थित होना पड़ेगा। यही कथा **प्रबन्धकोश** में भी मिलती है, किन्तु यहाँ सरस्वती के निर्वस्त्र उपस्थित होने का सन्दर्भ नहीं है।[3]

हेमचन्द्रसूरि (१२वी शती ई०) भी अन्य चामत्कारिक शक्तियों के साथ ही सारस्वत शक्ति सम्पन्न थे।[4] **प्रभावकचरित** में उल्लेख है कि चौलुक्यराज जयसिंह ने हेमचन्द्र से उज्जैन के

---

१. **प्रभावकचरित** (प्रभाचन्द्राचार्यकृत—सं० जिनविजयमुनि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला—**१३**, अहमदाबाद, कलकत्ता, १९४०) ११—बप्पभट्टिसूरिचरित; **प्रबन्धकोश** (राजशेखरसूरिकृत, सं० जिनविजयमुनि, प्रथम भाग, सिंघी जैन ग्रन्थमाला—६, शांतिनिकेतन, १९३५) ९—बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध.

२. प्राग्दत्तं गुरुभिर्मन्त्रं परावर्त्तयतः सतः।
विवर्त्तसे भवन्मन्त्रजापात् तुष्टाहमागता ॥
वरं वृण्विति तत्रोक्तो बप्पभट्टिरुवाच च।
देवी प्राहामुना सप्तभवा नाराधिताऽस्म्यहम् ॥
प्रदत्ता गुटिकाक्षय्यवचनाऽस्य मया ततः।
तत्प्रभावाद् वचो नास्य हीयते यतिनायक ! ॥
सरस्वती पुनः प्राह नाहं जैनविरोधिनी।
उपायं तेऽर्पयिष्यामि यथासौ जीयते बुधः ॥
चतुर्दशं पुनर्वृत्तं न प्रकाश्यं कदापि हि।
यतस्तत्र श्रुते साक्षाद्भवितव्यं मया ध्रुवम् ॥

प्रभावकचरित ११ : बप्पभट्टिसूरिचरित ४१९-४४२.

३. **प्रबन्धकोश**—९ बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध.

४. जी०. ब्यूहलर, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० ५४.

परमार शासक भोज के व्याकरण के समान ही एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना का निवेदन किया था। हेमचन्द्र ने इसके लिए कश्मीर के सरस्वती पुस्तकालय से आठ व्याकरण ग्रन्थों को मंगाया था। इस निमित्त कश्मीर गये अधिकारियों की प्रशंसा से प्रसन्न होकर सरस्वती स्वयं उपस्थित हुईं और उन्होंने अपने भक्त हेमचन्द्र के पास पूर्व रचित व्याकरण ग्रन्थों को सन्दर्भ हेतु भेजने की आज्ञा दी। हेमचन्द्र का व्याकरण ग्रन्थ पूरा होने पर सरस्वती ने उसे अपने कश्मीर स्थित मन्दिर के पुस्तकालय के लिए स्वीकार भी किया था।[1] **प्रबन्धकोश** में उल्लेख है कि एक बार हेमचन्द्र ने चौलुक्य कुमारपाल का पूर्वभव जानने के लिए सरस्वती नदी के किनारे सरस्वती देवी का आह्वान किया था। तीन दिनों के ध्यान के पश्चात् सरस्वती (विद्या देवी) स्वयं उपस्थित हुईं और उन्होंने हेमचन्द्र को कुमारपाल के पूर्वभवों के बारे में बताया।[2]

भैरव-पद्मावती-कल्प एवं **भारती-कल्प** के रचनाकार मल्लिषेणसूरि (लगभग १०४७ ई०) भी सारस्वत शक्ति (सरस्वतीलब्धवरप्रासादः) सम्पन्न थे।[3] **वसन्तविलास** के रचनाकार सिद्धसारस्वत बालचन्द्रसूरि (लगभग प्रारम्भिक १३वीं शती ई०) ने भी सफलतापूर्वक सरस्वती की मांत्रिक साधना की थी।[4] **प्रभावकचरित** एवं **प्रबन्धचिन्तामणि** में शीलादित्य के दरबार के मल्लवादिसूरि का उल्लेख मिलता है जिन्हें सरस्वती ने नयचक्र दिया था।[5] ग्रन्थों में बौद्धों को वाद में पराजित करने के लिए मल्लवादिसूरि के गले में सरस्वती के प्रवेश का भी सन्दर्भ मिलता है। मल्लवादि ने अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति से सरस्वती को प्रसन्न किया था। कथा के अनुसार एक बार जब मल्लवादिसूरि सरस्वती की साधना में तल्लीन थे उसी समय आकाश में विचरण करती सरस्वती ने उनसे पूछा कि कौनसी वस्तु सबसे मीठी है। (केमिष्टा)? मल्लवादि ने तुरन्त उत्तर दिया गेहूँ के दाने (वल्ला)। छः माह बाद पुनः सरस्वती ने उनसे पूछा किसके साथ (केनेति)। मल्लवादि ने तत्क्षण छः माह पुराने सन्दर्भ के प्रसंग में उत्तर दिया गुड़ और घी के साथ (गुडघृतेनेति)। इस अपूर्व स्मरणशक्ति वाले उत्तर से सरस्वती अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उन्होंने

---

१. जी० ब्यूहलर, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५-१६

२. **प्रबन्धकोश**—१० हेमसूरिप्रबन्ध

३. लब्धवाणीप्रसादेन मल्लिषेणेन सूरिणा।
रच्यते भारतीकल्पः स्वल्पजाप्यफलप्रदः॥

भैरवपद्मावतीकल्प, परिशिष्ट ११ : सरस्वतीमंत्रकल्प (वस्तुतः भारतीकल्प) श्लोक ३, सं० के० वी० अभ्यंकर, अहमदाबाद, १९३७, पृ० ६१; मोहनलाल भगवानदास झवेरी, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० ३००

४. गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़, खण्ड ७, पृ० ५; कनाईलाल भट्टाचार्य, **सरस्वती**, कलकत्ता, १९८३, पृ० १०९

५. **प्रबन्धचिन्तामणि** (अंग्रेजी अनु० सी० एच० टॉनी, दिल्ली, १९८२, पृ० १७१-७२), पंचम प्रकाश : ११ प्रकीर्णकप्रबन्धः मल्लवादिप्रबन्ध (सं० जिनविजयमुनि, भाग—१, सिंघी जैन ग्रन्थमाला १, शांतिनिकेतन, १९३३, पृ० १०७; नृपतिसभायां पूर्वोदितपणबन्धपूर्वकं कण्ठपीठावतीर्णश्रीवाग्देवताबलेन श्री मल्लस्तांस्तरसैव निरुत्तरीचकार।

मल्लवादि को इच्छित वरदान दिया।[1] **प्रभावकचरित** (१०।३२) के अनुसार सरस्वती ने मल्लवादि को मात्र एक ही श्लोक द्वारा सम्पूर्ण शास्त्र का अर्थ समझने की अलौकिक शक्ति प्रदान की थी :

"श्लोकेनैकेन शास्त्रस्य सर्वमर्थं ग्रहीष्यसि।"

एक दूसरी कथा वृद्धिवादिसूरि (लगभग चौथी शती ई०) से सम्बन्धित है जिसने २१ दिनों के उपवास द्वारा जिनालय में सरस्वती का आह्वान किया था। इस कठिन आराधना से प्रसन्न होकर सरस्वती ने वृद्धवादि को सभी विद्याओं (सर्वविद्यासिद्ध) में पारंगत होने का वरदान दिया था। सरस्वती के वरदान के बाद वृद्धवादि ने मान्त्रिक शक्ति द्वारा प्रज्ञा मूसल पर पुष्पों की वर्षा का सार्वजनिक प्रदर्शन भी किया था।[2]

प्रबन्धकोश के **हरिहर-प्रबन्ध** (१२) में भी सारस्वत शक्ति से सम्बन्धित एक रोचक कथा मिलती है। वस्तुपाल के दरबार में गौड़ कवि हरिहर ने गुजरात के कवि सोमेश्वर को अपमानित किया था। सोमेश्वर ने १०८ श्लोकों की रचना की और उसे वस्तुपाल और हरिहर को सुनाया। स्तोत्र सुनकर हरिहर ने कहा कि यह मूल रचना न होकर भोजदेव की रचना की अनुकृति है जिसे उन्होंने "सरस्वती कण्ठाभरण प्रासाद" के संग्रह में देखा था। अपनी बात की पुष्टि में हरिहर ने सम्पूर्ण स्तोत्र ही दुहरा दिया। कुछ समय पश्चात् स्वयं हरिहर ने वस्तुपाल को यह बताया कि सारस्वत मंत्र की साधना के फलस्वरूप प्राप्त अपूर्व स्मरणशक्ति के कारण ही वे १०८ श्लोकों, षट्पदकाव्य तथा अन्य अनेक बातों को केवल एक बार सुनकर ही याद रखने में समर्थ थे। इसी कारण वे सोमेश्वर के १०८ श्लोकों की तत्काल पुनरावृत्ति कर सके थे।[3]

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के ध्यानमंत्रों में तांत्रिक शैली में सरस्वती-पूजन के अनेक सन्दर्भ हैं। जैन ग्रन्थों में देवी को दो, चार या उससे अधिक भुजाओं वाला और विविध आयुधों से युक्त बताया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में देवी का वाहन हंस है जबकि दिगम्बर परम्परा में देवी मयूरवाहनी बताई गई हैं। सर्वप्रथम बप्पभट्टिसूरि के **शारदास्तोत्र** में सरस्वती पूजन का उल्लेख मिलता है। बप्पभट्टि की **चतुर्विंशतिका** में ऋषभनाथ, मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत जिनों के साथ भी श्रुतदेवता के रूप में सरस्वती का आह्वान किया गया है।[4] मल्लिषेणकृत **भारतीकल्प** एवं **सरस्वती-कल्प**, हेमचन्द्रसूरिकृत **सिद्धसारस्वत-स्तव** और जिनप्रभ-

१. **प्रभावकचरित** : १० मल्लवादिसूरिचरित २२-३५; **प्रबन्धचिन्तामणि** (सी० एच० टॉनी अनु०), पृ० १७१-७२

२. **प्रबन्धकोश** : वृद्धवादि-सिद्धसेनप्रबन्ध, पृ० १५; **प्रभावकचरित** : ८ वृद्धवादिसूरिचरित, श्लोक ३०-३१

३. होमकाले गीर्देवी प्रत्यक्षाऽऽसीत्। वरं वृणीष्वेत्याह स्म माम्। मया जगदे-जगदेकमातर। यदि तुष्टाऽसि तदा एकदा भणितानां १०८ सङ्ख्यानां ऋचां षट्पदानां काव्यानां वस्तुकानां घत्तानां दण्डकानां वाऽवधारणे समर्थो भूयासम्। देव्याचष्ट—तथाऽस्तु।

प्रबन्धकोश : १२, हरिहरप्रबन्ध पृ० ५९-६०

४. **चतुर्विंशतिका** ४.१, ७६.१९, ८०.२०

सूरिकृत **शारदास्तवन** (लगभग १४वीं शती ई०) जैसे तान्त्रिक रचनाओं में शान्तिक, पौष्टिक, स्तम्भन, मारण, उच्चाटन जैसे तान्त्रिक साधनाओं में सरस्वती साधना के प्रचुर उल्लेख हैं। तांत्रिक साधनाओं के अन्तर्गत उनके सकलीकरण, अर्चन, यंत्रविधि, पीठ-स्थापना, सौभाग्यरक्षा एवं वश्य मंत्रों के भी पर्याप्त उल्लेख हैं। १०वी-११वों शती ई० में सरस्वती के भयंकर स्वरूपों वाले साधना मंत्र भी लिखे गए। **भारतीकल्प**, अर्हद्दासकृत **सरस्वतीकल्प**, शुभचन्द्रकृत **सारस्वतमंत्रपूजा** (लगभग १०वी शती ई०) एवं एकसंधिकृत **जिन-संहिता** में त्रिनेत्र एवं अर्द्धचन्द्र से युक्त जटाधारी सरस्वती को भयंकर स्वरूपा और हुंकारनाद करने वाली बताया गया है।[1] उपर्युक्त विशेषताएँ देवी की शिव से निकटता भी दर्शाती हैं। बप्पभट्टि ने **सरस्वतीकल्प** में देवी का आह्वान भी गौरी नाम से ही किया है।[2] उल्लेख्य है कि **स्कन्दपुराण** के **सूतसंहिता** (लगभग १३वीं शती ई०) में भी जटा से शोभित सरस्वती त्रिनेत्र तथा अर्द्धचन्द्र युक्त निरूपित हैं।[3] कुछ जैन ग्रन्थों में सरस्वती के करों में अंकुश और पाश का उल्लेख भी उनके शक्ति स्वरूप को ही प्रकट करता है।[4] ये आयुध सम्भवतः सरस्वती द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने तथा उस पर देवी के पूर्ण नियंत्रण के भाव को व्यक्त करते हैं। जैन ग्रन्थों में सरस्वती को काली, कपालिनी, कौली, विज्ञा, त्रिलोचना, रौद्री, खड्गिनी, कामरूपिणी, नित्या, त्रिपुरसुन्दरी, चन्द्रशेखरी, शूलिनी, चामुण्डा, हुंकार एवं भैरवी जैसे नामों से भी सम्बोधित किया गया है जो उनके तांत्रिक स्वरूप को और भी स्पष्ट करती हैं।[5] **विद्यानुशासन** (लगभग १५वीं शती ई०) में भयंकर दर्शना त्रिनेत्र वागीश्वरी को तीक्ष्ण और लम्बे दांतों तथा बाहर निकली हुई जिह्वा वाली बताया गया है।[6] वर्द्धमानसूरि (लगभग १४१२ ई०) ने **आचारदिनकर** में सरस्वती की गणना ६४ योगिनियों में भी की है।[7]

सरस्वतीकल्प, **भारतीकल्प** एवं **सरस्वतीयंत्रपूजा** में सरस्वती की साधना के लिए विभिन्न चामत्कारिक यंत्रों के निर्माण से सम्बन्धित विस्तृत उल्लेख भी मिलते हैं।[8] **सरस्वती यंत्रों** में

---

१. अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी ।
त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता ॥—**भारतीकल्प** श्लोक २
सारस्वतयंत्रपूजा (यू०पी० शाह के लेख आइकनोग्राफी ऑव सरस्वती के पृ० २०१, पाद टिप्पणी २९, पृ० २११, पाद टिप्पणी ७१ से उद्धृत।

२. **सरस्वती-कल्प**—श्लोक ६, **भैरवपद्मावती कल्प** के १२वें परिशिष्ट के रूप में।

३. टी० ए० गोपीनाथ राव, **एलिमेण्ट्स ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी**, खण्ड १, भाग २, दिल्ली, १९७१ (पु० मु०), पृ० ३७८

४. अंकुश और पाश क्रमशः इन्द्र और वरुण (और यम) के मुख्य आयुध रहे हैं जो तांत्रिक देवों के भी प्रमुख आयुध हैं। सरस्वती के हाथों में इन आयुधों का दिखाया जाना भी उनके शक्ति पक्ष को प्रकट करता है।

५. **श्रीसरस्वतीस्तोत्र**, **जैन स्तोत्र सन्दोह**, खण्ड १, १०७, पृ० ३४५-४६.

६. यू० पी० शाह के लेख—'सुपर नेचुरल बीइंग्स इन दि जैन तंत्राज', **आचार्य ध्रुव स्मृति ग्रन्थ**, भाग ३, अहमदाबाद, १९४६, पृ० ७५.

७. **आचारदिनकर**, भाग २, प्रतिष्ठाविधि (भगवती मण्डल), बम्बई, १९२३, पृ० २०७.

८. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव सरस्वती', पृ० २११-१२.

कभी-कभी सरस्वती परिवार के भी विस्तृत और रोचक सन्दर्भ हैं। बप्पभट्टिसूरिकृत **सरस्वतीकल्प** की यंत्र पूजा में सरस्वती मण्डल या यंत्र में मोहा, नन्दा, भद्रा, जया, विजया, अपराजिता, जम्भा, स्तम्भा, १६ महाविद्याओं (रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि), अष्टदिक्पालों, अष्टमातृकाओं[१] तथा अष्टभैरवों के पूजन के भी उल्लेख हैं।[२] बप्पभट्टि और मल्लिषेण ने **सरस्वती-यंत्र-पूजा-विधि** में अष्ट, द्वादश, षोडश, चौसठ, १०८ तथा एक हजार पंखुड़ियों वाले पद्म पर बनाये जाने वाले कुछ यंत्रों, होमकुण्ड में सम्पन्न विभिन्न तांत्रिक क्रियाओं एवं दस हजार, बारह हजार, एक लाख तथा इससे भी अधिक बार सरस्वती मंत्रों के जाप की बात बताई है।[३] **सरस्वतीकल्प** में इन तांत्रिक साधनाओं को सिद्धसारस्वत बीज कहा गया है।

बप्पभट्टिसूरिकृत **शारदास्तोत्र** में ही सर्वप्रथम सरस्वती से सम्बन्धित मंत्र (ओम्, ह्रीम्, क्लीम्, ब्लिम् श्रीहसकल ह्रीम् ऐं नमो) का उल्लेख हुआ है।[४] दस हजार होमों के साथ एक लाख बार इस मंत्र का जाप करने से साधक को अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त होती है।[५] इसी ग्रन्थ में आगे यह भी उल्लेख है कि सरस्वती की साधना से साधक चातुर्य-चिन्तामणि बन जाता है।[६] **विद्यानुवादांगजिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय** में सरस्वती से सम्बन्धित एक अन्य मंत्र (ओम् ऐं ह्सक्लीम् वाग्देव्यै नमः) का उल्लेख मिलता है।[७] जिनप्रभसूरि के **शारदास्तवन** में वर्णित सारस्वत मंत्र इस प्रकार है : 'ओम् ऐं ह्रीम् श्रीम् वद वद वाग्वादिनी भगवती सरस्वती तुभ्यम् नमः'।[८] कुण्डलिनीयोग के ज्ञाता बप्पभट्टि के अनुसार सारस्वत मंत्रोच्चारण महाप्रज्ञाबुद्धि, वाग्सिद्धि, वचन-सिद्धि तथा काव्यसिद्धि जैसी शक्तियों को देने वाला है।[९]

मल्लिषेण ने **भारतीकल्प** में 'ओम् ह्रीम् श्रीम् वद वद वाग्वादिनी स्वाहा' को सरस्वती का मूलमंत्र बताया है।[१०] मल्लिषेण के अनुसार होम सहित १२ हजार बार इसके मंत्रोच्चार से साधक सरस्वती के समान (वागीश्वरी सम) हो जाता है।[११] मल्लिषेण ने सारस्वत शक्ति की प्राप्ति से

---

१. ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वाराही, वैष्णवी, चामुण्डा, चण्डिका और महालक्ष्मी—**सरस्वतीकल्प**, पृ० ७३.

२. **सरस्वतीकल्प**, परिशिष्ट १२—पद्मावतीकल्प, पृ० ६९-७६.

३. **भैरवपद्मावतीकल्प** के परिशिष्ट ११ और १२ में यंत्रपूजा का विस्तृत उल्लेख हुआ है : पृ० ६१-७८.

४. **चतुर्विंशतिका** के परिशिष्ट—शारदास्तोत्र के श्लोक १० में (पृ० १८३) सरस्वती का बीजमंत्र दिया गया है।

५. **शारदास्तोत्र**, श्लोक १०.

६. न स्यात् कः स्फुटवृत्तचक्ररचनाचातुर्यचिन्तामणिः ॥—**सरस्वतीकल्प**, श्लोक ६.

७. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव सरस्वती', पृ० २०७, पा० टि० ५७.

८. मोहनलाल भगवानदास झवेरी, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० ३२२.

९. हेमचन्द्र ने अपने शिष्यों की बौद्धिक शक्ति में वृद्धि के लिए सारस्वतमंत्र के साथ चन्द्रचन्दन गुटी के भक्षण का विधान किया था। **सरस्वतीकल्प**, पृ० ७८.

१०. **भारतीकल्प**, पृ० ६२.

११. **भारतीकल्प**, श्लोक १५, पृ० ६२.

सम्बन्धित विभिन्न यंत्रों और मंत्रों का भी विस्तृत उल्लेख किया है। **भारतीकल्प** में तो देवी के भयानक स्वरूप वाले वामाचार साधना के भी स्पष्ट सन्दर्भ हैं। इनमें स्त्रीमोहन तथा काम इच्छा पूर्ति से सम्बन्धित मंत्र विशेषतः उल्लेखनोय हैं। नवाक्षरो विद्या की तंत्र साधना "सुभगायोना" की उपस्थित में सम्पन्न होती थी। इस ग्रन्थ में सुन्दर स्त्रियों और देवांगनाओं (वनिता कपाल यंत्र) को सम्मोहित करने वाले तथा शत्रुओं को अकाल मृत्यु देने और प्रेतालय भेजने से सम्बन्धित यंत्रों तथा मंत्रों का भी वर्णन हुआ है। उच्चाटन मंत्रों में फट्, वषट् और स्वाहा जैसी तांत्रिक अभिव्यक्तियों का प्रयोग होता था। ये साधनायें श्मशान जैसे स्थलों पर की जाती थीं। इन साधनाओं से सम्बन्धित मंत्रोच्चार सुनने में भयावह होते थे। इनमें देवी के पाश, अंकुश और बाण जैसे आयुधों से युक्त भयंकर स्वरूप का ध्यान किया गया है। ग्रन्थों में सरस्वती मंत्र सिद्धि के समय आने वाली विभिन्न बाधाओं को दूर करने वाले सुरक्षा मंत्रों के भी उल्लेख हैं।[१]

एलोरा (महाराष्ट्र), नालन्दा (बिहार), कुर्किहार (बिहार), गुर्गी (रीवा, मध्यप्रदेश), हिंगलाजगढ़ (मन्दसोर, मध्य प्रदेश), लोखारी (बांदा, उत्तर प्रदेश), मल्हार (बिलासपुर, मध्य प्रदेश), भुवनेश्वर (उड़ीसा) एवं भेड़ाघाट (त्रिपुरी, मध्य प्रदेश) जैसे स्थलों से मिली तांत्रिक प्रभावशाली बौद्ध एवं ब्राह्मण मूर्तियों की तुलना में जैन सरस्वती प्रतिमाओं में तंत्र का प्रभाव अत्यल्प रहा है।[२] जैन परम्परा में मध्य काल में सरस्वती-पूजन में तांत्रिक भाव की पूर्व स्वीकृति के बाद भी उनकी प्रतिमाओं में तांत्रिक प्रभाव बहुत कम दिखाई देता है। जैन मूर्तियों में सर्वदा सरस्वती का अनुग्रहकारी शान्त स्वरूप ही प्रदर्शित हुआ है। केवल कुछ ही उदाहरणों में विद्या, संगीत और अन्य ललितकलाओं की देवी सरस्वती के साथ शक्ति के कुछ तांत्रिक भाव वाले लक्षण मिलते हैं।

जैन और ब्राह्मण परम्परा में सरस्वती के लक्षणों में अद्भुत समानता देखने को मिलती है। दोनों ही परम्पराओं की प्रतिमाओं में सरस्वती के करों में पुस्तक, वीणा, अक्षमाला, कमण्डलु, स्रुक, अंकुश तथा पाश जैसे आयुध दिखाये गये हैं। जैन ग्रन्थ **आचारदिनकर** में उपर्युक्त आयुधों का उल्लेख जैन-श्रुतदेवता और ब्राह्मणी दोनों ही के साथ हुआ है। सरस्वती के समान ही इसमें चतुर्भुजा, हंसवाहनी, ब्राह्मणी भी वीणा, पुस्तक, पद्म तथा अक्षमाला से युक्त बतायी गयी हैं।[३] यद्यपि जैन ग्रन्थों में सरस्वती के साथ स्रुक का अनुल्लेख है, पर मूर्त उदाहरणों में उनके साथ स्रुक का अंकन अनेकशः मिलता है जो व्यावहारिक स्तर पर स्पष्टतः सरस्वती के ब्रह्मा से सम्बन्धित होने का संकेत है।[४]

---

१. **भारतीकल्प**, श्लोक ६५-७६.

२. यद्यपि कुछ ध्यान मंत्रों में सरस्वती को जटा में अर्धचन्द्र और त्रिनेत्र से युक्त बताया गया है, किन्तु मूर्त उदाहरणों में ये विशेषताएँ नहीं मिलती हैं।

३. ॐ ह्रीं श्रीं भगवति वाग्देवते वीणापुस्तकमौक्तिकाक्षवलयश्वेताब्जमण्डितकरे शशधरनिकर गौरि हंसवाहने इह प्रतिष्ठामहोत्सवे आगच्छ.

आचारदिनकर, भाग २, पृ० १५८ (बम्बई, १९२३)

४. ये मूर्तियां कुंभारिया के पार्श्वनाथ मन्दिर (पूर्वी भिति ल० १२वीं शती ई०), तारंगा के अजितनाथ मन्दिर (१२वीं शती० ई०), आबू के विमलवसही (देवकुलिका ४८ का वितान ल० ११५० ई०) और जालोर के महावीर मन्दिर (१२वीं शती ई०) में हैं।

प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में द्विभुजी सरस्वती को पुस्तक और पद्म (या जलपात्र या अक्षमाला) लिए तथा हंस पर आरूढ़ बताया गया है।[1] शुभचन्द्रकृत **सरस्वती-यंत्र-पूजा** में मयूरवाहनी द्विभुजी सरस्वती त्रिनेत्र तथा करों में अक्षमाला और पुस्तक से युक्त निरूपित हैं।[2] शास्त्र और शिल्प दोनों में सरस्वती का चतुर्भुजी रूप ही सर्वाधिक लोकप्रिय था। वाहन के अतिरिक्त दोनों ही सम्प्रदायों में देवी के लक्षण समान हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थों में सरस्वती को वरदमुद्रा, पद्म, पुस्तक और अक्षमालाधारी बताया गया है।[3] बप्पभट्टिसूरि कृत **सरस्वतीकल्प** (लगभग १०वीं-११वीं शती ई०) में सरस्वती के आयुधों के दो समूह वर्णित हैं; एक में देवी अभयमुद्रा, वरदमुद्रा, पुस्तक और पद्म तथा दूसरे में अभय और वरदमुद्रा के स्थान पर वीणा और अक्षमाला से युक्त बताई गई हैं।[4] मल्लिषेण के **भारतीकल्प** (लगभग ११वीं शती ई०) में देवी के अभयमुद्रा, ज्ञानमुद्रा, अक्षमाला और पुस्तक से युक्त स्वरूप का ध्यान किया गया है।[5] नवीं शती ई० के बाद श्रुत देवता यानी सरस्वती को संगीत की देवी के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया और वरदमुद्रा के स्थान पर उनके साथ वीणा का प्रदर्शन किया गया।[6] संगीत से सम्बद्ध होने के बाद ही नृत्य के प्रतीक मयूर को देवी का वाहन बनाया गया। **जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय** में सरस्वती के एक हाथ में वीणा के स्थान पर पाश का उल्लेख मिलता है।[7] पादलिप्तसूरि(तृतीय)कृत **निर्वाणकलिका** (लगभग ९००ई०) में सरस्वती के करों में पुस्तक, अक्षमाला, पद्म, वरदमुद्रा तथा कुछ अन्य आयुधों का उल्लेख हुआ है।[8]

सरस्वती की प्रारम्भिकतम प्रतिमा कंकालीटीला, मथुरा (१३२ या १४९ ई०) से प्राप्त हुई है।[9] सम्प्रति यह मूर्ति राज्य संग्रहालय, लखनऊ में है। पीठिका पर उकडूं बैठी द्विभुजी देवी के

१. बप्पभट्टिसूरि के **चतुर्विंशतिका** (७६.१९) एवं **शारदा स्तोत्र** (श्लोक १-२, ८) में सरस्वती के आयुधों के दो स्वतंत्र समूह वर्णित हैं। इनमें सरस्वती के करों में कमण्डलु और अक्षमाला एवं पुस्तक और पद्म के उल्लेख हैं।

२. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव सरस्वती', पृ० २०१, पा० टि० २९.

३. तथा श्रुतदेवतां शुक्लवर्णां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदकमलान्वितदक्षिणकरां पुस्तकाक्षमालान्वित-वामकरां चेति।

निर्वाणकलिका (पादलिप्तसूरिकृत—ल० ९०० ई०) पृ० ३७.

(सं० मोहनलाल भगवानदास, मुनि श्री मोहनलाल जी जैन ग्रन्थमाला ५, बम्बई, १९२६)

४. ····चोर्ध्वरूपामभयदवरदां पुस्तकाम्भोजपाणिं।—**सरस्वतीकल्प**, श्लोक ११

वीणापुस्तकमौक्तिकाक्षवलयश्वेताब्जवल्गत्करां।—**सरस्वतीकल्प**, श्लोक ६.

५. अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी ।

त्रिनेत्रा पातुमां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता ॥—**भारतीकल्प**, श्लोक २.

६. मौक्तिकाक्षवलयाब्जकच्छपीपुस्तकाङ्कितकरोपशोभिते।

श्रीशारदास्तवन (जिनप्रभसूरिकृत, ल० १२९३-१३३३ ई०) श्लोक ७ :

भैरवपद्मावतीकल्प (पृ० ८१) से उद्धृत

७. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव सरस्वती', पृ० २०७, पाद टिप्पणी ५८.

८. यू० पी० शाह, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० २११, पादटिप्पणी ७०.

९. के० डी० बाजपेयी, 'जैन इमेज ऑव सरस्वती इन दि लखनऊ म्यूजियम', **जैन एन्टिक्वेरी**, खण्ड ११, अ० २, जनवरी, १९४६, पृ० १-४.

बायें हाथ में पुस्तक है, जबकि दाहिना हाथ खण्डित है (किन्तु अवशिष्ट भाग में अभयाक्ष स्पष्ट है)। हंसवाहन यहाँ नहीं दिखाया गया है। दिगम्बर स्थल देवगढ़ (ललितपुर, उत्तर प्रदेश) से लगभग नवीं से १२वीं शती ई० के मध्य की सरस्वती की कई स्वतंत्र प्रतिमायें मिली हैं। इनमें द्विभुजी और चतुर्भुजी देवी कभी हंस और कभी मयूर पर आरूढ़ है। २४ यक्षियों के सामूहिक निरूपण (मन्दिर १२, ८६२ ई०) में भी सरस्वती की दो मूर्तियाँ आकारित हैं। अभिनन्दन तथा सुपार्श्वनाथ जिनों की यक्षियों को यहाँ लेखों में "भगवती सरस्वती" और "मयूरवाहि(नी)" कहा गया है।[1] देवगढ़ के मन्दिर (११वीं शती ई०) की त्रितीर्थी जिन प्रतिमा में सरस्वती का अंकन विशेष महत्त्व का है। इस त्रितीर्थी जिन प्रतिमा में दो जिनों के साथ बायीं ओर सरस्वती की भी आकृति बनी है, जो आकार में जिन मूर्तियों के बराबर है। इस प्रकार श्रुतदेवता को यहाँ जिनों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की गई है। त्रिभंग में खड़ी चतुर्भुजी सरस्वती के करों में वरदमुद्रा, अक्षमाला, पद्म और पुस्तक है तथा समीप ही मयूर वाहन की आकृति भी बनी है। देवगढ़ में द्विभुजी सरस्वती के हाथों में सामान्यतः अभयमुद्रा और पुस्तक दिखाया गया है (मन्दिर संख्या १६)। धम्मिल्ल या जटाजूट से शोभित देवगढ़ की चतुर्भुजी प्रतिमाओं में देवी के करों में वरदमुद्रा, व्याख्यान-अक्षमाला, सनालपद्म तथा पुस्तक प्रदर्शित हैं।[2] एक उदाहरण में (मन्दिर संख्या १९) पुस्तक, व्याख्यान-मुद्रा और मयूरपीच्छिका लिए सरस्वती के साथ चामरधारी सेवकों, जिनों एवं जैन आचार्यों की भी आकृतियाँ उकेरी हैं। यह प्रतिमा स्पष्टतः देवी के जिनवाणी या आगमिक ग्रन्थों की अधिष्ठात्री देवी होने का भाव दरशाती है।

दिगम्बर स्थल खजुराहो (छतरपुर, मध्य प्रदेश) में देवी की कुल आठ मूर्तियाँ हैं। एक उदाहरण को छोड़कर अन्य सभी में देवी चतुर्भुजी हैं।[3] लगभग ९५० ई० से ११०० ई० के मध्य की इन मूर्तियों में देवी ललितमुद्रा में पुस्तक, वीणा (एक या दोनों हाथों में), पद्म (सामान्यतः दोनों हाथों में) और वरदमुद्रा (या जलपात्र या अक्षमाला) के साथ निरूपित हैं। उनके साथ हंस वाहन केवल पार्श्वनाथ मन्दिर (लगभग ९५०-७० ई०) के उत्तरी अधिष्ठान की मूर्ति में ही उत्कीर्ण है। इसी मन्दिर के दक्षिणी अधिष्ठान की मूर्ति में सरस्वती षड्भुजी हैं और उनके ऊपर के दो हाथों में पद्म और पुस्तक हैं, तथा मध्य के दोनों हाथ वीणा वादन कर रहे हैं; शेष दो हाथों में वरदमुद्रा तथा जलपात्र हैं। देवी के साथ चामरधारिणी सेविकायें, मालाधर एवं लघु जिन आकृतियाँ भी आकारित हैं।

कर्नाटक के विभिन्न स्थलों से भी दिगम्बर परम्परा की कुछ सरस्वती प्रतिमायें मिली हैं। इनमें देवी के शक्ति पक्ष को उजागर किया गया है। ११वीं-१२वीं शती ई० की ऐसी तीन मूर्तियाँ

---

१. क्लाज़ बून, **दि जिन इमेजेज ऑव देवगढ़,** लिडेन; १९६५, पृ० १०२, १०५ : सुपार्श्वनाथ की चतुर्भुजा मयूरवाहना यक्षी त्रिभंग में खुदी है और उसके करों में व्याख्यानमुद्रा, चामर-पद्म, पुस्तक और शंख हैं।

२. तीन उदाहरणों में से दो मन्दिर सं० १२ और १९ में हैं जबकि तीसरा चहारदीवारी के प्रवेश द्वार पर है।

३. पार्श्वनाथ मन्दिर के दक्षिण अधिष्ठान की मूर्ति।

क्रमशः पंचकूट बस्ती (हुम्चा, शिमोगा), शान्तिनाथ बस्ती (जिननाथपुर) तथा आदिनाथ मन्दिर (हलेबिड, हासन) से मिली है।[1] ध्यान-मुद्रा में विराजमान सरस्वती के साथ वाहन नहीं दिखाया गया है। देवी के करों में अभयाक्ष, अंकुश, पाश तथा पुस्तक प्रदर्शित हैं। इन मूर्तियों में विशाल एवं खुले नेत्रों और खुले तथा कुछ फूले हुए ओठों के माध्यम से देवी के शक्ति स्वरूप को प्रकट करने की चेष्टा की गयी है।

पश्चिमी भारत के श्वेताम्बर जैन मन्दिरों, विशेषतः ओसियाँ, कुंभारिया, दिलवाड़ा (माउण्ट आबू) और तारंगा, में भी सरस्वती की पर्याप्त मूर्तियाँ हैं। ओसियां (जोधपुर, राजस्थान) के महावीर मन्दिर (८वीं शती ई०) की द्विभुजी और चतुर्भुजी प्रतिमाओं में देवी मयूर या हंस वाहन हैं। द्विभुजी देवी पद्म और पुस्तक, तथा चतुर्भुजी देवी (मुखमण्डप-पश्चिम), स्रुक, पद्म, पद्म एवं पुस्तक से युक्त हैं। ओसियाँ की जैन देव-कुलिकाओं (लगभग १०वीं-११वीं शती ई०) की चतुर्भुजी मूर्तियों में हंसवाहना देवी की दो भुजाओं में पुस्तक और पद्म तथा दो में अभयमुद्रा और जलपात्र (या वरदाक्ष और पुस्तक) हैं।

कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात) के महावीर, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और सम्भवनाथ मन्दिरों (११वीं से १३वीं शती ई०) पर भी सरस्वती की कई मूर्तियां हैं। इनमें ललितासीन सरस्वती हंसवाहना और चतुर्भुजा हैं। देवी के करों में वरदमुद्रा (या अभयमुद्रा या वरदाक्ष), पद्म, पुस्तक और जलपात्र (या फल) प्रदर्शित हैं।[2] शान्तिनाथ मन्दिर (नवचौकी वितान) के एक उदाहरण में देवी के साथ दो नृत्यांगनायें भी आमूर्तित हैं। राजस्थान के पाली जिले में स्थित घाणेराव के महावीर मन्दिर (देवकुलिका, ११५६ ई०), तथा नाडोल के पद्मप्रभ मन्दिर (११वीं शती ई०) की मूर्तियों में ललितासीन सरस्वती के साथ वाहन नहीं दिखाया गया है। इनमें चतुर्भुजा देवी के हाथों में वरद या अभयमुद्रा, पुस्तक, वीणा तथा जलपात्र (या फल) प्रदर्शित हैं। माउण्ट आबू (राजस्थान) के विमलवसही (१२वीं शती के अन्त) और लूणवसही (१३वीं शती ई०) तथा तारंगा (मेहसाणा, गुजरात) के अजितनाथ मन्दिर (१२वीं शती ई०) के उदाहरणों में सरस्वती द्विभुजी, चतुर्भुजी, षड्भुजी, अष्टभुजी और षोडशभुजी हैं। देवी की भुजाओं की संख्या में वृद्धि भी भी उनके शक्ति पक्ष को ही प्रकट करती है। हंसवाहना चतुर्भुजी देवी सामान्यतः वरद (या अभय-मुद्रा), पद्म, पुस्तक (या स्रुक या वीणा) तथा फल (या जलपात्र) से युक्त हैं।

विमलवसही की दो सरस्वती प्रतिमायें विशेषतः उल्लेखनीय हैं। दक्षिणी बरामदे के वितान की मूर्ति में देवी दो पुरुष आकृतियों से आवेष्टित हैं। नमस्कारमुद्रा में निरूपित इन आकृतियों के नीचे उनके नाम भी खुदे हैं। दाहिने पार्श्व की श्मश्रुयुक्त आकृति को लेख में "सूत्रधार लोयण" और बायें पार्श्व की मापक दण्ड से युक्त आकृति को "सूत्रधार केला" बताया गया है। ये दोनों क्रमशः

---

१. समान लक्षणों वाली एक मूर्ति तमिलनाडु के तिरुपरुत्तिकुणरम् के मन्दिर में भी है।

२. पार्श्वनाथ मन्दिर की पूर्वी भित्ति की मूर्ति में पद्म के स्थान पर स्रुक दिखाया गया है। इसी मन्दिर की कुछ अन्य मूर्तियों में पुस्तक के स्थान पर वीणा प्रदर्शित है। कुंभारिया के नेमिनाथ मन्दिर की कुछ मूर्तियों में पद्म और जलपात्र के स्थान पर स्रुक और वीणा दिखाये गये हैं।

मन्दिर के मुख्य स्थपति और शिल्पी थे।[1] प्रस्तुत मूर्ति सरस्वती के ललितकलाओं की देवी होने का स्पष्ट उदाहरण है। विमलवसही की भ्रमिका के वितान की एक षोडशभुजी मूर्ति में हंसवाहना देवी भद्रासन पर ललितमुद्रा में बैठी हैं और उनके हाथों में वरद-मुद्रा, शंख (वैष्णवी का लक्षण), वीणा (दो में), पाश, कर्तरीमुद्रा, लघुदण्ड (दो में—सम्भवतः मापक दण्ड), शृङ्खला (दो में), अंकुश, अभयाक्ष, फल, पुस्तक और जलपात्र हैं। दोनों पार्श्वों में नृत्यरत पुरुष आकृतियां भी बनी हैं जो देवी के संगीत की अधिष्ठात्री देवी होने की सूचक हैं।

लूणवसही में हंसवाहना देवी की चतुर्भुजी और षड्भुजी मूर्तियां हैं। नवचौकी के चार स्तम्भों में से प्रत्येक पर सरस्वती की आठ-आठ लघु आकृतियां उकेरी हैं। इनमें चतुर्भुजा सरस्वती वरदमुद्रा (या वरदाक्ष), सनालपद्म (या पुस्तक), पुस्तक (या वीणा) और जलपात्र से युक्त हैं। दो उदाहरणों में सरस्वती चतुर्भुजी हैं। ये उदाहरण देवकुलिका ११ की छत और रंगमण्डप के समीपवर्ती छत (उत्तर) पर उत्कीर्ण हैं। प्रथम उदाहरण में हंसवाहना देवी अभयाक्ष, पद्म (दो में), जलपात्र तथा ज्ञान-मुद्रा (मध्य की भुजाओं में) से युक्त हैं। दूसरे उदाहरण में देवी संगीत की देवी के रूप में निरूपित हैं। यहाँ देवी के दो हाथों में मंजीरा तथा एक में वीणा प्रदर्शित हैं; शेष में वरदाक्ष, चक्राकार पद्म और पुस्तक हैं।

तारंगा के अजितनाथ मन्दिर की चतुर्भुजी मूर्तियों में हंसवाहना देवी के करों में वरदमुद्रा, अंकुश (या स्रुक या पद्म या वीणा), पुस्तक तथा जलपात्र (या फल) प्रदर्शित हैं। मूलप्रासाद पश्चिमी भित्ति की मूर्ति में देवी षड्भुजी हैं और उनके हाथों में वरदमुद्रा, स्रुक, पुस्तक, पद्म और जलपात्र हैं। त्रिभंग (या अतिभंग) में खड़ी अष्टभुजी देवी की भी दो मूर्तियां हैं। इनमें देवी वरदमुद्रा, पद्म (या माला), पद्मकलिका, पुस्तक, पाश (या छत्रपद्म), पद्म-कलिक (या पाश), कलश और पुस्तक लिए हैं।[2]

जैन सरस्वती की प्रतिमाओं में निःसन्देह पल्लू (बीकानेर, राजस्थान) से प्राप्त दो प्रतिमायें कलात्मक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। समान लक्षणों वाली इन प्रतिमाओं में से एक राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (संख्या १/६/२७८) और दूसरी बीकानेर के गंगा गोल्डेन जुबिली संग्रहालय (संख्या २०३) में सुरक्षित है। लगभग ११वीं शती ई० की इन त्रिभंग प्रतिमाओं में पद्मपीठिका पर लघु हंस आकृति भी बनी है। सौम्य स्वरूपा मनोज्ञ देवी करण्ड मुकुट और अन्य सुन्दर आभूषणों से सज्जित हैं। चतुर्भुजी देवी के करों में वरदाक्ष, पूर्ण विकसित पद्म, पुस्तक और जलपात्र हैं। पार्श्वों में वीणा और वेणु बजाती दो-दो स्त्री आकृतियां भी आकारित हैं, जो देवी की संगीत शक्ति की मूर्त अभिव्यक्ति है। गंगा गोल्डेल जुबिली संग्रहालय की मूर्ति में प्रभातोरण पर १६ महाविद्याओं की भी आकृतियां बनी हैं, जो सरस्वती की शक्ति अवधारणा को परिपुष्ट करती हैं।[3]

---

१. जयन्तविजय मुनि, **होली आबू** (अंग्रेजी अनु० यू० पी० शाह), भावनगर, १९५४, पृ० ५५, पादटिप्पणी २.

२. ये मूर्तियां मूलप्रासाद के क्रमशः दक्षिणी और उत्तरी भित्ति पर उकेरी गयी हैं।

३. बी० एन० शर्मा, **जैन इमेजेज**, दिल्ली, १९७९, पृ० १५-१९.

नवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में सिद्धायिका या सिद्धायिनी नाम से सरस्वती तीर्थंकर महावीर की यक्षी के रूप में भी निरूपित हुई।[१] सम्पूर्ण आगमिक साहित्य मूलतः महावीर की वाणी है। इसी कारण श्रुत देवता के रूप में आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को उनकी यक्षी भी बनाया गया। सरस्वती के समान ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में यक्षी सिद्धायिका को भी पुस्तक और वीणा के साथ निरूपित किया गया है।[२] महावीर का वाहन सिंह है, सम्भवतः इसी कारण सिद्धायिका यक्षी का वाहन भी सिंह हुआ। पर एक कन्नड़ी ध्यान श्लोक में सिद्धायिका का वाहन हंस भी बताया गया है।[३]

कला-इतिहास विभाग,
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी–५

१. द्रष्टव्य, यू० पी० शाह, 'यक्षिणी ऑव दि ट्वेण्टी-फोर्थ जिन महावीर', **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट**, बड़ौदा, खण्ड २२, अ० १-२, सितम्बर १९७२, पृ० ७०-७५; मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, **एलिमेण्ट्स ऑव जैन आइकनोगफी**, वाराणसी, १९८३, पृ० ५८-६४.

२. **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** (हेमचन्द्रकृत) १०.५.१२-१३; **निर्वाणकलिका** १८.२४; **मंत्राधिराजकल्प** (सागरचन्द्रसूरिकृत) ३.६६; **आचारदिनकर-प्रतिष्ठाधिकार** ३४.१; **प्रतिष्ठासारसंग्रह** ५.७३-७४.

३. यू० पी० शाह, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० ७५.

चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर का तीन जैन प्रतिमा-लेख

डॉ० अरविन्द कुमार सिंह

राजस्थान में स्थित सादडी नामक स्थान के चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर में बिठायी हुई तीन जैन मूर्तियों की पाद पीठिका पर महत्त्वपूर्ण अभिलेख टंकित हैं। अमेरिकन इन्सटीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज, रामनगर (वाराणसी) द्वारा हाल ही में इन अभिलेखों का छायाचित्र लिया गया है। इन लेखों की वाचना संक्षिप्त परिचय के साथ यहाँ दी जा रही है।

लेख संख्या १ :

यह लेख मन्दिर के गूढ़मण्डप के खत्तक में स्थापित की हुई गुरुमूर्ति के तीन प्रविभाग वाली पीठिका के बायें तथा मध्यभाग के हिस्से में खुदा हुआ है। मध्यभाग का लेख तीन पंक्तियों में खुदा है जबकि बायें भाग में केवल एक ही पंक्ति का लेख स्पष्ट है। शेष हिस्से का लेख चूना चढ़ जाने से अपठनीय हो गया है। अभिलेख का वर्ष १२७३ जैसा पढ़ा जाता है जो ईस्वी १२१६ के बराबर है। चैत्रगच्छ के धर्मसिंह सूरि का नाम अभिलेख में दिया है। इसके साथ ही सागरचन्द्र द्वारा किसी मुनि के स्मरण में मरणोपरान्त बनायी गई यह मूर्ति हो ऐसा कुछ अन्दाजा इस अभिलेख से निकल सकता है। अभिलेख की तीसरी पंक्ति पर चूना चढ़ जाने से पूरी वाचना और विषयवस्तु का ठीक खुलासा नहीं हो पाता।

मूल पाठ

१. ॥ सं० १२७३ वर्षे फागुण वदि २ रवि दिने श्री चैत्रगच्छे श्री धर्मसिघ सूरो
२. सूरीणां शुभग्गत्तिः + सिघ पु० सागरचन्द्रेण कारिता
३. .... ॥ श्री ॥

लेख संख्या २ :

मन्दिर में स्थापित की हुई अम्बिका देवी की संगमरमर में बनी हुई मूर्ति के पबासण पर के लेख-अनुसार प्रतिमा का समय "सं १२" है। लिपिशास्त्रीय लक्षणों और प्रतिमा की शैली को देखने से मूर्ति तथा लेख १३वीं शती ईस्वी का लगता है। अतः अभिलेख का समय संवत् [१३]१२ मानना ठीक होगा जो १२५५ ईस्वी के बराबर है। दो पंक्तियों वाला यह लेख अपूर्ण है। इसमें पल्लिका (राजस्थान का पालि गाँव) और उसका सां(शां)तिनाथ चैत्य उल्लिखित है। संभव है प्रतिमा असल में वहीं स्थापित रही हो।

मूल पाठ

१. सिद्धम् सं [१३*]१२ मार्ग्ग सु[दि*] १३ श्री ऊ० श्री पल्लिकास्थाने। श्री सां(शां)—
२. तिनाथ चैत्ये

लेख संख्या ३ :

संवत् १५०१ वर्ष का यह लेख पंचतीर्थ प्रतिमा की पीठिका के तीन हिस्सों पर खुदा है। बायें भाग में केवल तीन पंक्तियां खुदी हैं जबकि मध्यभाग में पाँच और दाहिने भाग में छः पंक्तियां हैं। मध्य दाहिने भाग की पंक्तियों के शुरू के कुछ अक्षर मिट जाने से अभिलेख का पूरा खुलासा संभव नहीं हो पाया है। इस अभिलेख में हेमतिलक सूरि, वीरचन्द्र सूरि, जयाणंद सूरि और प्रतिष्ठाकर्ता मुनितिलक सूरि के नाम अंकित हैं। एक ब्रह्माणगच्छीय हेमतिलक सूरि का नाम संवत् १४३७ (ईस्वी १३८०)[1] और संवत् १४४६ (ईस्वी १३८९)[2] के अभिलेखों से ज्ञात है। संभव है कि १४४४ ईस्वी की इस पंचतीर्थ प्रतिमा-लेख के हेमतिलक सूरि और ब्रह्माणागच्छीय हेमतिलक सूरि एक रहे हों। ऐसा स्वीकार करने पर ब्रह्माणगच्छ के तीन पश्चात् कालीन मुनियों के नाम इस अभिलेख से प्रकाश में आते हैं। यह प्रतिमा मूलतः ने(न)डूलाइ(नाडलाई, राजस्थान) के किसी पार्श्वनाथ जिनालय में रही होगी।

मूल पाठ

१. संवत् १५०१ वर्षे श्रीपार्श्वनाथः [प्रतिमा]स्थापितः
२. ने(?)ने(न)डूलाइ प्रासा[द]+ +न परिन+ + +श्रावके
३. छे श्री हेमतिलक सूरितः। तत् पट्टे श्री वीरचन्द्र सू[रि]+ +देम त०
४. श्री जयाणंद सूरि प्रतिष्ठित गछनायक
५. [श्री] मुनित्तिलक सूरि श्रा० ....
६. ....

प्रवक्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर—मध्यप्रदेश

१. पूरनचन्द नाहर, **जैन इन्सक्रिप्शन्स**, भाग २, लेखांक ११२३।
२. **वही**, भाग १, लेखांक ९६८।

गुजरात से प्राप्त कुछ महत्त्वपूर्ण जैन प्रतिमायें

प्रमोद कुमार त्रिवेदी

१९७७ में लगभग एक दर्जन धातु निर्मित कलाकृतियाँ भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, पश्चिमी मण्डल, बडोदरा के अधीक्षक, पुरातत्त्वज्ञ डॉ० चे० मार्गबन्धु द्वारा अधिकृत की गयी थीं। उन्होंने लेखक को उक्त कृतियाँ परीक्षण एवं अध्ययन हेतु प्रदान कीं तथा प्रस्तुत लेख तैयार करने का परामर्श दिया। यद्यपि इन कृतियों का मूल स्थान निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु शैलीगत विशिष्टताओं के आधार पर विवेचनाधीन प्रतिमायें गुजरात में निर्मित प्रतीत होती हैं। उपरोक्त समूह में उत्कीर्ण एवं अलिखित श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय की प्रतिमायें, चौमुखो, दीप-लक्ष्मी, गजारोही, गरुड़ एवं राष्ट्रकूट शैली की छापयुक्त किन्तु पर्याप्त अर्वाचीन कमल-धारिणी का एक नमूना भी सम्मलित है। तिथि की दृष्टि से इनका काल बारहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य का है। प्रस्तुत लेख में मात्र उत्कीर्ण एवं चुनी हुई कृतियों का ही विवेचन किया जा रहा है।

१. महावीर का चतुर्विंशतिपट्ट (कॉस्य, १७.०५ से० मी० × १०.०५ से० मी०)

भगवान् महावीर ध्यानमग्न, पद्मासन मुद्रा में एक उच्च त्रिरथ, सिंहासन पर रखी सादी पीठिका पर आसन्न हैं। मूल-नायक के सिर पर उष्णीश है, चेहरा अण्डाकार, नेत्र आयताकार एवं 'प्रलम्ब कर्ण पाश' हैं। वक्षः स्थल पर 'श्रीवत्स' लांछन रजत उरेकित है। सिर के पीछे भामण्डल तथा ऊपर कलशमय छत्र है। उनके पार्श्व में दोनों ओर एक तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित हैं, जिनके पैरों के मध्य वस्त्रों का अंकन विवेचनाधीन कृति के श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने की पुष्टि करता है। माणिक्य-माल की इकहरी सीमान्त रेखा के शीर्षस्थ भाग पर मयूर-युग्म से युक्त मंगल-कलश है, जिसके ठीक नीचे छत्राच्छादित एवं कायोत्सर्ग मुद्रा में पार्श्व तीर्थंकरों से युक्त एक अन्य तीर्थंकर ध्यान-मुद्रा में निरूपित हैं। मूल-नायक सहित सम्पूर्ण परिकर पर अंकित तीर्थंकरों की संख्या कुल चौबीस है। सिंहासन के सम्मुख संभवतया दो मृगों के मध्य एक धर्मचक्र एवं नवग्रहों का गढ़न प्रतीक रूप में किया गया है। (चित्र १—क)

प्रतिमा के पृष्ठ भाग पर अंकित लेख के अनुसार इसकी प्रतिष्ठापना सन् ११५० में हुई थी। देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण लेख के अनुसार प्रतिमा का प्रतिष्ठापन कार्य शान्तिप्रभ-सूरि द्वारा संवत् १२०७ (ई० ११५०) में वैशाख सुदि पंचमी, शुक्रवार के दिन श्रेष्टि वढपाल, श्रेष्ठि जमदेव एवं पुत्र सालदेव के भाई प्रर्णसिंह के कल्याणार्थ की गयी थी। (चित्र १—ख)

उत्कीर्ण लेख इस प्रकार है—

संवत् १२०७ वर्षे माघ सुदि ५ शुक्रे श्रे० वढपाल श्रे० (?) जमदेवाभ्या श्रेयार्थे पुत्र साल देवेन भातृ प्रर्नसिंह समेतेन चतुर्विंशतिपट्टकारितः प्रतिष्ठित बहदहछीयैः श्रीशान्तिप्रभसूरिभिः।

२. पार्श्वनाथ की पंचतीर्थिका प्रतिमा (कांस्य, १०.०५ से० मी० × ९ से० मी०)

श्वेताम्बर पंथ की इस कलाकृति में तीर्थंकर पार्श्वनाथ ध्यान मुद्रा में पद्मासन लगाये एक सादी गद्दी पर आसीन हैं। उनके कान लम्बे तथा अधरों का गढ़ाव कुछ मोटाई लिये है। इस 'सफण मूर्ति' में मूलनायक का सिर सप्त सर्पफणों द्वारा आच्छादित है। उनके दोनों पार्श्वों में चार अन्य जिन अंकित हैं, जिनमें से दो कायोत्सर्ग मुद्रा में तथा उपरिभाग में शेष दो तीर्थंकर कमलासन में बैठे हैं। इन चार तीर्थंकरों की शिरोभूषा मूल-नायक के सदृश्य है। पीठ दो उर्ध्व भित्तिस्तम्भों पर आश्रित क्षैतिज दण्ड युग्मों द्वारा निर्मित है। पृष्ठांकित आलेख के अनुसार यह पंचतीर्थिका प्रतिमा ई० १४४६ (वि० सं० १५०३) में प्रतिष्ठापित की गयी थी, तथापि उत्कीर्ण पीठ के ऊपरी भाग भग्न होने के कारण लेख की पूर्णरूपेण जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। (चित्र २—क, ख)

३- शान्तिनाथ की पंचतीर्थिका प्रतिमा (कॉस्य, १७.०२ से० मी० × ११.०५ से० मी०)

धातु-प्रतिमा की पीठिका के सम्मुख भाग में ॐ नमः एवं पाद चिह्न अंकित हैं। शान्तिनाथ जी ध्यानमग्न पद्मासन मुद्रा में एक सिंहासन पर आसन्न हैं। सिर के पीछे प्रभावली तथा ऊपर कलशयुक्त छत्र है जिसके पार्श्व में अभिषेक गजों का निरूपण हुआ है। मूल-नायक का सिर उष्णीश युक्त है तथा उनके नेत्र समचतुर्भुजीय आकार में प्रदर्शित हैं। मूल-नायक के पार्श्व में चार अन्य तीर्थंकरों का अंकन है। अधोभाग में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े जिनों के साथ एक चँवरधारी सेवक भी त्रिभंग-मुद्रा में खड़ा है। परिकर पर अंकित पद्मबन्ध का बाह्य भाग गजमुखों से आविर्भूत मौक्तिक शृङ्खला द्वारा सुसज्जित है। कलाकृति के शीर्षस्थ भाग पर मंगल कलश के साथ मयूर-युग्म प्रदर्शित है। सिंहासन पर वामाभिमुख सिंहयुग्म बारीकी से गढ़ा गया है। सिंहासन के बायीं ओर सोलहवें तीर्थंकर के यक्ष गरुड़ एवं दाहिनी ओर यक्षी निर्वाणी का मूर्तन किया गया है। उच्च अलंकृत पीठिका पर नमस्कार मुद्रा में एक उपासक तथा मध्य में धर्मचक्र के दोनों ओर एक मृग है। चक्र के दोनों ओर नौ बिन्दुआकार, मोटी एवं लघु आकृतियाँ (पाँच बांयी ओर तथा चार दाहिनी ओर) स्पष्टतया नवग्रहों की प्रतीक हैं। (चित्र ३—क)

इस कलाकृति की तिथि ई० १४६८ है। प्रतिमा के पृष्ठभाग पर देवनागरी लिपि में उत्कीर्ण लेख इस प्रकार है—

सं० (संवत्) १५२५ वै० (वैशाख) सु० श्रु० ३ गुरौ श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे भ० (भट्टारक) श्री सकलकीर्तितत्पट्टे भ० (भट्टारक) श्री विमलेन्द्रकीर्त्तिभिः श्री शान्तिनाथ बिम्बं प्रतिष्ठित हूँबड़ ज्ञातीय म० (महमू/महत्तर) करमसी (ह) भा० (भार्या) करमादे (वी) सु० (सुता) जइनालदे(वी) स० रांका। (चित्र ३—ख)

आलेख से विदित होता है कि उक्त जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठापना यशस्वी व्यक्ति करमसी (करमसिंह), पत्नी करमदेवी एवं पुत्री जइनदेवी द्वारा ई० १४६८ (सम्वत् १५२५), वैशाख सुदि ३ गुरुवार के दिन की गयी थी। प्रतिष्ठापन समारोह, दिगम्बर सम्प्रदाय (हूँबड़ जाति दिगम्बर मतावलम्बियों में होती है) के मूल संघ के सरस्वतीगच्छीय भट्टारक सकलकीर्त्ति के उत्तराधिकारी विमलेन्द्रकीर्त्ति द्वारा किया गया था।

४. पद्मावती (काँस्य, १९ से० मी० × १९.०५ से०मी०)

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती कमल दल चक्र के दोहरे आवर्त्तों द्वारा निर्मित्त पीठ पर ललितासन मुद्रा में आसीन हैं। समकालीन अन्य प्रतिमाओं की भाँति इसके नेत्रों, नासिका तथा अधरों का गढ़न विशेष परिष्कृत नहीं है। वह पद्म-कुण्डल, वलय, स्तनों के मध्य लटकता हार एवं पैरों में सादे पादवलय धारण किये हैं। घुटनों तक लम्बा अधोवस्त्र उदर-बंध द्वारा कसा है। इस चतुर्भुजीय प्रतिमा का दाहिना निचला हाथ वरद मुद्रा में है तथा ऊपरी दाहिना हाथ पाश धारण किये है। निचले बायें हाथ में बीजपूरक तथा ऊपरी बायें हाथ में गदा के सदृश्य अनगढ़ सनाल कमल हैं। उनका सिर तीन सर्प-फणों द्वारा सुरक्षित है। मुख्य प्रतिमा के ऊपरि भाग में पुष्पांकित गद्दी पर तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ध्यानमग्न कमलासन मुद्रा में आसीन हैं। उनका सिर सप्त फणों द्वारा आच्छादित है। प्रभावली के अतिरिक्त इस परिकर युक्त मूर्ति के दोनों ओर एक-एक गज मुख है, जिसके मुख से आविर्भूत माणिक्य शृङ्खला शीर्ष भाग पर मंगल कलश में समाप्त होती है। (चित्र ४—क) कृति के पृष्ठ भाग पर अंकित तिथियुक्त लेख से ज्ञात होता है कि प्रतिमा की स्थापना ई० १६३६ (संवत् १६९३) में माघ मास के कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन सतिनाग की पतिपरायणा पत्नी (नाम अपठनीय) द्वारा की गयी थी। प्रतिष्ठापन समारोह कुन्दकुन्दाचार्य वंश परम्परा के भट्टारक धर्मकीर्त्ति द्वारा सम्पन्न किया गया, जो कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के मूलसंघ के बलात्कार गण से सम्बद्ध सरस्वतीगच्छ के थे। देवनागरी में लेख निम्नांकित है—

संवत् १६९३ वर्षे माघ मासे कृष्ण पक्षे प्रतिपदायां श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कार (गणे) कुन्दकुन्दाचार्यान्विये भट्टारक धर्मकीर्त्ति गुरुत्पट्टे भट्टारक प्रकीर्त्ति(तम) सतिनाग पुत्र यो श्री सुखानन्द भार्या .... नित्यंप्रणमति। चित्र ४—ख)[1]

मुस्लिम आक्रमण के पूर्व ९वीं-१३वीं शताब्दी के मध्य इस भूभाग में धातुकर्म एवं धातु शिल्पकला का कार्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। इस समय गुजरात के कला शिल्पियों की बेजोड़ उन्नति के कारण ही गुजरात में मध्यकाल में धातुकर्म के अद्वितीय नमूनों का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल एवं परवर्ती मध्यकाल में धातुकला कौशल को तकनीक एवं कला के विकास की पृष्ठभूमि हेतु समकालीन धार्मिक चेतना ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जैन श्रमण विशेष रूप से भव्य कृतियों के निर्माण के प्रेरणा स्रोत थे। जैन समुदाय द्वारा सदैव ही प्राचीन कला-परम्परा को निरन्तर संरक्षण मिला है। इस समुदाय ने मन्दिर निर्माण, मूर्ति शिल्प के विकास एवं पाण्डुलिपियों के

१. स्वर्ण कमल, **ऐन्शियेण्ट आर्ट ऐण्ड टेक्नालॉजी ऑफ गुजरात,** म्यूजियम ऐण्ड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा, गुजरात स्टेट, १९८०.

आभारोक्ति—प्रस्तुत लेख के छाया चित्र श्री हैनरी माइकेल द्वारा तैयार किये गये हैं। इनका प्रतिलिप्याधिकार भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा सुरक्षित है।

चित्र सूची

सुरक्षित रख रखाव हेतु अपार धन व्यय किया गया है। जैन धर्म का विकास स्वतन्त्र रूप में हुआ। इसने प्राचीन धरोहरों को आज भी सुरक्षित रखा है।

सोलंकी युग में निर्मित प्रथम कृति के अतिरिक्त समस्त नमूने व्यक्तिगत रूपांकन की सहजता एवं ह्रास के द्योतक हैं। इनका प्रतिरूपण मोहक नहीं है, किन्तु प्रत्येक नमूने १२ उत्कीर्ण तिथियुक्त लेख धातु प्रतिमा शिल्प में हुए कलात्मक ह्रास के विभिन्न चरणों के साक्षी हैं। परवर्ती मध्यकाल में गुजरात में धातु कलाकृतियों के सर्जन हेतु पीतल का उपयोग होने लगा तथा इसका प्रचलन अत्यधिक बढ़ गया था क्योंकि यह स्वर्ण की भाँति चमकीला होता था। इस युग में मुसलमान शासकों के काल में कला गतिविधियों ने एक नवीन मोड़ लिया। धातुकर्मियों ने अधिक विश्वसनीय तकनीक एवं स्वतंत्र दृष्टिकोण अपना लिया था, किन्तु क्रमशः कला चेतना में सादगी एवं ह्रास में वृद्धि होती रही। मुगल शैली से प्रभावित होकर यह क्रमशः एक नवीन अनुकरणजन्य शैली में परिवर्तित होकर प्रतिमाएँ अत्यधिक भद्दी एवं कृत्रिम हो गयी एवं अन्ततोगत्वा धातु शिल्प अवनति के पथ पर अग्रसर हो गया।

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, उत्खनन शाखा–२
नई दिल्ली–११०००३

अभिलेख

१. महावीर का चतुर्विशतिपट्ट
"संवत् १२९० वर्षे माघशुदि ५ शुक्रे
श्रे० वहपाल श्रे० श्रे० जम(?)जमदेवाभ्यां श्रेयार्थे पुत्र साचदेवेन भार्तृ(तृ) पूर्नसिह समेतेन चतुर्विंशतिपट्टः कारितः। प्रतिष्ठितं बृहद्गच्छीयैः श्रीशालिप्रभसूरिभिः।

पार्श्वनाथ प्रतिमा २. संवत् १५०३ वर्षे माघ..............प्रणमंति (या प्राणमंति प्रयोग दिगम्बर परम्परा में प्रचलित है)

पंचतीर्थी ३. सं० १५२५ वै० शु० ३ गुरौ श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे भ० श्रीसकलकीर्ति तत्पट्टे भ० श्रीविमलेन्द्रकीर्तिभिः श्रीशांतिनाथबिम्बं प्रतिष्ठितं हूंबडज्ञातीय भ० करमसी भा० करमादे सु० जइता भा० जइतलदे स(सु०) शंका।

पद्मावती ४. संवत् १६६३ वर्षे माघमासे कृष्णापक्षे प्रतिपदायां श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक धर्मकीर्तिगुरुस्तत्पट्टे भट्टारक प प्र० श्री उपदेसात् नागणपुरीणो......सुखानदं भार्या........रा नित्यं प्रणमति ॥
भटारक ४०५० श्री श्री सुखानन्दचार्याणामुपदेसा(शा)त्।

कालिदास की रचनाओं में अहिंसा की अवधारणा

डा० रविशंकर मिश्र

कालिदास शैव थे,[1] तथापि उनकी रचनाओं के सम्यकालोचन से ऐसा प्रतिभासित होता है कि वे जैन धर्म की अहिंसावादी शिक्षाओं से काफी प्रभावित थे। इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप उनकी रघुवंश, कुमारसम्भव, शाकुन्तल आदि रचनाएँ हमारे सामने हैं। जैन धर्म के सर्वप्रमुख सिद्धान्त-अहिंसा का उनके ग्रन्थों में पर्याप्त निदर्शन मिलता है। रघुवंश कालिदास का सर्वप्रमुख महाकाव्य है, जिसमें रघु-वंश का सम्पूर्ण इतिहास लिपिबद्ध है तथा जिसके प्रमुख नायक रघु हैं। अश्वमेध यज्ञ हेतु राजा दिलीप द्वारा छोड़े गये अश्व का देवराज इन्द्र द्वारा हरण कर लिये जाने पर कुमार रघु ने—जो उस अश्व के रक्षार्थ नियुक्त थे—उसे परास्त कर, उससे, अश्व को माँगा। परन्तु रघु के पराक्रम पर प्रसन्न इन्द्र ने, अश्व के अतिरिक्त अन्य कोई वर माँगने को कहा। इस पर रघु ने प्रार्थना करते हुए इन्द्र से कहा कि यदि आप यज्ञ का यह अश्व नहीं देना चाहते हैं तो मुझे ऐसा वर दीजिये कि मेरे पूज्य पिता को, बिना इस अश्व की बलि दिये[2] हिंसा किये ही, इस अश्वमेध यज्ञ का पूरा फल प्राप्त हो जाये—

> अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि।
> अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम्॥[3]

[हे प्रभु ! यदि आप अश्व को छोड़ने योग्य नहीं समझते तो निरन्तर यज्ञानुष्ठान में प्रयत्न-शील मेरे पिता, विधिपूर्वक इस यज्ञ की समाप्ति होने पर जो भी फल होता है, उसे पूर्ण रूप से प्राप्त करें।]

इस प्रसङ्ग में कवि ने जहाँ कुमार रघु के अपार पराक्रम एवं विनयशीलता का बोध कराया है, वहीं क्या हम यह नहीं कह सकते कि शैव धर्मावलम्बी होते हुए भी कवि इन यज्ञों में होने वाली

---

१. (क) संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय (भाग प्रथम), पृ० १४५.
   (ख) संस्कृत साहित्य का इतिहास : ए० बी० कीथ, हिन्दी भाषान्तरकार : मंगलदेव शास्त्री, पृ० १२२-१२३.
   (ग) महाकवि कालिदास : डा० रमाशंकर तिवारी, पृ० ६३.
   (घ) भारती कवि विमर्श : पं० रामसेवक पाण्डेय, पृ० ११.

२. ज्ञातव्य है कि इस आश्वमेधिक अश्व की यज्ञ में बलि दे दी जाती है—शतपथब्राह्मण, १३/१-५; इसके अतिरिक्त तैत्तिरीयब्राह्मण, ३/८-९; कात्यायनीय श्रौतसूत्र, २०; आपस्तम्ब, आश्वलायन (२०; १०/६) आदि में भी।

३. रघुवंश : महाकवि कालिदास, ३/६५।

निरीह पशुओं की निर्मम हत्या का प्रबल विरोधी था। शायद कवि की इसी अहिंसात्मक-भावना के परिणाम-स्वरूप इस प्रसङ्ग में नायक की प्रतिष्ठा के साथ ही हमें अहिंसा के प्रति उसका अपार प्रभाव प्रतिभासित होता है। एक अन्य प्रसङ्ग में राजा दिलीप महर्षि वशिष्ठ द्वारा प्रदत्त नन्दिनी धेनु की रक्षार्थ अपने शरीर को सिंह के समक्ष प्रस्तुत करने को उद्यत मिलते हैं—

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥[1]

[चूँकि आप अपने समीप आने वाले प्राणियों से अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं, अतः मेरे शरीर से अपने जीवन की रक्षा कीजिये और दिन के समाप्त होने पर उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षि की इस धेनु को छोड़ दीजिये।]

इस प्रसङ्ग के पीछे कवि की अहिंसाप्रधान नीति ही प्रमुख रही है, तभी तो उसने भगवान् शङ्कर के सिंहरूपधारी उस अनुचर की हिंसा करने को उद्यत राजा दिलीप के हाथ को उनके तूणीर में रखे हुए बाणों में विद्ध करवा दिया।[2] इस प्रसङ्ग की प्रस्तुति के पीछे ध्यातव्य यह है कि कवि ने अपनी अहिंसाप्रधान नीति पर विशेष बल देने हेतु बलात् ही इस प्रसङ्ग को काव्य में जोड़ने का प्रयास किया है; अन्यथा उसके समक्ष अन्य ऐसा कौन सा कारण हो सकता था, जिसके लिए सिंह की हिंसा के लिए उद्यत राजा दिलीप के हाथ को वह तूणीर में विद्ध करवाता।

एक अन्य प्रसङ्ग में हम देखते हैं कि राजा रघु के पुत्र कुमार अज एक स्वयंवर में भाग लेने हेतु विदर्भ देश जा रहे हैं। मार्ग में उनके एक पड़ाव पर एक जङ्गली हाथी उन पर आक्रमण कर देता। इस पर 'हाथी मर न जाय' इसका ध्यान रखते हुए कुमार अज ने उस हाथी को मात्र भयभीत करने के उद्देश्य से, उस पर एक साधारण बाण छोड़ दिया—

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः॥[3]

[जङ्गली हाथी राजा के लिए अवध्य होता है—यह बात कुमार अज को शास्त्रों द्वारा ज्ञात थी, अतः उन्होंने उसे आगे न बढ़ने देने की इच्छा से अपने धनुष को थोड़ा ही खींचकर एक बाण से उसके मस्तक पर आघात किया।]

बाण लगने मात्र से वह जङ्गली हाथी अपने हाथी के उस रूप को छोड़कर गगनचारी गन्धर्व का मनोहर रूप धारण कर कुमार अज के सम्मुख उपस्थित हुआ और बोला कि मैं प्रियम्वद नामक गन्धर्व हूँ, अपने गर्व के कारण मैंने मतङ्ग ऋषि के शाप द्वारा गजयोनि को प्राप्त कर लिया था।[4] उसने आगे कहा—

---

१. रघुवंश : महाकवि कालिदास, २।४५।
२. वही, २।३१।
३. वही, ५।५०।
४. रघुवंश : महाकवि कालिदास, ५।५३।

संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ।।
अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ।।[1]

[तुमने अपने क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए भी अपने दया-धर्म को नहीं छोड़ा और मेरे प्राण नहीं लिये, अतः मैं आज से तुम्हारा मित्र हूँ और अपनी इस मित्रता को चिरस्मरणीय बनाने हेतु मैं आपको यह एक ऐसा सन्मोहन अस्त्र प्रदान कर रहा हूँ, जिसके द्वारा इसके प्रयोक्ता को अपने शत्रु की हिंसा नहीं करनी पड़ती और उसे शत्रु पर विजय भी प्राप्त हो जाती है ।]

इस प्रसङ्ग में भी कवि की अहिंसाप्रधान नीति का ही आभास होता है । क्योंकि शत्रु की बिना हिंसा किये ही उस पर विजय प्राप्त कर लेना सामान्यतया तो असम्भव ही होता है, अतः ऐसी स्थिति में भी कवि द्वारा ऐसे प्रसङ्ग का प्रस्तुतीकरण सहजतया कवि के अहिंसा-सिद्धान्त का ही परिपोषक सिद्ध होता है । आगे इसी प्रसङ्ग में हम देखते हैं कि अज ने रणभूमि में अपने शत्रुओं पर उसी सम्मोहन अस्त्र का प्रयोग कर, बिना शत्रुओं की हिंसा किये ही उन पर विजय भी प्राप्त की ।[2]

उपर्युक्त प्रसङ्ग महाकवि की प्राणिमात्र के प्रति दयालुता व उत्कृष्ट अहिंसात्मक भावना के ही द्योतक/प्रस्तोता हैं । उन्होंने पदे-पदे अहिंसा की महिमा का हाथ उठाकर बखान किया है, तभी तो इसी काव्य में आगे उन्होंने राजा दशरथ की उस आखेट-क्रीड़ा की निन्दा की हैं, जो श्रवण-कुमार की हिंसा का कारण बनी थी—

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।।[3]

[जङ्गली हाथी को मारना राजा के लिए निषिद्ध था, किन्तु राजा ने उसका उल्लङ्घन किया । सच है, विद्वान् पुरुष भी राजसी गुणों से अभिभूत होकर अनुचित मार्ग पर पदार्पण कर बैठते हैं ।]

इस प्रसङ्ग को आधार बनाकर कहा जा सकता है कि जब राजा के लिए गज-हिंसा सर्वथा वर्जित थी, तब उसने गज-शब्द के भ्रम में ही सही पर उसकी हिंसा के निमित्त बाण क्यों चलाया ? क्या काव्य की अपनी पूर्णता की ओर क्रमशः पहुँचते-पहुँचते क[illegible] अहिंसात्मक भावना-ज्वार में शिथिलता आ गयी थी ? पर नहीं जहाँ तक मेरा विचार है कि इस प्रसङ्ग द्वारा कवि को यही दर्शाना अभिप्रेत था कि अनजाने में भी कभी किसी की हिंसा के प्रति मन में विचार तक भी नहीं लाना चाहिए और सम्भवतः इसी विचार के फलस्वरूप कवि ने श्रवणकुमार की हिंसा का प्रसङ्ग उपस्थित किया ।

१. वही, ५।५७-५८ ।
२. वही, ५।६५ ।
३. रघुवंश : महाकवि कालिदास, ९।७४ ।

कवि की दृष्टि में आखेट सर्वथा निन्दनीय कार्य रहा है, तभी तो उसने अभिज्ञान-शाकुन्तल में माधव्य के मुख से आखेट की निन्दा करते हुए इसको (आखेट-वृत्ति को) बहेलिया (चिड़ीमार) आदि निम्न व्यक्तियों की वृत्ति कहा है—

युक्तं नामेवं, यतस्त्वया राजकार्याणि उज्झित्वा तादृशमस्खलितपदं प्रदेशञ्च वनचरवृत्तिना भवितव्यमिति ॥[1]

माधव्य के इस कथन से अभिभूत होकर राजा दुष्यन्त का अपनी शिकार-यात्रा का उत्साह मन्द हो गया, तभी वह सेनापति भद्रसेन से कहता है—भद्रसेन ! भग्नोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन[2]—अर्थात् भद्रसेन ! शिकार की निन्दा करने वाले माधव्य ने मेरे उत्साह को मन्द कर दिया है।

इसी ग्रन्थ के छठे अङ्क में धीवर की मत्स्य-हिंसा आदि कार्यों को गर्ह्य सिद्ध करते हुए कवि ने उसे अति हेय स्थान दिया है, तभी तो नागरक (थानाध्यक्ष) धीवर की व्यङ्ग्य रूप में जो प्रशंसा करता है, उससे उसके हिंसा-कर्म की निन्दा ही ध्वनित होती है—(विहस्य) विशुद्ध इदानीमा आजीवः[3]—

अर्थात् (हँसकर) इसकी आजीविका तो पवित्र है। इस व्यङ्ग्योक्ति के उत्तर में अपनी मत्स्य-हिंसा-वृत्ति के समर्थन में धीवर कहता है—

सहजं किल यद्विनिन्दितं न तु तत् कर्म विवर्जनीयकम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुकोऽपि श्रोत्रियः ॥[4]

अर्थात् निन्दित होता हुआ भी जो कर्म स्वाभाविक (वंशपरम्परागत) है, उसे नहीं छोड़ना चाहिए। दया से कोमल (हृदय) होता हुआ भी वैदिक ब्राह्मण यज्ञ में पशु-हिंसारूपी कर्म से क्रूर हो जाता है। परन्तु धीवर के इस व्यङ्ग रूप कथन से स्पष्ट होता है कि यज्ञ में पशु-हिंसा करने वाले इन श्रोत्रिय ब्राह्मणों को भी कवि ने निन्दनीय दृष्टि से ही देखा है।

यहाँ हम इस तथ्य को तो अस्वीकार नहीं कर सकते कि तत्कालीन समाज में आखेट-क्रीड़ा और यज्ञादि में पशु-हिंसा प्रचलित थी, परन्तु अनेक प्रसङ्गों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कम से कम महाकवि को ऐसी हिंसा रूचिकर न थी और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि महाकवि की इस अहिंसा—विश्व के प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और करुणा की भावना—के अन्तस् में जैन धर्म का ही किञ्चित् प्रभाव अन्तर्निहित हो।

जैन धर्म में परमाराध्य एवं अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिपादक 'अरहंत' का स्थान सर्वोपरि है। इसी कारण जैन धर्म के अनादिनिधन मन्त्र में सर्व प्रथम इन्हें ही नमस्कार किया गया है।[5]

१. अभिज्ञानशाकुन्तल : महाकवि कालिदास, २।२।
२. अभिज्ञानशाकुन्तल : महाकवि कालिदास, २।४।
३. वही, ५।१ (अङ्कावतार)।
४. वही, ५।१ (अङ्कावतार)।
५. णमो अरिहंताणं।

अरहंत शब्द प्राकृत का है, इसका संस्कृत रूप है—अर्हत-अर्हन्। महाकवि ने जैन धर्म के इस आराध्य अर्हत् और अर्हन् शब्द का अपनी रचनाओं में अनेकशः श्रद्धापूर्वक प्रयोग किया है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में कवि ने 'नयचक्षुषे' विशेषण के साथ मुनियों के लिए अर्हत् शब्द का प्रयोग किया है, जिसके आधार पर सम्भवतः उन्होंने अर्हत् अर्थात् मुनि के नयों के ज्ञातृत्व की ओर सङ्केत किया है—

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे[१]॥

पञ्चम सर्ग में कवि ने ऋषि कौत्स की पूजनीयता-पवित्रता आदि के कथा-प्रसङ्ग में राजा रघु के मुख से 'अर्हत्' शब्द कहलवाया है—

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रियतोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि सम्भावयितुं वनान्माम्[२]॥

आगे इसी सर्ग में राजा रघु ने ऋषि कौत्स के आदरसूचक सम्बोधनस्वरूप 'हे अर्हन्' शब्द प्रयुक्त किया है—

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्[३]॥

इसी प्रकार कुमारसम्भव में भी कवि ने महनीय जनों के कथन-प्रसङ्ग में 'अर्हत्' शब्द प्रयुक्त किया है—

अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये।
यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते[४]॥

इन सन्दर्भों के आधार पर हम कह सकते हैं कि महाकवि ने अपनी रचनाओं में सर्वत्र अर्हत्-अर्हन् शब्द का प्रयोग प्रायः ऋषि-मुनियों के लिए ही किया है, जो पूजनीय, महनीय एवं पवित्रता के अन्यतम साधक होते थे। इधर जैन धर्म में भी यह अर्हत्-अर्हन् शब्द उन तीर्थंकरों के लिए ही प्रयुक्त मिलता है, जो जैन धर्म के तत्त्वदृष्टा अन्यतम पूजनीय एवं महनीय साधक होते हैं। तो क्या यह सम्भव नहीं कि कवि ने अपनी रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग जैन धर्म के अर्हतों-तीर्थंकरों की पूजनीयता, महनीयता एवं पवित्रता से प्रभावित होकर ही किया हो? यहाँ यह कथन कोई निश्चित तो नहीं है, फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि महाकवि अहिंसानुरागी थे तथा जैन-धर्म-दर्शन के मौलिकसिद्धान्तों के प्रति उनका अगाध विश्वास एवं आदर भाव था। तभी

---

१. रघुवंश : महाकवि कालिदास, १/५५।
२. वही, ५/११।
३. वही, ५/२५।
४. कुमारसम्भव : महाकवि कालिदास, ६/५६।

तो कुमारसम्भव में पार्वती की जिस कठिन तपस्या[1] का तथा रघुवंश में राजा अज के आमरण उपवास के साथ उनके शरीर-त्याग[2] का जो हृदयहारी वर्णन कवि ने किया है, वह सहजतया हमें जैन धर्म में प्रतिपादित सम्यक्-तप और सल्लेखना-समाधिमरण की स्मृति कराता मिलता है।

जैन धर्म एवं उसकी अहिंसा की अवधारणा के प्रति महाकवि के इस अगाध विश्वास और आदर भाव का कारण भी स्पष्ट ही है। महाकवि के समय में जैन धर्म का पर्याप्त प्रभाव था। वह हिंसाप्रधान यज्ञादिकों का विरोधी था और अहिंसा, सत्य, तप, अस्तेय और अपरिग्रह पर विशेष बल देते हुए उस युग की बुराइयों को सुधारने का प्रयत्न कर रहा था। इसी के फलस्वरूप यह धर्म समाज में समादरणीय स्थान प्राप्त कर सका। सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि जैन धर्म के अहिंसा, अनेकांत, आत्मोत्सर्ग के आदर्शों के अवलोकनोपरान्त महाकवि भी इस धर्म के प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सके।

सम्पादक, भाषा विभाग,
पुराना सचिवालय, भोपाल (मध्यप्रदेश)

---

१. कुमारसम्भव : महाकवि कालिदास, ५/२।

२. रघुवंश : महाकवि कालिदास, ८/९४-९५।

उग्रादित्याचार्य का रसायन के क्षेत्र में योगदान

डा० नंदलाल जैन

रसायन के उद्भव एवं विकास का श्रेय, रसोईघर, रसशाला और रसायनशाला को दिया जा सकता है। रसोईघरों का इतिहास अग्नि के आविर्भाव के साथ प्रारंभ हुआ और यह अतिप्राचीन है। अग्नि का योग खाद्य पदार्थों को सुपाच्य और रसायन बनाता है। भोजन एवं जलवायु के असन्तुलन से होने वाली विकृतियों को दूर कर रसशालायें मानव को आयुष्य-ज्ञानी और भैषज-ज्ञानी के रूप में स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन प्रदान करती हैं। रसायनशालायें जीवन को भौतिक सुख-सुविधाओं से सज्जित कर समृद्धिमय बनाती हैं। वस्तुतः आधुनिक रसायन का विकास रसशालाओं से ही हुआ है। प्रारंभ में इनमें प्राकृतिक वनस्पति एवं खनिज पदार्थों तथा पारद आदि तत्वों व यौगिकों से स्वस्थ्यकर यौगिक बनाये जाते रहे हैं। यही नहीं, कालान्तर में पारद एवं अन्य धातुओं को स्वर्ण में परिणत करने के लिये पारस-पत्थर या प्रक्रियाओं की खोज तथा इह जीवन में अमरत्व प्राप्त करने की लालसा की पूर्ति इनके अन्यतम उद्देश्य रहे हैं। यद्यपि मानव इन दोनों ही उद्देश्यों को पाने में असमर्थ रहा और आज भी इस दिशा में प्रयत्नशील है, लेकिन इस प्रयत्न में पूर्व और पश्चिम के वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार की भौतिक एवं रासायनिक विधियों का विकास किया। इस विकास में पूज्यपाद, समन्तभद्र, उग्रादित्याचार्य एवं अनेक जैनाचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान है।

डा० रे[१] ने भारतीय रसायन के इतिहास को प्रागैतिहासिक (ई० पू० ४०००-१५००), आयुर्वेदिक एवं वैदिक (१५०० ई० पू० से ८०० ई०), संक्रमण एवं तांत्रिक (८००-१३०० ई०) एवं औषध-रसायन (१३००-१६०० ई०) युगों के नाम से चार चरणों में विभाजित किया है। सिन्धु घाटी सभ्यता के युग में अनेक प्राकृतिक खनिजों एवं ताम्र, स्वर्ण, रजत एवं कांस्य धातुओं तथा कुछ कलाओं का पता चलता है जिनमें रासायनिक क्रियाओं का उपयोग होता है। वैदिक युग में छह धातुओं तथा अनेक सुराओं एवं पेयों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में तो देववाद एवं औषधशास्त्र के माध्यम से रसायन के अनेक प्रारंभिक और कुछ विकसित रूप मिलते हैं। इसमें रसायन से संबंधित विष विद्या, रसायन विद्या एवं वाजीकरण विद्या के अनेक उल्लेख हैं। प्राचीन जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन[२] एवं दशवैकालिक[३] से ज्ञात होता है कि अनेक औषधों और धूम्रों का प्रयोग चल पड़ा था। इसी युग में भारत में भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत से संबंधित अनेक

---

१. रे, पी०; **हिस्ट्री आव केमिस्ट्री इन एन्सियन्ट एण्ड मेडीवल इन्डिया**, इण्डियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता, १९५६, पृ० ११.

२. साध्वी, चंदना (संपा०); **उत्तराध्ययन सूत्र**, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, पु० ७२, पृ०, १४८।

३. आ० शय्यंभव; **दसवेआलिय** (सं० मुनि नथमल), जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९७४, पृ० ७०, ८७.

सिद्धान्त पल्लवित हो रहे थे। इस युग के चिकित्सीय या रासायनिक विवरण का कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी अन्य विषयों के ग्रन्थों में उपलब्ध स्फुट विवरण ही हमें इस दिशा में कुछ आभास देते हैं। उदाहरणार्थ आचारांग,[१] स्थानांग[२] व निशीथचूर्णी[३] में भोजन के चार घटकों का उल्लेख आता है। दशवैकालिक[४] में छह लवण, आर्सेनिक एवं पारद के लवणों को जलाकर बनने वाला शिरोरोगनाशी धूम्र तथा आशीविष एवं तालपुट विषों का उल्लेख है। स्थानांग[५] में चिकित्सा के चार अंगों, भोजन एवं विषपरिणामों, नौ विकृतियों (दही, घी आदि), सात धातु गोलकों (हीरा एवं मणि भी उस समय धातु माने जाते थे) एवं छह शस्त्रों का उल्लेख है। इनमें अग्नि (विस्फोटक), विष, लवण, स्नेह, अम्ल और क्षार-आधारित शस्त्र हैं जिनमें रासायनिक प्रक्रियायें समाहित हैं। इसमें आयुर्वेद के अष्टांगों के नाम भी आये हैं जिनमें जंगोली (विष), रसायन एवं क्षारतंत्र रसायन के ही अंग हैं। रामायण, महाभारत व पाणिनि के साहित्य[६] में भी ऐसे ही अनेक स्फुट विवरण पाये जाते हैं। ये सभी उद्धरण लगभग ई० पू० ५०० के हैं। इनसे पता चलता है कि शिक्षा के क्षेत्र में सामान्यतः औषध एवं रसायन विद्या को स्थान नहीं मिल पाया था। इसके विपर्यास में, जैन तीर्थंकर महावीर के द्वादशांगी उपदेशों में दृष्टिवाद[७] नामक बारहवें अंग के पूर्वगत नामक खंड में 'प्राणवाद' नामक एक स्वतंत्र क्षेत्र या पूर्व माना गया था जो औषध और रसायन का वर्णन करता था। उत्तरवर्ती काल में रसायन के अनेक रूप शिक्षा की बहत्तर कलाओं (हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, सजीव, निर्जीव, चर्म लक्षण, मणि लक्षण, अन्न-पान विधि, शोधन-पृथक्करण विधि आदि) में जैनाचार्यों[८] ने सम्मिलित किये। यही नहीं, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति[९] में तो स्त्रियों की ६४ कलाओं में भी रसायन और वैद्यक कला को समाहित किया गया है।

कौटिल्य के ईसापूर्व चौथी सदी के अर्थशास्त्र में षट्-धातुप्राप्ति, मणि परीक्षण, आसव एवं मदिरायें, रासायनिक युद्धकला, विषविद्या एवं अम्ल, क्षार तथा अनेक लवणों (हरिताल, हिंगुल आदि) का विवरण मिलता है एवं तत्कालिक रसायन विद्या की स्थिति का पता चलता है।[१०] इस विवरण में वैज्ञानिकता का पर्याप्त अंश प्रतीत होता है, फिर भी इसमें कलात्मकता

---

१. ऋषि अमोलक; **आचारांग सूत्र** (अनुवादक), अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया, १९६०; पृ० १६२
२. शास्त्री, हीरालाल (अनु०); **स्थानांग सूत्र**, आगम प्र० समिति, व्यावर, १९८१, पृ० २९४.
३. सेन, मधु; **ए कल्चरल स्टडी ऑव निशीथचूर्णि**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बाराणसी, १९७५, पृ०, १२४.
४. देखिये, दसवेयालिय पृ० ४४, ४५, ३८१, ४३२.
५. देखिये, स्थानाङ्ग पृ० ३९२, ५६२-६३, ६६९, ४०७, ९१६, ६३६.
६. विद्यालंकार, अत्रिदेव; **आयुर्वेद का बृहत् इतिहास**, सूचना, विभाग, लखनऊ, १९६०, पृ० ७६-९१.
७. आचार्य, पूज्यपाद; **सर्वार्थसिद्धि**, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, १९७१, पृ० ८५.
८. जैन, जे० सी० तथा मेहता, एम० एल०; **जैन साहित्य का बृहत् इतिहास-२**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६६; पृ० २७ एवं ११७.
९-१०. विद्यालंकार—पूर्वोक्त, पृ० १२९.

२४

अधिक प्रतीत होती है। उत्तराध्ययन में ३६ पृथ्वी-पदार्थों का उल्लेख है[1] इसके नामों का कौटिल्य से बहुत कम साम्य है। वर्गीकरण और नामकरण की विधि भी भिन्न है। पर इससे एक तथ्य प्रकट होता है कि पारे के लवणों का ज्ञान उन दिनों हो चुका था।

कौटिल्य के बाद चरक और सुश्रुत का समय आता है। इन औषध ग्रन्थों में पर्याप्त रासायनिक सामग्री मिलती है। यद्यपि इन ग्रन्थों के मूल लेखकों के समय के विषय में काफी मतभेद है, पर यह सामान्य मान्यता है कि 'चरक' और 'सुश्रुत' शब्द एक परंपरा को निरूपित करते हैं जो महावीर-युग तक मानी जाती है। परंतु इन ग्रन्थों के अनुशीलन से अधिकांश विद्वान्[2] यह मानते हैं कि ये ग्रन्थ ईसापूर्व दूसरी सदी में लिखे गये थे। इनका संस्कार भी किया गया है। इसीलिये इन ग्रन्थों में पर्याप्त विकसित रासायनिक जानकारी मिलती है। इनमें प्राकृतिक एवं पार्थिव खनिजों के १३३ नाम दिये हैं। इसमें छह धातु, पांच लवण, पांच खनिज, अम्ल एवं क्षार आदि के अतिरिक्त धातु-मारण एवं नौ प्रकार के स्रोतों से प्राप्त चौरासी प्रकार के किण्वित पेयों का नाम भी है। गंधक और पारद के साथ इन तत्वों के भी नाम बहुलता से पाये गये हैं।[3] यह साहित्य मुख्यतः आयुर्वेदिक है पर इसमें भूतविद्या और मंत्रविद्या का भी रोगशमन हेतु उल्लेख है। चूंकि औषध का अर्थ रस-धारक एवं रोगनिवारक है, अतः इसे रसायन कहा गया है। फलतः भारतीय रसायन का विकास आयुर्वेद के माध्यम से हुआ, यह स्पष्ट है। खनिजों के उपचार से धातुयें और उनके शोधन तथा उपचार से रंग-बिरंगे यौगिक-सम्मिश्र बनने से चामत्कारिता का भाव स्वाभाविक ही था इसके कारण रसायन को कीमियागिरी भी कहा जाने लगा।

उपरोक्त ग्रन्थों के बाद अगले चार-पांच सौ वर्षों तक पुनः कोई विशिष्ट साहित्य उपलब्ध नहीं होता। पर यहाँ भी कुन्दकुन्द का धार्मिक साहित्य हमें १००-२०० ई० के सामान्य रासायनिक ज्ञान की धारणा बनाने में सहायक है। जैन[4] ने बताया है कि कुन्दकुन्द-युग में परमाणुवाद, धातु क्रिया और शोधन, रस-विद्या, विष विद्या प्रचलित थी। वायु की ज्वलन क्रिया में अनिवार्यता, जल की शोधन क्षमता तथा अनेक पदार्थों की जल-अविलेयता तथा फिटकरी एवं उत्तापन द्वारा जलशोधन की क्रियाओं का विशेष उल्लेख है। जैनाचार्य समंतभद्र (चौथी-पांचवीं सदी) के सिद्धान्त रसायनकल्प, पुष्पायुर्वेद तथा अष्टांगसंग्रह का उल्लेख अनेक निर्देशों में आता है,[5] परन्तु ये ग्रन्थ पूर्णतः उपलब्ध नहीं हैं। इनके विषय इनके उल्लेखों से अनुमित किये जा सकते हैं। पाँचवीं-छठवीं सदी के पूज्यपाद देवनन्दि के कल्याणकारक, शालाक्यतंत्र और वैद्यामृत नामक ग्रन्थों का उल्लेख उग्रादित्याचार्य, मुम्मट मुनि एवं वसवराज ने किया है, लेकिन ये ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हैं। उत्तरवर्ती सदी के सिद्ध नागार्जुन, जो पूज्यपाद के भांजे थे, ने भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। ये नागार्जुन वलभी वाचनाकार नागार्जुन के काफी बाद में हुए हैं। बौद्धों में भी नागार्जुन हुए हैं।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, पृ० ३९०-९१.

२. उपाध्याय, बलदेव; **संस्कृत शास्त्रों का इतिहास**, शारदा मंदिर, काशी, १९६९, पृ० ११.

३.(अ) सत्यप्रकाश; **वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा**, बि० रा० पटना, १९५४, पृ० २४३;
(ब) आचारांग सूत्र, पृ० ६२

४. जैन, एन० एल०; सायंटिफिक कन्टेन्ट्स आफ अष्टपाहुड; संस्कृत वि० संगोष्ठी, काशी, १९८१.

५. उग्रादित्याचार्य; **कल्याणकारक**, सखाराम, नेमचन्द्र ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९४०; भूमिका.

अनेक विद्वानों के एतत् संबंधी अनुशीलनों से लगता है कि मूलतः किसी प्रसिद्ध नागार्जुन की उपाधि अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों ने ग्रहण की, जिससे उनकी प्रामाणिकता पुष्ट हो। प्रो० रे और सत्यप्रकाश के मत के विपरीत विद्यालंकार[1] का मत है कि इसी युग में काश्यपसंहिता और अष्टांगहृदय लिखे गये।

पूर्वोक्त प्राचीन साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि उस युग में भारत में पारद, लवण, गंधक एवं उसके अनेक यौगिक प्रयोग में आते थे और उनका रसायनशास्त्र भी विकसित हो चुका था। पारद से सोना बनाने की विधियों का भी पर्याप्त उल्लेख इस साहित्य में मिलता है। यद्यपि पारद एवं उसके यौगिकों का चिकित्सीय कार्यों में प्रयोग होने की बात देखने में नहीं आई, यद्यपि कुछ स्थलों पर इनके बाह्य-प्रयोगों का उल्लेख अवश्य मिलता है।

अनेक विद्वानों के आलोडनों से प्रतीत होता है कि पारद और गंधक को विभिन्न रूपों एवं योगों को चिकित्सा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय बौद्ध सिद्धों एवं नाथ सम्प्रदाय, को दिया जाना चाहिये।[2] यहाँ भी नागार्जुन का नाम परेशानी में डालता है। इसका कारण यह है कि ये दोनों ही सम्प्रदाय लगभग नवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रतिष्ठित हुए हैं। इनमें नागार्जुन को कहीं छठवाँ तो कहीं सोलहवाँ सिद्ध बताया गया है। ये पारसनाथी शाखा के रसेश्वर सिद्ध माने गये हैं। यदि उन्हें रस चिकित्सा का मूल बिन्दु माना जाव, तो इनके इस समय के आधार पर अनेक विवरण संशोधनीय हो जावेंगे। फलतः यह मानना अधिक तर्कसंगत होगा कि उक्त सम्प्रदायों ने इनकी रससंबंधी प्रतिष्ठा को देखकर इन्हे अपने महापुरुषों में से एक सिद्ध मान लिया हो। इन्हें सातवीं सदी का मानकर ही भारतीय रसायन के इतिहास में संगतता आ सकेगी। रसायनज्ञ नागार्जुन के समय रस, सूत या पारद और उसके यौगिकों का आयुष्मानी औषध के रूप में पर्याप्त उपयोग होने लगा था और उसने पारद-शोधन और उसके यौगिकों के बनाने में काम आनेवाली अनेक प्रक्रियाओं का विकास किया था। ये दक्षिण के रहने वाले थे, आंध्र प्रदेश में इनके नाम पर एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया है। उत्तरवर्ती रस-शास्त्रज्ञों ने भी इनका अनुसरण कर नये-नये यौगिक बनाये एवं रस चिकित्सा को बढ़ाया। डा० गुण[3] के अनुसार, जैनाचार्यों ने भी रसशास्त्र, निर्घंटु एवं औषध-विज्ञान पर बहुत काम किया है। नागार्जुन से लगभग १५० वर्ष बाद ही वर्तमान उड़ीसा के त्रिकलिंग क्षेत्र में उग्रादित्य नामक जैनाचार्य हुए हैं। इन्होंने प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों का सांगापांग अध्ययन किया और अपने अध्ययन तथा अनुभवों को कल्याणकारक नामक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि यह मुख्यतः आयुर्वेदिक ग्रन्थ है, फिर भी इसमें नवीं सदी के ज्ञान-विज्ञान का अच्छा विवरण मिलता है। यही नहीं, इस ग्रन्थ की कुछ विशेषतायें हैं। यह पूर्वी भारत में आयुर्वेद पर लिखा गया अपने युग का प्रथम ग्रन्थ है। इसके पूर्व के आयुर्वेद ग्रन्थ अधिकांश दक्षिण (मुख्यतः जैन ग्रन्थ) और उत्तरी सीमान्त के आचार्यों के हैं। फलतः इस ग्रन्थ से यह पता चलता है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों में ज्ञान के

---

१. विद्यालंकार, पूर्वोक्त, पृ० २१७.

२. वही, पृ० ३४५-४२१.

३. शाह, ए० पी०; जैन साहित्य का बृहत् इतिहास-५, पा० विद्याश्रम, काशी, १९६९, पृ० २२६.

आदान-प्रदान या संचरण की क्या स्थिति थी। यह ग्रन्थ नागार्जुनोत्तर युग में नवीं सदी का अन्यतम ग्रन्थ है जो उत्तरवर्ती प्रगति के लिये संपर्क-सूत्र का काम करता है। उग्रादित्य ने अपने ग्रन्थ में पात्रकेसरी, सिद्धसेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद, दशरथ, मेघनाद और सिंहसेन नामक अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है। इनके उत्तरवर्ती जैन विद्वानों में गुम्मटदेव मुनि, गुणाकर सूरि, पंडित आशाधर, ठक्कुर फेरू, हितरुचि आदि हैं जिन्होंने अपने अनुभवपूर्ण ग्रन्थों द्वारा सोलहवीं सदी तक उग्रादित्य के ज्ञान को आगे बढ़ाया है। यह वास्तव में अचरज की बात है कि ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के विषय में **प्रो० रे, सत्यप्रकाश** और **उपाध्याय** के समान विद्वानों ने अपने विद्याओं के विकास-इतिहास विषयक प्रकरणों में मौन रखा है। इस दृष्टि से **विद्यालंकार** का विवरण प्रशंसनीय है। **शाह** ने भी इनका उल्लेख किया है।

उग्रादित्य का परिचय

'कल्याणकारक' में उग्रादित्य ने अपना परिचय पृथक् से नहीं दिया गया है पर ग्रन्थ में प्राप्त स्फुट विवरणों से उनके विषय में पूर्ण तो नहीं, पर कुछ जानकारी मिलती है। नृपतुंग वल्लभेन्दु की राजसभा के उल्लेख से यह अनुमान लगता है कि वे नवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अवश्य ही रहे होंगे क्योंकि राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम के नृपतुंग कहे जाने का अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है। इनका काल ८००-८७७ ई० माना जाता है। ये आदिपुराण-रचयिता जिनसेन (७८३ ई०) के शिष्य थे। संभवतः गणितज्ञ महावीराचार्य (८५० ई०), धवलाकार वीरसेनाचार्य (८१५ ई०) और शाकटायन इनके समकालीन हैं। प्रो० सालेतोर और नरसिंहाचार्य का भी यही मत है। इस आधार पर **शाह** एवं **विद्यालंकार**[1] का यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता कि उग्रादित्य का समय ११-१२वीं सदी से पूर्व नहीं हो सकता। नागार्जुन का 'रसरत्नाकर' पर्याप्त पूर्व में प्रचार पा चुका था और उग्रादित्य ने अपनी शैली में उन्हीं रक्ष-विषयों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

उग्रादित्याचार्य के जन्मस्थान, माता-पिता एवं पारिवारिक जीवन के विषय में अभी तक कोई विशिष्ट जानकारी नहीं मिल सकी है। तथापि, इनके ग्रन्थ के अनुसार, उनके गुरु श्रीनंदि थे और उन्होंने अपने ग्रन्थ का निर्माण त्रिकलिंग देश में स्थित रामगिरि पर्वतस्थ जिन मन्दिर में किया था। यह अनेक पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के संक्षेपण और अनुभवों के आधार पर लिखा गया है।

कल्याणकारक का परिचय

यह ग्रन्थ सखाराम नेमचन्द्र ग्रन्थमाला, शोलापुर से १९४० ई० में प्रकाशित हुआ है। इसकी भूमिका प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ डा० गुणे ने लिखी है जिसमें जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद एवं रसशास्त्र के क्षेत्र में किये गये योगदान का समीक्षात्मक इतिहास दिया गया है। इसी के आधार पर अन्य उत्तरवर्ती विद्वानों ने एतद्विषयक उल्लेख दिये हैं। यह एकमात्र ग्रन्थ ही उग्रादित्य की कीर्ति को अमरत्व प्रदान करता है।

इस ग्रन्थ में २५ परिच्छेद और २ परिशिष्टाध्याय हैं। मुख्यतः यह आयुर्वेद ग्रन्थ है और इसमें चिकित्साशास्त्र के आठों अंगों का वर्णन है। इसमें रासायनिक महत्त्व की अनेक बातें हैं।

---

१. विद्यालंकार, पूर्वोक्त, ९ पृ० ३३४-४२.

सबसे महत्त्वपूर्ण तो यही है कि इसमें अनेक उपयोगी पदार्थों व औषधों के गुणों का निरीक्षण और परीक्षण दिया गया है। औषधों को भी समुचित मात्रा में लेने का उल्लेख है। इस दृष्टि से इसके धान्यादि—गुणागुण विचार (परिच्छेद ४), द्रव-द्रव्याधिकार (परिच्छेद ५), रसायनाधिकार (परिच्छेद ६), विषरोगाधिकार (परिच्छेद १९) एवं रस-रसायनाधिकार (परिच्छेद २४) नामक पाँच अध्याय महत्त्वपूर्ण हैं। इसके वर्णनानुसार यह स्पष्ट होता है कि उग्रादित्य के युग में विभिन्न वनस्पतियों, प्राकृतिक खनिजों व पदार्थों के साथ-साथ रसशाला में निर्मित पदार्थों का अध्ययन किया जाने लगा था।

इस ग्रन्थ की तीन विशेतायें महत्त्वपूर्ण हैं :

(i) इसमें केवल ऐसी औषधों/कल्पों का वर्णन है जो वनस्पति या खनिज जगत या उसके संसाधन से प्राप्त हो सकती हैं।

(ii) ग्रन्थ के अन्तिम हिताहिताध्याय में जैनमत के अनुसार मद्य, मांस और मधु का उपयोग अनुचित बताया गया है। इसमें इसके समर्थक पूर्वाचार्यों के मतों का खण्डन भी किया गया है। इन तीनों का त्याग आज भी जैनों के आठ मूलगुणों[1] में माना जाता है। इसीलिए आचार्य ने इन्हें अपने औषधों के निर्माण/अनुपान में प्रयुक्त नहीं किया है और इनकी अभक्ष्यता पर पर्याप्त तर्कसंगत विवेचन किया है।[2] इनसे पूर्व के अन्य जैन आयुर्वेदज्ञों की भी यही परम्परा रही है। मद्य एवं मांसाहार के विरुद्ध तो इस युग में भी काफी वैज्ञानिक तथ्य ज्ञात हुए हैं और अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से अब इनका प्रचलन कम होने के आसार दिखने लगे हैं।

(iii) इसका आयुर्वेदिक विवरण भी जैनेतर ग्रन्थों से भिन्न है, यद्यपि यह त्रिदोषों पर आधारित है। वर्णनक्रम भी भिन्न है। रसायनाधिकार पहले है और रस-रसायनाधिकार अन्त में है।

रासायनिक विवरण : (अ) जल के गुण[3]

जीवन में जल का महत्त्व स्पष्ट है, इसलिए उसके रसायन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसे पंच भूतों में एक माना गया है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जल का विवरण निम्न है :

(i) कठोर, काली, पथरीली मिट्टी एवं तृणमय स्थान का जल खारा/खट्टा होता है।
(ii) कोमल, सफेद, चिकनी मिट्टी एवं तृणमय स्थान का जल स्वच्छ मधुर होता है।
(iii) कठोर, रुक्ष, भूरी मिट्टी एवं ठूँठदार वृक्षों के स्थान का जल कटु होता है।
(iv) वर्षा का जल अमृत के समान होता है। उबला जल औषध-गुणी होता है।

हमें नीरस, निर्गंध, स्वच्छ एवं शीतल जल पीना चाहिये। भूतलस्थ जल में स्पर्शगत, रसगत एवं पाकगत दोष होते हैं, अतः उसे शुद्ध कर ही पीना चाहिये। उसके शुद्ध करने के लिए निम्न उपाय हैं :

---

१. पंडित, आशाधर; **सागारधर्मामृत**, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बंबई १९४० पृ० ४०.

२. कल्याणकारक, १८ पृ० ७१४.

३. वही, पृ० ६९.

(अ) धूप में रखना (ब) रात को चाँदनी में रखना (स) अग्नि में तपाना (द) कपड़े से छानना (य) कतकफल या अलसी का तेल मिलाना। आधुनिक व्याख्यानुसार, सभी विधियों से जल में विद्यमान विलेय लवणों का स्कंदन या अवक्षेपण होता है। अग्नि या धूप के योग से कीटाणुनाश भी होता है। ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार के जलों के गुण-दोष बताये गये हैं पर इनके कारण और निवारण की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं दी गई है। वस्तुतः जल के संरचनात्मक एवं शोधन-रसायन का विकास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हो सका।

(ब) अन्य पदार्थों के गुण :

जल के अतिरिक्त अनेक ठोस खाद्यों, शाक-भाजी एवं तरल पेयों का भी ग्रन्थ में गुण विवरण दिया गया है। इनमें धान, दालें, तिल, गेहूँ और जौ आदि के त्रिदोषाधारित विवरण दिये गये हैं। विभिन्न प्रकार के जमींकदों को पुष्टिकर एवं विषनाशक बताया गया है।[1] पालक, बथुआ आदि पित्तविकार या अम्लता को दूर करते हैं। परवल अम्लता, क्षारता, कृमि एवं चर्मरोगों को दूर करती है। विभिन्न प्रकार के मसाले वात एवं कफ नाशक हैं (संभवतः उभयधर्मी ऐल्केलाइटों के कारण)। अदरख, कालीमिर्च, पीपरामूल, प्याज, लहसुन अम्लता एवं क्षारता को नाशकर जठराग्नि या पाचन शक्ति को बढ़ाते हैं। ये उष्ण अर्थात् उष्मादायी होते हैं जिनसे विकार पचते हैं। विभिन्न खट्टे फल (उभयधर्मी अम्लों के कारण) वातनाशक एवं मलशोधक होते हैं। किशमिश, केला, महुआ, सिंघाड़ा एवं नरियल गरिष्ठ एवं कफ-बर्धी होते हैं। (संभवतः किशमिश में ये गुण नहीं पाये जाते हैं ?)।

दूध[2] आठ प्रकार के प्राणि-स्रोतों से प्राप्त होता है। यह विभिन्न प्रकार के वनस्पतिज खाद्य-पदार्थों के जीवरासायनिक परिपाक का परिणाम है। यह हितकर और पुष्टिकर होता है। धारोष्ण दूध अमृत है, थकावट दूर करता है। गरम दूध एवं उष्ण-शीतलित (आज का पेस्चुराइज्ड) दूध अनेक (कृमि) रोगों में लाभकारी है। यह आँख की रोशनी (विटामिन ए के कारण) बनाता है और आयु-वर्धक (खनिजों के कारण) है। दूध से उत्पन्न दही अम्लीय होता है, पाचनशक्ति बढ़ाता है। यह विषहर, वृष्य एवं मलावरोधक है। मट्ठा खट्टा एवं शीघ्र पचनशील है। यह भी पाचनशक्ति बढ़ाता है और मल-मूत्रशोधक है। मक्खन एवं घृत भी खट्टेमीठे रसायन हैं। इनमें शरीर के तेज, बल व आयुवर्धक पदार्थ होते हैं। इनमें भुंजे हुए मसालों से छौंके और बनाये भोज्य बलवर्धक होते हैं।

सिरका और कांजी खट्टी होती है और वातविकार (अम्लता) को दूर करती है। विभिन्न तेल केशवर्धक, तेजवर्धक एवं कृमिनाशक होते हैं। मूत्र भी दूध के समान आठ प्रकार के होते हैं। ये तीक्ष्ण, कड़ुए एवं उष्मादायी होते हैं। ये कृमिनाशक एवं अम्लता-क्षारता को दूर करते हैं। अनेक क्षारों में भी मूत्र के गुण होते हैं। इन मूत्रों का उपयोग औषध एवं अनुपान में किया जाता है।

---

१. कल्याणकारक, पृ० ५७.

२. वही, पृ० ७५.

मद्य मानसिक विचार शक्ति, हेयोपादेय ज्ञान, सामान्य क्रियाक्षमता एवं विवेक को दूषित करता है। यह अनेक रोगों को उत्पन्न करता है और मनुष्य की गरिमा को हीन बनाता है।

भोजन के तीन प्रधान चरण होते हैं।[1] पहले चरण में स्निग्ध-मधुर (हलुआ-खीर आदि) खाने चाहिये। दूसरे चरण में खट्टे और नमकीन पदार्थ खाने चाहिये। तीसरे चरण में द्रव पदार्थ लेने चाहिये। प्रत्येक भोजन में शाक-भाजी, कांजी और दूध अवश्य लेना चाहिये। भोजन के पाक से रस, रुधिर, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य नामक सात धातुयें शरीर में निर्मित होती हैं।

इन पदार्थों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की वनस्पतियों के गुणों का भी वर्णन किया गया है। यह स्पष्ट है कि यह वर्णन आचार्यों की तीक्ष्ण निरीक्षण शक्ति एवं अनुभवसामर्थ्य का सङ्केतक है। इसमें सैद्धान्तिक व्याख्या समाहित नहीं है।

(स) खनिज एवं अन्य रासायनिक का विवरण

ग्रन्थ में उस समय औषधियों के रूप में प्रयुक्त आने वाले अनेक खनिजों एवं रासयनिक पदार्थों के नाम दिये गये हैं। इसके अन्तर्गत हरताल, नीलांजन, कसीस (फेरस सल्फेट), फिटकरी (ऐलम), गेरू (आयरन ऑक्साइड), पंचलवण, तूतिया (कापर सल्फेट), दीपांजन (काजल) मैनसिल (आर्सेनिक सल्फाइड), शिलाजीत (विटुमैन), माक्षिक (पायराइट्स), वंसलोचन, स्फटिकमणि आदि पदार्थों का उल्लेख है। धातुओं में सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा एवं काँसे का नाम है। इनकी भस्मों का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, शंख, मोती, प्रवाल, पारद भस्मों का भी उल्लेख है। इनके बनाने की विधियाँ भी दी गई हैं। कपूर, बज्रक्षार एवं गन्धक के भी अनेक उपयोग दिये गये हैं। रेशमी कपड़े की भस्म को रक्तस्राव रोकने में उपयोगी बताया गया है।

क्षारीय पदार्थ तीन काम करते हैं—छेदन, भेदन और लेखन। ये वनस्पतियों की भस्मों को पानी में उबालकर प्राप्त किये जाते हैं। ये तनु (स्वल्प द्रव) और सान्द्र (अति द्रव) दोनों होते हैं। ये चिकने और सफेद होते हैं। आज की भाषा में मुख्यतः पोटैसियमकार्बोनेट (यवक्षार) के विलयन हैं। घावों को क्षारों से धोया जाता है जिससे वे पक न सकें। ये पूतिरोधी होते हैं। चिकित्सक को क्षार कर्म अवश्य जानना चाहिये। यह बताया गया है कि औषध के पन्द्रह कार्यों में से आधे से अधिक ऐसे होते हैं जिनमें रासायनिक प्रक्रियायें काम आती हैं।

(द) विष-वर्णन[2]

विष वे पदार्थ हैं जो शरीर के बाह्य या अन्तर्ग्रहण से कष्ट पहुँचावे, शरीरक्रिया में बाधक बने। विषों का वर्णन कौटिल्य एवं सुश्रुत ने किया है और विषज्ञ भिषक की आवश्यकता राजकुल को अनिवार्य बताई है। सुश्रुत के दो प्रकारों की तुलना में उग्रादित्य ने इन्हें तीन प्रकार का बताया है और उसके वर्गीकरण भी किये हैं—

---

१. कल्याणकारक, पृ० ५५.

२. वही, अध्याय १९ पृ० ४८०.

(अ) **स्थावर, वनस्पति एवं पार्थिव विष**—ये जड़, पत्र, पुष्प, फल, छाल, दूध, निर्यास, रससार, कंद एवं धातु विष के रूप में दस प्रकार के हैं। कनेर, गुंची, कचनार, धतूरा, अकौवा, गोंद, कालकूटादि, कंद और संखिया इसी कोटि के विष हैं। इनका प्रभाव सात चरणों में मारक रूप ग्रहण करता है।

(ब) **जंगम या प्राणिज विष**—ये प्राणि शरीर की आँख, श्वासोच्छवास, दाढ़, लार, मूत्र, मल, शुक, नख, वात, पित्त, गुद, मुख, दंत शूक (डंक), शव और अस्थि के माध्यम से सोलह प्रकार से निर्गमित होते हैं। ये साँप, बंदर, पागल कुत्ता, शिशुमार, छिपकली, चूहा, गोंच, मक्खी, मच्छर, विशिष्ट-मछलियों एवं शवों में पाये जाते हैं। इनका विष दंश या स्पर्श स्थान में ४५० काल मात्रा तक रहकर अपना पूर्ण प्रभाव पूर्वोक्त सात चरणों में प्रदर्शित करता है। यहाँ काल की मात्रा की व्याख्या नहीं की गई है।

(स) **कृत्रिम विष**—यद्यपि इसके विषय में ग्रन्थ में कोई विवरण नहीं मिलता। फिर भी इसके अन्तर्गत ऐसे पदार्थों को लिया जा सकता है जो रसशाला में तैयार किये जा सकें। वर्तमान पोटैसियम सायनाइड, कार्बन मोनोक्साइड, मेथिलियम सायनाइड आदि को इस कोटि में ही रखना चाहिये। यद्यपि ये उस युग में अनुपलब्ध थे।

विष की चिकित्सा वमन, विरेचन एवं औषध के रूप में बताई गई है। विषैले जीवों के काटने पर अन्तः प्रविष्ट विष के लिये बंधन, रक्तमोक्षण, अग्निजलन या जलौकाचूषण की क्रियायें प्राथमिक रूप से बताई गई हैं।

पारद रसायन

पारद और उसके विभिन्न यौगिक और मिश्रण जीवन को स्वास्थ्य एवं आयुष्य प्रदान करते हैं। इस आधार पर भारत में रसतंत्र ही चल पड़ा था जिसमें कुछ चामत्कारिता का भी अंश था। लेकिन इस तंत्र से रसायन के विकास में बड़ी सहायता मिली है। भारत में रसायन का विकास रसतंत्र के माध्यम से ही सोलहवीं सदी तक होता रहा है। उग्रादित्य इस तंत्र की बाल्यावस्था में हुए हैं। संभवतः उन्हें नागार्जुन का रसरत्नाकर सुलभ नहीं हो सका था, इसीलिये पारद-रसायन से संबंधित उनका विवरण प्राथमिक स्तर का ही माना जायगा। नागार्जुन के अठारह संस्कारों की तुलना में पारद के आठ महासंस्कारों का ही यहाँ वर्णन हैं: स्वेदन, मर्दन, धातुमिश्रण, सम्मिश्रण, बंधन, गर्भद्रावण, रंजन एवं सारण। ये संस्कार छह क्रियाओं के माध्यम से संपन्न होते हैं - मूर्च्छन (ठोसीकरण), मारण (भस्मकरण), बंधन (यौगिकीकरण एवं सम्मिश्रण), तापन, वासन एवं कासन। पारे को गुड़ के साथ मर्दित कर मूर्च्छित किया जाता है। कैंत के फल के रस से उसका मारण होता है। रसबंधन रसशाला में किया जाता है। दोलायंत्र की सहायता से पारद में अनेक पदार्थ मिलाकर एवं घोंटकर उसे स्वेदित (अधःपातित) करते हैं और उसे बंधन-योग्य बनाते हैं। शुद्ध पारे में सुवर्णचूर्ण मिलाकर घोंटने और छानने पर मिश्ररस प्राप्त होता है। इसमें विभिन्न वर्गों के पदार्थ मिलाकर कांजी के दोलायंत्र में स्वेदित करने पर भी रस-बंध

---

१. कल्याणकारक अध्याय, २४ पृ० ६६९.

प्राप्त होता है। पारे में ताम्र, अभ्रक एवं लौहचूर्ण आदि मिलाकर जारण (तापन) करने से भी विभिन्न रसबंध प्राप्त होते हैं। ये रस-बंध ही औषधों में काम आते हैं। मकरध्वज नामक औषध पारद, गंधक और स्वर्ण के परस्पर बंध से प्राप्त होती है।

पारद और रसायन कार्य के लिये जहाँ नागार्जुन ने २६ यंत्रों के नाम दिये हैं, वहाँ कल्याणकारक में इससे आधे यंत्रों का भी उल्लेख नहीं है। इससे पता चलता है कि उग्रादित्य पारद-रसायन एवं उपचार के वर्णन में काफी पीछे हैं जबकि वे खनिज एवं रासायनिक पदार्थों के विवरण में आगे हैं।

उपसंहार

उग्रादित्य का कल्याणकारक ग्रन्थ एक ओर जहाँ यह प्रमाणित करता प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में उस युग में रसायन विद्या अधिक प्रगति पर थी, वहीं यह, यह भी प्रकट करता है कि दक्षिण और पूर्वी-उत्तरी भारत में ज्ञान विद्या के संप्रासारण की गति मन्द रही है और समतुल्यता में दो-तीन सौ वर्ष का अन्तराल भी सामान्य रहा है। फिर भी, यह ग्रन्थ नागार्जुन और उत्तरवर्ती रसज्ञों के बीच एक कड़ी का काम करता है क्योंकि अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कल्याणकारक के सौ वर्ष बाद के ही पाये जाते हैं। सर्वाधिक ग्रन्थ बारहवीं-तेरहवीं सदी के ही पाये जाते हैं। इनमें कुछ जैनाचार्य-रचित भी हैं। इस विषय पर अभी कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है। इस बात की महती आवश्यकता है कि जैनाचार्यों द्वारा रसायन और भौतिक विज्ञानों में योगदान के इतिहास का सर्वेक्षण एवं लेखन किया जावे।

संडेरगच्छ का इतिहास

शिवप्रसाद

पूर्वमध्यकाल में पश्चिमी भारत में निर्ग्रन्थ श्वेताम्बर श्रमण संघ की विभिन्न गच्छों के रूप में विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। कुछ गच्छों का नामकरण विभिन्न नगरों के नाम के आधार पर हुआ, जैसे कोरंट (वर्तमान कोरटा) से कोरंटगच्छ, नाणा (वर्तमान नाना) से नाणकीयगच्छ, ब्रह्माण (वर्तमान वरमाण) से ब्रह्माणगच्छ, संडेर (वर्तमान सांडेराव) से संडेरगच्छ, पल्ली (वर्तमान पाली) से पल्लीवालगच्छ, उपकेशपुर (वर्तमान ओसिया) से उपकेशगच्छ, काशहृद (वर्तमान कायंद्रा) से काशहृदगच्छ आदि। इस लेख में संडेरगच्छ के सम्बन्ध में यथाज्ञात साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

संडेरगच्छ चैत्यवासी आम्नाय के अन्तर्गत था। यह गच्छ १०वीं शती के लगभग अस्तित्त्व में आया। ईश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। उनके शिष्य एवं पट्टधर श्री यशोभद्रसूरि गच्छ के महाप्रभावक आचार्य हुए। संडेरगच्छीय परम्परा के अनुसार यशोभद्रसूरि के पश्चात् उनके पट्टधर शालिसूरि और आगे क्रमशः सुमतिसूरि, शांतिसूरि और ईश्वरसूरि (द्वितीय) हुए। पट्टधर आचार्यों के नामों का यह क्रम लम्बे समय तक चलता रहा।

संडेरगच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये हमारे पास मूलकर्त्ता के ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने वाले गृहस्थों की प्रशस्तियां एवं स्वगच्छीय आचार्यों के रचनाओं की प्रशस्तियां सीमित संख्या में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त राजगच्छीयपट्टावली (रचना काल वि० सं० १६वीं शती लगभग) एवं वीरवंशावली (रचनाकाल वि. सं. १७वीं शती लगभग) से भी इस गच्छ के प्रारम्भिक आचार्यों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। संडेरगच्छीय आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित बड़ी संख्या में प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। इनमें से अधिकांश प्रतिमायें लेखयुक्त हैं। पट्टावलियों की अपेक्षा ग्रन्थ एवं पुस्तक प्रशस्तियाँ और प्रतिमा लेख समसामयिक होने से ज्यादा प्रामाणिक हैं। इस लेख में इन्हीं आधारों पर संडेरगच्छ के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इनका अलग-अलग विवरण इस प्रकार है—

साहित्यिकसाक्ष्य—

षट्विधावश्यकविवरण की दाता प्रशस्ति[1] (लेखन काल वि. सं. १२९५।ई० सन् १२३९)

इस ग्रन्थ की दाता प्रशस्ति में सौवर्णिक पल्लीवालज्ञातीय श्रावक तेजपाल द्वारा षट्विधा-

---

1. Gandhi, L B.—A Discriptive Catalogue of Manuscripts In the Jaina Bhandar's At Pattan, Vol I, Baroda—1937 pp 121 No. 176.

वश्यकविवरण (आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित योगशास्त्र का एक अध्याय) की प्रतिलिपि संडेरगच्छीय गणि आसचन्द्र के शिष्य पंडित गुणाकर को दान में देने का उल्लेख है। परन्तु गणि आसचन्द्र संडेरगच्छ के किस आचार्य के शिष्य थे, यह ज्ञात नहीं होता है। संडेरगच्छ का उल्लेख करने वाला यह सर्वप्रथम साहित्यक साक्ष्य है, इसलिए यह महत्त्वपूर्ण है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के अन्तर्गत **महावीरचरित्र** की **दाता प्रशस्ति** (लेखन काल वि. सं. १३२४/ई० सन् १२६७)[1]

इस प्रशस्ति में यशोभद्रसूरि का महान् प्रभावक आचार्य के रूप में उल्लेख है। यह प्रशस्ति खंडित है; अतः इसमें यशोभद्रसूरि के बाद के आचार्य का नाम (जो शालिसूरि होना चाहिए) नहीं मिलता, फिर आगे सुमतिसूरि का नाम आता है और इन्हें दशवैकालिकटीका का रचयिता बताया गया है। इनके पश्चात् शान्तिसूरि और फिर ईश्वरसूरि के नाम आते हैं। प्रशस्ति में आगे दाता श्रावक परिवार की विस्तृत वंशावली दी गयी है।

इसी श्रावक परिवार के एक सदस्य द्वारा **कल्पसूत्र** एवं **कालकाचार्यकथा** की **प्रतिलिपि**[2] करायी गयी। **यद्यपि** इनकी **दाताप्रशस्ति** में **रचनाकाल** नहीं दिया गया है, फिर भी इस प्रशस्ति को लिखवाने वाला **श्रावक उक्त (श्रावक) परिवार** का ही एक सदस्य होने से इसका **रचनाकाल वि० सं० को चौदहवीं शताब्दी** का मध्य माना जा सकता है। इस प्रशस्ति में **यशोभद्रसूरि** के पश्चात् **शालिसूरि, सुमतिसूरि, शांतिसूरि** और फिर **ईश्वरसूरि** का नाम आता है और अन्त में उसी श्रावक परिवार की वंशावली दी गयी है। इस प्रशस्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि **संडेरगच्छ** में **इन्हीं चार पट्टधर आचार्यों** के नामों की **पुनरावृत्ति** होती रही। इस तथ्य का उल्लेख करने वाला **यह सर्वप्रथम साहित्यक प्रमाण है।**

परिशिष्टपर्व के **वि० सं० १४७९**/ई. सन् १४२२ में **प्रतिलेखन** की **दाता प्रशस्ति**[3]—

इस प्रशस्ति के अनुसार संडेरगच्छीय आचार्य यशोभद्रसूरि के संतानीय शांतिसूरि के शिष्य मुनि विनयचन्द्र ने श्री सोमकलश के उपदेश से वि० सं० १४७९ ज्येष्ठ सुदि प्रतिपदा मंगलवार को उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि तैयार की। वि. सं. १४७९ में आचार्य शांतिसूरि संडेरगच्छ के प्रमुख थे, ऐसा इस प्रशस्ति से स्पष्ट होता है।

---

1. Muni Punya Vijaya—Catalogue of Palm-leaf Mss in the Shanti Natha Jain Bhandar, Cambay pp. 306-7.
2. Muni Punya Vijaya—पूर्वोक्त क्रमांक ५२, पृ० ७८.
3. Catalogue of Sanskrit & Prakrit Manuscripts—Muni Punya Vijayajis Collection By A. P. Shah, Part II, No. 3790.

कल्पसूत्र के वि० सं० १५८६ में प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति[१]

इस प्रशस्ति में संडेरगच्छीय आचार्यों की जो गुर्वावली मिलती है, वह इस प्रकार है—

यशोभद्रसूरि
|
शालिसूरि
|
सुमतिसूरि
|
शांतिसूरि
|
ईश्वरसूरि
|
शालिसूरि
|
हर्षसागर
|
मुनिगंगा (वि. सं. १५८६)

इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि शालिसूरि के प्रशिष्य एवं हर्षसागर के शिष्य मुनि गंगा के पठनार्थ एक श्रावक द्वारा कल्पसूत्र की प्रतिलिपि तैयार करायी गयो। हर्षसागर और मुनिगंगा शालिसूर के संभवतः पट्टधर नहीं थे, अतः उनका नाम परिवर्तित नहीं हुआ। इस प्रशस्ति की गुर्वावली में भी चार नामों के पुनरावृत्ति की झलक है, परन्तु इन आचार्यों के क्न्हिी विशिष्ट कृत्यों यथा साहित्य रचना आदि की कोई चर्चा नहीं है।

भोजचरित्र के वि० सं० १६५० में प्रतिलेखन की **दाता प्रशस्ति**[२]

इस प्रशस्ति में यशोभद्रसूरि के पश्चात् शालिसूरि-सुमतिसूरि-शांतिसूरि का उल्लेख करते हुए शांतिसूरि के शिष्य नयनकुञ्जर और हंसराज द्वारा भोजचरित्र की प्रतिलिपि करने का उल्लेख है।

---

१. **Catalogue of Sanskrit & Praprit Manuscripts In Jesalmer Collection—Compiled By Muni Shree Punya Vijayaji, No. 1398.**

२. श्रीसंडेरगच्छे श्रीयशोभद्रसूरि संताने तत्पट्टे श्रीशालिसूरिः, तत्पट्टे श्रीसुमतिसूरिः तत्पट्टे श्रीशान्तिसूरयः। तदन्वये श्रीशान्तिसूरिविजयराज्ये वा० श्रीनइ(य) कुंजरद्वितीयशिष्यमु० हंसराजः (जेन) श्रीभोजचरित्रं सम्पूर्णं कृतम्॥ Catalogue of Sanskrit & Prakrit Manuscripts—Muni Punyavijayjis Collection—Ed by A. P. Shah Part—II No-4936.

षट्पंचासिकास्तवक के **वि० सं० १६५० में प्रतिलेखन को दाता प्रशस्ति**[1]

इस प्रशस्ति में आचार्यों की गुर्वावली न मिलकर उपाध्याय और उनके शिष्यों की गुर्वावली मिलती है और यही कारण है कि इसमें परम्परागत नाम नहीं मिलते हैं। **सन्देहशतक** की **वि० सं० १७५०** में तैयार की गयी **प्रतिलिपि** की **दाता प्रशस्ति**[2] से भी **इसी तथ्य की पुष्टि** होती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संडेरगच्छ में गच्छनायक आचार्यों को ही परम्परागतनाम दिये जाते थे, शेष मुनियों के वही नाम अन्त तक बने रहते थे जो उन्हें दीक्षा के समय दिये जाते थे।

संडेरगच्छीय आचार्यों की लम्बी परम्परा में सुमतिसूरि (चतुर्थ) के शिष्य शांतिसूरि (चतुर्थ) ने वि. सं. १५५० में **सागरदत्तरास** और इनके शिष्य ईश्वरसूरि (पंचम) ने वि. सं. १५६१ में **ललितांगचरित**; वि. सं. १५६४ में **श्रीपालचौपाई** तथा इनके शिष्य धर्मसागर ने वि. सं. १५८७ में **आरामनंदनचौपाई** की रचना की। इनके सम्बन्ध में यथास्थान प्रकाश डाला गया है। यहाँ इन रचनाओं के सम्बन्ध में यही कहना अभीष्ट है कि इनकी प्रशस्ति में भी परम्परागत पट्टधर आचार्यों के नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई सूचना नहीं मिलती, जिससे इस गच्छ के इतिहास पर विशेष प्रकाश डाला जा सके।

संडेरगच्छीय आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित जिन प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों का विवरण

संडेरगच्छ से सम्बन्धित सबसे **प्राचीन** उपलब्ध अभिलेख **वि० सं० १०३०** / ई० सन् ९८२ का है जो आज करेड़ा (प्राचीन करहेटक) स्थित पार्श्वनाथ जिनालय में प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है[3]। लेख इस प्रकार है—

(१) संवत् १०२९ (व)र्षे श्री संडेरक गच्छे श्री यशोभद्रसूरि सन्तानीय श्री श्यामा........(?) चार्या.................

(२) ....प्र० भ० श्रीयशोभद्रसूरिभिः श्रीपार्श्वनाथ बिबं प्रतिष्ठितं ॥ न ॥ पूर्व चन्द्रेण कारितं.................

संडेरगच्छ के आदिम एवं महाप्रभावक आचार्य **यशोभद्रसूरि** द्वारा प्रतिष्ठापित एवं अद्यावधि **एकमात्र उपलब्ध** प्रतिमापर उत्कीर्ण यह लेख संडेरगच्छ का उल्लेख करने वाला **प्रथम अभिलेख** है। साहित्यक साक्ष्यों (पट्टावलियों) के आधार पर यशोभद्रसूरि का समय वि. सं. ९५७/ई० सन्

---

१. मू० अन्तः—**इति षट्पञ्चाशिकाटीका समाप्ता ॥**

श्रीबृहत्श्रीश्रीसंडेरगच्छे उपाध्या[य]श्रीधर्म्मरत्नशिष्यवा० श्रीसि(स)हजसुन्दरउपाध्या[य] श्रीजि[ज]यतिलक—पं० श्रीभावसुन्दर उपाध्या[य] श्रीक्षमामूर्तिउपाध्या[य] श्रीक्षमासुन्दरविजयराज्ये ग० श्रीसंयमवल्लभ—वा० श्रीआणन्दचन्द्र—वा० श्री न्या[ज्ञा]नसागर मु० सामलमु० देपा-जीवन्त-डङ्गासमस्तसाधुयुते उपाध्या[य]श्रीक्षमासुन्दर-शिष्यचेलानेतालिखितं, सांप्रतं राणाश्रीउदयसङ्घराज्ये उटालाग्रामे लिखितम्। शाह, पूर्वोक्त, भाग ३, क्रमांङ्क ७२६१।

२. वही, भाग १, क्रमाङ्क ३२६९.

३. नाहर, पूरनचन्द—जैन लेख संग्रह, भाग २, लेखाङ्क १९४८

९०० से वि. सं. १०३९/ई० सन् ९८२ माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यशोभद्रसूरि[1] अपने जीवन के अन्तिम समय तक पूर्णरूप से धार्मिक क्रियाकलापों में संलग्न रहे।

वि. सं. १११० से वि. सं. ११७२ तक के ४ में अभिलेख, जो संडेरगच्छीय आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित जिन प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं, में प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता, इनका विवरण इस प्रकार है—

(i) वि. सं. ११२३ सुदि ८ सोमवार[2]

परिकर पर उत्कीर्ण लेख,

इस परिकर में आज पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, परन्तु इस लेख में ज्ञात होता है, कि इसमें पहले महावीर स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित रही।

स्थान—जैन मन्दिर, बीजोआना

(ii) वि. सं. १११० (तिथिविहीन)[3]

पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख

प्रतिष्ठास्थान—चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, राधनपुर

(iii) वि. सं. ११६३ ज्येष्ठ सुदि १०[4]

(iv) वि. सं. ११७२ (तिथिविहीन लेख)[5]

प्रतिष्ठास्थान—जैनमन्दिर, सेवाड़ी

सांडेराव स्थित जिनालय के गूढ़ मंडप में एक आचार्य और उनके शिष्य की प्रतिमा-स्थापित है। इस पर वि. सं. ११९७ का एक लेख[6] भी उत्कीर्ण जिससे ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा संडेरगच्छीय पं० जिनचन्द्र के गुरु देवनाग की है। देवनाग सन्डेरगच्छीय किस आचार्य के शिष्य थे? यह ज्ञात नहीं है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस गच्छ में आचार्य यशोभद्रसूरि के सन्तानीय (शिष्य) के रूप में सर्वप्रथम शालिसूरि, उनके पश्चात् सुमतिसूरि उनके बाद शांतिसूरि और शांतिसूरि के बाद ईश्वरसूरि क्रमशः पट्टधर होते हैं, ऐसी परम्परा रही है, परन्तु इन परम्परागत नामों के

---

१. यशोभद्रसूरि के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य—वीरवंशावली (विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह—[संपा० मुनि जिनविजय] में प्रकाशित); ऐतिहासिक रास संग्रह, भाग २; जैन परम्परानो इतिहास, भाग १, (त्रिपुटी महाराज) आदि।

२. विजयधर्मसूरि—सम्पा०—प्राचीन लेख संग्रह, लेखाङ्क १

३. मुनिविशालविजय—सम्पा०—राधनपुर प्रतिमा लेख संग्रह, लेखाङ्क ३

४. जैनसत्यप्रकाश वर्ष—२, पृ० ५४३, क्रमाङ्क ४१

५. मुनिजिनविजय, संपा० प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग २, लेखाङ्क २२३

६. मुनिविशालविजय—सांडेराव, पृ० १५

उल्लेख वाला सर्वप्रथम अभिलेखीय साक्ष्य वि. सं. ११८१ का है,[1] जो नाडोल के एक जैन मन्दिर में मूलनायक के परिकर के नीचे उत्कीर्ण है। इसमें यशोभद्रसूरि के संतानीय शालिभद्रसूरि (प्रथम) का प्रतिमा प्रतिष्ठापक के रूप में रूप में उल्लेख है। इसके बाद वि. सं. १२१० पंचतीर्थी के[2] लेख जो जैन मन्दिर, सम्मेदशिखर में आज प्रतिष्ठित है, प्रतिष्ठापक आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता। वि. सं. १२१५ के एक लेख[3] में पुनः शालिभद्रसूरि का उल्लेख आता है। अतः वि. सं. १२१० के उक्त पंचतीर्थी प्रतिमा के प्रतिष्ठापक शालिसूरि (प्रथम) ही रहे होगें ऐसा माना जा सकता है।

वि. सं. १२१८, १२२१, १२३३ और १२३६ के लेखों में यद्यपि प्रतिष्ठापक आचार्य का उल्लेख नहीं है, तथापि उनका विवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १२१८ श्रावण सुदि १४ रविवार[4]
ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख

यह ताम्रपत्र पहले जैन मन्दिर '**नाडोल**' में था, परन्तु अब रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन में सुरक्षित है।

वि. सं. १२२१ माघ वदि शुक्रवार[5]
सभा मंडप में उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—महावीर जिनालय, सांडेराव
वि. सं. १२३३ ज्येष्ठ वदि ७ गुरुवार[6]
भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठास्थान—जैन मन्दिर, अजारी
वि. सं. १२३६ ज्येष्ठ सुदि १३ शनिवार[7]

वि. सं. १२३७, १२५१ एवं १२५२ के प्रतिमा लेखों में प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में यशोभद्रसूरि के सन्तानीय एवं शालिसूरि के पट्टधर सुमतिसूरि (प्रथम) का नाम आता है। इनका विवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १२३७ फाल्गुनसुदि १२ मंगलवार[8]
परिकर के नीचे का लेख

---

१. विजयधर्मसूरि, संग्राहक एवं सम्पादक—प्राचीन लेख संग्रह, लेखाङ्क ५
२. नाहर, पूरनचन्द, जैन लेख संग्रह, भाग २, लेखाङ्क१६८७;
३. अमीन, जे० पी०—खंभातनुं जैन मूर्ति विधान, पृ० ३२, लेखाङ्क २;
४. नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ८३९
५. मुनिविशालविजय—सांडेराव पृ० १६
मुनिजिनविजय—प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग २, लेखाङ्क ३४९
६. मुनि जयन्तविजय—अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह (आबू भाग ५) लेखाङ्क ४१
७. शाह, अम्बालाल पी०—"**जैन तीर्थ सर्व संग्रह**" पृ० २१३
८. विजयधर्मसूरि—पूर्वोक्त, लेखाङ्क २३

प्रतिष्ठापक आचार्य—सुमतिसूरि;
प्रतिष्ठास्थल—बड़ा जैन मन्दिर, नाडोल
वि. सं. १२५१ ज्येष्ठ सुदि ९ शुक्रवार[1]
आदिनाथ की परिकर युक्त प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—जैन मन्दिर, बोया, मारवाड़
वि. सं. १२५२ माघ वदि ५ रविवार[2]
शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ की प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेख
वर्तमान प्रतिष्ठा स्थान—सोमचिंतामणि पार्श्वनाथ जिनालय, खंभात

जैसलमेर ग्रन्थ भण्डार[3] में बोधकाचार्य के शिष्य सुमतिसूरि द्वारा वि. सं. १२२० में रचित दशवैकालिक टीका उपलब्ध है। बोधकाचार्य और उनके शिष्य सुमतिसूरि किस गच्छ के थे, यह ज्ञात नहीं होता है।

जैसा कि पहले देख चुके हैं, सन्डेरगच्छीय शालिसूरि (प्रथम) द्वारा प्रतिष्ठापित जिन प्रतिमाओं पर वि. सं. ११८१ से वि. सं. १२१५ तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इनके शिष्य सुमतिसूरि (प्रथम) द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं पर वि. सं. १२३६ से १२५२ तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वि. सं. १२१५ के पश्चात् ही सुमतिसूरि अपने गुरु के पट्ट पर आसीन हुए। ऐसी स्थिति में वि. सं. १२२० में दशवैकालिकटीका के रचनाकार सुमतिसूरि को संडेरगच्छीय सुमतिसूरि से अभिन्न मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती है।

यशोभद्रसूरि के तृतीय संतानीय एवं शान्तिसूरि (प्रथम) द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं पर वि. सं. १२४५ से वि. सं. १२९८ तक के लेख उत्कीर्ण हैं। नाडोल के चाहमान नरेश का मन्त्री और महामात्य वस्तुपाल का अनन्य मित्र यशोवीर इन्हीं शान्तिसूरि का शिष्य था। यशोवीर ने आबू स्थित विमलवसही में जो देवकुलिकायें निर्मित करायीं, उनमें प्रतिमा प्रतिष्ठापन का कार्य शान्तिसूरि ने ही सम्पन्न किया था। इसी कालावधि वि. सं. १२४५-१२९८ के मध्य वि. सं. १२६६ एवं वि. सं. १२६९ में प्रतिष्ठापित कुछ प्रतिमायें जो संडेरगच्छ से सम्बन्धित हैं, में प्रतिमा

---

१. विजयधर्मसूरि—पूर्वोक्त, लेखाङ्क २६
२. अमीन, जे० पी०—पूर्वोक्त, पृ० ३२-३३
3. Catalouge of Sanskrit & Prakrit Mss., Jesalmer Collection P-30-31

नोटः—पूना और खंभात के ग्रन्थ भण्डारों में भी दशवैकालिकटीका की प्रतियां विद्यमान हैं। जिनरत्नकोश पृ० १७०

द्रष्टव्य—Discriptive Catalouge of the Govt. Collection of Mss. Vol. XVIII, Jaina Literature & Philosophy, Part III No-716;
Catalouge of Palm-Leaf Mss in the Shanti Nath Jain Bhandar, Cambay, Part II, P-305; जिनरत्नकोश पृ० १७०;

प्रतिष्ठापक आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उक्त प्रतिमायें भी शान्तिसूरि ने ही प्रतिष्ठापित की होगीं। शान्तिसूरि (प्रथम) द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमालेखों का विवरण इस प्रकार है—

शांतिसूरि (प्रथम) द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमालेखों का विवरण

वि. सं. १२४५ (तिथि विहीन लेख)[1]

मंत्री **यशोवीर** द्वारा नेमिनाथ की प्रतिमा को देवकुलिका में स्थापित करने का इस लेख में विवरण दिया गया है।

प्रतिष्ठा स्थान—देहरी संख्या ४५, विमलवसही (आबू)
वि. सं. १२६९ माघ ३ शनिवार[2]
प्रतिष्ठा स्थान—जैन मन्दिर, अजारी
भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
वि. सं. १२७४ वैशाखसुदि ३[3]
प्रतिष्ठा स्थान—जैन मन्दिर, डभोई
वि. सं. १२९१ (तिथि विहीन लेख)[4]
मंत्री यशोवीर द्वारा पद्मप्रभ की प्रतिमा को देवकुलिका में स्थापित कराने का विवरण
प्रतिष्ठा स्थान—लूणवसही—आबू (देहरी संख्या ४१)

देहरी संख्या ४० पर भी वही लेख है, परन्तु इसमें सुमतिनाथ की प्रतिमा को देवकुलिका में स्थापित कराने का उल्लेख है।

वि. सं. १२९७ वैशाख सुदि ३[5]
शान्तिसूरि के परिकर वाली प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—जैन मन्दिर—अजारी
वि. सं. १२९८ तिथि विहीन लेख

मल्लिनाथ जिनालय, खंभात में मन्त्री यशोवीर के पुत्र देवधर, उसकी पत्नी देवश्री और उनके पुत्रों द्वारा नन्दीश्वरद्वीप की स्थापना का उल्लेख है। वर्तमान में यह चिन्तामणिपार्श्वनाथ जिनालय के गर्भगृह के बगल में दीवाल में स्थापित है।[6]

---

१. मुनि जिनविजय—पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क २१३
   मुनि कल्याणविजय—प्रबन्ध पारिजात पृ० ३६२, लेखाङ्क १२१
२. मुनि जयन्तविजय—आबू, भाग २, लेखाङ्क ४२०
३. मुनि बुद्धिसागर—जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह, भाग १, लेखाङ्क ५६
४. मुनि कल्याणविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४०-४१ (लूणवसही के लेख)
५. मुनि जयन्तविजय, आबू भाग ५ लेखाङ्क ४२३
६. अमीन, जे० पी०—पूर्वोक्त, पृ० १४ एवं ३३

दो प्रतिमा लेख, जिनमें प्रतिष्ठापक आचार्य का उल्लेख नहीं है—

वि. सं. १२६६ कार्तिक वदि २ बुधवार[1]
स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

प्रतिष्ठा स्थान—वीर जिनालय, सांडेराव

वि. सं. १२६९ फागुण सुदि ४ गुरुवार[2]
स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

प्रतिष्ठा स्थान—जैन मन्दिर, सांडेराव

शान्तिसूरि (प्रथम) के पट्टधर ईश्वरसूरि (द्वितीय) हुए। इनके द्वारा प्रतिष्ठित वि. सं. १३०७ एवं १३१७ के दो लेख मिले हैं जो इस प्रकार हैं—

वि. सं. १३०७ वैशाख सुदि ५ गुरुवार[3]
शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, खंभात

वि. सं. १३१७ ज्येष्ठ वदि ११ बुधवार[4]
संभवनाथ की प्रतिमा को देवकुलिका सहित प्रतिष्ठित कराने का उल्लेख,

प्रतिष्ठा स्थान—बावनजिनालय की देहरी, उदयपुर

संडेरगच्छीय गुर्वावली का सामान्य रूप से यही क्रम प्राप्त होता है, परन्तु शान्तिसूरि और शालिसूरि द्वारा प्रतिष्ठित कुछ जिनप्रतिमायें जो वर्तमान में स्तम्भतीर्थ स्थित मल्लिनाथ जिनालय में सुरक्षित हैं, उनपर उत्कीर्ण लेखों से विचित्र तथ्य प्राप्त होते हैं।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, शालिसूरि का उल्लेख करने वाला सर्वप्रथम अभिलेख वि. सं. ११८१ और अन्तिम अभिलेख वि. सं. १२१५ का है। इसके बाद सुमतिसूरि द्वारा प्रतिष्ठित वि. सं. १२३७ से वि. सं. १२५२ तक के लेख विद्यमान हैं। इसके आगे शान्तिसूरि द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के लेख भी वि. सं १२४५ से वि. सं. १२९८ तक के हैं। यह स्वाभाविक क्रम है, परन्तु वि. सं. १२१५ में शान्तिसूरि[5] (प्रथम) शालिसूरि के साथ एवं वि. सं. १२५२ में शालिसूरि[6] सुमतिसूरि (प्रथम) के साथ प्रतिष्ठाकार्य सम्पन्न करा रहे है, यह विचारणीय है।

ईश्वरसूरि (द्वितीय) के पट्टधर **शालिभद्रसूरि (द्वितीय)** हुए। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित ३ प्रतिमालेख आज उपलब्ध हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

---

१. मुनि विशालविजय, सांडेराव, पृ० १८-१९
२. वही, पृ० २१
३. अमीन—पूर्वोक्त पृ० १२ और ३३
४. नाहर, पूर्वोक्त भाग २ लेखाङ्क १९५१
५. अमीन, जे० पी०, पूर्वोक्त लेखाङ्क ३
६. वही, लेखाङ्क ५

वि. सं. १३३१ वैशाख सुदि ९ सोमवार[1]
कपर्दियक्ष की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—**जैनमन्दिर, बयाना**
वि. सं. १३३७ चैत्र सुदि ११ शुक्रवार[2]
शान्तिनाथ प्रतिमा का लेख
प्रतिष्ठा स्थान—**चिन्तामणि जिनालय बीकानेर**
वि. सं. ११४५ श्रावण वदि १३[3]
शान्तिनाथ प्रतिमा का लेख
प्रतिष्ठा स्थान—**चिन्तामणिपार्श्वनाथ** जिनालय, **खंभात**

शालिसूरि [द्वितीय] के पट्टधर सुमतिसूरि [द्वितीय] हुए इनके द्वारा प्रतिष्ठापित जो जिन (तीर्थंकर) प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं, उन पर वि. सं. १३३८ से वि. सं. १३८९ तक के लेख उत्कीर्ण है। इनका विवरण इस प्रकार है—

१. वि. सं. १३३८ फाल्गुन सुदि १० गुरुवार[4]
तीर्थङ्कर प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति स्थान—जैन मन्दिर, रत्नपुर, मारवाड़
२. वि. सं. १३४२ ज्येष्ठ सुदि ९ गुरुवार[5]
पद्मप्रभ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति स्थान—ऋषभनाथ जिनालय, हाथीपोल, उदयपुर
३. वि. सं. १३५० ज्येष्ठ वदि ५
अजितनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख[6]
प्राप्ति स्थान—जैन मन्दिर, ईडर
४. वि. सं. १३५७ ज्येष्ठ वदि ५
पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख[7]
प्राप्ति स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर
५. वि. सं. १३७१ वैशाख सुदि ९ सोमवार
पार्श्वनाथ प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख[8]
प्राप्ति स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

---

१. मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ५५४
२. नाहटा, अगरचन्द—बीकानेर जैन लेख संग्रह, लेखाङ्क १८८
३. अमीन, पूर्वोक्त—पृ० १२ एवं ३३
४. नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १७०८
५. वही, भाग २, लेखाङ्क १८९२
६. वही, भाग १, लेखाङ्क ५१९
७. बुद्धिसागरसूरि—पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क १४०९
८. नाहटा, अगरचन्द—पूर्वोक्त, लेखाङ्क २५०

६. **वि. सं. १३७९ ज्येष्ठ वदि ७**[1]
प्प्ति स्थान—श्वेताम्बर जैन मन्दिर, रामघाट, वाराणसी

७. वि. सं. १३८८ वैशाख सुदि[2] ५
भगवान् पार्श्वनाथ की पाणाण प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

८. वि. सं. १३८९ ज्येष्ठ सुदि[3] ८
भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

इस प्रकार स्पष्ट है कि सुमतिसूरि (द्वितीय) दीर्घजीवी एवं प्रतिभाशीली जैन आचार्य थे। संडेरगच्छ से सम्बन्धित वि. सं. १३७१[4] एवं १३९२[5] के प्रतिमा लेखों में प्रतिष्ठापक आचार्य का नाम **श्रीसूरि** दिया गया है। श्रीसूरि कौन थे ? क्या ये सुमतिसूरि (द्वितीय) से भिन्न कोई अन्य आचार्य हैं या स्थानाभाव से सूत्रधार ने सुमतिसूरि न लिखकर **श्रीसूरि** नाम उत्कीर्ण कर दिया ? यह विचारणीय है।

सुमतिसूरि (द्वितीय) के पश्चात उनके पट्टधर **शान्तिसूरि (द्वितीय)** संडेरगच्छ के नायक बने। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित कोई भी प्रतिमा आज उपलब्ध नहीं है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, इनके गुरु **सुमतिसूरि (द्वितीय)** की अन्तिम ज्ञात तिथि वि. सं. १३८९ है, अतः ये उक्त तिथि के पश्चात ही अपने गुरु के पट्टधर हुए होगें। इसी प्रकार इनके शिष्य **ईश्वरसूरि (तृतीय)** द्वारा प्रतिष्ठापित सर्वप्रथम अभिलेख **वि. सं. १४४७** का है, अतः इनका **गच्छ नायकत्व का** काल **वि. सं. १३८९** से **वि. सं. १४१७** के मध्य मान सकते हैं। इनके पट्टधर **ईश्वरसूरि (तृतीय)** द्वारा प्रतिष्ठापित दो प्रतिमाओं का लेख आज उपलब्ध हैं, जिनका विवरण इस प्रकार—

वि. सं. १४१७ ज्येष्ठ सुदि ९ शुक्रवार[6]
वासुपूज्य की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति-स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १४२५ माघ वदि ७ सोमवार[7]
आदिनाथ पंचतीर्थी का लेख
प्राप्ति स्थान—शांतिनाथ जिनालय, नमक मंडी, आगरा

---

१. नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ४१५
२. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ३२२
३. वही, लेखाङ्क ३३३
४. मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १०९९
५. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १३३१
६. वही, लेखाङ्क ४३७
७. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १४८८

ईश्वरसूरि (तृतीय) के पट्टधर **शालिसूरि (तृतीय)** हुए। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित २ प्रतिमा लेख आज उपलब्ध हैं, जिनकाविवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १४२२ माघ वदि १२ मंगलवार[1]
वासुपूज्य पंचतीर्थी का लेख,
प्राप्ति स्थान—विमलनाथ जिनालय, कोचरों का चौक, बीकानेर

वि. सं. १४४६ आषाढ़ वदि[2] १
पार्श्वनाथ की धातु प्रतिमा का लेख
प्राप्ति स्थान—ऋषभनाथ जिनालय की भाण्डागारस्थ प्रतिमा, नाहटों की गवाड़, बीकानेर

शालिसूरि (तृतीय) के पट्टधर **सुमतिसूरि (तृतीय)** हुए। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित वि. सं. १४४२ से वि. सं. १४६९ तक के जो प्रतिमा लेख आज उपलब्ध हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १४४२ वैशाख सुदि ३ सोमवार[3]
प्राप्ति स्थान—अनुपूर्ति लेख, आबू

वि. सं. १४४३[4]
प्राप्ति स्थान—जैन मन्दिर, राजनगर

वि. सं. १४५९[5]
प्राप्ति स्थान—अजितनाथ देरासर, शेख नो पाडो, अहमदाबाद

वि. सं. १४६१ वैशाख सुदि[6]
शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति स्थान—चन्द्रप्रभ जिनालय, जैसलमेर

वि. सं. १४६२ वैशाख सुदि ५ शुक्रवार[7]
आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

---

१. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १५७४
२. वही, लेखाङ्क १४७९
३. मुनि जयन्तविजय, आबू, भाग २, लेखाङ्क ६००
४. जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ९, पृ० ३८२, लेखाङ्क २०
५. मुनि बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क १०४१
६. नाहर, पूर्वोक्त, भाग ३, लेखाङ्क २२८४
७. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ६०४

वि. सं. १४६५ तिथिविहीन मूर्तिलेख[1]
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १४६९ माघ सुदि ६ रविवार[2]
वासुपूज्य की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—धर्मनाथ जिनालय, मेड़ता

सुमतिसूरि [तृतीय] के पट्टधर **शांतिसूरि [तृतीय]** हुए। सन्डेरगच्छ के वि. सं. १४७२ से १५१३ तक के प्रतिमा अभिलेखों में प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में इनका उल्लेख मिलता है; जिसका विवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १४७२ फाल्गुन सुदि ९ शुक्रवार[3]
भगवान् पद्मप्रभ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—नवघेर का मंदिर, चेलपुरी, दिल्ली

वि. सं. १४७५ ज्येष्ठ सुदि ९ शुक्रवार[4]
भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १४७६ मार्गसिर सुदि ३[5]
भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १४८३ फागुण वदि ११[6]
पद्मप्रभ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—जैन मंदिर, चैलपुरी-दिल्ली एवं वीरजिनालय बीकानेर

वि. सं. १४८३ फागुण वदि ११ को इनके द्वारा प्रतिष्ठापितकुल ४ जिन प्रतिमायें वर्तमान में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से श्रेयांसनाथ और पद्मप्रभ की प्रतिमायें आज चिन्तामणि जिनालय बीकानेर में संरक्षित हैं।[7]

---

१. नाहटा, पूर्वोक्त, क्रमाङ्क ६२५
२. नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ७५८
३. वही, लेखाङ्क ६६४
४. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ५७७
५. वही, लेखाङ्क ६८२
६. नाहर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४६८
नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १३३६
७. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७२५ और ७२६

वि. सं. १४८६ माघ सुदि ११ शनिवार[1]
मुनिसुव्रत स्वामी की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—सम्भवनाथ जिनालय, अजमेर

वि. सं. १४९२ माघ वदि ५ गुरुवार[2]
वासुपूज्य प्रतिमा का लेख
प्राप्तिस्थान—चन्द्रप्रभ जिनालय, जैसलमेर

वि. सं. १४९२ वैशाख सुदि ५[3]
प्राप्तिस्थान—ग्राम का जिनालय, चाँदवाड़, नासिक

वि. सं. १४९३ वैशाख सुदि ५[4]
शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—पार्श्वनाथ जिनालय, करेड़ा

वि. सं. १४९३ तिथि विहीन[5]
प्राप्तिस्थान—जैनमंदिर, राणकपुर

वि. सं. १४९४ माघ सुदि ११ गुरुवार[6]
श्रेयांसनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—सुपार्श्वनाथ का पंचायती बड़ा मंदिर, जयपुर

वि. सं. १४९४ माघ सुदि ११ गुरुवार[7]
संभवनाथ पंचतीर्थी का उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—महावीर जिनालय, वैदों का चौक, बीकानेर

वि. सं. १४९९ फागुण वदि २[8]
शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १५०१ माघ सुदि १० सोमवार[9]
नमिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—सुपार्श्वनाथ का पंचायती बड़ा मंदिर, जयपुर

---

१. नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ५४९
२. वही, भाग ३, लेखाङ्क २३०८
३. मुनि कान्तिसागर—जैन धातु प्रतिमा लेख, लेखाङ्क ८१
४. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १९३३
५. जैनसत्यप्रकाश, वर्ष १८, पृ० ८९-९३
६. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ११४२
७. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १३३९
८. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १८५९ तथा नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ८१३
९. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ११४२

वि. सं. १५०१ ज्येष्ठ सुदि १०[१]
धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—जैन मंदिर, लींच

वि. सं. १५०३ ज्येष्ठ सुदि ११ शुक्रवार[२]
नमिनाथ प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—अनुपूर्ति लेख-आबू

वि. सं. १५०३ तिथि विहीन[३]
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, खंभात

वि. सं. १५०५ वैशाख सुदि ६ सोमवार[४]
भगवान् शान्तिनाथ की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—शीतलनाथ जिनालय, उदयपुर

वि. सं० १५०५ माघ सुदि १५[५]
प्राप्तिस्थान—जैन मंदिर मालपुरा

वि. सं. १५०६.........११ रविवार[६]
प्राप्तिस्थान—गौड़ी पार्श्वनाथ जिनालय, पायधुनी, बम्बई

वि. सं. १५०६ माघ वदि ५[७]
सुविधनाथ को धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—सेठ के बाग में स्थित जिनालय, उदयपुर

वि. सं. १५०६ फाल्गुन सुदि ९ शुक्रवार[८]
भगवान् कुन्थुनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १५०६ फाल्गुन सुदि ९[९]
भगवान् संभवनाथ की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—भाण्डागारस्थ जिन प्रतिमा, महावीर जिनालय, वैदों का चौक, बीकानेर

---

१. विजयधर्मसूरि—प्राचीन लेख संग्रह, लेखाङ्क १८९
२. मुनि जयन्तविजय, आबू, भाग २, लेखाङ्क ६३५
३. मुनि बुद्धिसागर—जैन धातु प्रतिमा लेख संग्रह, भाग २, लेखाङ्क ५५०
४. विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क २२१ एवं नाहर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १०८१
५. जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ११, पृ० ३७५-८३
६. मुनि कान्तिसागर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १०३
७. विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त लेखाङ्क २२०
८. नाहटा, पूर्वोक्त लेखाङ्क ९०७
९. वही, लेखाङ्क १३१८

वि. सं. १५०६ (तिथि विहीन लेख)[1]
प्राप्तिस्थान—गौड़ी पार्श्वनाथ देरासर, मुम्बई

वि. सं. १५०६ (तिथि विहीन लेख)[2]
प्राप्तिस्थान—मुनिसुव्रतजिनालय, भरुच

वि. सं. १५०६, ११ रविवार[3]
प्राप्तिस्थान—गौड़ी पार्श्वनाथ जिनालय, पापधुनी, मुम्बई

वि. सं १५०७ ज्येष्ठ सुदि ९ रविवार[4]
भगवान् शांतिनाथ की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—शीतल नाथ जिनालय, रिणी-तारानगर

वि. सं. १५०७ माघ सुदि ५[5]
शान्तिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जी का मंदिर, बीकानेर

वि. सं. १५०८ वैशाख वदि ४ शनिवार[6]
नमिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जी का मंदिर, बीकानेर

वि. सं. १५०८ वैशाख वदि ४ शनिवार[7]
शीतलनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चन्द्रप्रभ जिनालय; चूड़ी वाली गली, लखनऊ

वि. सं. १५०८ वैशाख सुदि ३[8]
सुपार्श्वनाथ की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चौमुख जी देरासर, अहमदाबाद

वि. सं. १५०८ (तिथि विहीन लेख)[9]
प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—शांतिनाथ जिनालय, खंभात

---

१. जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ९, पृ० ५९४-६००
२. मुनि बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ३५३
३. मुनि कान्तिसागर—पूर्वोक्त, लेखाङ्क १०३
४. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क २४५०
५. वही, लेखाङ्क ९१८
६. वही, लेखाङ्क ९२४
७. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १५४८
८. मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १४३
९. वही, भाग २, लेखाङ्क ७५१

वि. सं. १५०९ माघ सुदि १०[१]
वासुपूज्य की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—भाण्डागारस्थ धातु प्रतिमा, वीर जिनालय, वैदों का चौक बीकानेर

वि. सं. १५१० फागुण वदि ८[२]
सुमतिनाथ की धातु पंचतीर्थी पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—शामला पार्श्वनाथ जिनालय, राधनपुर

वि. सं. १५१० ज्येष्ठ सुदि १३ शुक्रवार[३]
प्राप्तिस्थान—जैन मंदिर, राणकपुर

वि. सं. १५११ मार्गसुदि २ गुरुवार[४]
शीतलनाथ प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—सुपार्श्वनाथ जिनालय, जैसलमेर

वि. सं. १५१३ माघ वदि ९ गुरुवार[५]
संभवनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चिन्तामणि जी का जिनालय बीकानेर

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं **परिशिष्टपर्व** की **वि. सं.** १४७९ की प्रतिलिपि की दाता प्रशस्ति में भी **शांतिसूरि (तृतीय)** का उल्लेख है।

शांतिसूरि (तृतीय) के पट्टधर **ईश्वरसूरि (चतुर्थ)** हुए, जिनके द्वारा **वि. सं.** १५१३ से **वि. सं.** १५१९ तक की प्रतिष्ठापित प्रतिमायें उपलब्ध हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १५१३ ज्येष्ठ वदि ११[६]
कुन्थुनाथ पंचतीर्थी पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—चन्द्रप्रभ जिनालय, रंगपुर (बंगाल)
वि. सं. १५१५ माह (माघ) वदि ९ शुक्रवार[७]
नेमिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्तिस्थान—आदिनाथ जिनालय, दिलवाड़ा (आबू)
वि. सं. १५१७ (तिथि विहीन लेख)[८]
प्राप्तिस्थान—मुनिसुव्रत जिनालय, खंभात

---

१. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १३६१
२. मुनि विशालविजय, सम्पा० राधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह, लेखाङ्क १६४
३. जैनसत्यप्रकाश—वर्ष १८, पृ० ८९-९३
४. नाहर, पूर्वोक्त, भाग ३, लेखाङ्क २१८४
५. नाहटा, पूर्वोक्त लेखाङ्क ९७६
६. नाहर पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १०२५
७. वही, भाग २, लेखाङ्क १९९१
८. मुनि बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ८५०

वि. सं. १५१९ (तिथि विहीन लेख)[1]
प्राप्तिस्थान – चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, खंभात

ईश्वरसूरि (चतुर्थ) के पट्टधर **शालिसूरि (चतुर्थ)** हुए, जिनके द्वारा **वि. सं. १५१९** से **वि. सं. १५४५** तक प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमाओं के लेखों का विवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १५१६ (तिथि विहीन प्रतिमा लेख)[2]
सीमंधर स्वामी का प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्राप्ति स्थान—जैन मन्दिर, खारबाड़ा, खंभात

वि. सं. १५१९ ज्येष्ठ सुदि १३ सोमवार[3]
प्रतिष्ठा स्थान—जैनमन्दिर, पायधुनी, मुम्वई

वि. सं. १५१९ (तिथि विहीन प्रतिमा लेख)[4]
प्रतिष्ठा स्थान—जैनमन्दिर, गुलाबवाड़ी, मुम्वई

वि. सं. १५२० ज्येष्ठ सुदि ९ शुक्रवार[5]
शीतलनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिमा स्थान—तपागच्छ उपाश्रय, दिलवाड़ा

वि. सं. १५२१ माह (माघ) सुदि ७ शुक्रवार[6]
धर्मनाथ की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—गौड़ी जी का मन्दिर, उदयपुर

वि. सं. १५२१ (तिथि विहीन प्रतिमा लेख)[7]
प्रतिष्ठा स्थान—दादापार्श्वनाथ जिनालय, नरसिंहजीनी पोल, बड़ोदरा

वि. सं. १५२६ ज्येष्ठ सुदि १३[8]
आदिनाथ प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १५२८ (तिथि विहीन लेख)[9]
प्राप्तिस्थान—भग्न जैनमंदिर (राजनगर)

---

१. मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ५४०
२. वही, भाग २, लेखाङ्क १०६२
३ मुनि कान्तिसागर – पूर्वोक्त, लेखाङ्क १६९
४. जैनसत्यप्रकाश—वर्ष ५, पृ० १६०-६५
५. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, क्रमाङ्क २००२
६. विजयधर्मसूरि, संपा० प्राचीन लेख संग्रह, लेखाङ्क ३५४
७. बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १३४
८. नाहटा—पूर्वोक्त, लेखाङ्क १०४६
९. जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ९, पृ० ३७९, लेखाङ्क ३३

वि. सं. १५३२ चैत्र सुदि ३ गुरुवार[1]
प्राप्तिस्थान—नवखंडा पार्श्वनाथ जिनालय, पाली

वि. सं. १५३२ वैशाख वदि सोमवार[2]
धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख
प्रतिष्ठा स्थान—चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर

वि. सं. १५३५ माह (माघ) सुदि ३[3]
सुपार्श्वनाथ प्रतिमा का लेख
प्रतिष्ठा स्थान—चिन्तामणि जिनालप, बीकानेर

वि. सं. १५३६ माह (माघ) सुदि ९[4]
आदिनाथ की धातु प्रतिमा का लेख
प्रतिष्ठा स्थान—ऋषभदेव जिनालय के अन्तर्गत पार्श्वनाथ का मंदिर, नाहटों की गवाड़, बीकानेर

वि. सं. १५३६ मार्गसिर सुदि १० बुधवार[5]
शीतलनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—शीतलनाथ जिनालय, उदयपुर

वि. सं. १५३६ ज्येष्ठ सुदि ५ रविवार[6]
नमिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—भगवान् आदिनाथ का नूतन जिनालय, जयपुर

वि. सं. १५४५ ज्येष्ठ शुदि १२ गुरुवार[7]
आदिनाथ की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—गौड़ीजी का मंदिर, उदयपुर

शालिसूरि (चतुर्थ) के पट्टधर सुमतिसूरि (चतुर्थ) हुए, जिनके द्वारा वि. सं. १५४५ से १५५९ तक प्रतिष्ठापित जिन प्रतिमायें; इनके शिष्य एवं पट्टधर शांतिसूरि (चतुर्थ) द्वारा वि. सं. १५५२ से वि. सं. १५७२ तक की जिन प्रतिमायें और शांतिसूरि (चतुर्थ) के शिष्य ईश्वरसूरि (पंचम) द्वारा प्रतिष्ठापित वि. सं. १५६० से १५९७ तक की जिन प्रतिमायें उपलब्ध हैं, अर्थात् विक्रम सम्वत् की सोलहवीं शती के छठें दशक में सुमतिसूरि (चतुर्थ), शांतिसूरि (चतुर्थ) और ईश्वरसूरि (पंचम) ये तीनों आचार्य विद्यमान थे। इससे प्रतीत होता है कि ये तीनों आचार्य शालिसूरि (चतुर्थ) के शिष्य

---

१. मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ३८८
२. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १०७६
३. वही, लेखाङ्क १०९३
४. वही, लेखाङ्क १५१६
५. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १०९९
६. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १२१०
७. विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४९३

और परस्पर गुरुभ्राता थे। ज्येष्ठताक्रम से इनका पट्टधर नाम निर्धारित हुआ था। शालिसूरि के पश्चात् ये क्रम से गच्छनायक के पद पर प्रतिष्ठित हुए। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित तीर्थंकर प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण अभिलेखों का विवरण इस प्रकार है—

सुमतिसूरि (चतुर्थ) द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों का विवरण—

वि. सं. १५४७ माघ सुदि १२ रविवार[1]
वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—शत्रुञ्जय

वि. सं. १५४९ ज्येष्ठ सुदि ५ सोमवार[2]
वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—पंचायती मंदिर, लस्कर-ग्वालियर

वि. सं. १५५९ वैशाख वदि १ शनिवार[3]
पार्श्वनाथ प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—अजितनाथ देरासर, शेख नो पाड़ो, अहमदाबाद

शांतिसूरि (चतुर्थ) द्वारा प्रतिष्ठापित उपलब्ध प्रतिमाओं का विवरण—

वि. सं. १५५२ (तिथि विहीन प्रतिमा लेख)[4]
चन्द्रप्रभ स्वामी की चौबीसी पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—विमलनाथ जिनालय, चौकसीनी पोल, खंभात

वि. सं. १५५५ ज्येष्ठ वदि १ शुक्रवार[5]
प्रतिष्ठा स्थान—नवखंडा पार्श्वनाथजिलानय, पाली

वि. सं १५६३ माह (माघ) सुदि १५ गुरुवार[6]
मुनिसुव्रत स्वामी की प्रतिमा का लेख
प्रतिष्ठा स्थान—सुपार्श्वनाथ जिनालय, जयपुर

वि. सं. १५७२ वैशाख सुदि पंचमो सोमवार[7]
शान्तिनाथ प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—आदिनाथ जिनालय, दिलवाड़ा, आबू

---

१. मुनि कंचनसागर—शत्रुञ्जयगिरिराजदर्शन, लेखाङ्क ४४९
२. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १३८३
३. मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क १०४१
४. वही, भाग २, लेखाङ्क ७९२
५. मुनि जिनविजय—पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ३८५
६. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ११९०
७. वही, भाग २, लेखाङ्क १९९२

वि. सं. १५७२ वैशाख सुदि पंचमी सोमवार[1]
धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—जैन मंदिर-नाणा

वि. सं. १५५० में रचित **सागरदत्तरास**[2] के रचयिता यही शान्तिसूरि (चतुर्थ) माने जा सकते हैं।

ईश्वरसूरि (पंचम) द्वारा प्रतिष्ठापित उपलब्ध प्रतिमाओं का विवरण—

वि. सं. १५६० ज्येष्ठ वदि ८ बुधवार[3]
विमलनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—पार्श्वनाथ देरासर, नाडोल,

वि. सं. १५६७ (तिथि विहीन लेख)[4]
विमलवसही की दीवाल पर उत्कीर्ण लेख

वि. सं. १५८१ पौष सुदि ५ शुक्रवार[5]
अजितनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
सं. १५८१ वर्षे पोष सुदि ५ शुक्रदिने उ० शीसोद्या गौत्र गोत्रजा वायण सा० पद्मा भा० चांगू पु० दासा भा० करमा पु० कमा अषाई लावेता पातिः स्वश्रेयसे श्री अजितनाथ बिंबं का० प्र० श्री **संडेर गणे कवि श्री ईश्वरसूरिभिः** ।। श्री ।। **श्री चित्रकूटदुर्गे** ।

वि. सं. १५९७ वैशाख सुदि ६ शुक्रवार[6]
आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
प्रतिष्ठा स्थान—जैनमंदिर, नाडुलाई

ईश्वरसूरि (पंचम) ने अपने गुरु द्वारा प्रारम्भ किये गये साहित्यसर्जन की परम्परा को जीवन्त बनाये रखा। इनके द्वारा रचित **ललिताङ्गचरित्र** (रचना काल वि. सं. १५६१)[7], **श्रीपालचौपाई** (रचनाकाल वि. सं. १५६४)[8] एवं **सुमित्रचरित्र** (रचनाकाल वि. सं. १५८१)

---

१. मुनि जयन्तविजय, आबू, भाग ५, लेखाङ्क ३५८
२. देसाई—मोहनलाल दलीचन्द—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५२६ एवं जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ९१
३. मुनि बुद्धिसागर—पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ४५३
४. आबू, भाग २, लेखाङ्क ५९
५. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १४१६
६. मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ३३६
७. जैन गूर्जर कविओ (मोहनलाल दलीचन्द देसाई) द्वितीय संस्करण—संपा० डा० जयन्त कोठारी भाग १, पृ० २२०
८. वही, पृ० २२२

आदि[1] ३ रचनायें वर्तमान में उपलब्ध हैं। **सुमित्रचरित्र** से ज्ञात होता है कि उन्होंने **जीवविचार विवरण**; **षट्भावास्तोत्र** (सटीक); **नन्दिसेणमुनिगीत**; **यशोभद्रसूरिप्रबन्ध**; **मेदपाटस्तवन** आदि की भी रचना की थी। ये रचनायें आज अनुपलब्ध हैं।[2]

वि. सं. १५९७ में ईश्वरसूरि (चतुर्थ) के पश्चात वि. सं. १६५० में शान्तिसूरि के शिष्यों नयकुञ्जर और हंसराज द्वारा धर्मघोषगच्छीय राजवल्लभ पाठक द्वारा रचित **भोजचरित्र**[3] की प्रतिलिपि तैयार करने का उल्लेख मिलता है।

वि. सं. १६८९ का एक लेख,[4] जो पार्श्वनाथजिनालय में स्थित पुण्डरीकस्वामी की मूर्ति पर उत्कीर्ण है, भी संडेरगच्छ से ही सम्बन्धित है। परन्तु इसमें प्रतिष्ठापक आचार्य का नाम नहीं मिलता है। इसके पश्चात वि. सं. १७२८ और वि. सं. १७३२ के प्राप्त अभिलेख भी सन्डेरगच्छ से ही सम्बन्धित हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

वि. सं. १७२८ वैशाख सुदि १४[5] देहरी का लेख लूणवसही, आबू

वि. सं. १७२८ वैशाख सुदि ११,[6] देहरी का लेख, लूणवसही, आबू

वि. सं. १७२८ वैशाख सुदि १५,[7] देहरी का लेख, लूणवसही, आबू

वि. सं. १७३२ वैशाख सुदि ७[8], जैनमंदिर, छाणीं

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि १६वीं शताब्दी (विक्रमी) के पश्चात ही इस गच्छ का गौरवपूर्ण इतिहास समाप्त हो गया, तथापि १७वीं—१८वीं शताब्दी तक इसका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा और बाद में यह तपागच्छ में विलीन हो गया।[9]

(देखें—तालिका पृ० २१६-१६७)

---

१. जैन गूर्जर कविओ (द्वितीय संस्करण), भाग १, पृ० २१९

२. वही, पृ० २१९

३. Catalogue of Sanskrit & Prakrit Manuscripts. Muni Shree Punya Vijayjis Collection; Ed. A. P. Shah, Vol II, No—4936

४. नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १९६२

५. मुनि जयन्तविजय, आबू, भाग २, लेखाङ्क ३०९

६. वही, भाग २, लेखाङ्क २९३

७. वही, भाग २, लेखाङ्क २९१

८. मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ५४०

९. त्रिपुटी महाराज—जैन परम्परानो इतिहास, भाग १, पृ० ५५८-६९

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित
संडेरगच्छीय आचार्यों के परम्परा की तालिका

ईश्वरसूरि (प्रथम) [संडेरगच्छ के आदि आचार्य]
|
यशोभद्रसूरि [संडेरगच्छ के महाप्रभावक आचार्य] इन्होंने संवत् १०३९/ई० सन् ९८२ में पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की जो वर्तमान में करेड़ा (प्राचीन करहेटक) में स्थित पार्श्वनाथ जिनालय में प्रतिष्ठित है ।]
|
श्यामाचार्य [यशोभद्रसूरि के शिष्य]
|
शालिभद्रसूरि (प्रथम) [वि.सं.११८१-१२१५ प्रतिमालेख]
|
सुमतिसूरि (प्रथम) [वि. सं. १२३७-१२५२ ,,]
|
शांतिसूरि (प्रथम) [वि. सं. १२४५-१२९८ ,,]
|
ईश्वरसूरि (द्वितीय) [वि. सं. १३०७-१७ ,,]
|
शालिसूरि (द्वितीय) [वि. सं. १३३१-४५ ,,] इनके उपदेश से वि. सं. १३२४ में महावीर-चरित्र की प्रतिलिपि तैयार की गयी ।
|
सुमतिसूरि (द्वितीय) [वि. सं. १३३८-८९ ,,]
|
शांतिसूरि ? [इनके बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता है]
|
ईश्वरसूरि (तृतीय) [वि. सं. १४१७-१४२५ प्रतिमालेख]
|
शालिसूरि (तृतीय) [वि. सं. १४२२-१४४६ ,,]
|
सुमतिसूरि (तृतीय) [वि. सं. १४४२-१४६९ ,,]
|
शांतिसूरि (तृतीय) [वि. सं. १४७२-१५०६ ,,] इनके शिष्य विनयचन्द्र ने वि. सं. १४७९ में **परिशिष्टपर्व** की प्रतिलिपि तैयार की
|

|
ईश्वरसूरि (चतुर्थ) [वि० सं० १५१३-१५१९ प्रतिमा लेख]
|
शालिसूरि (चतुर्थ) [वि० सं० १५१९-१५४५ „]
|
सुमतिसूरि (चतुर्थ) [वि० सं० १५४५-१५५९ „]
|
शांतिसूरि (चतुर्थ) [वि० सं० १५५२-१५७२ „]
[वि० सं० १५५० में **सागरदत्तरास** के रचयिता]
|
ईश्वरसूरि (पंचम) [वि० सं० १५६०-१५९५ प्रतिमालेख]
ललिताङ्गचरित, श्रीपालचौपाई, सुमित्रचरित्र आदि के रचयिता
|
शालिसूरि (पंचम) [कोई प्रतिमा लेख प्राप्त नहीं]
|
सुमतिसूरि (पंचम) [„]
|
शांतिसूरि (पंचम) [„]
[इनके दो शिष्यों नयकुञ्जर और हंसराज ने वि० सं० १६५० में **भोजचरित** की प्रतिलिपि की]
|
? [वि० सं० १६८९ प्रतिमालेख है परन्तु किसी मुनि / आचार्य का उल्लेख नहीं]
|
? [वि० सं० १७२८ एवं १७३२ के प्रतिमालेखों में भी प्रतिमा प्रतिष्ठापक आचार्य या मुनि का उल्लेख नहीं]
:

वि० सं० १७३२ के पश्चात् इस गच्छ का कोई भी साहित्यिक अथवा आभिलेखिक विवरण नहीं मिलता।

सूत्रकृतांग में वर्णित कुछ ऋषियों की पहचान

डॉ० अरुणप्रताप सिंह

सूत्रकृतांग जैन अंग साहित्य का द्वितीय ग्रन्थ है। प्राचीनता एवं विषय के दृष्टिकोण से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रथम श्रुतस्कन्ध आचारांग एवं ऋषिभाषित के समान प्राचीन है। सूत्रकृतांग में मुख्यतः दर्शन सम्बन्धी वर्णन है जिनमें जैन एवं जैनेतर–दोनों परम्परा के मतों का उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकृतांगकार का मुख्य उद्देश्य अन्य मतों का खण्डन एवं जैन मत का मण्डन करना है। इसी संदर्भ में सूत्रकृतांगकार कुछ ऋषियों का उल्लेख करता है। इनमें नमि विदेही, रामपुत्त, बाहुक, नारायण, असित देवल, द्वैपायन एवं पाराशर मुख्य हैं।[1] इन ऋषियों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इन्होंने सचित्त जल, हरे बीजों का सेवन करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त किया था। इनका उल्लेख जैन धर्म से इतर ऋषियों के रूप में किया गया है क्योंकि जैन धर्म के सामान्य नियम के अनुसार इनका सेवन एक मुनि के लिए निषिद्ध है। फिर भी इन ऋषियों के लिए अनेक प्रशंसासूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनके लिए प्रयुक्त **महापुरुष, तपोधन, महर्षि, सिद्ध** आदि विशेषणों से इन ऋषियों की महत्ता एवं लोकप्रियता स्वतः स्पष्ट होती है।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि ये ऋषि मात्र पौराणिक हैं या इनकी ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकती है। इनकी ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि इनका उल्लेख अन्य ग्रन्थों से भी प्राप्त हो। पूरे भारतीय साहित्य का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि इन ऋषियों का उल्लेख न केवल सूत्रकृतांग एवं अन्य जैन ग्रन्थों में हुआ है अपितु वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में भी इनका उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होता है।

भारतीय साहित्य में इन ऋषियों का उल्लेख, जहाँ तक मैं खोज कर सका हूँ, निम्न प्रकार से है—

---

१. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ॥
अभुंजिया नमी विदेही रामगुत्ते या भुंजिआ।
बाहुए उदगं भोज्जा तहा नारायणे रिसी ॥
आसिले देवले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इस संमता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेअमणुस्सुअ ॥
सूत्रकृतांग, १/३/४/१-४ (सं० अमर मुनि, आत्मज्ञान पीठ, माणसा)

नमि विदेही--ऋषि नमि का उल्लेख सूत्रकृतांग के अतिरिक्त अन्य जैन ग्रन्थ, वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होता है। तीनों परम्पराओं में इन्हें विदेह, मैथिल और राजर्षि कहा गया है। बौद्ध धर्म के जातक साहित्य में नमि का उल्लेख प्रत्येक बुद्ध के रूप में किया गया है। जैन साहित्य के एक प्राचीन ग्रन्थ उत्तराध्ययन में भी नमि का उल्लेख प्रत्येक बुद्ध के रूप में हुआ है। इसमें नमि के त्याग का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उन्होंने अपने सभी सम्बन्धियों एवं मिथिला नगरी को छोड़कर अभिनिष्क्रमण किया।[1] राजर्षि (रायरिसी) के रूप में प्रसिद्ध नमि को क्रोध, मान, माया, लोभ को वश में करने वाला कहा गया है।[2] नमि की शिक्षाओं का सार यह है कि मनुष्य को अपने अन्दर ही युद्ध करना चाहिए तथा पाँच इन्द्रियों, चार कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) को जीतना चाहिए। अपने से अपने को जीतकर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।[3] वैदिक साहित्य के ग्रंथ महाभारत में नमि का उल्लेख उत्तराध्ययन के समान ही हुआ है। महाभारत में इन्हें "निमि" कहा गया है तथा इन्हें विदेह का अधिपति कहा गया है।[4] महाभारत में निमि का उल्लेख उन राजाओं एवं महात्माओं की श्रेणी में हुआ है जिन्होंने जीवन में कभी मांस का सेवन नहीं किया था।[5]

महाभारत में एक अन्य निमि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इन्हें महर्षि दत्तात्रेय का पुत्र कहा गया है।[6] परन्तु इनकी समता सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में वर्णित नमि से नहीं की जा सकती। मिथिला नरेश के रूप में नमि तीनों परम्पराओं में मान्य हैं।

रामपुत्त--सूत्रकृतांग की कुछ प्रतियों में रामपुत्त का वर्णन रामगुत्त (रामगुप्त) के रूप में हुआ है। रामगुप्त प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का पुत्र तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अग्रज था। प्राप्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यह एक जैन धर्मावलम्बी नरेश था। इसका शासन अत्यन्त अल्प था तथा अन्त अत्यन्त दुःखद। परन्तु यदि हम इसे रामपुत्त मानकर सिद्धि प्राप्त करने वाले अन्य ऋषियों की श्रेणी में रखते हैं तो हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। प्रथम तो यह कि सूत्रकृतांग को हमें चतुर्थ-पञ्चम शताब्दी में ले जाना पड़ेगा जो सम्भव नहीं है। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि सूत्रकृतांग का यह प्रथम श्रुतस्कन्ध जिसमें रामपुत्त का वर्णन है, आचारांग के समान ही प्राचीन है। इसके अतिरिक्त

---

१. मिहिलं सपुरजणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं
चिच्चा अभिनिक्खत्तो, एगन्तमहिट्ठिओ भगवं
उत्तराध्ययन, ९/४

२. वही, ९।५६

३. अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं
वही, ९।३५, ३६

४. महाभारत, आदिपर्व १।२३४

५. वही, अनुनासिक पर्व, ११५।६५

६. वही, अनुनासिक पर्व ९१।५

सम्राट् रामगुप्त के बारे में हमें जो जानकारी उपलब्ध है, उसमें उसे कहीं भी सिद्धि प्राप्त करने वाला नहीं बताया गया है। रामपुत्त को रामगुप्त मानने की त्रुटि या तो भूलवश या अक्षरों के ज्ञान के अभाव में हो गई प्रतीत होती है।

सूत्रकृतांग में जिस रामपुत्त का वर्णन है, वह सम्राट् नहीं वरन् अर्हत् ऋषि रामपुत्त है। रामपुत्त के बारे में हमें जैन एवं बौद्ध दोनों स्रोतों से विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। ऋषिभाषित में जो स्पष्टतः एक प्राचीन ग्रन्थ है, रामपुत्त सम्बन्धी एक अलग अध्याय ही है।[1] रामपुत्त की जो शिक्षाएँ इसमें वर्णित हैं उससे रामपुत्त अपने समय के एक महान् चिन्तक ऋषि प्रतीत होते हैं। ऋषिभाषित के अतिरिक्त स्थानांग[2] एवं अनुत्तरोपपातिक[3] भी रामपुत्त का उल्लेख करते हैं। सूत्रकृतांग के अतिरिक्त स्थानांग की सूचना के अनुसार अन्तकृद्दशा की प्राचीन विषयवस्तु में एक रामपुत्त नामक अध्ययन था जो वर्तमान अन्तकृद्दशा में अनुपलब्ध है। सम्भवतः इस अध्ययन में रामगुप्त के जीवन एवं उपदेशों का संकलन रहा होगा।·········सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित दोनों से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रामपुत्त मूलतः निर्ग्रन्थ परम्परा के नहीं थे, फिर भी उसमें उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।"[4]

अर्हत् रामपुत्त का वर्णन प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। पालि साहित्य में रामपुत्त का पूरा नाम उद्दक रामपुत्त दिया गया है तथा यह बताया गया है कि रामपुत्त महात्मा बुद्ध से ज्येष्ठ थे।[5] सत्य ज्ञान की खोज में महात्मा बुद्ध जब गृह-त्याग करते हैं तो उनकी भेंट रामपुत्त से होती है। महात्मा बुद्ध रामपुत्त का शिष्य बनकर उनसे ध्यान की प्रक्रिया सीखते हैं। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् बुद्ध रामपुत्त को अध्यात्म विद्या का सत्पात्र जानकर उन्हें उपदेश देना चाहते हैं परन्तु तब तक रामपुत्त की मृत्यु हो चुकी रहती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह भी स्पष्ट होता है कि रामपुत्त महावीर एवं बुद्ध के समकालीन एक ऐतिहासिक ऋषि थे जो ध्यान पद्धति की अपनी विशिष्ट प्रणाली के लिए प्रसिद्ध थे। दुर्भाग्यवश वैदिक साहित्य से हमें अभी तक रामपुत्त के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है।

बाहुक––सूत्रकृतांग में बाहुक का भी अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख किया गया है। जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों स्रोतों से हमें बाहुक के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

---

१. ऋषिभाषित, २३वाँ अध्याय

२. स्थानांग, ७५५

३. अनुत्तरोपपातिक, ३।६

४. ऋषिभाषित एक अध्ययन, पृ० ६१–६२ (लेखक–डॉ० सागरमल जैन, प्रका०–प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८८)

५. Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I, PP. 382-83 (Ed. J. P. Malal Sekhar, 1937)

ऋषिभाषित के १४वें अध्याय में बाहुक के उपदेशों का संकलन है। ऋषिभाषित एवं सूत्रकृतांग के अतिरिक्त कालान्तर के ग्रन्थों–सूत्रकृतांग चूर्णि[1] एवं शीलांकाचार्य की सूत्रकृतांग वृत्ति[2] में भी बाहुक का उल्लेख प्राप्त होता है। इन सारे सन्दर्भों में बाहुक एक सम्मानित ऋषि के रूप में प्रस्तुत हैं। बाहुक की मूल शिक्षा जो हमें ऋषिभाषित में प्राप्त होती है, वह तृष्णा (भावना) एवं संसार के त्याग से सम्बन्धित है। बाहुक के अनुसार केवल वही व्यक्ति मोक्ष मार्ग की ओर निष्कंटक होकर प्रयाण कर सकता है जिसने अपनी तृष्णाओं को जीत लिया है इसके विपरीत तृष्णाओं से पराजित व्यक्ति नरकगामी बनता है। स्पष्टतः बाहुक अनासक्त भाव से किये हुए काम पर बल देते हैं और कहते हैं कि निष्कामभाव से किया हुआ कर्म ही मुक्तिपथगामी होता है।[3]

बौद्ध साक्ष्य बाहुक ऋषि का उल्लेख नहीं करते अपितु बाहिय दारुचीरिय नामक एक अर्हत् ऋषि का वर्णन अवश्य करते हैं।[4] अंगुत्तर निकाय में बाहिय का उल्लेख एक ऐसे ऋषि के रूप में किया गया है जो सत्य का सद्यः साक्षात्कार कर लेता है। बौद्ध साहित्य में इस बाहिय को महात्मा बुद्ध का शिष्य कहा गया है।

जहाँ तक वैदिक साहित्य में बाहुक के वर्णन का प्रश्न है, इसमें बाहुव्रक्त नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है।[5] ऋग्वेद के कुछ मन्त्र उनके द्वारा प्रस्फुटित बताए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सूचना हम बाहुक ऋषि के बारे में नहीं पाते, जिसकी समता हम जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित बाहुक या बाहिय से कर सकें। महाभारत में एक बाहुक का नामोल्लेख अवश्य हुआ है, परन्तु एक योद्धा के रूप में। महाभारत के वनपर्व में[6] महाराजा नल को भी बाहुक कहा गया है जब वे छद्म वेश में अयोध्या नरेश रिपवर्ण के यहाँ थे। एक बाहुक नामधारी नाग का भी उल्लेख महाभारत[7] में प्राप्त होता है जो जन्मेजय के सर्पयज्ञ में दग्ध हो गया था। हम निश्चय ही बाहुक नामधारी इन पुरुषों का बाहुक ऋषि से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते।

उपर्युक्त तथ्यों से यह सम्भावना प्रबल दिखाई पड़ती है कि सूत्रकृतांग एवं ऋषिभाषित में वर्णित बाहुक गौतम बुद्ध के शिष्य बाहिय ही हैं। ऋषिभाषित में स्वयं गौतम बुद्ध एवं उनके अनेक शिष्यों का वर्णन सम्मान के साथ किया गया है। बाहुक की जो शिक्षायें ऋषिभाषित में वर्णित हैं, वे बौद्ध धर्म की शिक्षाओं के अनुरूप हैं। बौद्ध धर्म में दुःखों का मूल कारण तृष्णा माना गया है और ऋषिभाषित में बाहुक तृष्णा के परिहार की ही बात

---

१. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० १२१
२. सूत्रकृतांग शीलांक टीका, पृ० १५
३. इसिभासियाइं, पृ० २७
४. Pali Proper Names, Vol. II, PP. 281–83
५. महाभारत की नामानुक्रमणिका पृ० २१६
६. महाभारत, वनपर्व, ६६।२०
७. वही, आदिपर्व, १७३।१३

करते हैं। इच्छा का दमन तभी सम्भव है जब हम तृष्णा से मुक्त हों। ऋषिभाषित में बाहुक को इच्छा से रहित होने का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किया गया है।[1]

नारायण – नमि, रामपुत्त एवं बाहुक के समान नारायण का भी उल्लेख एक अर्हत् ऋषि के रूप में सूत्रकृतांग में हुआ है। सूत्रकृतांग के समान ऋषिभाषित में भी उन्हें अत्यन्त सम्मान के साथ प्रस्तुत किया गया है।[2] ऋषिभाषित में नारायण की जो शिक्षाएँ संकलित हैं, वे मुख्यतः क्रोध के निरसन के सम्बन्ध में हैं। उपमाओं के माध्यम से क्रोध की भयावह प्रकृति को समझाने का प्रयास किया गया है। नारायण ऋषि के अनुसार अग्नि को शान्त किया जा सकता है, परन्तु क्रोध की अग्नि को शान्त करना असम्भव है। अग्नि तो केवल इसी जीवन को नष्ट करती है परन्तु क्रोध की अग्नि तो भविष्य के कई जन्मों को नष्ट कर देती है। अतः मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को क्रोधाग्नि का निरसन करना चाहिए।

वैदिक साहित्य में नारायण का उल्लेख एक देव के रूप में हुआ है। महाभारत[3] में एक नारायण ऋषि का उल्लेख मिलता है जिन्होंने बद्रिकाश्रम में चार हजार वर्षों तक तपस्या की थी। महाभारत के शान्ति पर्व में भी नारायण का उल्लेख मिलता है। यहाँ ऋषि नारायण को देवल ऋषि के साथ आध्यात्मिक चर्चा करते हुए प्रस्तुत किया गया है।[4]

बौद्ध साहित्य में नारायण ऋषि का मुझे कोई उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि नारायण ऋषि वैदिक परम्परा के प्रतिनिधि थे जिनकी तपस्या के कारण विशेष ख्याति थी।

असित देवल —सूत्रकृतांग में उल्लिखित ऋषि असित देवल अपने समय के विख्यात ऋषि प्रतीत होते हैं। इनका उल्लेख जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों परम्पराओं में विस्तार से प्राप्त होता है। सूत्रकृतांग में सिद्धि प्राप्त करने वाले ऋषियों में इनकी गणना की गई है, ऋषिभाषित भी इन्हें अर्हत् ऋषि कहकर विपुल सम्मान देता है।

ऋषिभाषित के तीसरे अध्याय में विस्तार से इनकी शिक्षाओं का वर्णन है।[5] असित देवल को सभी प्रकार की इच्छाओं, भावनाओं एवं राग के निरसन की शिक्षा देते हुए प्रस्तुत किया गया है। ये क्रोध एवं इच्छा को जीतने का उपदेश देते हैं क्योंकि इनको जीतकर ही कोई व्यक्ति मोक्षपथ की ओर प्रयाण कर सकता है। नारायण ऋषि के समान इनके भी उपदेश का सार यह है कि सामान्य अग्नि को तो शान्त किया जा सकता है परन्तु राग की अग्नि को शान्त करना अत्यन्त ही दुष्कर है।

---

१. अकामए कालगए, सिद्धि पत्ते अकामए
इसिभासियाइं, पृ० २७

२. वही, अध्याय ३६

३. महाभारत, वनपर्व, ७३।३३९

४. वही, शान्तिपर्व, ३३।१३–१५

५. इसिभासियाइं, तीसरा अध्याय

जैन परम्परा के समान बौद्ध परम्परा भी असित देवल से परिचित है। मज्झिम निकाय में अस्सलायण सुत्त नामक एक अलग सुत्त है[१] जिसमें आश्वलायन के उपदेशों को संकलित किया गया है। इस सुत्त में असित देवल को ब्राह्मणों के झूठे अहंकार से दूर होने का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किया गया है। उनके उपदेश का मूल सार यह है कि कोई व्यक्ति जाति से नहीं अपितु कर्म से श्रेष्ठ होता है। इन्द्रिय जातक में भी असित देवल का उल्लेख है।[२] इस जातक में असित का नारद ऋषि के साथ वार्तालाप वर्णित है। इसमें यह उल्लेख है कि नारद एक गणिका के प्रेमजाल में फँस गये। इसी सम्बन्ध में असित देवल द्वारा नारद को प्रतिबोधित करने का उपदेश संकलित है।

वैदिक परम्परा में असित देवल एक महान् ऋषि के रूप में वर्णित हैं। महाभारत के आदि पर्व में इन्हें महान् तपस्वी कहा गया है।[३] इसी पर्व में महाज्ञानी, हर्ष एवं क्रोध से रहित जैगीषव्य मुनि से समता के विषय में असित देवल का वार्तालाप वर्णित है। जन्मेजय के सर्पसत्र में जिन ऋषियों एवं महात्माओं ने भाग लिया था, उनमें असित देवल का भी नाम आता है। महाभारत के अधिकांश स्थलों में असित देवल नारद के साथ उपस्थित हैं। राजा युधिष्ठिर के अभिषेक काल में भी ये नारद के साथ उपस्थित थे।[४] शान्ति पर्व में ऋषि नारद के साथ प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश सम्बन्धी प्रश्न पर इनका वार्तालाप वर्णित है। ये नारद को उपदेश देते हुए कहते हैं कि पुण्य और पापों के क्षय के लिए ज्ञानयोग को साधन बनाना चाहिए।[५] महाभारत में असित देवल एक वृद्ध एवं बुद्धिमान् ऋषि के रूप में वर्णित हैं। जिस प्रकार सूत्रकृतांग में असित देवल को सचित्त जल एवं बीजों का सेवन करते हुए सिद्धि प्राप्त करने वाला कहा गया है, उसी प्रकार महाभारत में भी असित देवल को गृहस्थ धर्म का आश्रय लेकर तपस्या करने वाला कहा गया है।[६] असित देवल को धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, महातपस्वी तथा सबके प्रति समान भाव रखने वाला कहा गया है।[७]

---

१. मज्झिम निकाय, २।५।३

२. Pali Proper Names, Vol. I, P. 210

३. महाभारत, आदिपर्व, १।१०७

४. महाभारत, सभापर्व ५३।१०

५. महाभारत, शान्तिपर्व, २७५।२

६. वही, शल्यपर्व, ५०।१

७. "धर्मनित्यः शुचिर्दान्तो न्यस्तदण्डो महातपाः।
कर्मणा मनसा वाचा समः सर्वेषु जन्तुषु॥
अक्रोधनो महाराज तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
प्रियाप्रिये तुल्यवृत्तिर्यमवत् समदर्शनः॥
काञ्चने लोष्ठभावे च समदर्शी महातपाः।
देवानपूजयन्नित्यमतिथींञ्च द्विजैः सह॥
ब्रह्मचर्यरतो नित्यं सदा धर्मपरायणाः—वही, शल्यपर्व ५०/२–५

तीनों परंपराओं के साक्ष्यों को देखने से स्पष्ट होता है कि असित देवल एक महान् धर्मपरायण ऋषि थे। ये वैदिक परंपरा से सम्बन्धित किये जा सकते हैं क्योंकि सूत्रकृतांगकार इन्हें जैन परंपरा से भिन्न एक ऐसे ऋषि के रूप में प्रस्तुत करता है जिसने सचित्त जल आदि का सेवन करते हुए मोक्ष प्राप्त किया था। महाभारतकार भी असित देवल को गृहस्थ धर्म का पालन करने वाला महान् ऋषि बताता है। समत्वभाव संबन्धी इनके उपदेश भी दोनों परंपराओं में समान रूप से वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त असित देवल का नारद के साथ संबन्ध वैदिक एवं बौद्ध दोनों परंपराओं में प्रायः समान है। तीनों परंपराओं में इनके विचारों की समानता इनकी ऐतिहासिक उपस्थिति को पुष्ट करती है।

द्वैपायन—जैन परंपरा में सूत्रकृतांग के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में भी द्वैपायण का उल्लेख मिलता है। ऋषिभाषित का ४० वाँ अध्याय द्वैपायण से संबन्धित है। इसके अतिरिक्त समवायांग,[1] औपपातिक[2] एवं अन्तकृद्दशा[3] में भी द्वैपायण की चर्चा है। समवायांग में द्वैपायण का उल्लेख भविष्य के तीर्थंकरों में है। औपपातिक में इनका उल्लेख परिव्राजक परंपरा के संस्थापक के रूप में हुआ है तो अन्तकृद्दशा में द्वारका नगर के विध्वंसक के रूप में। ऋषिभाषित में द्वैपायण को इच्छा-निरोध का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किया गया है। इच्छा के कारण ही मनुष्य दुःखी होता है। इच्छा ही जीवन और मृत्यु का कारण है तथा सभी बुराइयों की जड़ है।[4] इच्छा रहित होना ही मोक्ष-पथ की ओर प्रथम कदम है—यह द्वैपायण की शिक्षा का मूल सार है।

जैन परंपरा के समान वैदिक परंपरा में भी द्वैपायण एक अत्यन्त प्रसिद्ध ऋषि के रूप में वर्णित हैं। महाभारत के आदि पर्व में इन्हें महर्षि पराशर का सत्यवती से उत्पन्न पुत्र कहा गया है।[5] द्वैपायण जिनका पूरा नाम कृष्ण द्वैपायण है, महाभारत के रचयिता कहे गये हैं। इसीलिये इन्हें सत्यवतीनन्दन व्यास भी कहा गया है।[6] महाभारत में मोक्षधर्म पर इनका विस्तृत उपदेश प्राप्त होता है। शान्तिपर्व में इनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय और स्वप्न को जीतने वाला कहा गया है।[7]

बौद्ध साहित्य भी ऋषि द्वैपायण से परिचित है। इनके नाम के समरूप एक कण्ह दीपायण जातक प्राप्त होता है परन्तु इस जातक का कथानक द्वैपायण सम्बन्धी जैन एवं वैदिक कथानक से भिन्न है। एक अन्य जातक में ऋषि द्वैपायण द्वारा द्वारका नगरी के नाश का उल्लेख है जिसके अनुसार द्वारका नगरी के विनाश के साथ ही वासुदेव वंश का भी नाश हो

---

१. समवायांग, सूत्र १५९

२. औपपातिक; सूत्र ३८

३. अन्तकृद्दशा, वर्ग २

४. इसिभासियाइं, ४०/१–४

५. "पराशरात्मजो विद्वान् ब्रह्मर्षि"
महाभारत, आदिपर्व, १।५५

६. वही, आदिपर्व, १।५४

७. वही, शान्तिपर्व, २४०।४-५

जाता है।[1] जातक की यह कहानी कुछ भिन्नता के साथ महाभारत के मौसलपर्व में दी गई है।[2]

ऋषि द्वैपायण के द्वारा द्वारका एवं साथ ही वासुदेव वंश के नाश की कथा जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों परम्पराओं में समान रूप से प्राप्त होती है। अतः इस घटना पर हम सन्देह व्यक्त नहीं कर सकते। महाभारत युद्ध के अंत में द्वारका एवं वासुदेव वंश के नाश का जो भी कारण रहा हो, ऋषि द्वैपायण की सहभागिता उसमें अवश्य रही होगी।

पाराशर—पूर्ववर्णित ऋषियों के समान ऋषि पाराशर भी जैन परम्परा से भिन्न ऋषि के रूप में सूत्रकृतांग में वर्णित हैं। परन्तु सूत्रकृतांग के अतिरिक्त अन्य किसी जैन ग्रन्थ में इनका उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

बौद्ध साहित्य ऋषि पाराशर का वैदिक परम्परा के एक ऋषि के रूप में उल्लेख करते हैं जो इन्द्रियों के निरोध का उपदेश दिया करते थे। मज्झिमनिकाय के इन्द्रिय भावना नामक सुत्त में इनके उपदेशों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इस सुत्त में इन्हें **परासरीय** कहा गया है।[3] बौद्ध साहित्य एक और परासरीय नामक विद्वान् ब्राह्मण का उल्लेख करते हैं जो राजगृह का निवासी था तथा तीन वेदों में पारंगत था।[4] परासरीय द्वारा बौद्ध संघ में प्रवेश तथा अर्हत् पद प्राप्त करने का उल्लेख है।

वैदिक साहित्य में पाराशर के बारे में विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में इन्हें महाभारत के रचयिता कृष्ण द्वैपायण का पिता कहा गया है।[5] महाभारत में इनके जो उपदेश संग्रहीत हैं, उनमें मुख्य रूप से इन्द्रिय संयम, क्षमा, धैर्य, सन्तोष आदि मानवीय गुणों के विकास पर बल दिया गया है। पराशर के अनुसार ये गुण ही मनुष्य की मोक्ष प्राप्ति में सहायक बनते हैं। शान्तिपर्व में इनके द्वारा दिया गया स्वकर्म का उपदेश अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। मनुष्य अपने ही कर्मों को भोगता है, दूसरे के कृत कर्मों को नहीं।[6]

हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों साहित्य पराशर को वैदिक परम्परा से सम्बन्धित करते हैं। मज्झिम निकाय के इन्द्रिय भावना सुत्त एवं महाभारत में पाराशर के नाम से जो उपदेश संग्रहीत हैं, उनमें प्रायः समानता है। जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों परम्पराएँ इनसे परिचित हैं। पाराशर वैदिक परम्परा के ऋषि प्रतीत होते हैं जो महाभारत काल के आस-पास रहे होंगे।

सूत्रकृतांग में वर्णित ऋषियों की पहचान करने का हमने यथासम्भव प्रयास किया। सूत्रकृतांग में जिस प्रकार इन ऋषियों का वर्णन है, उनसे स्पष्ट है कि ये जैनेतर परम्परा से

---

१. Pali Proper Names, Vol. I, P. 501

२. महाभारत, मौसलपर्व, १।१९–२१

३. मज्झिम निकाय, ३।५।१०, पृ० ६०९

४. Pali Proper Names, Vol. II, P. 190

५. महाभारत, आदिपर्व, १।५५, ६३।८४

६. वही, शान्तिपर्व, २९०।२०

सम्बन्धित थे। इन ऋषियों के उपदेश एवं विचार इतने लोकप्रिय थे कि सूत्रकृतांगकार को उनका उदाहरण देना पड़ा। इन ऋषियों को अपनी आलोचना का पात्र बनाकर भी उनको महर्षि एवं सिद्धि प्राप्तकर्ता कहकर उनकी महानता का सम्मान किया गया है। सूत्रकृतांग में तो साम्प्रदायिक अभिनिवेश के दर्शन होते हैं, परन्तु इस ग्रंथ से भी प्राचीन ग्रंथ ऋषि-भाषित में इन ऋषियों को अत्यन्त सम्मान के साथ श्रद्धासुमन समर्पित किये गये हैं। यहाँ साम्प्रदायिकता की गन्ध भी नहीं है। जैन परम्परा के समान बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के प्राचीनतम साहित्य में इनके नामों का होना इनकी ऐतिहासिकता को स्वयं प्रमाणित करता है।

ऐतिहासिक तथ्यों के निर्धारण में नितान्त वस्तुपरक दृष्टिकोण सम्भव नहीं है क्योंकि वैज्ञानिक उपकरणों की भाँति हम इन्हें प्रयोगशाला में सिद्ध नहीं कर सकते। सम्राटों की भाँति इन ऋषियों की कोई राजचिह्नांकित मुद्रा या अभिलेख भी प्राप्त नहीं होते जिससे इनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से प्रमाणित की जा सके। इनकी ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के लिए हमारे पास केवल साहित्यिक स्रोत ही उपलब्ध हैं। विभिन्न परम्पराओं के विभिन्न ग्रंथ जब किसी व्यक्ति या घटना पर एक दृष्टिकोण या लगभग समान दृष्टिकोण रखें तो हमें उस व्यक्ति या घटना की ऐतिहासिकता पर विश्वास करना चाहिए क्योंकि उसकी प्रामाणिकता विभिन्न परम्पराओं के साक्ष्य स्वयं करते हैं।

सूत्रकृतांग में वर्णित ऋषियों के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि सैद्धान्तिक (धार्मिक) ग्रंथ ऋषियों के उपदेशों एवं विचारों के बारे में समान दृष्टिकोण रखते हैं। उदाहरणस्वरूप, अर्हत् रामपुत्त का जो वर्णन हमें सूत्रकृतांग एवं ऋषिभाषित में प्राप्त होता है प्रायः वही वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में भी है। दोनों ही परम्पराएँ उन्हें ध्यान एवं समाधि के क्षेत्र में अग्रणी मानती हैं। इसी प्रकार अर्हद् असित देवल सम्बन्धी विवरण तीनों परम्पराओं में प्रायः समान है तथा तीनों ही परम्पराएँ उन्हें ऋषि नारद से सम्बन्धित करती हैं। ऋषि द्वैपायण के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के ग्रन्थ समान दृष्टिकोण रखते हैं—ये उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि इन ऋषियों का ऐतिहासिक अस्तित्व था। अपनी महानता अपने विचारों की उदात्तता के कारण ही ये तीनों परम्पराओं में मान्य हुए। यद्यपि हम इनके तिथि क्रम का निर्धारण नहीं कर सकते परन्तु यह अवश्य कह सकते हैं कि इन ऋषियों का अस्तित्व महावीर एवं बुद्ध के पूर्व या समकालीन अवश्य रहा होगा।

प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास
श्री बजरंग महाविद्यालय
सिकन्दरपुर, बलिया उ०प्र०

ऋषिभाषित और पालि जातक में प्रत्येक-बुद्ध की अवधारणा

डॉ० दशरथ गोंड

जैनाचार्यों ने, विशेषकर श्वेताम्बराचार्यों ने बौद्धों की ही भाँति प्रत्येक बुद्धों की कल्पना की है और दोनों परम्पराओं में प्रत्येक-बुद्ध उन आत्मनिष्ठ साधकों की संज्ञा है जो गृहस्थ होते हुए किसी एक निमित्त से बोधि प्राप्त कर लें, अपने आप प्रव्रजित हों और बिना उपदेश किये शरीरान्त कर मोक्ष लाभ करें।[1] यद्यपि दोनों ही परम्पराओं में प्रत्येक-बुद्धों के यत्र-तत्र अनेक सन्दर्भ हैं, पर जैन परम्परा में उनका विशेष उल्लेख ऋषिभाषित एवं उत्तराध्ययन में प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य में तो प्रत्येक-बुद्धों के अनेक सन्दर्भ हैं, परन्तु प्राचीन पालि साहित्य में उनके विषय में सूचना का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत जातक साहित्य है। यह तथ्य अपने आप में रोचक और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जहाँ ऋषिभाषित में प्राचीन ऋषियों के रूप में प्रत्येक-बुद्धों का उल्लेख है और परम्परानुसार उन्हें अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर के शासनकाल का कहा गया है,[2] वहीं पर जातकों में भी प्रत्येक-बुद्धों का **सन्दर्भ** गौतम बुद्ध के पूर्व जीवन की कथाओं से जोड़ा गया है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य बौद्ध और जैन परम्परा के इन दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में प्रत्येक-बुद्ध की अवधारणा का तुलनात्मक अध्ययन है।

ऋषिभाषित (इसिभासियाइं)

जैन साहित्य में ऋषिभाषित का **सन्दर्भ** तो बहुत पहले से ज्ञात था, परन्तु पहली बार यह ग्रन्थ १९२७ में प्रकाश में आया। सम्प्रति "इसिभासियाइं" शीर्षक से इसका प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० वाल्थेर शुब्रिंग द्वारा सम्पादित संस्करण उपलब्ध है[3] और हाल ही में डॉ० सागरमल जैन महोदय ने इसका एक सारगर्भित अध्ययन भी प्रकाशित किया है।[4] यह रोचक है कि जहाँ श्वेताम्बर जैन आगम ग्रन्थों में ऋषिभाषित के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वहीं प्रकीर्णक ग्रन्थों में

---

१. देखिए मलालशेखर : डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, खण्ड २, पृष्ठ ९४, सन्दर्भ "पच्चेकबुद्ध"; पुग्गल पञ्ञत्ति (पी०टी०एस० संस्करण) पृष्ठ १४; वर्णी, जिनेन्द्र : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, सन्दर्भ "बुद्ध"; जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, खण्ड ६, पृष्ठ १६० ।

२. पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्ण दस वीरस्स विलीणमोहस्स॥
---इसिभासियाइं; जैन, सागरमल : ऋषिभाषित एक अध्ययन, पृष्ठ ११ भी द्रष्टव्य।

३. शूब्रिंग, वाल्थेर (सम्पादक) : इसिभासियाइं (एल०डी० सिरीज ४५), एल०डी० इंस्टिटिट्यूट ऑफ इण्डोलाजी, अहमदाबाद, १९७४. यह ग्रन्थ लेखक के मूल जर्मन का भारतीय संस्करण है।

४. जैन, सागरमल : ऋषिभाषित एक अध्ययन (प्राकृत भारती पुष्प ४९) प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर १९८८।

उसकी गणना का उल्लेख भी मिलता है, और आवश्यक-निर्युक्तिकार का इस प्रकार का कथन भी है कि उनकी ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति रचने की योजना थी। वस्तुतः ऋषिभाषित उपलब्ध जैन आगम का अंग नहीं है और श्वेताम्बर-दिगम्बर किसी भी परम्परा में इसे स्थायी स्थान नहीं प्राप्त हुआ।[१] डॉ० सागरमल जैन जी का यह अनुमान[२] सत्य प्रतीत होता है कि अपनी विकासशील प्रारम्भिक अवस्था में जैन परम्परा को विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशों का ही संकलन होने के कारण ऋषिभाषित को अपने आगम में स्थान देने में कोई बाधा नहीं प्रतीत हुई होगी; परन्तु जब जैन संघ ने एक सुव्यवस्थित एवं रूढ़ परम्परा का रूप ग्रहण कर लिया, तब उसके लिये अन्य परम्पराओं के साधकों को आत्मसात् कर पाना कठिन हो गया। फलतः एक प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उसकी गणना की जाने लगी और उसकी प्रामाणिकता सुरक्षित रखने के लिये उसे प्रत्येक-बुद्ध भाषित माना गया।

ऋषिभाषित में ऋषि, परिव्राजक, ब्राह्मण परिव्राजक अर्हत्, ऋषि, बुद्ध, अर्हत् ऋषि, अर्हत् ऋषि आदि विशेषणों से युक्त विभिन्न साधकों के वचनों का उल्लेख हुआ है। इन विशेषणों में प्रत्येक-बुद्ध का अभाव है। पर यह उल्लेखनीय है कि ऋषिभाषित के अन्त में प्राप्त होने वाली संग्रहणी गाथा[३] में एवं ऋषिमण्डल[४] में सभी को प्रत्येक-बुद्ध कहा गया है और यह भी चर्चा है कि इनमें से २० अरिष्टनेमि के, १५ पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन काल में हुए।[५] समवायांग में ऋषिभाषित के महत्त्वपूर्ण उल्लेख में इन ऋषियों को "देवलोक से

१. ऋषिभाषित की स्थिति के लिये विस्तार से देखें : शूब्रिंग द्वारा सम्पादित "इसिभासियाइं" का भूमिका भाग और जैन, सागरमल : ऋषिभाषित—एक अध्ययन, पृष्ठ १–४।

२. जैन, सागरमल : उपरोक्त, पृष्ठ १०–११।

३. पत्तेय बुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥ १ ॥
णारद-वज्जिय-पुत्ते असिते अंगरिसि-पुप्फसाले य।
वक्कलकुम्मा केवलि कासव तह तेतलिसुत्ते य ॥ २ ॥
मंखली जण्णभयालि बाहुय महु सोरियाण विदूविपू।
वरिसकण्हे आरिय उक्कलवादी य तसणे य ॥ ३ ॥
गद्दभ रामे य तहा हरिगिरि अम्बड मयंग वारत्ता।
तंसो य अद्द य वद्धमाणे वा तीस तीमे ॥ ४ ॥
पासे पिंगे अरुणे इसिगिरि अदालए य वित्तेय।
सिरिगिरि सातियपुत्ते संजय दीवायणे चेव ॥ ५ ॥
तत्तो य इंदणागे सोम यमे चेव होइ वरुणे य।
वे समणे य महप्पा चत्ता पंचेव अक्खाए ॥ ६ ॥
—इसिभासियाइं संग्रहिणी गाथा परिशिष्ट।

४. आचारांग-चूर्णि में ऋषिमण्डल स्तव (इसिमण्डलत्थउ) नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। इसमें ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों एवं उनके उपदेशों का संकेत है, जो इस बात का परिचायक है कि ऋषिमण्डल का कर्त्ता ऋषिभाषित से अवश्य अवगत था।

५. देखिए जैन, सागरमल : वही, पृ० ११।

च्युत" कहा गया है। वहाँ प्रत्येक-बुद्ध का कोई सन्दर्भ तो नहीं है, परन्तु उसी ग्रन्थ में प्रश्न-व्याकरण की विषय-वस्तु का विवरण देते हुए यह कहा गया है—"इसमें स्वसमय और पर-समय के प्रवक्ता प्रत्येक-बुद्धों के विचारों का संकलन है।"[1] चूँकि ऋषिभाषित प्रश्नव्याकरण-दशा का ही एक भाग माना गया था, इसलिये उपर्युक्त कथन ऋषिभाषित के ऋषियों के परोक्षरूप से "प्रत्येक-बुद्ध" होने का संकेत करता है। प्रत्येक-बुद्ध की संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख तो हमें ऋषिभाषित के अन्त में प्राप्त होने वाली उस संग्रहणी गाथा में ही मिलता है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।

ऋषिभाषित में कुल ४५ ऋषियों के वचनों का संकलन है : देवनारद, वज्जीपुत्त, असित देवल, अंगिरस भारद्वाज, पुष्पशालपुत्त, वल्कलचीरी, कुम्मापुत्त, केतलीपुत्त, महाकाश्यप, तेतलीपुत्र, मंखलिपुत्त, जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य), मेतेज्ज भयाली, बाहुक, मधुरायण, शौर्यायण, विदुर, वारिषेण कृष्ण, आरियायण, उत्कट, गाथापतिपुत्र तरुण, गर्दभाल (दगभाल), रामपुत्त, हरिगिरि, अम्बड परिव्राजक, मातङ्ग, वारत्तक, आर्द्रक, वर्द्धमान, वायु, पार्श्व, पिंग, महाशाल-पुत्र अरुण, ऋषिगिरि, उद्दालक, नारायण (तारायण), श्रीगिरि, सारिपुत्र, संजय, द्वैपायण (दीवायण), इन्द्रनाग (इंदनाग), सोम, यम, वरुण और वैश्रमण। देवनारद के उपदेश की विशेषता पवित्रता को मुक्ति का आधार मानना और जाने माने अहिंसादि पाँच व्रतों के रूप में ही शुद्धता की परिभाषा करना है। वज्जीपुत्त मोह को कर्म का मूल स्रोत मानते थे और बीज तथा अंकुर की भाँति जन्म-मरण चक्र की कल्पना करते थे। असित देवल के उपदेश में निवृत्ति और अनासक्ति पर बल है। अंगिरस भारद्वाज अपनी मनोवृत्तियों के निरीक्षण द्वारा पाप कर्म से बचने का उपदेश देते थे। पुष्पशाल-पुत्र के उपदेश में भी आचरण की शुद्धता पर ही बल है और अहिंसादि नियमों का विधान है। उनकी मुक्ति की अवधारणा आत्मसाक्षात्कार के रूप में है। वल्कलचीरी के उपदेश का मूलाधार है काम भावना का संयमन और ब्रह्मचर्य का पालन। कुम्मापुत्त निराकांक्षी होने का उपदेश देते थे। केतलीपुत्र रेशम के कीड़े की भाँति अपना बन्धन तोड़ कर मुक्त होने की बात करते थे। महाकाश्यप का उपदेश संततिवाद कहा गया है और इन्होंने निर्वाण की उपमा दीपक के शान्त होने से दी है। तेतलीपुत्र जीवन की निराशाओं को ही वैराग्य का प्रेरक तत्त्व मानते थे। मंखलिपुत्त का सुपरिचित उपदेश विश्व की घटनाओं को अपने नियतक्रम से घटित होने और यह समझ कर उनसे क्षुब्ध न होने का है। जण्णवक्क लोकैषणा और वित्तैषणा के परित्याग का उपदेश देते थे। मेतेज्ज भयाली भी आत्म विमुक्ति की चर्चा करते थे और इनका दर्शन एक प्रकार का अकारकवाद प्रतीत होता है क्योंकि वे सत् और असत् का कोई कारण नहीं स्वीकार करते थे। बाहुक भी चिन्तन की शुद्धि और निष्कामता का उपदेश देते थे। मधुरायण आत्मा को अपने ही कर्मों का कर्ता भोक्ता स्वीकार करते हुए पाप मार्ग के त्याग द्वारा मुक्ति का उपदेश देते थे। शौर्यायण इन्द्रियजन्य सुख को ही राग-द्वेष का कारण स्वीकार करते हुए इन्द्रियों के संयमन का उपदेश देते थे। विदुर के उपदेश में स्वाध्याय, ध्यान और अहिंसक प्रवृत्ति पर बल है। वारिषेण कृष्ण सिद्धि की प्राप्ति के लिये अनाचरणीय कर्मों से विरत रहने और अहिंसादि के पालन का उपदेश देते थे। अरियायण

१. पण्हावागरणदसासु णं ससमय-परसमय पण्णवय पत्तेयबुद्ध -विविहत्थभासाभासियाणं-समवायांग सूत्र ५४६।

आर्यत्व की प्राप्ति के रूप में मुक्ति की कल्पना करते थे। उत्कट शीर्षक से भौतिकवादी ऋषियों की चर्चा है, जो आत्मा, पुनर्जन्म, पाप, पुण्य, आदि का भेद स्वीकार नहीं करते थे और विविध रूपों में सुखवाद का उपदेश देते थे। गाथापतिपुत्र तरुण अज्ञानता को ही परम दुःख कहते थे और मुक्ति के लिये ज्ञानमार्ग का उपदेश देते थे। यह रोचक है कि इनकी ज्ञान की अवधारणा अत्यन्त विस्तृत तथा उदार थी और इसमें औषधियों का विन्यास, संयोजन और मिश्रण तथा विविध साधनाओं की साधना भी समाविष्ट थी। गर्दभाल (दगभाल) के उपदेश में हिंसा रहित होने की चर्चा है। ये भी ज्ञान और ध्यान के ही उपदेशक थे। रामपुत्त संसार-विमुक्ति के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पालन का उपदेश देते थे और कर्मरज से मुक्ति के लिये तप का विधान करते थे। हरिगिरि के सिद्धान्त में नियतिवाद और पुरुषार्थवाद के समन्वयक के रूप में कर्म-सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है। अम्बड परिव्राजक अपनी आचार परम्परा के कारण ही चर्चित हुये। मातङ्ग जन्म के आधार पर वर्ग भेद स्वीकार नहीं करते थे और आध्यात्मिक कृषि पर बल देते थे। वारत्तक अकिंचनता को श्रमणत्व का आदर्श मानते थे। आर्द्रक भी काम-भोगों को सभी दुःखों के मूल में देखते थे। वर्द्धमान का भी अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख है। वे इन्द्रिय और मन के संयम पर बल देते हैं और कर्म रज के आस्रव, निरोध आदि की प्रक्रिया समझाते हैं। वायु के उपदेश में भी कर्म-सिद्धान्त का निरूपण है और बीज के अंकुरित होने से उसकी उपमा दी गयी है। पार्श्व नामक अर्हत् ऋषि लोक को शाश्वत मानते हुये भी इसे पारिणामिक या परिवर्तनशील कहते थे और पुण्य-पाप को जीवन का स्वकृत्य स्वीकार करते हुये मुक्ति के लिये चातुर्याम का उपदेश देते थे। पिंग भी आध्यात्मिक कृषि के ही उपदेशक थे और आत्मा को क्षेत्र, तप को बीज, संयम को नंगल और अहिंसा तथा समिति को बैल मानते थे। महाशाल-पुत्र अरुण के उपदेश में संसर्ग का सर्वाधिक प्रभाव स्वीकार करते हुये कल्याण मित्रता पर बल दिया गया है। ऋषिगिरि के वचन में सहनशीलता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है। उद्दालक क्रोधादि कषायों को सांसारिक बन्धन का कारण बताते थे और क्रोध, अहंकार, माया, लोभ इत्यादि से विरति का उपदेश देते थे। नारायण (तारायण) के उपदेश में भी क्रोध को ही प्रधान दोष स्वीकार किया गया है। श्रीगिरि एक प्रकार से शाश्वतवादी थे उनके आचार में वैदिक कर्मकाण्ड का समर्थन झलकता है। सारिपुत्र नामक अर्हत् बुद्ध ऋषि को अतिवर्णना और मध्यम मार्ग की साधना से जोड़ा गया है। संजय हर प्रकार के पाप कर्म से विरत रहने का उपदेश देते हैं। द्वैपायन (दीवायण) इच्छाओं के दमन की बात करते हैं और उसी को सुख का मूल मानते हैं। इन्द्रनाग (इंदनाग) भी विषय-वासना से मुक्ति की चर्चा करते हैं और मुनि को विभिन्न प्रकार की विद्याओं के आश्रय, भविष्यकथन आदि द्वारा आजीविका प्राप्ति से बचने की सलाह देते हैं। सोम के उपदेश में निरन्तर आध्यात्मिक विकास के लिये प्रयत्नशील रहने का उद्बोधन है। यम लाभ-हानि से अप्रभावित रहने को ही श्रेष्ठ गुण मानते हैं। वरुण भी राग-द्वेष से अप्रभावित होने का उपदेश देते हैं और वैश्रमण के वचन में अहिंसा के पालन पर बल है।[1]

---

१. ४५ प्रत्येक-बुद्धों के विस्तार के लिये देखिये, सं० वाल्थेर शूब्रिंग : इसिभासियाइं; एवं जैन, सागरमल : ऋषिभाषित एक अध्ययन।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि कुछ इने-गिने अपवादों को छोड़कर सभी ऋषियों के उपदेश मुक्ति-मार्ग के ही उपदेश हैं। सीमित उपलब्ध सामग्री से उनमें प्रत्येक का दार्शनिक दृष्टिकोण तो पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता, और यह भी संभव है कि जिस युग का यह सन्दर्भ है उसकी दृष्टि से विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों में वस्तुतः परिपक्वता का अभाव रहा हो और किंचित् अस्पष्टता रही हो। परन्तु यह निर्विवाद है कि प्रायः प्रत्येक के उपदेश में आचार-विचार की शुद्धता पर बल है और इन्द्रिय संयम, अनासक्ति, अहिंसादि व्रतों के पालन का उपदेश है। संक्षेप में इसमें कोई संदेह नहीं प्रतीत होता कि सामान्य रूप से ऋषिभाषित के ये ऋषि प्रायः श्रमण परिव्राजक परम्परा की ही विशेषता लिये हुए हैं। परन्तु हमारी दृष्टि से एक अत्यन्त रोचक तथ्य यह है कि उपर्युक्त सूची में कुछ अपरिचित नामों के साथ अनेक सुपरिचित नाम हैं, जो न केवल अन्यत्र जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं, अपितु बौद्ध और ब्राह्मण साहित्य में भी मिलते हैं। कुछ तो ऐसे नाम हैं जो ऐतिहासिक स्वीकार किये जाते हैं और जिनसे जुड़े उपदेश अन्य स्रोतों से भी भली-भाँति समर्थित हैं। यह भी रोचक है कि इस सूची में पार्श्व, वर्द्धमान, मंखलिपुत्र, महाकाश्यप, सारिपुत्र, आदि सुपरिचित नाम भी हैं और इनके साथ जुड़े उपदेशों की ज्ञात सूचनाओं से कहीं कोई विसंगति नहीं है।[1]

जातक

जातक कथाओं में बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाएं संग्रहीत हैं जब बुद्ध ने बुद्धत्व की अभीप्सा में अपनी बोधिसत्त्व अवस्था में पारमिताओं का अभ्यास किया था। थेरवादी परम्परा में इन कथाओं को सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय में स्थान दिया गया है।[2] इसके संकेत हैं कि मूल जातक गाथा रूप में थे और आकार में संक्षिप्त और अनुमानतः प्रत्येक जातक के लिये मौखिक कथा कही जाती थी। बुद्ध के पूर्व जन्मों की ये कथायें इतनी प्रचलित हो गयी थीं कि उनके संकेत रूप गाथा का ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होता था और उतने से ही कथा समझ ली जाती थी। ये कथायें विस्मृत न हो जायँ इसलिये कालान्तर में प्राचीन गाथाओं और उनसे संयुक्त मौखिक कथाओं ने सम्मिलित रूप से जातकट्ठकथा का रूप लिया। इस समय जिस जातक से हम प्रायः परिचित हैं वह यही प्राचीन जातकट्ठकथा या जातकट्ठवण्णना

---

१. ऋषिभाषित की सूची के अन्य अनेक ऋषियों और उनके मतों को पहचानने की चेष्टा की जा सकती है। सागरमल जैन जी के अध्ययन में इस प्रकार का प्रयास है। उन्होंने रामपुत्त ऋषि को गौतम बुद्ध के गुरु रुद्रक रामपुत्त के रूप में पहचानने की चेष्टा की है। यह रोचक है कि ऋषिभाषित में महाकाश्यप और सारिपुत्र को तो स्थान मिला है किन्तु उनके शास्ता को गौतम बुद्ध नहीं।

२. जातक साहित्य से सामान्य परिचय के लिये देखिए विण्टरनिट्ज़, एम०, **ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर**, खण्ड २, पृष्ठ ७१३ और आगे; उपाध्याय, भरत सिंह, **पालि साहित्य का इतिहास**, पृ० २९७ और आगे; जातक, अंग्रेजी अनुवाद, सं०, ई०बी०कावेल, खण्ड १, प्राक्कथन; हिन्दी अनुवाद—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, खण्ड १, वस्तुकथा; आदि। प्रस्तुत लेख में पाद-टिप्पणियों में जातकों के सभी सन्दर्भ भदन्त कौसल्यायन महोदय के हिन्दी अनुवाद से दिये गये हैं।

है। इसी को उच्चारण की सुकरता के लिए प्रायः जातक कह दिया जाता है। जातकट्ठकथा में छोटे-बड़े पाँच सौ सैंतालिस जातकों का संग्रह है, जो विभिन्न परिच्छेदों में विभाजित है। शैली और स्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक जातक के पाँच तत्त्व हैं, यथा—पच्चुप्पन्नवत्थु, अतीत-वत्थु, गाथा, अत्थवण्णना या वेय्याकरण और समोधान। अतीतवत्थु या अतीत कथा भाग में ही बुद्ध के पूर्व जन्म का वृत्तान्त आता है और इसप्रकार इसी भाग के लिए जातक नाम सार्थक है।

पालि जातक कथाओं के अतीत कथा भाग में प्रत्येक बुद्धों के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। बौद्ध साधर्नो में अर्हत् पद के ही समकक्ष परन्तु स्वतन्त्र एक अन्य शील-सम्पन्न, आस्रव-रहित विरज, विमल चक्षु प्राप्त किये विमुक्त प्राणी का पद था, प्रत्येक-बुद्ध का और अपनी अति-विशिष्ट अवधारणा तथा लोकप्रियता की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। स्वयं जातक इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं, क्योंकि वहाँ उपलब्ध कथाओं में प्रत्येक-बुद्धों के अनेक ससम्मान उल्लेख हैं। आभिधर्मिक बौद्धों की विकसित परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष मुक्त कोटियों की अवधारणा से जुड़ा है। गौतमबुद्ध के महापरिनिर्वाण के अनन्तर जब क्रमशः बुद्ध पद का विकास होने लगा और बुद्ध अधिकाधिक गुणों, विशेषणों से विभूषित किये जाने लगे, उस स्थिति में स्वाभाविक रूप से यह भी विकास हुआ कि यह पद विरल है, सर्व-सुलभ नहीं है और बुद्ध पद की प्राप्ति अनेक पूर्व जन्मों की तपस्या से ही सम्भव होती है। सामान्य मुक्तों या अर्हतों से भेंट करने के लिये ही बुद्ध के लिये सम्यक् सम्बुद्ध विशेषण की आवश्यकता पड़ी होगी। परन्तु अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध का परस्पर भेद किस प्रकार विकसित हुआ, यह अनुमान करना कठिन होता है। परिभाषा से प्रत्येक-बुद्ध बिना किसी की सहायता और पूर्णतः निज प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु ज्ञान का प्रकाशन किये बिना ही शरीर त्याग करते हैं।[1] जैसा नीचे स्पष्ट होगा, जातकों से यह परिभाषा इस सीमा तक अवश्य समर्थित है कि वहाँ भी कभी-कभी इस प्रकार के सन्दर्भ मिलते हैं कि प्रत्येक बुद्ध शील का प्रकाशन नहीं करते।[2] परन्तु जातकों के अनेक सन्दर्भों में स्वयं बोधिसत्त्व के प्रत्येक-बुद्धों के प्रति श्रद्धा एवं भक्तिभाव रखने, उनसे उपदेश सुनने और प्रेरणा प्राप्त कर प्रव्रज्या-ग्रहण करने के उल्लेख हैं।[3] जबकि जातकों में बोधिसत्त्व के किसी अर्हत् से उपदेश सुनने का कोई भी सन्दर्भ नहीं मिलता। वहाँ तो उनके द्वारा किसी अन्य बुद्ध से ज्ञान प्राप्त करने का भी कोई उदाहरण नहीं मिलता, यद्यपि इस प्रकार के कई संकेत हैं कि बुद्ध अनेक हैं और काश्यप बुद्ध के एकाधिक उल्लेख भी हैं।[4] महावेस्सन्तर जातक[5] में विपश्यी नामक सम्यक् सम्बुद्ध का उल्लेख है। इस स्थिति में यह

१. देखिए मलालशेखर, डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, खण्ड २, पृ० ९४ और आगे, संदर्भ "पच्चेक बुद्ध", औ "पुग्गल-पञ्ञति (पी०टी०एस० संस्करण), पृ० १४।

२. महाजनक जातक, ५३९, खण्ड ६, पृ० ५। (गाथा २२)

३. देखिये जातक, ९६ खण्ड।; १३२ खण्ड २; ४०८, ४१५, ४१८, ४५९, ४९०, ४९५, - खण्ड ४; इत्यादि।

४. जातक, खण्ड १, संख्या ४, ४१; खण्ड २, संख्या १०४, १९०, २४३; खण्ड ४, संख्या ४३९ ४६९; खण्ड ५, संख्या ५३७; खण्ड ६; संख्या ५४७.

५. जातक, खण्ड ६, संख्या ५४७।

सहज शंका होती है कि बौद्ध धर्म में प्रत्येक-बुद्धों की अवधारणा मुक्त पदों की किन्हीं प्राचीन स्वतन्त्र मान्यताओं पर टिकी है, और हो सकता है कि किसी-किसी उदाहरण में उसका ऐतिहासिक आधार भी हो। यह ध्यान में रखते हुए कि श्रमण-परिव्राजक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और विकास के प्रारम्भिक चरण में यह विशिष्ट समुदाय या सम्प्रदाय के रूप में विभाजित नहीं थी, यह कल्पनीय है कि इसी परम्परा में आदर प्राप्त किन्हीं विशिष्ट व्यक्तित्वों को बौद्ध धर्म ने आत्मसात् कर लिया और इन्हें प्रत्येक-बुद्ध कोटि में स्थान दिया। अन्य किसी प्रकार से जातकों की सामग्री की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती।

जातकों में प्रायः काम-तृष्णा से विरति अथवा सभी सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता आदि की विदर्शना-भावना से प्रत्येक-बुद्धत्व प्राप्ति के सन्दर्भ मिलते हैं। पानीय जातक[1] में स्वयं बुद्ध प्राचीनकाल में, जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए थे, पण्डितों द्वारा काम-वितर्कों का दमन कर प्रत्येक-बुद्ध होने का उल्लेख करते हैं और इसी संदर्भ में वे पाँच प्रत्येक-बुद्धों की कथा भी कहते हैं। इस कथा में काशी राष्ट्र के दो मित्रों की चर्चा में एक के पीने के लिए जल चुराने के पाप की भावना का विचार कर और दूसरे के उत्तम-रूप वाली स्त्री को देखकर चंचल मन होने का ध्यान कर प्रत्येक-बुद्ध का उल्लेख है। दोनों के ही संदर्भों में पाप-कर्म पर ध्यान को विदर्शना-भावना के रूप में प्रस्तुत किया गया है और प्रत्येक-बुद्ध हो जाने पर उनके रूप परिवर्तन होने, आकाश में स्थित होकर धर्मोपदेश करने और उत्तर हिमालय में नन्दमूल पर्वत पर चले जाने की चर्चा है। इसी प्रकार की काशी-ग्रामवासी एक पुत्र की कथा है जो अपने असत्य भाषण (मृषावाद) के पश्चात्ताप द्वारा प्रत्येक-बुद्ध होता है, और उसी स्थान के एक ग्राम-भोजक की जो पशु-बलि के पाप को विदर्शना-भावना से प्रत्येक-बुद्ध पद प्राप्त करता है। कुम्भकार जातक[2] में भी विषय-वासना से भरे गृहस्थ जीवन की निस्सारता और सर्वस्व त्याग द्वारा अकिंचनता की प्राप्ति आदि की विदर्शना-भावना द्वारा कई राजाओं, यथा–कलिङ्गनरेश करण्डु, गन्धार-नरेश नग्गजी विदेह— नरेश निमी और उत्तर पांचाल-नरेश दुम्मुख के प्रत्येक-बुद्धत्व लाभी होने की कथा मिलती है। सोनक जातक[3] में शालवृक्ष से एक सूखा पत्ता गिरते हुए देखकर एक व्यक्ति में शरीर की जरा-मृत्यु की भावना हुई और इस प्रकार सांसारिक जीवन की अनित्यता पर विचार कर उसने प्रत्येक-बुद्ध पद प्राप्त किया।

महामोर जातक[4] के अनुसार प्रत्येक-बुद्धत्व ज्ञान का लाभी सब चित्त-मलों का नाश कर संसार-सागर के अन्त पर खड़ा हो यह कहता है—"जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी केंचुली छोड़ देता है और वृक्ष अपने पीले-पत्तों का त्याग कर देता है, उसी प्रकार मैं लोभ-मुक्त हुआ।" कुम्भकार जातक[5] में आलंकारिक भाषा में इस अवस्था का चित्रण माता की कोख-

१. जातक ४५९, खण्ड ४. पृ० ३१४-३१६।

२. जातक ४०८, खण्ड ४, पृ० ३७-४०।

३. जातक ५२९, खण्ड ५, पृ० ३३२।

४. जातक ४९१, खण्ड ४, गाथा १५, पृ० ५४७।

५. जातक ४०८, खण्ड ४, पृ० ३७-३८।

रूपी कुटिया के नाश, तीनों भवनों में जन्म की सम्भावना का छिन्न-भिन्न होना, संसाररूपी कूड़े-कचड़े का स्थान शुद्ध कर देना, आँसुओं के समुद्र को सुखा देना, हड्डियों की चार-दीवारी को तोड़ देना, संक्षेप में जन्म-मरण के चक्र से पूर्णतया मुक्त हो जाने के रूप में किया गया है।

जातकों से प्रत्येक-बुद्धों के स्वरूप के विस्तृत और रोचक विवरण मिलते हैं। उनके काम-तृष्णा से मुक्ति की तो बार-बार चर्चा है; यथा, महाजनक जातक[1] के अनुसार प्रत्येक-बुद्ध काम-संयोजनों को काटकर, शीलादि गुणों से युक्त, अकिंचन सुख की कामना करने वाले, शील का विज्ञापन न करने और वध-वन्धन से विरत होते हैं, और दस ब्राह्मण जातक[2] उन्हें सदाचारी और मैथुनधर्म से विरत कहता है। पर इसके अतिरिक्त उनके बाह्य रूप, स्थान, जीवन-पद्धति आदि की भी चर्चा है। दस ब्राह्मण जातक[3] में ही उन्हें एक ही बार भोजन करने वाला भी कहा गया है। धजविहेठ, कुम्भकार, धम्मद्ध, पानीय आदि जातकों[4] से यह संकेत प्राप्त होता है कि ये प्रायः कुरूप होते हैं, हवा से नष्ट बादल और राहु से मुक्त चन्द्रमा की तरह होते हैं, तथा सिर-मुड़े से लेकर दो अंगुल बाल वाले तक होते हैं। दरीमुख जातक[5] में प्रत्येक-बुद्धों द्वारा आठ परिष्कार धारण करने की चर्चा है, यद्यपि ये आठ परिष्कार क्या थे यह स्पष्ट नहीं किया गया है। पानीय जातक[6] के अनुसार प्रत्येक-बुद्ध काषाय-वस्त्रधारी होते और सुरक्त दुपट्टा धारण करते, काय-बन्धन बाँधते, रक्त-वर्ण उत्तरासङ्ग चीवर एक कन्धे पर रखते, मेघ-वर्ण पासुकूल चीवर धारण करते, भ्रमर-वर्ण मिट्टी का पात्र बाँयें कन्धे पर लटकाते, आदि। महाजनक जातक[7] में भी कुछ इसी प्रकार का विवरण है; वहाँ भी इनके सिर-मुड़ाने, संघाटी धारण करने, एक काषाय वस्त्र पहनने, एक ओढ़ने और एक कन्धे पर रखने का उल्लेख है तथा मिट्टी का पात्र थैली में कन्धे पर लटकाने और हाथ में दण्ड लेने की चर्चा है। कासाव जातक[8] काषाय वस्त्र के अतिरिक्त उनके द्वारा शस्त्र धारण करने व सिर पर टोपी पहनने की भी चर्चा करता है।

बहुधा जातकों[9] में उत्तर हिमालय का नन्दमूल या गन्धमादन-पर्वत प्रत्येक-बुद्धों का निवास स्थान कहा गया है। वे प्रत्येक-बोधि ज्ञान प्राप्त कर ऊपर उठकर आकाश मार्ग से अपने स्थान पर पहुँचते हैं और वहाँ उद्यानों में और मंगलशिलाओं आदि स्थानों पर बैठते हैं। प्रत्येक-बुद्धों के स्थान के सन्दर्भ में जातकों में अनोतत्त-सरोवर की भी चर्चा है। सिरिकाल-

१. जातक ५३९, खण्ड ६, पृ० ६२ (गाथा ११५) और ५०-५१ (गाथा २२-२४)।
२. जातक ४९५, खण्ड ४, पृ० ५७५।
३. जातक ४९५, खण्ड ४, पृ० ५७५।
४. जातक ३९१, खण्ड ३, पृ० ४५४; ४०८, खण्ड ४, पृ० ३८; २२०, खण्ड २, पृ० ३९२; ४५९, खण्ड ४, पृ० ३१५।
५. जातक ३७८, खण्ड ३, पृ० ३९९।
६. जातक ४५९, खण्ड ४, पृ० ३१५।
७. जातक ५३९, खण्ड ६, पृ० ५९-६२।
८. जातक २२१, खण्ड २, पृ० ३९५।
९. जातक ३७८, खण्ड ३, पृ० ३९९; ४२१, खण्ड ४, पृ० १११; ४५९, खण्ड ४, पृ० ३१५; आदि।

कण्णि जातक[1] के अनुसार यह सरोवर अनेक घाटों से युक्त होता है, इसमें बुद्धों, प्रत्येक-बुद्धों आदि के अपने-अपने निश्चित घाट होते हैं। वस्तुतः बौद्धों की अनोतत्त-सरोवर की कल्पना अत्यन्त मनोरम कल्पना है और विद्वानों ने इसे सम्पूर्ण सृष्टि के प्रतीक के रूप में देखा है।[2] उपर्युक्त जातक के विवरण से भी इसका गम्भीर प्रतीकात्मक महत्त्व ध्वनित होता है, क्योंकि उसमें बुद्धों, प्रत्येक-बुद्धों के घाट के साथ-साथ भिक्षुओं, तपस्वियों, चातुर्महाराजिक आदि स्वर्ग के देवताओं के अपने-अपने घाटों की भी चर्चा है।

जातक प्रत्येक-बुद्धों के भिक्षाटन के लिए निकलने की भी चर्चा करते हैं। महामोर जातक[3] प्रातःकाल को प्रत्येक-बुद्धों के भिक्षाटन का उचित समय बताता है। खदिरंगार जातक[4] से यह ज्ञात होता है कि वे एक सप्ताह के ध्यान के बाद उठकर भिक्षाटन के लिए निकलते। खदिरंगार और कुम्भकार जातक[5] में प्रत्येक-बुद्धों के भिक्षाटन यात्रा के प्रारम्भ का सुन्दर वर्णन है। यह सोचकर कि आज अमुक स्थान पर जाना चाहिए, प्रत्येक-बुद्ध नन्दमूल-पर्वत क्षेत्र से निकल कर, अनोतत्त सरोवर पर नागलता की दातुन कर, नित्य-कर्म से निवृत्त हो, मनोशिला पर खड़े हो, काय-बन्धन बाँध, चीवर धारण कर, ऋद्धिमय मिट्टी का पात्र ले, आकाश मार्ग से भिक्षा के लिए गन्तव्य स्थान को जाते। महाजनक जातक के[6] अनुसार सप्ताह भर पानी बरसने पर भी भींगे वस्त्र में ही भिक्षाटन के लिए निकलते।

जातकों में प्रत्येक-बुद्धों के प्रति भक्तिभाव और उनकी पूजा के भी पर्याप्त सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। महाजनक जातक[7] में प्रत्येक-बुद्ध के लिए "सुरियुग्गमणेनिधि" विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिसका यह तात्पर्य बताया गया है कि सूर्य के समान होने से प्रत्येक-बुद्ध ही सूर्य है। निश्चय ही इस उपाधि से समाज में प्रत्येक-बुद्धों के आदरास्पद होने का संकेत मिलता है। धम्मद्ध, धजविहेठ और दरीमुख जातक[8] से यह अभिव्यक्त होता कि मुण्डित शिर वाले प्रत्येक-बुद्ध को देखकर जनता सिर पर हाथ जोड़कर प्रणाम करती तथा विदा करते समय जब तक वे आँख से ओझल नहीं हो जाते,तब तक दस नखों के मेल से अन्जलि को मस्तक पर रखकर नमस्कार करती रहती। पानीय व कुम्भकार जातक[9] से ज्ञात होता है कि उपासक उनकी प्रशंसा में यह स्तुति कहते कि "भन्ते ! आपकी प्रव्रज्या और ध्यान आपके ही योग्य है।" भिक्खा परम्पर

---

१. जातक ३८२, खण्ड ३, पृ० ४१४।

२. इसके विषय में देखिये मलालशेखर : डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, सन्दर्भ। ("अनोतत्त") और अग्रवाल, वासुदेवशरण : भारतीय कला, पृ० ६९, ११४ और चक्रध्वज, पृ० ३६।

३. जातक ४९१, खण्ड ४, पृ० ५४६।

४ जातक ४०, खण्ड १, पृ० ३४९।

५ जातक ४०, खण्ड १, पृ० ३४९; और ४०८, खण्ड ४, पृ० ४०।

६. जातक ५३९, खण्ड ६, पृ० ६१, (गाथा १११)।

७. जातक ५३९, खण्ड ७, पृ० ४६-४७।

८. जातक २२०, खण्ड २, पृ० ३९२; ३९१, खण्ड ३, पृ० ४५४; और ३७८, खण्ड ३, पृ० ४०२।

९. जातक ४५९, खण्ड ४, पृ० ३१७-३१८; और ४०८, खण्ड ४, पृ० ४१।

जातक[1] में प्रत्येक-बुद्ध अपने धर्म की अभिव्यक्ति इस रूप में करते हैं—"न पकाता हूँ, न पकवाता हूँ, न काटता हूँ, न कटवाता हूँ।" अतः उपासक इन्हें अकिंचन तथा सब पापों से दूर जानकर दाहिने हाथ से कमण्डलु ले, बाँयें हाँथ से पवित्र भोजन देते। बहुधा जातकों[2] में भिक्षाटन करते प्रत्येक-बुद्धों के प्रति उपासकों द्वारा किये जाने वाला आदर-सत्कार इस रूप में वर्णित है कि उपासक लोग उन्हें घर ले जाकर दक्षिणोदक देते, पाँव धोते, सुगन्धित तेल मलते, आसन प्रदान करते और तत्पश्चात् उनके लिये उत्तम खाद्य परोसते, और अन्त में दान देकर प्रार्थना कर उन्हें विदा करते। छद्दन्त जातक[3] बोधिसत्त्व छद्दन्त द्वारा पाँच सौ प्रत्येक-बुद्धों के लिये कमल के पत्तों पर मधुर फल तथा "भिस-मूल" परोसने का उल्लेख करता है।

बाहर कहीं भी, मार्ग आदि में जब उपासकों की प्रत्येक-बुद्धों से भेंट हो जाती तो वे उनके प्रति आदर-सत्कार व्यक्त करते। सङ्ख और कुम्मासपिण्ड जातक[4] से ज्ञात होता है कि ऐसे अवसरों पर उपासकों के मन में यह भाव होता कि मेरा पुण्य क्षेत्र आ गया है, आज मुझे इसमें बीज डालना चाहिये, दान का यह पुण्य-कर्म दीर्घ-काल तक मेरे हित-सुख के लिये होगा, इत्यादि। वे प्रत्येक-बुद्ध को प्रणाम करते और दान स्वीकार कर लेने की उनकी अनुज्ञा जान, वे वृक्ष की छाया में बालू का ऊँचा आसन तैयार कर उस पर अपनी चादर या कोमल टहनियाँ बिछा कर प्रत्येक-बुद्ध को बिठाते, दोने में पानी लाकर उन्हें दक्षिणोदक देते, उन्हें कुल्माष लड्डू प्रदान करते जो बिना नमक, शक्कर और तेल का बना होता, उनके लिये जूता, छाता आदि दान करते और उन्हें प्रणाम कर मिन्नत आदि करके विदा करते। स्थिति विशेष में उपासक के पास जो भी होता या जिसकी इच्छा होती, उसी को दान में अर्पित किया जाता। सुरुचि जातक[5] में एक वंसकार उपासक प्रत्येक-बुद्ध को देखकर उन्हें घर ले जाकर आदर-सत्कार करता है और उनके वर्षावास के लिए गंगा तट पर गूलर की जमीन और बाँस की दीवार की पर्ण-कुटी बना, दरवाजा लगा और चङ्क्रमण भूमि बनाकर दान करता है। वर्षावास की तीन मास की अवधि पूरी होने पर वह उन्हें चीवर ओढ़ाकर विदा करता है।

दस ब्राह्मण और आदित्त जातक[6] से ज्ञात होता है कि प्रत्येक-बुद्धों को उनके मूल निवासस्थान (उत्तर हिमालय का नन्दमूलक या गन्धमादन-पर्वत प्रदेश) से भी आमन्त्रित करके आदर-सत्कार करने की प्रथा थी। इस प्रकार के सत्कार में प्रातःकाल ही खा-पीकर, उपोसथ-व्रत रखकर, चमेली के पुष्पों की टोकरी ले, प्रासाद के आँगन या खुले स्थान पर अपने पाँच अंगों को भूमि पर प्रतिष्ठित कर, प्रत्येक-बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण किया जाता था और उत्तर-दिशा की ओर प्रणाम कर, उसी दिशा में पुष्पों की सात-आठ मुट्ठियाँ आकाश की ओर फेंक कर इस प्रकार आग्रह किया जाता था कि "उत्तर हिमालय के नन्दमूल पर्वत पर रखने वाले

१. जातक ४९६, खण्ड ४, पृ० ५८१।
२. जातक ९६, खण्ड १; ३९०, खण्ड ३; ४०८, खण्ड ४; ४५९, खण्ड ४ आदि।
३. जातक ५१४, खण्ड ५, पृ० १२८।
४. जातक ४४२, खण्ड ४, पृ० २१५; और ४१५, खण्ड ४, पृ० ६७।
५. जातक ४८९, खण्ड ४, पृ० ५२३।
६. जातक ४९५, खण्ड ४, पृ० ५७५; और ४२४, खण्ड ४, पृ० १२९-१३१।

प्रत्येक-बुद्ध कल हमारा निमन्त्रण स्वीकार करें।" निमन्त्रण के लिये उत्तर-दिशा की ओर फेंके गये पुष्पों पर ही प्रत्येक-बुद्ध विचार करते थे, क्योंकि उसी दिशा में उनका निवासस्थान है, और पुष्पों का लौटकर न आना इस बात का संकेत माना जाता था कि प्रत्येक-बुद्धों ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है। ऐसा विश्वास था कि उपोसथ अंगों (दान, शील, सत्य, आदि) से युक्त होने पर जो पुष्प फेंके जाते, वे अवश्य प्रत्येक-बुद्धों पर जाकर गिरते थे। ध्यान से प्रत्येक-बुद्ध यह जान लेते थे कि अमुक व्यक्ति ने सत्कार करने के लिये हमें आमन्त्रित किया है। वे समूहों में अपने विशिष्ट आकाश मार्ग से वहाँ पहुँचते थे। वहाँ सत्कार की प्रक्रिया सात दिनों तक चलती रहती, उसमें सब परिष्कारों का दान दिया जाता और प्रत्येक-बुद्ध दानानुमोदन कर अपने स्थान को पुनः लौट जाते। दानानुमोदन में वे इस प्रकार उपदेश करते कि "यह संसार जरा और मरण से जल रहा है, दान देकर इससे मुक्ति प्राप्त करो; जो दिया जाता है वही सुरक्षित होता है, इत्यादि"। वर्णित रूप में प्रत्येक-बुद्धों को निमन्त्रित करके उनका आदर-सत्कार करने की उपर्युक्त विधि अतिरंजित रूप में और अलंकारिक शब्दावली में वर्णित है, परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि विशिष्ट निमन्त्रण देकर प्रत्येक-बुद्धों का आदर-सत्कार किया जाता था और अपने दानानुमोदन में वे उपासकों को ज्ञान और वैराग्य का उपदेश देते थे।

प्रत्येक-बुद्धों के अपने विश्वस्त कुल-उपासक भी होते थे जो उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। तेलपत्त जातक[1] से यह ज्ञात होता है कि कुल विश्वस्त उपासक उनसे अपनी भविष्य सम्बन्धी बातें भी पूछते से। महाजनक जातक[2] सूचना देता है कि नित्य-भोजन ग्रहण करने वाले प्रत्येक-बुद्ध के सम्मान में उनका विश्वस्त कुल उपासक राजा प्रत्येक-बुद्ध के आवागमन की सीमा-क्षेत्र के सोलह स्थानों पर निधि गाड़ कर रखता। वे सोलह स्थान थे—राजद्वार, जहाँ प्रत्येक-बुद्ध की अगवानी की जाती और जहाँ से उन्हें विदा किया जाता, राज-भवन के बड़े दरवाजे की देहली के नीचे, देहली के बाहर, देहली के अन्दर, मंगल-हाथी पर चढ़ने के समय सोने की सीढ़ी रखने के स्थान पर, उतरने के स्थान पर, चारमहासाल अर्थात् राजशैय्या के चारों शालमय पौवे के नीचे, शैया के चारों ओर युग भर की दूरी में, मंगल-हाथी के स्थान पर, उसके दोनों दाँतों के सामने के स्थान पर, मंगल-घोड़े की पूँछ उठने के स्थान पर, मंगल-पुष्करिणी में तथा शाल वृक्ष के मण्डलाकार वृक्ष की छाया के अन्दर। छद्-दन्त जातक[3] से यह भी विदित होता है कि विश्वस्त कुल-उपासक की मृत्यु होने पर कुल के सदस्य प्रत्येक-बुद्ध के पास जाकर यह आग्रह करते कि "भन्ते! आपकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला दाता अमुक कारण से मृत्यु को प्राप्त हुआ है, आप उसके शव को देखने के लिए आयें"। प्रत्येक-बुद्ध उस स्थान पर पहुँचते। वहाँ उनसे शव की वन्दना करायी जाती, तत्पश्चात् शव को चिता पर रख कर जला दिया जाता, और प्रत्येक-बुद्ध रात-भर चिता के पास सूत्र-पाठ करते।

---

१. जातक ९६, खण्ड १, पृ० ५५८।

२. जातक ५३९, खण्ड ६. पृ० ४२ और ४६-४७।

३. जानक ५१४, खण्ड ५. पृ० १४१-१४२।

जातक कथायें प्रत्येक-बुद्धों के धातु चैत्यों और उनकी पूजा के भी सन्दर्भ प्रदान करती हैं। धातु से तात्पर्य शरीर-धातु या अस्थियों से है। अट्ठसद्द जातक[1] में इस प्रकार की चर्चा है कि नन्दमूल-पर्वत पर अपने आयु-संस्कार की समाप्ति को सन्निकट देख प्रत्येक-बुद्ध यह विचार करते हैं कि "बस्ती के राजोद्यान में परिनिर्वृत्त होने पर मनुष्य मेरी शरीर-क्रिया कर, उत्सव मना, धातु-पूजा कर स्वर्ग-गामी होंगे, और निर्वाणरूपी नगर में प्रवेश को प्रकट करने वाला यह उदान कहकर कि "मैंने निःसंदेह जन्म का अन्त देख लिया, फिर मैं, गर्भ शैया में नहीं आऊँगा, यह मेरी अन्तिम गर्भ-शैया है, मेरा संसार पुनरुत्पत्ति के लिये क्षीण हो गया", वे राजोद्यान में एक पुष्पित शालवृक्ष के नीचे परिनिर्वाण को प्राप्त होते। सुमङ्गल जातक[2] में माली के हाथ प्रत्येक-बुद्ध की आकस्मिक मृत्यु होने की स्थिति में उद्यान का स्वामी राजा उनका शरीर-कृत्य करते वर्णित है। उपर्युक्त दोनों जातकों से यह स्पष्ट होता है कि राजा परिनिर्वृत्त प्रत्येक-बुद्ध के शरीर का सप्ताह भर पूजोत्सव मना, सब सुगन्धियों से युक्त चिता पर शरीर-क्रिया करके, शरीर-धातु पर चार महापथों पर धूप या चैत्य बनवाता है और चैत्य की पूजा करते हुए प्रत्येक-बुद्ध के बताये धर्मों का पालन करने तथा धर्मानुसार राज्य करने का व्रत लेता है। राजा के द्वारा ही शरीर-क्रिया एवं चैत्य निर्माण कराये जाने का यह औचित्य है कि प्रत्येक-बुद्ध राजा के "पुण्य क्षेत्र" माने जाते थे, उनके द्वारा उपदेशित धर्म का पालन राजा का धर्म होता था, और प्रत्येक-बुद्ध राजोद्यान में ही ठहरते थे। प्रत्येक-बुद्धों के जीते जी उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा परिनिर्वृत्त होने पर उनकी धातु-पूजा करना राजा का आवश्यक धर्म था और ऐसा करके वे स्वर्ग-गामी होने की कामना करते थे। चैत्य आवागमन के सुविधाजनक स्थानों पर ही बनाये जाते थे।

पालि जातक साहित्य में प्रत्येक-बुद्धों के संदर्भ में उपरोक्त प्रकार की ही सामग्री है। ऋषिभाषित और जातक में प्रत्येक-बुद्धों की अवधारणा के स्वतंत्र अध्ययन से जो अनुमान होता है, दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से वह भली-भाँति संपुष्ट होता है। मिल-जुलकर दोनों परम्पराओं के साक्ष्य यह भली-भाँति सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक-बुद्धों की अवधारणा मूलतः न तो जैन परम्परा की है, न बौद्ध परम्परा की; बल्कि उन्हें स्वतंत्र कोटि में ही रखना चाहिये। जिस सीमा तक विशिष्ट-विशिष्ट नामधारी प्रत्येक-बुद्धों का ऐतिहासिक आधार स्वीकार किया जा सकता है, उन्हें सामान्य रूप से शील और मोक्ष मार्ग के उपदेशक मानना चाहिये, और यद्यपि उनमें विशिष्ट वैदिक ऋषियों के भी सम्मिलित होने की सम्भावना है, जैसा कि ऋषिभाषित की सामग्री से ध्वनित भी होता है, सामान्य रूप से उन्हें श्रमण परिव्राजक परम्परा का ही अंग स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि मोक्ष मार्ग का उपदेश और शुद्ध आचार-विचार को उसका आधार बनाना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आदि को मोक्ष मार्ग का अभिन्न अंग मानना, गृहस्थ जीवन को दोषपूर्ण मानकर प्रव्रजन का उपदेश देना, ये सब उसी परम्परा की विशेषतायें हैं। यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि वैदिक यज्ञ परम्परा की ही भाँति श्रमण परिव्राजक परम्परा का भी दीर्घकालीन इतिहास है। प्राचीन वैदिक साहित्य में इस विषय के

---

१. जातक ४१८-, खण्ड ४- पृ० ९२-९३।

२. जातक ४२०, खण्ड ४- पृ० १००।

सन्दर्भ भले ही संख्या में कम हों, वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं, और श्रमण धर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।[1] अभी हाल तक यही मानने की प्रवृत्ति थी कि वैदिक यज्ञ परम्परा और पशु हिंसा के आलोचक होने के कारण इस परम्परा को अनिवार्यतः अनार्य और अवैदिक होना चाहिये। कभी-कभी आधुनिक विद्वान् इसी सूत्र से श्रमण परम्परा का सम्बन्ध सैन्धव संस्कृति से भी जोड़ते हैं।[2] परन्तु अब इसके पुष्ट साक्ष्य प्रस्तुत किये गये हैं कि श्रमण परम्परा भी वैदिक यज्ञ परम्परा से भिन्न परन्तु प्राचीन भारोपीय और भारतेरानी आर्य संस्कृति का ही एक अंग प्रतीत होती है।[3] इस स्थिति में यह सहज कल्पनीय है कि अपने दीर्घ कालीन इतिहास में श्रमण परम्परा ने वास्तव में ऐसे अनेक ऋषियों को जन्म दिया हो जिनकी स्वतंत्र शिष्य परम्परा तो न विकसित हुई हो, परन्तु निजी उपलब्धि और उपदेशों की महत्ता की दृष्टि से जिनकी स्मृति सुरक्षित रही। बुद्ध और महावीर के युग के आस-पास जब श्रमण परम्परा ने विशिष्ट-विशिष्ट वर्ग या समुदाय का रूप ग्रहण किया, उस स्थिति में उपर्युक्त प्रकार के अनेक प्राचीन ऋषियों को प्रत्येक-बुद्ध की विशिष्ट कोटि में रख दिया गया।

ऋषिभाषित की सामग्री और सामान्य रूप से जैन आगम के साक्ष्य से यह तो स्पष्ट आभास नहीं होता कि प्रत्येक-बुद्ध रूप इन अनेक प्राचीन ऋषियों के नाम और उपदेश के उदार भाव से स्मरण करने और सुरक्षित रखने के अतिरिक्त जैन परम्परा ने उसका और कोई विशिष्ट सदुपयोग किया हो। एक प्रकार से बौद्ध धर्म में भी प्रायः यही स्थिति लगती है, और जातक कथाओं में भी स्थान-स्थान पर बोधिसत्व से जुड़े होने के साथ भी प्रत्येक-बुद्ध प्रायः उनके प्रेरक मात्र हैं। परन्तु यह रोचक है कि प्रत्येक-बुद्धों की अवधारणा बाद के बौद्ध परम्परा में सर्वथा लुप्त नहीं हुई। न केवल आभिधार्मिक ग्रन्थों में बौद्ध सन्तों की कोटि में अर्हत् और सम्यक् सम्बुद्ध के साथ उनका प्रायः परिगणन किया गया[4], अपितु महायान द्वारा अपने बोधिसत्व आदर्श की तुलना में अर्हतों के साथ-साथ उनके आदर्श पर भी अत्यधिक स्वतंत्रता और संकीर्णता का आक्षेप किया गया।[5]

डी ५५/१० औरंगाबाद, वाराणसी-२२०१०

---

१. श्रमण परम्परा के प्राचीन इतिहास के लिये मुख्य रूप से देखिए—पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र : **स्टडीज इन द ओरिजन्स ऑफ बुद्धिज्म**, पृ० २५८ और आगे- और उन्हीं का दूसरा ग्रन्थ : **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास**, पृ० ४ और आगे।

२. देखिए पाण्डेय- गोविन्दचन्द्र : **स्टटीज इन द ओरिजन्व ऑफ बुद्धिज्म**, पृ० २१। और आगे तथा **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास**, पृ० ३।

३. देखिए- प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक के हाल ही में प्रकाशित दो महत्वपूर्ण शोधपत्र जो श्री राम गोयल के ग्रन्थ **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म** और सीताराम दूबे के ग्रन्थ **बौद्ध संघ के प्रारम्भिक विकास का एक अध्ययन** में पुरोवाक के रूप में प्रकाशित हैं।

४. देखिए पुग्गल-पञ्ञति (पी० टी० एस० संस्करण) पृ० १४ और ७०।

५. उत्तर कालीन बौद्ध धर्म में प्रत्येक बुद्ध की स्थिति के सम्बन्ध में देखिए- नलिनाक्ष दत्त : **ऐस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म**, पृ० ८० और आगे; हरदयाल : **द बोधिसत्व डाक्ट्रीन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर** पृ० ३; भिक्षु संघरक्षित : ए सर्वे ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ७९ २२२-२२३ और २४१।

आगमिक गच्छ/प्राचीन त्रिस्तुतिक गच्छ का संक्षिप्त इतिहास

डा० शिव प्रसाद

पूर्वमध्यकाल में श्वेताम्बर श्रमणसंघ का विभिन्न गच्छों और उपगच्छों में विभाजन जैन धर्म के इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। चन्द्रकुल (बाद में चन्द्रगच्छ) से अनेक छोटी-बड़ी शाखाओं (गच्छों) का प्रादुर्भाव हुआ और ये शाखायें पुनः कई उप-शाखाओं में विभाजित हुईं। चन्द्रकुल की एक शाखा (वडगच्छ/बृहद्गच्छ) के नाम से प्रसिद्ध हुई। वडगच्छ से वि०सं० ११४९ में पूर्णिमागच्छ का प्रादुर्भाव हुआ और पूर्णिमागच्छ की एक शाखा वि० सं० की १३वीं शती से आगमिकगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई।

पूर्णिमागच्छ के प्रवर्तक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य आचार्य शीलगुणसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। इस गच्छ में यशोभद्रसूरि, सर्वाणंदसूरि, विजयसिंहसूरि, अमरसिंहसूरि, हेमरत्नसूरि, अमररत्नसूरि, सोमप्रभसूरि, आणंदप्रभसूरि, मुनिरत्नसूरि, आनन्दरत्नसूरि आदि कई विद्वान् एवं प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपने साहित्यिक और धार्मिक क्रियाकलापों से श्वेताम्बर श्रमणसंघ को जीवन्त बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की।

पूर्णिमागच्छीय आचार्य शीलगुणसूरि और उनके शिष्य देवभद्रसूरि द्वारा जीवदयाणं तक का शक्रस्तव और ६७ अक्षरों का परमेष्ठीमन्त्र, तीन स्तुति से देववन्दन आदि बातों में आगमपक्ष के समर्थन से वि०सं० १२१४ या १२५० में आगमिकगच्छ अपरनाम त्रिस्तुतिकमत का प्रादुर्भाव हुआ।[1]

आगमिक गच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के अन्तर्गत इस गच्छ के आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों की प्रशस्तियों तथा इस गच्छ और इसकी शाखाओं की पट्टावलियों का उल्लेख किया जा सकता है। अभिलेखीय साक्ष्यों के अन्तर्गत इस गच्छ के आचार्यों / मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित जिन प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों को रखा गया है, इनकी संख्या सवा दो सौ के आसपास है।

पट्टावलियों द्वारा इस गच्छ की दो शाखाओं—धंधूकीया और विडालंबीया का पता चलता है।

आगमिकगच्छ और उसकी शाखाओं की पट्टावलियों की तालिका इस प्रकार है—

---

१. नाहटा, अगरचन्द—"जैन श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश" यतीन्द्रसूरिअभिनन्दनग्रन्थ (आहोर, १९५८ ई०) पृष्ठ १३५-१६५।

क्रमाङ्क	पट्टावली का नाम	रचनाकार	संभावित तिथि	संदर्भ ग्रन्थ
१.	आगमिकगच्छपट्टावली	अज्ञात	१३वीं शती लगभग	विविधगच्छीयपट्टावली-संग्रह-संपा० जिनविजय पृष्ठ ९-१२
२.	आगमिकगच्छपट्टावली	अज्ञात	१६वीं शती लगभग	जैनगूर्जरकविओ, भाग ३, परिशिष्ट, संपा० मोहनलाल दलीचंद देसाई पृष्ठ २२२४-२२३२
३.	धंधूकीया शाखा की पट्टावली	अज्ञात	१७वीं शती लगभग	वही, पृष्ठ २२३२
४.	विडालंबीया शाखा की पट्टावली	अज्ञात	१८वीं शती लगभग	वही पृष्ठ २२३३
५.	आगमिकगच्छ-पट्टावली	मुनिसागरसूरि	१६वीं शती लगभग	पट्टावलीसमुच्चय, भाग २ १५८-१६२ जैनसत्यप्रकाश वर्ष ६, अंक ४ जैन परम्परानो इतिहास भाग-२, पृष्ठ ५४०-५४२ विविधगच्छीयपट्टावली-संग्रह, पृष्ठ २३४-२३५
६.	धंधूकीयाशाखा की पट्टावली	अज्ञात	१७वीं शती लगभग	विविधगच्छीयपट्टावली-संग्रह, पृष्ठ २३५-२३६

उक्त तालिका की प्रथम पट्टावली में आगमिकगच्छ के प्रवर्तक आचार्य शीलगुणसूरि का पूर्णिमागच्छीय आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य के रूप में उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इस पट्टावली से आगमिकगच्छ के इतिहास के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती है।

तालिका में प्रदर्शित अंतिम दोनों पट्टावलियाँ आगमिक गच्छ के प्रकटकर्ता शीलगुणसूरि से प्रारम्भ होती हैं। ये पट्टावलियाँ इस प्रकार हैं :—

मुनिसागरसूरि द्वारा रचित आगमिकगच्छपट्टावली में उल्लिखित

गुरु परम्परा की सूची

शीलगुणसूरि [आगमिकगच्छ के प्रवर्तक]

|

देवभद्रसूरि

|

धर्मघोषसूरि

|

यशोभद्रसूरि
|
सर्वाणंदसूरि
|
अभयदेवसूरि
|
वज्रसेनसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
हेमसिंहसूरि
|
रत्नाकरसूरि
|
विजयसिंहसूरि
|
गुणसमुद्रसूरि
|
अभयसिंहसूरि
|
सोमतिलकसूरि
|
सोमचन्द्रसूरि
|
गुणरत्नसूरि
|
मुनिसिंहसूरि
|
शीलरत्नसूरि
|
आणंदप्रभसूरि
|
मुनिरत्नसूरि
|
मुनिसागरसूरि [पट्टावली के लेखक]

तालिका में क्रमाङ्क ६ पर प्रदर्शित आगमिकगच्छ (धंधूकीयाशाखा) की पट्टावली में उल्लिखित गुरु-परम्परा की सूची

शीलगुणसूरि
|
देवभद्रसूरि
|
धर्मघोषसूरि
|
यशोभद्रसूरि
|

सर्वाणंदसूरि	अभयदेवसूरि	वज्रसेनसूरि

सर्वाणंदसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
विजयसिंहसूरि
|
अभयसिंहसूरि
|
अमरसिंहसूरि
|
हेमरत्नसूरि
|
अमररत्नसूरि
|
सोमरत्नसूरि
|
गुणनिधानसूरि
|
उदयरत्नसूरि
|
सौभाग्यसुन्दरसूरि
|
धर्मरत्नसूरि
|
मेघरत्नसूरि

जैसा कि स्पष्ट है, उक्त दोनों पट्टावलियां आगमिकगच्छ के प्रकटकर्ता शीलगुणसूरि से प्रारम्भ होती हैं। इसमें प्रारम्भ के ४ आचार्यों के नाम भी समान हैं, अतः इस समय तक शाखाभेद नहीं हुआ था, ऐसा माना जा सकता है। आगे यशोभद्रसूरि के तीन शिष्यों—सर्वाणंदसूरि, अभयदेवसूरि और वज्रसेनसूरि को पट्टावलीकार मुनिसागरसूरि ने एक सीधे क्रम में रखा है वहीं धंधूकीया शाखा की पट्टावली में उन्हें यशोभद्रसूरि का शिष्य बतलाया गया है। सर्वाणंदसूरि की शिष्यपरम्परा में जिनचन्द्रसूरि हुए, शेष दो आचार्यों अभयदेवसूरि और वज्रसेनसूरि की शिष्यपरम्परा आगे नहीं चली। जिनचन्द्रसूरि के शिष्य विजयसिंहसूरि का दोनों पट्टावलियों में समान रूप से उल्लेख है। पट्टावलीकार मुनिसागरसूरि ने जिनचन्द्रसूरि के दो अन्य शिष्यों हेमसिंहसूरि और रत्नाकरसूरि का भी उल्लेख किया है, परन्तु उनकी परम्परा आगे नहीं चली। विजयसिंहसूरि के शिष्य अभयसिंहसूरि का नाम भी दोनों पट्टावलियों में समान रूप से मिलता है। अभयसिंहसूरि के दो शिष्यों—अमरसिंहसूरि और सोमतिलकसूरि से यह गच्छ दो शाखाओं में विभाजित हो गया। अमरसिंहसूरि की शिष्यसन्तति आगे चलकर धन्धूकीया शाखा और सोमतिलकसूरि की शिष्यपरम्परा विडालंबीया शाखा के नाम से जानी गयी। यह उल्लेखनीय है कि प्रतिमालेखों में कहीं भी इन शाखाओं का उल्लेख नहीं हुआ है, वहाँ सर्वत्र केवल आगमिकगच्छ का ही उल्लेख है, किन्तु कुछ प्रशस्तियों में स्पष्ट रूप से इन शाखाओं का नाम मिलता है तथा दोनों शाखाओं की पट्टावलियाँ तो स्वतन्त्र रूप से मिलती ही हैं, जिनकी प्रारम्भ में चर्चा की जा चुकी है।

अभयसिंहसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित एक जिनप्रतिमा पर वि० सं० १४२१ का लेख उत्कीर्ण है, अतः यह माना जा सकता है कि वि० सं० १४२१ के पश्चात् अर्थात् १५वीं शती के मध्य के आसपास यह गच्छ दो शाखाओं में विभाजित हुआ होगा।

चूँकि इस गच्छ के इतिहास से सम्बद्ध जो भी साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं, वे १५वीं शती के पूर्व के नहीं हैं और इस समय तक यह गच्छ दो शाखाओं में विभाजित हो चुका था अतः इन दोनों शाखाओं का ही अध्ययन कर पाना सम्भव है। शीलगुणसूरि तक के ८ पट्टधर आचार्यों में केवल अभयसिंहसूरि का ही वि० सं० १४२१ के एक प्रतिमा लेख में प्रतिमा प्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख है। शेष ७ आचार्यों के बारे में मात्र पट्टावलियों से ही न्यूनाधिक सूचनायें प्राप्त होती हैं, अन्य साक्ष्यों से नहीं। लगभग २०० वर्षों की अवधि में किसी गच्छ में ८ पट्टधर आचार्यों का होना असम्भव नहीं लगता, अतः आगमिक गच्छ के विभाजन के पूर्व इन पट्टावलियों की सूचना को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है अभयसिंहसूरि के पश्चात् उनके शिष्यों अमरसिंहसूरि और सोमतिलकसूरि की शिष्यसन्तति आगे चलकर क्रमशः धन्धूकीयाशाखा और विडालंबीयाशाखा के नाम से जानी गयी, यह बात निम्नप्रदर्शित तालिका से स्पष्ट होती है—

शीलगुणसूरि [आगमिकगच्छ के प्रवर्तक]
- देवभद्रसूरि
  - धर्मघोषसूरि
    - यशोभद्रसूरि
      - सर्वानन्दसूरि
        - जिनचन्द्रसूरि
          - विजयसिंहसूरि
            - अभयसिंहसूरि → अमरसिंहसूरि → हेमरत्नसूरि → अमररत्नसूरि → सोमरत्नरूरि (...धूकीयाशाखा प्रारम्भ......)
            - गुणसमुद्रसूरि → सोमतिलकसूरि → सोमचन्द्रसूरि → गुणरत्नसूरि → मुनिसिंहसूरि (विडालंबीया... शाखा प्रारम्भ)
          - हेमसिंहसूरि
          - रत्नाकरसूरि
      - अभयदेवसूरि
      - वज्रसेनसूरि

अध्ययन की सुविधा के लिये दोनों शाखाओं का अलग-अलग विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें सर्वप्रथम साहित्यिक साक्ष्यों और तत्पश्चात् अभिलेखीय साक्ष्यों के विवरणों की विवेचना की गयी है।

साहित्यिक साक्ष्य

१- **पुण्यसाररास**[1]—यह कृति आगमगच्छीय आचार्य हेमरत्नसूरि के शिष्य साधुमेरु द्वारा वि० सं० १५०१ पौषवदि ११ सोमवार को धंधूका नगरी में रची गयी। कृति के अन्त में रचनाकार ने अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

अमरसिंहसूरि
|
हेमरत्नसूरि
|
साधुमेरु [रचनाकार]

२- **अमररत्नसूरिफागु**[2] मरु-गुर्जर भाषा में लिखित १८ गाथाओं की इस कृति को श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने वि० सम्वत् की १६वीं शती की रचना मानी है। इस कृति में रचनाकार ने अपना परिचय केवल अमररत्नसूरिशिष्य इतना ही बतलाया है। यह रचना प्राचीनफागुसंग्रह में प्रकाशित है।

अमररत्नसूरि
|
अमररत्नसूरिशिष्य

३- **सुन्दरराजारास**[3]—आगमगच्छीय अमररत्नसूरि की परम्परा के कल्याणराजसूरि के शिष्य क्षमाकलश ने वि० सं० १५५१ में इस कृति की रचना की। क्षमाकलश की दूसरी कृति ललिताङ्गकुमाररास वि० सं० १५५३ में रची गयी है। दोनों ही कृतियाँ मरु-गूर्जर

---

१. आषाढ़ादि पनर अेकोतरइ, पोस वदि इग्यारिसि अंतरइ।
धंधूकपुरि कृपारस सत्र, सोमवारि समर्थिउ अे चरित्र ।।
कुमतरुख वणभंग गइंद, जिनशासन रयणायर इंदु।
सद्गुरुश्रीअमरसिंहसूरिंद, सेवइं भविय जसुय अरविंद ।।
तसु पाटि नयनानंद अमीबिंदु गुरु, श्रीहेमरत्नसूरिमुणिंद।
आगमगच्छ प्रकाश दिणिंद, जसु दीसइ वर परि यरविंद ।।
सुगुरु पसाइं नयर गोआलेर, धणी पुण्यसार रिद्धिउ कुबेर।
तासु गुण इम वर्णवइ अजस्त्र, साधुमेरुगणि पंडित मिश्र ।।
देसाई, मोहनलाल दलीचन्द—जैनगूर्जरकविओ (नवीन संस्करण, अहमदाबाद, १९८६ ई०) भाग १, पृ० ८५ और आगे।

२. देसाई, पूर्वोक्त, पृ० ४७८ और आगे

३. वही, पृ० २०१-२०२

भाषा में हैं। इसकी प्रशस्ति में रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा का सुन्दर परिचय दिया है, जो इस प्रकार है—

अमररत्नसूरि
|
सोमरत्नसूरि
|
कल्याणराजसूरि
|
क्षमाकलश [सुन्दरराजारास एवं ललिताङ्गकुमाररास के कर्ता]

४-लघुक्षेत्रसमासचौपाई[१]—यह कृति आगमगच्छीय मतिसागरसूरि द्वारा वि०सं० १५९४ में पाटन नगरी में रची गयी है। इसकी भाषा मरु-गुर्जर है। रचना के प्रारम्भ और अन्त में रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा की चर्चा की है, जो इस प्रकार है—

सोमरत्नसूरि
|
गुणनिधानसूरि
|
उदयरत्नसूरि
|
गुणमेरुसूरि
|
मतिसागरसूरि [रचनाकार]

अभिलेखीय साक्ष्य

आगमिक गच्छ के मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित तीर्थङ्कर प्रतिमाओं पर वि०सं० १४२१ से वि०सं० १६८३ तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इन प्रतिमालेखों के आधार पर इस गच्छ के कुछ मुनिजनों के पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१- अमरसिंहसूरि—इनके द्वारा वि०सं० १४५१ से वि० सं० १४७८ के मध्य प्रतिष्ठापित ७ प्रतिमा लेख उपलब्ध हैं, इनका विवरण इस प्रकार है—

वि०सं० १४५१	ज्येष्ठ सुदि ४ रविवार	१ प्रतिमा
वि०सं० १४६२	वैशाख सुदि ३	,,
वि०सं० १४६५	माघ सुदि ३ रविवार	,,
वि०सं० १४७०	तिथि विहीन	,,
वि०सं० १४७५	,,	,,
वि०सं० १४७६	चैत्र वदि १ शनिवार	,,
वि०सं० १४७८	वैशाख सुदि ३ गुरुवार	,,

१. देसाई, पूर्वोक्त पृ० ३३७ और आगे

२-अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि—हेमरत्नसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित ४० प्रतिमायें अद्यावधि उपलब्ध हुई हैं। ये सभी प्रतिमायें लेख युक्त हैं। इन पर वि०सं० १४८४ से वि० सं० १५२१ तक के लेख उत्कीर्ण हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

वि०सं० १४८४	वैशाख सुदि ३ शुक्रवार	१ प्रतिमा
,, ,, १४८४	मार्ग शीर्ष सुदि ५ रविवार	,,
,, ,, १४८५	ज्येष्ठ वदि	२ प्रतिमा
,, ,, १४८७	माघ सुदि ५ गुरुवार	१ प्रतिमा
,, ,, १४८८	ज्येष्ठ सुदि १० शुक्रवार	,,
,, ,, १४८९	माघ वदि २ शुक्रवार	,,
,, ,, १४८९	तिथि विहीन	,,
,, ,, १४९०	फाल्गुन-सोमवार	,,
,, ,, १४९१	द्वितीय ज्येष्ठ वदि ७ शनिवार	,,
,, ,, १४९२	ज्येष्ठ वदि	,,
,, ,, १५०३	माघ वदि ८ बुद्धवार	,,
,, ,, १५०४	फाल्गुन सुदि १२ गुरुवार	,,
,, ,, १५०५	माघ सुदि ९ शनिवार	२ प्रतिमा
,, ,, १५०६	तिथि विहीन	,,
,, ,, १५०७	ज्येष्ठ सुदि ९	१ प्रतिमा
,, ,, १५०७	माघ सुदि १३ शुक्रवार	,,
,, ,, १५१२	तिथि विहीन	२ प्रतिमा
,, ,, १५१२	ज्येष्ठ वदि ५ सोमवार	१ प्रतिमा
,, ,, १५१२	ज्येष्ठ सुदि १० रविवार	,,
,, ,, १५१२	वैशाख वदि १० शुक्रवार	२ प्रतिमा
,, ,, १५१२	वैशाख सुदि ५ शुक्रवार	३ प्रतिमा
,, ,, १५१२	फाल्गुन वदि ३ शुक्रवार	१ प्रतिमा
,, ,, १५१५	वैशाख सुदि १० गुरुवार	,,
,, ,, १५१५	फाल्गुन सुदि ८ शनिवार	,,
,, ,, १५१६	वैशाख सुदि ३	,,
,, ,, १५१७	वैशाख सुदि ३ सोमवार	,,
,, ,, १५१८	माघ सुदि ५ गुरुवार	,,
,, ,, १५१९	वैशाख वदि ११ शुक्रवार	,,
,, ,, १५१९	वैशाख सुदि ३ गुरुवार	२ प्रतिमा
,, ,, १५१९	माघ वदि ९ शनिवार	१ प्रतिमा
,, ,, १५१९	माघ सुदि ३ सोमवार	,,
,, ,, १५२१	आषाढ़ सुदि १ गुरुवार	,,

३. **हेमरत्नसूरि के पट्टधर अमररत्नसूरि**—इनके द्वारा वि०सं० १५२४ से वि० सं० १५४७ के मध्य प्रतिष्ठापित १८ प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

वि० सं० १५२४	वैशाख सुदि २ गुरुवार	१ प्रतिमा
,, ,, १५२४	कार्तिक वदि १३ शनिवार	,,
,, ,, १५२५	तिथि विहीन	,,
,, ,, १५२७	,, ,,	,,
,, ,, १५२८	वैशाख सुदि ५ शुक्रवार	,,
,, ,, १५२९	ज्येष्ठ वदि १ शुक्रवार	२ प्रतिमा
,, ,, १५३०	माघ वदि २ शुक्रवार	१ प्रतिमा
,, ,, १५३१	माघ सुदि ५	,,
,, ,, १५३२	वैशाख सुदि ३	४ प्रतिमा
,, ,, १५३२	ज्येष्ठ वदि १३ बुद्धवार	१ प्रतिमा
,, ,, १५३५	वैशाख सुदि ६ सोमवार	,,
,, ,, १५३५	आषाढ़ सुदि २ मंगलवार	,,
,, ,, १५३६	वैशाख सुदि ३ शुक्रवार	,,
,, ,, १५४७	वैशाख सुदि ५ गुरुवार	,,

४. **अमररत्नसूरि के पट्टधर सोमरत्नसूरि**—इनके द्वारा प्रतिष्ठापित १२ प्रतिमायें मिलती हैं, जो वि० सं० १५४८ से वि० सं० १५८१ तक की हैं। इसका विवरण इस प्रकार है—

वि०सं० १५४८	वैशाखसुदि ३	१ प्रतिमा
,, ,, १५५२	वैशाख सुदी ३	,,
,, ,, १५५२	माघ वदि ८ शनिवार	,,
,, ,, १५५५	ज्येष्ठ सुदि ९ रविवार	,,
,, ,, १५५६	वैशाख सुदि १३ रविवार	,,
,, ,, १५६७	वैशाख सुदि ३ बुद्धवार	,,
,, ,, १५६९	वैशाख सुदि ९ शुक्रवार	,,
,, ,, १५७१	चैत्र वदि २ गुरुवार	,,
,, ,, १५७१	चैत्र वदि ७ गुरुवार ··· ?	,,
,, ,, १५७३	वैशाख सुदि ६ गुरुबार	,,
,, ,, १५७३	फाल्गुन सुदि २ रविवार	,,
,, ,, १५८१	माघ सुदि ५ गुरुवार	,,

इस प्रकार अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर आगमगच्छ के उक्त मुनिजनों का जो पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित होता है, वह इस प्रकार है—

अमरसिंहसूरि [वि० सं० १४५१–१४८३]
|
हेमरत्नसूरि [वि० सं० १४८४–१५२१]
|
अमररत्नसूरि [वि० सं० १५२४–१५४७]
|
सोमरत्नसूरि [वि० सं० १५४८–१५८१]

पूर्व प्रदर्शित पट्टावलियों की तालिका में श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई द्वारा आगमिकगच्छ और उसकी दोनों शाखाओं की अलग-अलग प्रस्तुत की गई पट्टावलियों को रखा गया है। देसाई द्वारा दी गयी आगमिकगच्छ की गुर्वावली शीलगुणसूरि से प्रारम्भ होकर हेमरत्नसूरि तक एवं धंधूकीया शाखा की गुर्वावली अमररत्नसूरि से प्रारम्भ होकर मेघरत्नसूरि तक के विवरण के पश्चात् समाप्त होती है। ये दोनों गुर्वावलियां मुनि जिनविजय जी द्वारा दी गई धंधूकीयाशाखा की गुर्वावली [जो शीलगुणसूरि से प्रारम्भ होकर मेघरत्नसूरि तक के विवरण के पश्चात् समाप्त होती है] से अभिन्न हैं अतः इन्हें अलग-अलग मानने और इनकी अप्रामाणिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा ज्ञात पूर्वोक्त चार आचार्यों [अमरसिंहसूरि–हेमरत्नसूरि–अमररत्नसूरि–सोमरत्नसूरि] के नाम इसी क्रम में धंधूकीया शाखा की पट्टावली में मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त ग्रंथप्रशस्तियों द्वारा आगमिक गच्छ के मुनिजनों के जो नाम ज्ञात होते हैं, उनमें से न केवल कुछ नाम धंधूकीयाशाखा की पट्टावली में मिलते हैं, बल्कि इस शाखा के साधुमेरुसूरि, कल्याणराजसूरि, क्षमाकलशसूरि, गुणमेरुसूरि, मतिसागरसूरि आदि ग्रन्थकारों के बारे में केवल उक्त ग्रंथप्रशस्तियों से ही ज्ञात होते हैं।

इस प्रकार धंधूकीया शाखा की परम्परागत पट्टावली में उल्लिखित अभयसिंहसूरि, अमरसिंहसूरि, हेमरत्नसूरि, अमररत्नसूरि, सोमरत्नसूरि आदि आचार्यों के बारे में जहाँ अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा कालनिर्देश की जानकारी होती है, वहीं ग्रन्थप्रशस्तियों के आधार पर इस शाखा के अन्य मुनिजनों के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है।

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के संयोग से आगमिकगच्छ की धंधूकीया शाखा की परम्परागत पट्टावली को जो नवीन स्वरूप प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है—

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित आगमिकगच्छ [धंधूकीयाशाखा]
का वंशवृक्ष
[**तालिका-१**]

शीलगुणसूरि
|
देवभद्रसूरि
|
धर्मघोषसूरि
|
यशोभद्रसूरि
|
सर्वाणंदसूरि | अभयदेवसूरि | वज्रसेनसूरि

सर्वाणंदसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
विजयसिंहसूरि
|
अभयसिंहसूरि [वि० सं० १४२१] प्रतिमालेख
|
अमरसिंहसूरि [वि० सं० १४५१-१४८३] प्रतिमालेख
|
हेमरत्नसूरि [वि० सं० १४८४-१५२१] प्रतिमालेख
|
साधुमेरु [वि० सं० १५०१ में पुण्यसाररास के कर्ता] | अमररत्नसूरि [वि० सं० १५२४-४३] प्रतिमालेख

अमररत्नसूरि
|
सोमरत्नसूरि [वि. सं.१५४८-८१] प्रतिमालेख | कल्याणराजसूरि | अमररत्नसूरिशिष्य [अमररत्नसूरिफागु के कर्ता]

सोमरत्नसूरि
|
गुणनिधानसूरि
|
उदयरत्नसूरि [वि. सं. १५८६-८७] प्रतिमालेख
|
सौभाग्यसुन्दरसूरि [वि० सं० १६१०] प्रतिमालेख | गुणमेरुसूरि

सौभाग्यसुन्दरसूरि
|
धर्मरत्नसूरि
|
मेघरत्नसूरि

गुणमेरुसूरि
|
मतिसागरसूरि [वि० सं० १५९४] लघुक्षेत्रसमासचौपाई के रचनाकार

कल्याणराजसूरि
|
क्षमाकलश [वि. सं. १५५१ में सुन्दरराजारास] [वि. सं. १५५३ में ललिताङ्गकुमाररास]

जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है, अभयसिंहसूरि के पश्चात् उनके शिष्यों अमरसिंहसूरि और सोमतिलकसूरि से आगमिकगच्छ की दो शाखायें अस्तित्व में आयीं। अमरसिंहसूरि की शिष्यसंतति आगे चलकर धंधूकीया शाखा के नाम से जानी गयी। उसी प्रकार सोमतिलकसूरि की शिष्य परम्परा विडालंबीयाशाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

मुनिसागरसूरि द्वारा रचित आगमिकगच्छपट्टावली में अभयसिंहसूरि के पश्चात् सोमतिलकसूरि से मुनिरत्नसूरि तक ७ आचार्यों का क्रम इस प्रकार मिलता है—

सोमतिलकसूरि
|
सोमचंद्रसूरि
|
गुणरत्नसूरि
|
मुनिसिंहसूरि
|
शीलरत्नसूरि
|
आनन्दप्रभसूरि
|
मुनिरत्नसूरि

साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इस पट्टावली के गुणरत्नसूरि और मुनिरत्नसूरि के अन्य शिष्यों के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त होती है।

गजसिंहकुमाररास[१] (रचनाकाल वि० सं० १५१३) की प्रशस्ति में रचनाकार देवरत्नसूरि ने अपने गुरु गुणरत्नसूरि का ससम्मान उल्लेख किया है।

इसी प्रकार मलयसुन्दरीरास[२] (रचनाकाल वि० सं० १५४३) और कथाबत्तीसी (रचनाकाल वि० सं० १५५७) की प्रशस्तियों में रचनाकार ने अपने गुरु परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

मुनिसिंहसूरि
|
मतिसागरसूरि
|
उदयधर्मसूरि [रचनाकार]

आगमिकगच्छीय उदयधर्मसूरि (द्वितीय) द्वारा रचित **धर्मकल्पद्रुम** की प्रशस्ति में रचनाकार ने अपने गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

१. मिश्र, शितिकंठ—हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास [भाग-१] मरु-गूर्जर (वाराणसी १९९० ई०) पृ० ४००

२. मिश्र, शितिकंठ, पूर्वोक्त, पृ० ३३४ और आगे

आनन्दप्रभसूरि
|
मुनिरत्नसूरि
|
मुनिसागरसूरि — आनन्दरत्नसूरि
|
उदयधर्मसूरि
[धर्मकल्पद्रुम के रचनाकार]

अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा इस पट्टावली के अंतिम चार आचार्यों का जो तिथिक्रम प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है—

मुनिसिंहसूरि द्वारा वि० सं० १४९९ कार्तिक सुदी ५ सोमवार को प्रतिष्ठापित भगवान् शान्तिनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। इसी प्रकार मुनिसिंहसूरि के शिष्य शीलरत्नसूरि द्वारा वि० सं० १५०६ से वि० सं० १५१२ तक प्रतिष्ठापित ५ प्रतिमायें मिलती हैं। शीलरत्नसूरि के शिष्य आनन्दप्रभसूरि द्वारा वि० सं० १५१३ से वि० सं० १५२७ तक प्रतिष्ठापित ६ प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। आनन्दप्रभसूरि के शिष्य मुनिरत्नसूरि द्वारा वि० सं० १५२३ और वि० सं० १५४२ में प्रतिष्ठापित २ जिन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा ही मुनिरत्नसूरि के शिष्य आनन्दरत्नसूरि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित ५ तीर्थङ्कर प्रतिमायें मिली हैं, जो वि० सं० १५७१ से वि० सं० १५८३ तक की हैं। उक्त बात को तालिका के रूप में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

सोमतिलकसूरि
|
सोमचन्द्रसूरि
|
गुणरत्नसूरि
|
मुनिसिंहसूरि [वि० सं० १४९९] १ प्रतिमा लेख
|
शीलरत्नसूरि [वि० सं० १५०६-१५१२] ५ प्रतिमा लेख
|
आनन्दप्रभसूरि [वि० सं० १५१३-१५२७] ६ प्रतिमा लेख
|
मुनिरत्नसूरि [वि० सं० १५२३-१५४२] २ प्रतिमा लेख
|
आनन्दरत्नसूरि [वि० सं० १५७१-१५८३] ५ प्रतिमा लेख

श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई द्वारा प्रस्तुत आगमिकगच्छ की विडालंबीया शाखा की गुर्वावली इस प्रकार है—

मुनिरत्नसूरि
|
आनन्दरत्नसूरि
|
ज्ञानरत्नसूरि
|
हेमरत्नसूरि
|

उदयसागरसूरि
|
भानुभट्टसूरि
|
माणिक्यमंगलसूरि
[वि० सं० १६३९ में अंबडरास के रचनाकार [

धर्महंससूरि
[वि० सं० १६२० के लगभग
नववाड ढालबंध के रचनाकार]

उक्त पट्टावली के आधार पर मुनिसागरसूरि द्वारा रचित आगमिकगच्छपट्टावली में ६ अन्य नाम भी जुड़ जाते हैं। इस प्रकार ग्रन्थ प्रशस्ति, प्रतिमा लेख तया उपरोक्त पट्टावली के आधार पर मुनिसागरसूरि द्वारा रचित पट्टावली अर्थात् आगमिकगच्छ की विडालंबीया शाखा की पट्टावली को जो नवीन स्वरूप प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है—

[तालिका-२]

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित आगमिकगच्छ [विडालंबीयाशाखा] का **वंश वृक्ष**

शीलगुणसूरि
|
देवभद्रसूरि
|
धर्मघोषसूरि
|
यशोभद्रसूरि
|

सर्वाणंदसूरि | अभयदेवसूरि | वज्रसेनसूरि

सर्वाणंदसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|

विजयसिंहसूरि | हेमसिंहसूरि | रत्नाकरसूरि

विजयसिंहसूरि
|
अभयसिंहसूरि
|

अमरसिंहसूरि
धंधुकीयाशाखा

सोमतिलकसूरि
सोमचन्द्रसूरि
गुणरत्नसूरि

देवरत्नसूरि
[गजसिंहसकुमाररास
वि०सं० १५१३ के रचनाकार]

मुनिसिंहसूरि
[वि०सं० १४९९]
प्रतिमा लेख

मतिसागरसूरि
उदयधर्मसूरि [प्रथम]
[मलयसुन्दरीरास वि०सं० १२४३
कथाबत्तीसी वि०सं० १५५७]

शीलरत्नसूरि
[वि०सं० १५०६-१५१३]
प्रतिमा लेख
आनन्दप्रभसूरि
[वि०सं० १४१३-१५१४]

गुणप्रभसूरि
[वि०सं० १५२०] प्रतिमा लेख

मुनिरत्नसूरि
[वि०सं० १५२३-१५४३]
प्रतिमा लेख

मुनिसागरसूरि
[आगमिकगच्छगुर्वावली]
के रचनाकार

उदयधर्मसूरि [द्वितीय]
[धर्मकल्पद्रुम के रचनाकार]
रत्नतिलकसूरि
[वि०सं० १५८४ में मेघदूत
की प्रति के लेखक]

अमरसिंहसूरि

आनन्दरत्नसूरि
[वि०सं० १५७१-१५८३]
प्रतिमा लेख
ज्ञानरत्नसूरि
हेमरत्नसूरि
[वि०सं० १५७७]
प्रतिमा लेख

उदयसागरसूरि
भानुभट्टसूरि
माणिक्यमंगलसूरि
[वि०सं० १६३९ में
अंबडरास के रचनाकार

धर्महंससूरि
[वि०सं० १६२० के लगभग
नववाडढालबंध के रचनाकार]

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर आगमिक गच्छ के जयानन्दसूरि, देवरत्नसूरि, शीलरत्नसूरि, विवेकरत्नसूरि, संयमरत्नसूरि, कुलवर्धनसूरि, विनयमेरुसूरि, जयरत्नगणि, देवरत्नगणि, वरसिंहसूरि, विनयरत्नसूरि आदि कई मुनिजनों के नाम ज्ञात होते हैं। इन मुनिजनों के परस्पर सम्बन्ध भी उक्त साक्ष्यों के आधार पर निश्चित हो जाते हैं और इनकी जो गुर्वावली बनती है, वह इस प्रकार है—

?
⋮
जयानन्दसूरि [वि० सं० १४७२-१४९४]

- देवरत्नसूरि [वि० सं० १५०५-१५३३] प्रतिमालेख
- शीलसिंहसूरि [कोष्ठकचिन्तामणि स्वोपज्ञटीका] [श्रीचन्द्रचरित वि० सं० १३९४]
- विवेकरत्नसूरि [वि.सं. १५४४-७९] प्रतिमा लेख वि० सं० १५७१ में यतिजीतकल्प रचनाकार
  - संयमरत्नसूरि [वि० सं० १५८०-१६१६] प्रतिमालेख
    - कुलवर्धनसूरि [वि० सं १६४३-८३] प्रतिमालेख
    - विनयमेरु [वि० सं० १५९९] प्रतिमालेख
    - जयरत्नगणि
      - देवरत्नगणि
        - वरसिंहसूरि [आवश्यकबालावबोधवृत्ति] वि० सं० १६८१
        - विनयरत्नसूरि [वि० सं० १६७३ माघसुदी १३ भगवतीसूत्र की प्रतिलिपि]

आगमिकगच्छ के मुनिजनों की उक्त तालिका का आगमिकगच्छ की पूर्वोक्त दोनों शाखाओं (धंधूकीया शाखा और बिडालंबीया शाखा) में से किसी के साथ भी समन्वय स्थापित नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि आगमिकगच्छ में उक्त शाखाओं के अतिरिक्त भी कुछ मुनिजनों की स्वतंत्र परम्परा विद्यमान थी।

इसी प्रकार आगमिकगच्छीय जयतिलकसूरि,[१] मलयचन्द्रसूरि,[२] जिनप्रभसूरि,[३] सिंहदत्तसूरि[४] आदि की कृतियाँ तो उपलब्ध होती हैं, परन्तु उनके गुरु-परम्परा के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती है।

अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा भी इस गच्छ के अनेक मुनिजनों के नाम तो ज्ञात होते हैं, परन्तु उनकी गुरु-परम्परा के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। यह बात प्रतिमालेखों की प्रस्तुत तालिका से भी स्पष्ट होती है—

१. **कर्मग्रन्थ**–रचनाकाल वि० सं० १४५०
मलयसुन्दरीकथा–रचनाकाल अज्ञात [यह कृति प्रकाशित हो चुकी है]
सुलसाचरित–[प्राचीनतम प्रति वि० सं० १४५३]
कथाकोश [वि० सं० १५वीं शती का मध्य]

२. **स्थूलभद्रकथानक**–यह कृति प्रकाशित हो चुकी है

३. **मल्लिनाथचरित**–रचनाकाल १३वीं शती के आसपास

४. **स्थूलभद्ररास**–रचनाकाल १६वीं शती के प्रथम चरण के आसपास

क्रमाङ्क	संवत्	तिथि	आचार्य का नाम	प्रतिमालेख/ स्तम्भलेख	प्रतिष्ठा स्थान	संदर्भ ग्रन्थ
१.	१४२०	कार्तिक सुदि ५ रविवार	—	देवकुलिका का लेख	वीर जिनालय, जीरावला	मुनि जयन्तविजय संपा० आबू, भाग–५, लेखाङ्क १२२
२.	१४२१	कार्तिक सुदि ५ रविवार	—	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	जीरावलीतीर्थ चैत्यदेवकुलिका, जैन मन्दिर, थराद	लोढ़ा, दौलत सिंह संपा० श्री प्रतिमालेख संग्रह, लेखाङ्क ३०४(अ)
३.	१४२१	माघ वदि ११ [सोमवार	अभयसिंहसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	गौड़ी पार्श्वनाथ जिनालय, गोगा दरवाजा, बीकानेर	नाहटा, अगरचन्द संपा०—बीकानेर जैनलेखसंग्रह — लेखाङ्क—१९३६
४.	१४३८	आषाढ़ सुदि ९ शुक्रवार	जयतिलकसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर स्वामी का मन्दिर, ओसिया	नाहर, पूरनचंद संपा० जैनलेखसंग्रह भाग १, लेखाङ्क ७९५
५.	१४३९	पौष वदि ८ रविवार	जयाणंदसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	नेमिनाथ जिनालय, मांडवीपोल, खंभात	मुनि बुद्धिसागर संपा—जैनधातुप्रतिमा लेखसंग्रह, भाग २ लेखांक ६३१
५ अ.	१४४०	पौष वदि · ·।	श्रीतिलकसूरि	आदिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	कोठार पंचतीर्थी, शत्रुञ्जय	मुनि कंचनसागर संपा०— शत्रुञ्जयगिरिराज-दर्शन, लेखाङ्क २६५

६.	१४५१	ज्येष्ठ सुदि ४ रविवार	अमरसिंहसूरि	शांतिनाथ की धातु पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	जैन मन्दिर, वणा	मुनि विजयधर्मसूरि संपा०—प्राचीनलेखसंग्रह लेखाङ्क ९४
७.	१४६२	वैशाख सुदि ३	अमरसिंहसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	मनमोहन पार्श्वनाथ जिनालय, मीयागाम	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २ लेखाङ्क २७७
८.	१४६४	माघ सुदि ३ शनिवार	अमरसिंहसूरि	शांतिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, बीजापुर	वही, भाग १ लेखाङ्क ४२२
९.	१४७०	—	अमरसिंहसूरि	शांतिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	जैन देरासर, सौदागर पोल, अहमदाबाद	वही, भाग १ लेखाङ्क ८२६
१०.	१४७१	—	अमरसिंहसूरि	चौबीसी जिन प्रतिमा का लेख	जैन मन्दिर, थराद	लोढ़ा, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७५
११.	१४७२	ज्येष्ठ सुदि ११	जयाणंदसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, अहमदाबाद	मुनिबुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ९०१
१२.	१४७५	—	अमरसिंहसूरि	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	अजितनाथ जिनालय, नदियाड	वही, भाग २ लेखाङ्क ३९८
१३.	१४७६	चैत्र वदि १ शनिवार	अमरसिंहसूरि	महावीर स्वामी की चौबीसी प्रतिमा का लेख	चोसठिया जी का मन्दिर, नागौर	विनयसागर, संपा०–प्रतिष्ठालेखसंग्रह लेखाङ्क २१५

१४.	१४७६	चैत्र वदि ९ रविवार	जयाणंदसूरि	शांतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ मुख्य-बावन जिनालय, मातर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क ४७०
१५.	१४७८	वैशाख सुदि ३ गुरुवार	अमरसिंहसूरि	शांतिनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	जैन देरासर, पाटडी	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १२०
१६.	१४८२	फाल्गुन सुदि ३ रविवार	जयाणंदसूरि	सुमतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, कडाकोटडी	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग २, लेखाङ्क ६१३
१७.	१४८३	माघ वदि ११ गुरुवार	जयाणंदसूरि	पार्श्वनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, पाटण	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग १, लेखाङ्क २१७
१८.	१४८४	वैशाख सुदि ३ शुक्रवार	हेमराजसूरि	सुमतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	सीमंधरस्वामी का जिनालय, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखाङ्क १२३१
१९.	१४८४	मार्गशीर्ष सुदि ५ रविवार	अमरसिंहसूरि के पट्टधर श्री···रत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखाङ्क ९००
२०.	१४८५	ज्येष्ठ वदि···	अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	चन्द्रप्रभ स्वामी की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, वणा	विजयधर्मसूरि पूर्वोक्त, लेखाङ्क १३५

२१.	१४८५	ज्येष्ठमास…१	अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	सुविधिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ देरासर, बीजापुर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १ लेखाङ्क ४२३
२२.	१४८७	माघ सुदि ५ गुरुवार	अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	पार्श्वनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	सीमंधर स्वामी का मंदिर, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखाङ्क १२२६
२३.	१४८८	ज्येष्ठ सुदि १० शुक्रवार	हेमरत्नसूरि	शीतलनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, बीकानेर	नाहटा, अगरचन्द, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७
२४.	१४८८	—	जयानंदसूरि	पार्श्वनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, बालकेश्वर, मुम्बई	नाहर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १७९८
२५.	१४८९	माघ वदि २ शुक्रवार	अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	पार्श्वनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	कुंथुनाथ देरासर, बीजापुर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ४४०
२६.	१४८९	तिथिविहीन	अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ देरासर, शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क १३४६
२७.	१४९०	फाल्गुन… सोमवार	अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	पार्श्वनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	गौड़ीपार्श्वनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय, संपा०—**राधनपुर-प्रतिमालेखसंग्रह**, लेखाङ्क ११८

२८.	१४९१	द्वितीय ज्येष्ठ वदि ७ शनिवार	हेमरत्नसूरि	कुंथुनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ देरासर, शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क १२६९
२९.	१४९२	ज्येष्ठ वदि···	हेमरत्नसूरि	वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर	नाहटा, अगरचन्द पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७६३
३०.	१४९३	चैत्रवदि ८ गुरुवार	जयाणंदसूरि	धर्मनाथ की धातु पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १२२
३१.	१४९४	माघ सुदि ५ गुरुवार	जयानन्दसूरि के शिष्य श्रीसूरि	संभवनाथ की धातु पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, राधनपुर	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १६२ एवं मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १२३
३२.	१३९६	फाल्गुन वदि २ शुक्रवार	जयानन्दसूरि के शिष्य श्रीसूरि	विमलनाथ की चौबीसी का प्रतिमा लेख	नवपल्लव पार्श्वनाथ जिनालय, बोलपीपलो, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १०८६
३३.	१४९९	कार्तिकसुदि ५ सोमवार	मुनिसिंहसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, खेरालु	वही, भाग १, लेखाङ्क ७५५
३४.	१५००	चैत्रसुदि १३ रविवार	सिंहदत्तसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय पूर्वोक्त, लेखाङ्क १३१
३५.	१५०३	माघ वदि ३ शुक्रवार	सिंहदत्तसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	गोड़ी पार्श्वनाथ देरासर, बीजापुर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १ लेखाङ्क ४४८

३६.	१५०३	माघ वदि ८ बुधवार	हेमरत्नसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, भरुच	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ३३८
३७	१५०३	माघ सुदि ४ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	कुंथुनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त लेखांक ८७८
३८.	१५०३	माघ सुदि ५ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	शीतलनाथ की धातु पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	धर्मनाथ जिनालय, मडार	मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ७८
३९.	१५०४	फाल्गुन सुदि १२ गुरुवार	अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, शांतिनाथ पोल अहमदाबाद	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक १३१२
४०.	१५०४	—	जिनचन्द्रसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखांक १३०९
४१.	१५०५	माघ सुदि ९ शनिवार	हेमरत्नसूरि	शांतिनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	ओसवालों का मंदिर, पूना	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखांक २०८
४२.	१५०५	माघ सुदि ९ शनिवार	हेमरत्नसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर स्वामी का मन्दिर, थराद	लोढ़ा, दौलत सिंह पूर्वोक्त, लेखांक १
४३.	१५०६	चैत्र वदि ४ बुधवार	शीलरत्नसूरि	वासुपूज्य स्वामी की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	देहरी न० ९७, शत्रुञ्जय	मुनि कंचनसागर, पूर्वोक्त, लेखांक १७९

४४.	१५०६	चैत्र वदि ५ गुरुवार	हर्षतिलकसूरि सिंहदत्तसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	मनमोहन पार्श्वनाथ जिनालय, मीयागाम	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक २८२
४५.	१५०६	पौष वदि २ बुधवार	हेमरत्नसूरि	शांतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	वासुपूज्यस्वामी का जिनालय, बीकानेर	नाहटा, अगरचन्द, पूर्वोक्त, लेखांक १३२६
४६.	१५०६	तिथिविहीन	अमररत्नसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि	सुविधिनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	हीरालाल गुलाब सिंह का घरदेरासर, चितपुर रोड, कलकत्ता	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक १००४
४७.	१५०६	तिथि विहीन	अमररत्नसूरि हेमरत्नसूरि	सुविधिनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	यति पन्नालाल का घर देरासर, कलकत्ता	वही, भाग १ लेखांक ३९१
४८.	१५०७	वैशाख वदि ६ गुरुवार	शीलरत्नसूरि	मुनि सुव्रतस्वामी की प्रतिमा का लेख	नवघरे का मन्दिर, चेलपुरी, दिल्ली	वही, भाग १, लेखांक ४७६
४९.	१५०७	वैशाख वदि ६ गुरुवार	शीलरत्नसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मन्दिर, वडावली	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग १, लेखांक ९७
५०.	१५०७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	सिंहदत्तसूरि	आदिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पद्मप्रभ जिनालय, घाट, जयपुर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक ४२०
५१.	१५०७	माघ सुदि १३ शुक्रवार	हेमरत्नसूरि	अभिनन्दन स्वामी की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ, जिनालय; दंतालवाडो, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ६८२

५२.	१५०७	वैशाख सुदि ६ गुरुवार	शीलरत्नसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर वडावली	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ९७
५३.	१५०८	चैत्र सुदि १३ रविवार	सिंहदत्तसूरि	चन्द्रप्रभ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, भरुच	वही, भाग २, लेखांक ३१५
५४.	१५०८	चैत्र सुदि १३ रविवार	सिंहदत्तसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, चौकसी पोल, खंभात	वही, भाग २, लेखांक ८४२
५५.	१५०८	चैत्र सुदि १३ रविवार	सिंहदत्तसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, शकोपुर, खंभात	वही, भाग २, लेखांक ९०९
५६.	१५०८	वैशाख वदि ११ रविवार	हर्षतिलकसूरि	श्रेयांसनाथकी प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, भरुच	वही, भाग २, लेखांक ३४२
५७	१५०८	वैशाख वदि १२ रविवार	जिनरत्नसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ देरासर, शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखांक १३४९
५८.	१५०८	आषाढ सुदि २ रविवार	देवरत्नसूरि	शांतिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	घर देरासर, बड़ोदरा	वही, भाग २, लेखांक २२०
५९.	१५०९	वैशाख वदि ५ शनिवार	देवरत्नसूरि	कुंथुनाथ की चौबीसी का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, भरुच	वही, भाग २, लेखांक ३३१
५९. [अ]	१५(०?)९	वैशाख वदि ११ शुक्रवार	दे···भिः	आदिनाथ की चौबीसी का लेख	संग्रामसोनी के मन्दिर की देवकुलिका, उज्जयन्त	ढाकी, एम० ए०- पं० बेचरदासदोशी स्मृतिग्रन्थ, पृ० १८८

६०.	१५१०	फाल्गुन वदि ३ शुक्रवार	हर्षतिलकसूरि	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, माणेक चौक, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ९८८
६१.	१५१०	फाल्गुन वदि ३ शुक्रवार	जिनरत्नसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	धर्मनाथ जिनालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक १००
६२.	१५१०	फाल्गुन वदि ३ शुक्रवार	सिंहदत्तसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, मांडवीपोल, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ६१९
६३.	१५१०	फाल्गुन वदि ३ शुक्रवार	सिंहदत्तसूरि	विमलनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	गौड़ीजी भंडार, उदयपुर	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखांक २६०
६४.	१५११	आषाढ़ सुदि ६ शुक्रवार	देवरत्नसूरि	वासूपूज्य की प्रतिमा का लेख	जैन मन्दिर, कालोल	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ७१८
६५.	१५११	आषाढ़ सुदि ६ शुक्रवार	देवरत्नसूरि	सुमतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ देरासर, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखांक १२५०
६६.	१५११	आषाढ़ सुदि ६ शुक्रवार	देवगुप्तसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	सीमंधर स्वामी का जिनालय, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ११६०
६७.	१५११	माघ सुदि १ शुक्रवार	सिंहदत्तसूरि	शांतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय पूर्वोक्त, लेखांक १७०

६८.	१५१२	माघ सुदि १० बुधवार	सिंहदत्तसूरि	शांतिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	संभवनाथ देरासर, कड़ी	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ७२३
६९.	१५१२	ज्येष्ठ वदि ५ सोमवार	हेमरत्नसूरि	नमिनाथ की प्रतिमा का लेख	पंचतीर्थी, शत्रुञ्जय	मुनि कंचनसागर, पूर्वोक्त, लेखांक ४३९
७०.	१५१२	ज्येष्ठ सुदि १० रविवार	हेमरत्नसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मन्दिर, बडावली	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ९५
७१.	१५१२	वैशाख वदि १० गुरुवार	हेमरत्नसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ९५९
७२.	१५१२	वैशाख वदि १० गुरुवार	हेमरत्नसूरि	कुंथुनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मन्दिर, बडावली	वही, भाग १, लेखांक ९४
७३.	१५१२	वैशाख सुदि ५	हेमरत्नसूरि	कुन्थुनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	गोपों का उपाश्रय, बाड़मेर	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ७४१
७४.	१५१२	वैशाख सुदि ५ शुक्रवार	हेमरत्नसूरि	कुन्थुनाथ की चौबीसी का लेख	चन्द्रप्रभ स्वामी का जिनालय, जैसलमेर	वही, भाग ३, लेखांक २१६५ एवं नाहटा, अगरचन्द पूर्वोक्त, लेखांक २७७५

७५.	१५१२	—	हेमरत्नसूरि	नमिनाथ की चौबीसी का लेख	शांतिनाथ देरासर, शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक १३२१
७६.	१५१२		शीलरत्नसूरि आदिरत्नसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	जैनमंदिर, वादनवाड़ा	जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ६, अंक १०, पृष्ठ ३७२-३७४, लेखाङ्क ८
७७.	१५१२	ज्येष्ठ सुदि १० रविवार	हेमरत्नसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	जैनमंदिर, बडावली	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ९५
७८.	१५१२	फाल्गुन वदि ३ शुक्रवार	हेमरत्नसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ जिनालय, चोलापोल, खंभात	वही, भाग-२, लेखाङ्क ६९५
७९.	१५१३	चैत्र सुदि ५ बुधवार	आणंदप्रभसूरि	कुंथुनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	जीरावलापार्श्वनाथ देरासर, घोघा	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क २८७
८०.	१५१३	ज्येष्ठ सुदि ३ गुरुवार	देवरत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, वीरामगाम	वही, लेखाङ्क २९२
८१.	१५१३	आषाढ़ सुदि १० गुरुवार	देवरत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	नवपल्लव पार्श्वनाथ जिनालय, बोलपीपलो, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग २, लेखाङ्क १०९८
८२.	१५१३	माघ वदि २ शुक्रवार	साधुरत्नसूरि	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिपार्श्वनाथ जिनालय, चौकसी-पोल, खंभात	वही, भाग-२, लेखाङ्क ८००
८३.	१५१५	वैशाख सुदि १ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	सीमंधरस्वामी का देरासर, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखाङ्क ११६३

८४.	१५१५	वैशाख सुदि १० गुरुवार	हेमरत्नसूरि	संभवनाथ की पंच-तीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, करमदी	बिनयसागर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ५३१
८५.	१५१५	कार्त्तिक वदि १ रविवार	देवरत्नसूरि	वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख	पद्मप्रभजिनालय, कडाकोटडी, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखाङ्क ५९३
८६.	१५१५	कार्त्तिक वदि १ रविवार	देवरत्नसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	सीमंधरस्वामी का जिनालय, अहमदाबाद	वही, लेखाङ्क १२१२
८७.	१५१५	माघ सुदि ५ शनिवार	पादप्रभसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	गौड़ीपार्श्वनाथ जिनालय, पालिताना	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ६६०
८८.	१५१५	फाल्गुन सुदि ८ शनिवार	हेमरत्नसूरि	पार्श्वनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, खाडीवाडो, खेड़ा, गुजरात	बुद्धिसागर. पूर्वोक्त, भाग–२, लेखाङ्क ४०७
८९.	१५१६	चैत्र वदि ४ गुरुवार	आणंदप्रभसूरि	चन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिमा का लेख	नेमिनाथ जिनालय, भोंयरापाडो, खंभात	वही, भाग–२, लेखाङ्क ८८९
९०.	१५१६	वैशाख सुदि ३	हेमरत्नसूरि	विमलनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, बड़ोदरा	वही, भाग–२, लेखाङ्क १२५
९१.	१५१६	ज्येष्ठ सुदि ३ गुरुवार	देवरत्नसूरि	वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथमुख्यबावन जिनालय, मातर	वही, भाग–२, लेखाङ्क ४९९
९२.	१५१६	आषाढ़ सुदि ३ रविवार	देवरत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, नाहटों की गवाड़, बीकानेर	नाहटा, अगरचन्द, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १५१३

९३.	१५१६	आषाढ़ सुदि ९ शुक्रवार	देवरत्नसूरि	नमिनाथ की चांदी की सपरिकर प्रतिमा का लेख	सुपार्श्वनाथ जिनालय, नाहटों की गवाड़, बीकानेर	वही, लेखाङ्क १७६१
९४.	१५१६	कार्त्तिक सुदि १५ शनिवार	सिंहदत्तसूरि	वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा का लेख	सुव्रतनाथ जिनालय, खारवाडो, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग–२, लेखाङ्क–१०३२
९५.	१५१७	वैशाख सुदि ३ सोमवार	हेमरत्नसूरि	शीतलनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, लखनऊ	नाहर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखाङ्क १५०५
९६.	१५१७	वैशाख सुदि १२ सोमवार	आणंदप्रभसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक १०८९
९७.	१५१७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	आणंदप्रभसूरि	कुंथुनाथ की प्रतिमा का लेख	सुविधिनाथ जिनालय, घोघा, काठियावाड़	नाहर, पूरनचंद, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक १७६९
९८.	१५१७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	देवरत्नसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	संभवनाथ जिनालय, अजमेर	वही, भाग १, लेखांक ५५७ एवं विनयसागर, पूर्वोक्त लेखांक ५७२
९९.	१५१७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	देवरत्नसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, चुरु, राजस्थान	नाहटा, अगरचन्द, पूर्वोक्त, लेखांक २४०८
१००.	१५१७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	महेन्द्रसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक १२८४

१०१.	१५१७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	पूर्णदेवसूरि	मुनिसुव्रत की प्रतिमा का लेख	धर्मनाथदेरासर, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखांक ११३१
१०२.	१५१८	ज्येष्ठ सुदि २ शनिवार	देवरत्नसूरि	संभवनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, चौकसीपोल, खंभात	वही, भाग–२ लेखांक ८२७
१०३.	१५१८	माघ सुदि ५ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	पद्मप्रभ स्वामी की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनिविशालविजय, पूर्वोक्त, लेखांक २१६
१०४.	१५१९	ज्येष्ठ वदि १ गुरुवार	देवरत्नसूरि	धर्मनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	मोतीसा की टूक, शत्रुञ्जय	मुनिकंचनसागर पूर्वोक्त, लेखांक ४६२
१०५.	१५१९	बैशाख वदि ११ शुक्रवार	हेमरत्नसूरि	धर्मनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	नवपल्लवपार्श्वनाथ देरासर, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग–२, लेखांक १०८९
१०६.	१५१९	वैशाख सुदि ३ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	पद्मप्रभस्वामी की पंचतीर्थी का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, अञ्जार	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग–२ लेखांक १७२१
१०७.	१५१९	वैशाख सुदि ३ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	कुन्थुनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	चन्द्रप्रभ जिनालय, जैसलमेर	वही, भाग–३, लेखांक २३४४
१०८.	१५१९	माघ वदि ९ शनिवार	हेमरत्नसूरि	अजितनाथ की चौबीसी का लेख	कुन्थुनाथ जिनालय, घड़ियाली पोल, बड़ोदरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक १६०
१०९.	१५१९	माघ सुदि ३ सोमवार	हेमरत्नसूरि	वासुपूज्य की धातु प्रतिमा का लेख	शान्तिनाथ देरासर, जामनगर	विजयधर्मसूरि पूर्वोक्त, लेखांक ३३०

११०.	१५२०	चैत्र वदि ८ शुक्रवार	—	शीतलनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	शान्तिनाथ जिनालय, वीरमगाम	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त लेखांक ३४५
१११.	१५२०	वैशाख वदि ७ शनिवार	आणंदप्रभसूरि	मुनिसुव्रतस्वामी की धातु पंचतीर्थी का लेख	गौड़ीपार्श्वनाथ देरासर, राधनपुर	मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखांक २३१
११२.	१५२०	वैशाख वदि ७ शनिवार	आणंदप्रभसूरि के शिष्य गुणप्रभसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	मनमोहनपार्श्वनाथ जिनालय, चौकसीपोल, खंभात	बुद्धिसागर पूर्वोक्त भाग–२ लेखांक ८२४
११३.	१५२०	आषाढ़ सुदि ९ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	मुनिसुव्रत की चौबीसी का लेख	कुन्थुनाथ जिनालय, खंभात	वही, भाग–२ लेखांक ६६६
११४.	१५२१	आषाढ़ सुदि १ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	शीतलनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर	नाहटा, अगरचंद-पूर्वोक्त, लेखांक १०२२
११५.	१५२३	कार्तिक वदि ५ सोमवार	मुनिरत्नसूरि	शांतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, माणेकचौक, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक १००५
११६.	१५२३	वैशाख सुदि १३ गुरुवार	सिंहदत्तसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	बावन जिनालय, पेथापुर	वही, भाग–१, लेखांक ७१३
११७.	१५२३	फाल्गुन वदि ४ सोमवार	देवरत्नसूरि	कुन्थुनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	जील्लावाला देरासर, घोघा	विजयधर्मसूरि पूर्वोक्त, लेखांक ३७०
११८.	१५२४	वैशाख सुदि ३ सोमवार	देवरत्नसूरि	कुन्थुनाथ की धातु-पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ देरासर, लाजग्राम	मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, भाग–५ लेखांक ४७७

११९.	१५२४	कार्तिक वदि १३ शनिवार	अमररत्नसूरि	सुमतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, गांभू	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-१, लेखांक ७४
१२०.	१५२४	वैशाख सुदि २ गुरुवार	अमररत्नसूरि	संभवनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, किशनगढ़	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक ६३९
१२१.	१५२५	पौष वदि ५ सोमवार	देवरत्नसूरि	पार्श्वनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	जैन देरासर, लींबडी	विजयधर्मसूरि पूर्वोक्त, लेखांक ३८८
१२२.	१५२५	माघ सुदि १३ बुधवार	देवरत्नसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, माणेकचौक, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक ९३७
१२३.	१५२५	माघ सुदि १३ बुधवार	जयचन्द्रसूरि के पट्टधर देवरत्नसूरि	अभिनन्दनस्वामी की चौबीसी का लेख	घर देरासर, गामदेवी, वाचागांधी रोड, मुम्बई	नाहर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक १८००
१२४.	१५२५	—	अमररत्नसूरि	कुन्थुनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, जामनगर	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखांक ४०३
१२५.	१५२७	वैशाख वदि ६ शुक्रवार	आनन्दप्रभसूरि	धर्मनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	नवखंडा पार्श्वनाथ देरासर, घोघा	वहीं, लेखांक ४०९
१२६.	१५२७	वैशाख वदि १०	देवरत्नसूरि	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ मुख्यबावन जिनालय, मातर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखांक ४६८
१२७.	१५२७	—	अमररत्नसूरि	पार्श्वनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	सुविधिनाथ देरासर, घोघा	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखांक ४०५

१२८.	१५२८	आषाढ़ सुदि ५ रविवार	सिंहदत्तसूरि के पट्टधर सोमदेवसूरि	सुमतिनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	राधनपुर	मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखांक २६२ एवं मुनिजयन्तविजय, आबू, भाग ५, लेखांक ५१०
१२९.	१५२८	पौष सुदि ३ सोमवार	अमररत्नसूरि	धर्मनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, जामनगर	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखांक ४१३
१३०.	१५२९	वैशाख सुदि ५ शुक्रवार	देवरत्नसूरि	अभिनन्दनस्वामी की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, माणेक चौक, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक ९४७
१३१.	१५२९	वैशाख सुदि ५ शुक्रवार	देवरत्नसूरि	पार्श्वनाथ की रत्नमय प्रतिमा के परिकर का लेख	कुन्थुनाथ जिनालय, मांडवीपोल, खंभात	वही, भाग-२ लेखाङ्क ६४३
१३२.	१५२९	ज्येष्ठ वदि १ शुक्रवार	अमररत्नसूरि	संभवनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	संभवनाथ जिनालय, मांडवीपोल, खंभात	वही, भाग-२ लेखाङ्क ११४२
१३३.	१५२९	ज्येष्ठ वदि १ शुक्रवार	अमररत्नसूरि	पद्मप्रभ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	जैनमंदिर, थराद	लोढ़ा, दौलतसिंह, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ८२
१३४.	१५३०	माघ वदि २ शुक्रवार	अमररत्नसूरि	मुनिसुव्रतस्वामी की प्रतिमा का लेख	विमलनाथ जिनालय, (कोचरों में) बीकानेर	नाहटा, अगरचन्द, पूर्वोक्त, लेखाङ्क १५८२
१३५.	१५३०	माघ सुदि १० गुरुवार	देवरत्नसूरि	कुन्थुनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, माणेक चौक खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखाङ्क १०१०

१३६.	१५३१	माघ सुदि ५	अमररत्नसूरि	चन्द्रप्रभस्वामी की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रतदेरासर, डभोई	वही, भाग १, लेखाङ्क ६५
१३७.	१५३१	माघ वदि ८ सोमवार	देवरत्नसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, ऊंझा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–१, लेखाङ्क १८२
१३८.	१५३१	माघ वदि ८ सोमवार	देवरत्नसूरि	संभवनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिपार्श्वनाथ जिनालय, खंभात	वही, भाग–२ लेखाङ्क १११९
१३९.	१५३१	माघ वदि ८ सोमवार	देवरत्नसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ जिनालय, पालिताना	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १७५९ एवं विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४३५
१४०.	१५३१	माघ वदि ८ सोमवार	देवरत्नसूरि	वासुपूज्यस्वामी की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिपार्श्वनाथ देरासर, कड़ी	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ७२२
१४१.	१५३२	वैशाख ……।	अमररत्नसूरि	अभिनन्दनस्वामी की धातु-प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, जामनगर	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४४६
१४२.	१५३२	वैशाख … …।	अमररत्नसूरि	शान्तिनाथ की प्रतिमा का लेख	बावनजिनालय, पेथापुर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–१ लेखाङ्क ७१२
१४३.	१५३२	ज्येष्ठ वदि १३	अमररत्नसूरि	महावीर स्वामी की धातु-पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनिविशाल विजय, पूर्वोक्त, लेखाङ्क २८१

१४४.	१५३२	वैशाख सुदि ३	अमररत्नसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ जिनालय, नागौर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७४५ एवं नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग–२ लेखाङ्क १३२३
१४५.	१५३२	वैशाख ·· ···।	अमररत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की पंच-तीर्थी प्रतिमा का लेख	धर्मनाथ देरासर, डभोई	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग १, लेखाङ्क ५१
१४६.	१५३३	माघ सुदि ५ रविवार	देवरत्नसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखाङ्क ३०८
१४७.	१४३५	माघ सुदि ५ शुक्रवार	आनन्दप्रभसूरि	वासुपूज्यस्वामी की प्रतिमा का लेख	जैन देरासर, गेरीता	वही, भाग १, लेखाङ्क ६७१
१४८.	१५३५	वैशाख सुदि ६ सोमवार	अमररत्नसूरि	वासुपूज्यस्वामी की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, चाणस्मा	वही, भाग–१ लेखाङ्क ११४
१४९.	१५३५	आषाढ़ सुदि २ मंगलवार	अमररत्नसूरि	कुंथुनाथ की प्रतिमा का लेख	जैनमंदिर गेरीता	वही, भाग—१, लेखाङ्क ६६६
१५०.	१५३६	वैशाख सुदि ३ गुरुवार	अमररत्नसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, पाडीव सिरोही-राजस्थान	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग–२ लेखाङ्क २०९१
१५१.	१५३६	पौष बदि···गुरुवार	सिंहदत्तसूरि	नमिनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	बड़ा मंदिर, सीहोर	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग २, लेखाङ्क १७३७, एवं विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त लेखाङ्क ४६७

१५२.	१५३६	माघ सुदि ५ शुक्रवार	पं० उदयरत्न	पंचतीर्थी प्रतिमा	जैन मंदिर, वडावली	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग-१, लेखाङ्क १८
१५३.	१५३७	पौष सुदि ९ रविवार	सिंहदत्तसूरि के पट्टधर सोमदेवसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	कोठार पंचतीर्थी-२ शत्रुञ्जय	मुनिकंचनसागर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क २३५
१५४.	१५३७	माघ सुदि ५ शुक्रवार	सिंहदत्तसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चन्द्रप्रभजिनालय, जानीशेरी, बड़ोदरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखाङ्क १५६
१५५.	१५४२	चैत्र वदि ८ मंगलवार	आनन्दप्रभसूरि के पट्टधर मुनिरत्नसूरि	विमलनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, घोघा	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४८२
१५६.	१५४२	वैशाख सुदि १ गुरुवार	जिनचन्द्रसूरि	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, बड़ोदरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखाङ्क ९५
१५७.	१५४२	वैशाख सुदि २ गुरुवार	श्रीसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	दादापार्श्वनाथ जिनालय, नरसिंह जी की पोल, बड़ोदरा	वही, भाग-२ लेखाङ्क १३६
१५८.	१५४२	वैशाखसुदि १० गुरुवार	जिनचन्द्रसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	विमलनाथ जिनालय, चौकसीपोल, खंभात	वही, भाग २, लेखाङ्क ८०६
१५९.	१५४३	वैशाख वदि १० शुक्रवार	जिनचन्द्रसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, सेठ वाडो, खेड़ा	वही, भाग-२, लेखाङ्क ४३२
१६०.	१५४३	वैशाख वदि १० शुक्रवार	जिनचन्द्रसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथमुख्य बावन जिनालय, मातर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग-२, लेखाङ्क ५१६

१६१.	१५४४	फाल्गुन सुदि २ शुक्रवार	विवेकरत्नसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	जैनदेरासर, सौदागर पोल, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-१, लेखाङ्क ८२४
१६२.	१५४४	—	जिनचन्द्रसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	घर देरासर, बड़ोदरा	वही, भाग १, लेखाङ्क २४९
१६३.	१५४६	माघ वदि १३	विवेकरत्नसूरि	स्तम्भलेख	मुनिसुव्रत जिनालय, भरुच	वही, भाग-२ लेखाङ्क ३२१
१६४.	१५४६	माघ सुदि १३	विवेकरत्नसूरि	चन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, गीपटी, खंभात	वही, भाग-२ लेखाङ्क ७०६
१६५.	१५४७	वैशाख सुदि ५ गुरुवार	अमररत्नसूरि	वासुपूज्यस्वामी की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, डीसा	नाहर, पूरनचन्द, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखाङ्क २१०६
१६६.	१५४७	वैशाख वदि ६ शुक्रवार	विवेकरत्नसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	मनमोहन पार्श्वनाथ जिनालय, बड़ोदरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखाङ्क ८५
१६७.	१५४७	पौष वदि ६ रविवार	अमररत्नसूरि	सुविधिनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखाङ्क-३०६
१६८.	१५४७	पौष वदि १० बुधवार	अमररत्नसूरि	सुविधिनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, पाटन	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग १, लेखाङ्क २२८
१६९.	१५४७	माघ सुदि १३ रविवार	अमररत्नसूरि के पट्टधर श्रीसूरि	शीतलनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	बड़ा मंदिर, कातर ग्राम	विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखांक, ४९६
१७०.	१५४८	वैशाख सुदि २ शनिवार	जिनचन्द्रसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, चौकसीपोल खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ८३४

१७१	१५४८	वैशाख सुदि ३	सोमरत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	प्रतापसिंह जी का मंदिर, रामघाट, वाराणसी	नाहर, पूरनचन्द-पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ४२३
१७२.	१५४९	आषाढ़ सुदि ३ सोमवार	विवेकरत्नसूरि	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	संभवनाथ जिनालय बोलपीपलो, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक ११३९
१७३.	१५५२	माघ वदि ८ शनिवार	सोमरत्नसूरि	सुमतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	मनमोहनपार्श्वनाथ जिनालय, मीयागाम	वही, भाग-२, लेखांक २७६
१७४.	१५५२	वैशाख सुदि ३	सोमरत्नसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चन्द्रप्रभजिनालय, भोंपरापाडो, खंभात	वही, भाग-२ लेखांक-८९४
१७५.	१५५४	फाल्गुन सुदि … ।	विवेकरत्नसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ मुख्य बावन जिनालय, मातर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग-२ लेखांक ४६६
१७६	१५५५	ज्येष्ठ सुदि ९ रविवार	अमररत्नसूरि के पट्टधर सोमरत्नसूरि	मुनिसुव्रत की धातु की प्रतिमा का लेख	बृहद्खरतरगच्छ का उपाश्रय, जैसलमेर	नाहर, पूर्वोक्त, लेखांक २४८५
१७७.	१५५६	वैशाख सुदि १३ रविवार	सोमरत्नसूरि	मुनिसुव्रत की चौबीसी प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, दाहोद	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक ८८७
१७८.	१५५९	वैशाख सुदि २	विवेकरत्नसूरि	अभिनन्दनस्वामी की चौबीसी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, पादरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, लेखांक ८
१७९.	१५६०	वैशाख सुदि ३ शुक्रवार	विवेकरत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	जैनमंदिर, राधनपुर	मुनिविशालविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ३२१

१८०.	१५६०	वैशाख सुदि ३ बुधवार	भावसागरसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	सीमंधरस्वामी का देरासर, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक १२३६
१८१.	१५६४	फाल्गुन वदि ५ रविवार	आणंदसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनलय, बीजापुर	वही, भाग–१ लेखांक ४३९
१८२.	१५६६	माघ सुदि ५ सोमवार	शिवकुमारसूरि	वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, गीपटी, खंभात	वही, भाग–२, लेखांक ७१०
१८३.	१५६७	वैशाख सुदि ३ बुधवार	सोमरत्नसूरि	मुनिसुव्रत की प्रतिमा का लेख	पद्मप्रभजिनालय,	वही, भाग–१, लेखांक ६२४
१८४.	१५६९	वैशाख सुदि ९ शुक्रवार	सोमरत्नसूरि	आदिनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, जयपुर	नाहर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक १२१६
१८५.	१५७०	पौष वदि ५ रविवार	शिवकुमारसूरि	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, बड़ोदरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक १००
१८६.	१५७१	चैत्र वदि २ गुरुवार	आनन्दरत्नसूरि	वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, वडनगर	वही, भाग–१, लेखांक ५५२
१८७.	१५७१	चैत्र वदि २ गुरुवार	सोमरत्नसूरि	अभिनन्दन स्वामी की चौबीसी प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, लखनऊ	नाहर, पूरनचन्द— पूर्वोक्त, भाग–१ लेखांक १५७७
१८८.	१५७१	चैत्र वदि ७ गुरुवार	सोमरत्नसूरि	वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा का लेख	जैनदेरासर, गेरीता	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ६७०
१८९.	१५७३	वैशाख सुदि ६ गुरुवार	सोमरत्नसूरि	वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, खेड़ा	वही, भाग २, लेखांक ४१४

१९०.	१५७३	फाल्गुन सुदि २ रविवार	अमररत्नसूरि के पट्टधर सोमरत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, बीजापुर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त– भाग–१, लेखांक ४३३
१९१.	१५७५	माघ सुदि ६ गुरुवार	आनन्दरत्नसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	धर्मनाथ जिनालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता	नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक १११
१९२.	१५७५	माघसुदि ५ गुरुवार	मुनिरत्नसूरि के पट्टधर आनन्दरत्नसूरि	पद्मप्रभ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	पद्मावती देरासर, बीजापुर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ४२१
१९३.	१५७६	माघसुदि ९ शनिवार	मुनिरत्नसूरि के पट्टधर आनन्दरत्नसूरि	चन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिमा का लेख	चन्द्रप्रभ जिनालय, सुल्तानपुरा, बड़ोदर,	वही, भाग २, लेखांक १९५
१९४.	१५७७	माघ सुदि १३ गुरुवार	हेमरत्नसूरि	शोतिनाथ की प्रतिमा का लेख	कोठार पंचतीर्थी–४ शत्रुञ्जय	मुनि कंचनसागर, पूर्वोक्त, लखांक २३७
१९५.	१५७८	माघ वदि ५ गुरुवार	विवेकरत्नसूरि	धर्मनाथ की चतुर्मुख प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, भरुच	मुनिबुद्धिसागर, पूर्वोक्त भाग-२, लेखांक २९४
१९६.	१५७८	माघ वदि ५ गुरुवार	विवेकरत्नसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, भरुच	वही, भाग–२ लेखांक ३३७
१९७.	१५७८	माघ सुदि ४ गुरुवार	विवेकरत्नसूरि	सुमतिनाथ की प्रतिमा का लेख	नेमिनाथ जिनालय, मेहतापोल, बड़ोदरा	वही, भाग २, लेखांक १७१
१९८.	१५७९	वैशाख सुदि ५ सोमवार	विवेकरत्नसूरि	शीतलनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ३३६

१९९.	१५७९	फाल्गुन सुदि ५ सोमवार	शिवकुमारसूरि	शीतलनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, भ्रामरा ग्राम	मुनि जयन्तविजय, आबू–भाग ५, लेखांक १८२
२००.	१५७९	फाल्गुन सुदि ५	शिवकुमारसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय कडाकोटडी, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक ६१५
२०१.	१५८१	माघ सुदि ५ गुरुवार	सोमरत्नसूरि	मुनिसुव्रत की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, थराद	लोढ़ा, दौलतसिंह-पूर्वोक्त, लेखांक २४७
२०२.	१५८३	ज्येष्ठ सुदि ९ शुक्रवार	मुनिरत्नसूरि के पट्टधर आनन्दरत्नसूरि	श्रेयांसनाथ की धातु की चौबीसी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ देरासर, राधनपुर	मुनि विशालविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ३४२
२०३.	१५८४	वैशाख वदि ४	शिवकुमारसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, भरुच	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ३४८
२०४.	१५८४	वैशाख सुदि ४	शिवकुमारसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, झुंडाल	वही, भाग १, लेखांक ७७५
२०५.	१५८६	माघ वदि ५	उदयरत्नसूरि	शीतलनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	देरी न० ७१।२ पंचतीर्थी, शत्रुञ्जय	मुनिकंचनसागर, पूर्वोक्त, लेखांक ४५२
२०६.	१५८७	पौष वदि ६ रविवार	सिंहदत्तसूरि के पट्टधर शिव-कुमारसूरि	वासुपूज्यस्वामी की प्रतिमा का लेख	चन्द्रप्रभजिनालय, सुल्तानपुर, बड़ोदरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक १९३
२०७	१५८७	माघ वदि ८ गुरुवार	उदयरत्नसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	सीमन्धरस्वामी का जिनालय, अहमदाबाद	वही, भाग १, लेखांक १२१६

२०८.	१५८७	माघ वदि··· गुरुवार	उदयरत्नसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	जैन मंदिर, ईडर	वही, भाग १, लेखांक १४७७
२०९.	१५८७	माघ वदि ८ गुरुवार	उदयरत्नसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, लाडोल	वही, भाग १, लेखांक ४६८
२१०.	१५९१	वैशाख वदि ६ शुक्रवार	संयमरत्नसूरि	वासुपूज्यस्वामी की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, ऊंडीपोल, खंभात	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक ६७३
२११.	१५९९	ज्येष्ठ सुदि १०	संयमरत्नसूरि विनयमेरुसूरि	आदिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	जैन देरासर, सौदागर पोल, अहमदाबाद	वही, भाग ६, लेखांक ८६०
२१२.	१५९९	ज्येष्ठ सुदि ११ रविवार		आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	विमलनाथ जिनालय, (कोचरों में), बीकानेर	नाहटा, अगरचन्द- पूर्वोक्त, लेखांक १५७७
२१३.	१६१०	चैत्रसुदि १५ बुधवार	उदयरत्नसूरि के पट्टधर सौभाग्यरत्न-सूरि के परि-वार के हर्षरत्न उपाध्याय, पं० गुणमंदिर, माणिकरत्न, विद्यारत्न, सुमतिराज आदि		विमलवसही, आबू	मुनि जयन्तविजय, आबू, भाग–२, लेखांक १९४
२१४.	१६१२	वैशाख सुदि ६ बुधवार	संयमरत्नसूरि	संभवनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ देरासर, राधनपुर	मुनिविशाल विजय, पूर्वोक्त ३५१

२१५	१६४३	फाल्गुन सुदि ५ गुरुवार	संयमरत्नसूरि के पट्टधर कुलवर्धनसूरि	शांतिनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	संभवनाथ जिनालय, पादरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग–२, लेखांक ११
२१६.	१६६७	वैशाख वदि ७		शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, खंभात	वही, भाग–२, लेखांक ६१०
२१७.	१६६७	वैशाख वदि ७	कुलवर्धनसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	शीतलनाथ जिनालय, कुंभारवाडो, खंभात	वही, भाग–२ लेखांक ६४९
२१८.	१६८३	ज्येष्ठ सुदि ६ गुरुवार	कुलवर्धनसूरि	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, कनासानो पाडो, पाटन	वही, भाग–१ लेखांक ३६१

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आगमिकगच्छ १३वीं शती के प्रारम्भ अथवा मध्य में अस्तित्त्व में आया और १७वीं शती के अन्त तक विद्यमान रहा। लगभग ४०० वर्षों के लम्बे काल में इस गच्छ में कई प्रभावक आचार्य हुये, जिन्होंने अपनी साहित्योपासना और नूतन जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना, प्राचीन जिनालयों के उद्धार आदि द्वारा पश्चिमी भारत (गुजरात-काठियावाड़ और राजस्थान) में श्वेताम्बर श्रमणसंघ को जीवन्त बनाये रखने में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह भी स्मरणीय है कि यह वही काल है, जब सम्पूर्ण उत्तर भारत पर मुस्लिम शासन स्थापित हो चुका था, हिन्दुओं के साथ-साथ बौद्धों और जैनों के भी मन्दिर-मठ समान रूप से तोड़े जाते रहे, ऐसे समय में श्वेताम्बर श्रमण संघ को न केवल जीवन्त बनाये रखने बल्कि उसमें नई स्फूर्ति पैदा करने में श्वेताम्बर जैन आचार्यों ने अति महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

विक्रम सम्वत् की १७वीं शताब्दी के पश्चात् इस गच्छ से सम्बद्ध प्रमाणों का अभाव है। अतः यह कहा जा सकता है कि १७वीं शती के पश्चात् इस गच्छ का स्वतंत्र अस्तित्त्व समाप्त हो गया होगा और इसके अनुयायी श्रमण एवं श्रावकादि अन्य गच्छों में सम्मिलित हो गये होंगे।

वर्तमान समय में भी श्वेताम्बर श्रमण संघ की एक शाखा त्रिस्तुतिकमत अपरनाम बृहद्सौधर्मतपागच्छ के नाम से जानी जाती है, किन्तु इस शाखा के मुनिजन स्वयं को तपागच्छ से उद्भूत तथा उसकी एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं।

THE RULES CONCERNING SPEECH (BHĀSĀ) IN THE ĀYĀRANGA-AND DASAVEYĀLIYA-SUTTAS

Collette Caillat

One of the major vows taken by the ascetics of ancient India, whether Brahmanic, Buddhist or Jaina, is "not to make any untrue statement[1]." In fact, this prescription applies to each and every individual, for (as is well known)[2], speech is assumed to exert extremely potent forces[3]. It is therefore quite natural that the *śāstras* lay down rules about what is or is not to be said, and where, when, how it should be uttered, not only on solemn occasions, but also in daily life. Such prescriptions are specified in the Scriptures of the Buddhists and the Jainas

1. For a general survey and appraisal, H. JACOBI, SBE 22 (London. 1884, repr. Delhi, 1964), Introduction, p. XXII ff.
2. For general considerations on "oral rites", M. MAUSS, Theorie de la magie, reprinted in Sociologie et anthropologie, Paris, 1950, p. 48 ff.—As far as India is concerned, L. RENOU, Etudes vediques et pāṇineennes, 1, Paris 1955 (Institut de Civilisation Indienne de 'Universite de Paris 1), p. 1-27; IDEM, Etudes sur le vocabulaire du Rgveda, Pondichery, 1958 (Institut Francais d'Indologie 5), on *nāman*, p. 10-12 ("le nom n'est jamais" "pretexte, apparence" (oppose a "realite"); il est au contraire la realite meme, il touche a l'essence de l'etre....", p. 11). Moreover, see, e.g., many of J. Gonda's books and articles, among others, Jan GONDA, Die Religionen Indiens I, Veda und älterer Hinduismus (Die Religionen der Menschheit. Herausgegeben von C. M. Schroder, 11), Stuttgart, 1960, p. 21 ff. (Das Wort").
3. *Vāg ghy evaitat sarvam // vācā hyevaitat sarvam āptam,*
   "Everything here is speech /./ for by speech everything here is obtained", Śatapatha Brāhmaṇa 10.5.1.3 (ed. A. Weber; Berlin–London, 1885 translation J. Eggeling SBE 43, Oxford, 1897, repr. Delhi, 1963); cf. ib, 14.3.2.20:

   vācyarthāḥ niyatāḥ sarve, vāṅ-mūlā vāg-nisritāḥ

   "all things (have their nature) determined by speech; speech is their root, and from speech they proceed", Mn 4.256 (trsl. G. Bühler);

   vāṅ-mayānīha śāstrāṇi vāṅ-niṣṭhāni tathaīva ca
   tasmād vācaḥ paraṃ nāsti vāg ghi sarvasya kāraṇam,

   "the śāstras are made up of words, and words are the source of everything", Nāṭyaśāstra, 9.3 (ed. M. Ghosh, Calcutta, 1967, trsl. Id, Calcutta, 1951, BI 272).

as well as in the Dharmaśāstras; but, whereas in the last mentioned books, the rules concern all social categories, in the Buddhist Pāli Tipiṭaka and in the Jaina Siddhānta, they are first and foremost meant for the members of the religious community.

The Śvetāmbara Jainas have expressed their views on *bhāsā* (*bhāṣā*) in several passages of their canon[1]. The topic is investigated from different angles in various parts of Viyāhapannatti,*Vyākhyā-prajñapti*, and systematically treated in the eleventh chapter, called "*bhāsā-paya*", of the Pannavaṇā—a precious survey of which we owe to Pandit Dalsukh Malvania[2]. Moreover, the first Aṅga and the second Mūlasūtra of the canon deal with *bhāsā* from the point of view of discipline, in their famous chapters which I propose to consider here; they are *Āyār* (aṅga-sutta) 2.4.1-2 (in prose), Dasaveyāliya—sutta 7 (in verses)[3]. I shall not examine the interconnexions between both, they have been studied by Dr. Ghatage in NIA 1.2 (may 1938, p. 130-137)[4]. I only wish to show that a comparison between these developments and their old Brahmanic counterparts[5] help to realize how the Jainas have succeeded in

.1 References to canonical developments concerning bhāsā in W. SCHUBRING, Die Lehre der Jainas...., Berlin u. Leipzig, 1935 (GIAPhA 3.7) p. 103-104 = IDEM, The Doctrine of the Jainas, Delhi...., 1962 § 74.
For Viyāhapannatti, cf. J. DELEU, Viyāhapannatti...., Brugge 1970 (Rijksuniv. te Gent, Werken uitgegeven door de Fac. van Letteren en Wijsbegeerte 151), Index of terms and topics, p. 345.

2. Cf. Paṇṇavaṇasuttaṁ, Ed. PUṆYAVIJAYA-MĀLVAṆIĀ-BHOJAK, Bombay 1971 (Jaina-Āgama Series 9), Part 2, Introduction, p. 84-88 (translated into English by Dr. Nagin J. SHAH, p. 321-326, "on spoken language").
I had the good fortune to read this chapter with Pandit Dalsukh Malvania : I wish to seize this opportunity to express my affectionate gratitude to him, his family and circle of friends.
The Jaina (and Buddhist) statements concerning *addhamāgahā bhāsā* (*māgaha-bhāsā*, *mūla-bhāsā*), etc., will not be taken into consideration, as they would be irrelevant from the present point of view.

3. As noted by Schubring, the odd chapters of Dasav are concerned with special subjects (Dasav, Introduction, p. VI); in particular, different aspects of (right) conduct are examined therein.

4. "Parallel passages in the Daśavaikālika and the Ācārāṅga"; A. M. Ghatage's conclusion is that Dasav 7 is older than Āyār 2.4. Schubring's opinion, on the contrary, is that "Dasav is later than Āyār. If in its ślokas it contains such pādas as scattered in the prose of Āyār/./ the latter represent an ancient stock....", Doctrine § 74 n. 2.

5. On the comparative antiquity of Gaut DhS, etc., and of Buddhist-Jaina canonical scriptures, JACOBI, loc, cit., p. XXX ff.

binding into an organic unity prescriptions which are also found, but more or less scattered, in different sections of the DhS, and which have been somewhat differently elaborated in the Pāli scriptures. In fact, as is natural, the Jainas' ethical teachings in this field are linked with their metaphysical tenets.

Let me first sketch how the DhS approach the subject.

Sometimes—exceptionally—the approach is a general one; e. g., when ĀpDhS introduces the chapters on penance, it explains that "A wise man who has eradicated the (faults) which destroy creatures, obtains salvation"[1]. "(These are) anger exultation, grumbling, covetousness, perplexity, doing injury, hypocrisy, lying, gluttony, calumny, envy, lust, secret hatred, neglect to keep the senses in subjection, neglect to concentrate the mind...", *krodho harṣo roṣo lobho moho dambho droho mṛṣodya-mātyāṣa-parīvādāvasūyā kāma-manyū anātmyam ayogas, teṣāṃ yoga-mūlo nirghātaḥ* (ĀpDhS 1.8.23.5) On the contrary, "freedom from anger (*akrodha-*)...., truthfulness (*satya-vacana-*)..., silencing slander (*a-paiśuna-*) uprightness, affability (*ārjava-mārdava-*)...., peace with all created beings, concentration (of the mind on the contemplation of the Ātman), regulation of one's conduct according to that of the Āryas (*āryava-*)—these (good qualities) have been settled by the agreement (of the wise) for all (the four) orders...."[2] Similar precepts are also ordained by Manu, who applies them to the snātaka :

satyadharmāryavṛatteṣu śauce caivārametsadā
.... *vāg-bāhūdara-saṃyataḥ,*

"Let him always delight in truthfulness,...; let him keep his speech, his arms and his belly under control" (Mn 4.175)[3]. As a matter of fact, Manu is in accordance with Gautama who, among the duties of the Snātaka (ch. 9), prescribes :

"He shall keep his organ, his stomach, his hands, his feet, his tongue, and his eyes under due restraint"[4], further :

satya-dharmā (68), *ārya-vṛttaḥ* (69).... *syāt* (72),
"He shall always speak the truth."
"He shall conduct himself (as becomes) an Āryan."

---

1. *nirhṛtya bhūta-dāhīyān kṣemaṃ gacchati paṇḍitaḥ,* (trsl. Bühler).
2. Ib 6. Cf. also 1.11.31.25 (trsl., SBE 1.11.31.23) : *krodhādīṃśca bhūta-dāhīyān doṣān varjayet,* "and let him (the snātaka) avoid the faults that destroy the creatures, such as anger and the like."
3. Bühler translates : "in truthfulness, (obedience to) the sacred law ...."; but cf. Gaut DhS, 9.68, infra.
4. *na śiśnodara-pāṇi-pada-vāk-cakṣuś cāpalāni kuryāt.*

Thus, rules regarding speech are, in fact, but the application to a particular case of general injuctions to keep one's organs (organs of sense, organs of action and *manas*) under complete control (cf. Mn 2.88) the organ of speech being the tenth in the list[1].

Therefore, it would seem normal that, in the DhS, general instructions should be given about the proper use of Vāc. Nevertheless, most of the time, in the texts, the rules are laid down for specific categories of individuals : the householder, or, more often, the brahmacārin, the student who has returned home, the snātaka....

Now, what are these rules ? Two sets can be distinguished :

(1) the rules connected with salutation; (2) the rules which might be termed apotropaic, whether the danger is visible or occult.

(1) It is well known that "reverential salutation" is looked upon as strengthening *vardhana*.[2] Conversely, as stressed in a floating stanza, "he who habitually salutes and constantly pays...... reverence to the aged obtains an increase of four (things), (namely) glory, length of life, fame, (and) strength".[3]

abhivāda-śīlasya nityaṃ vṛddhopasevinaḥ
catvāri saṃpravardhante, kīrtir āyur yaśo balam (Mbh. 5.39.60).

The same view is expressed among the Buddhists.[4]

With minor variants, Mn (2.121) applies the maxim to the brahmacārin :
catvāri tasya vardhante, āyuḥ prajñā yaśo balam.

As a matter of fact, in the DhS, much importance is attached to terms of address and to saluting[5]—a topic to which the sixth chapter of the Gaut DhS is

1. *vāk caīva daśamī smṛtā*, Mn 2. 90 d.—
Compare Aśoka, Rock Edict XII (C), recommending *vaca-* (*vaci-*) *gutti* and, *infra*, Uttarajjhayaṇa 24. 22-23.
2. J. Gonda, IIJ 8 (1964), p. 14, quoting RV 6.51.8.
3. For concordances, L. Sternbach, Mahā-subhāṣita-saṃgraha 2, Hoshiarpur 1976 (Vishveshvaranand Vedic Research Institute, V. Indological Series–69, no 2336, compare 2337-8). Trsl. following Bühler, Mn 2.121.
4. *abhivādana-sīlissa niccaṃ vaddhapacāyino*
cattāro dhammā vaḍḍhanti : āyu vaṇṇo sukhaṃ balaṃ, Dhp 109, of which the Gāndhārī Dharmapada rendering is :
ahivadaṇa-śilisa
ṅica vridhavayariṇo
catvari tasa vardhadi
ayo kirta suha bala (ed. J. Brough, London ...., 1962, London Oriental Series, 7), 172.
5. Cf. Kane, History of Dharmaśāstra, 2.1, p. 333 ff., specially 336 ff., ubi alia.

wholly devoted. Actually, most DhS give details on proper behaviour in this connexion, whether regarding the time and circumstances, the gestures, the words, intonation syntax........[1]. Generally, though, saluting is not treated as an independent subject; Mn, for instance, includes the topic in the chapter dealing with studentship, where it is specified which words the young man must use according to the age, sex, learning, social status.... of the person whom he addresses (2·121-129), and according to circumstances (2.49). Similarly, ĀpDhS inserts this special subject in one of the chapters about the general obligations of the Vedic student (1.2.5.15 ff.), his behaviour while begging (1.1.3.28.30, cf; Gaut DhS 2.36), or, again, the conduct of the student who has returned home (1.4.14.7 ff., particularly 1.4. 14. 26-31).... Thus, the matter is considered separately in several developments, where it is discussed with more or less detail :

(2) The same remark would apply to the second set of rules, those which I proposed to term apotropaic. They seem to be given mainly for the snātaka; and to remain comparatively unchanged.

Before stressing that the snātaka should abide by truth, *satyadharmā ....syāt* (9.61, supra), Gautama considers several utterances which are to be avoided. The same warnings recur in other DhS, especially in ĀpDhS, the sūtras of which can be conveniently examined (1.11.31. 5-16) :

5. And he shall not speak evil of the gods or of the king,

(*paruṣaṃ cobhayordevatānāṃ rājñaśca .... varjayet*),

....

8. He shall not mention the blemishes of a cow, of sacrificial presents, or of a girl.

9. And he shall not announce it .... if a cow does damage (by eating corn or grain in a field).

10. (Nor shall he call attention to it) if a cow is together with her calf....

11-12. And of a cow which is not a milch-cow he shall not say 'She is not a milch-cow'. He must say 'This is a cow which will become a milch-cow'.

(*nādhenum adhenur iti brūyāt,*
dhenu-bhavyetyeva brūyāt),

....

16. If he sees a rainbow, he must not say to others, 'Here is Indra's bow'.[2]

1. For proper words, ĀpDhS 1.4.14.26-29; pluti of final vowel, ib 1.2.5.17, Vas 13.46, Mn 2.125, Pāṇ 8.2.83, quoted in Kane, ib, p. 340; syntax, GautDhS 2.36, ĀpDhS 1.1.3 28-30, Mn 2.69.

2. *gor dakṣiṇānāṃ kumāryāś ca parīvādān varjayet* (8)
stṛhantiṃ ca gāṃ nācakṣīta (9)
saṃsṛṣṭāṃ ca vatsenānimitte (10)
nendradhanur iti parasmai prabrūyāt (18)

Similarly, GautDhS 9.22 remarks : "(....in speaking of) a rainbow (he shall use the word) *maṇi-dhanus* (the jewelled bow) instead of *Indra-dhanus*' "[1]—a prescription which is in agreement with BaudhDhS 2.3.6. 11·12, and VasDhS 12.32.[2]

The prohibitions and injunctions detailed above are likewise given in the other DhS. The implied justification can be deduced from the following observation, by ĀpDhS :

nāsau 'me sapatna' iti brūyāt; yady 'asau me sapatna' iti brūyād dviṣantaṃ bhrātṛvyaṃ janayet,

"(In company) he shall not say, 'This person is my enemy'. If he says 'This person is my enemy', he will raise for himself an enemy, who will show his hatred" ĀpDhS 1.11.31.15).[3]

Now, these remarks are made in a khaṇḍa which warns against dangerous words *and* acts, and points to those which are conducive to welfare (1.11.31.6; 14, etc.); similarly, khaṇḍa 32 dissuades from visits to countries inhabited by inferior men, from mixing in assemblies and crowds (1.11.32. 18-19); it also advises the snātaka not "to cross a river swimming"[4] and not to use "ships of doubtful (solidity)" (26·27).[5] To revert to speech : we can include in this review a rule laid down for both the snātaka and the householder, who are advised not to "talk of a doubtful matter as if it were clear" (2.5.12.21, cf. 1.11.32.22).[6] This last recommendation leads us back to the observance of truthfulness, which should not be interpreted as an encouragement to use cruel words. On the contrary, Manu stresses :

hīnāngānatiriktāngānvidyā-hīnānvayo-'dhikān
rūpa-draviṇa-hīnānśca jāti-hīnāśca nākṣipet,

1. *maṇidhanur itīndradhanuḥ.*
2. Compare, a little differently, Mn 4.59.
   On beliefs connected with rainbow, M. Mauss, "Theorie de la magie", reprinted in Sociologie et anthropologie, Paris, 1950, p. 32; S. H. Webster, Le tabou, (French translation), Paris, 1952, p. 227 and n. 1.—For the same warning, Prof, Gonda kindly refers me to several other texts : PārG 2.7.13, VaikhDh 3.2.12, AthPariś 72.1.6, and to the old saying in The Netherlands, that it is a bridge for the deceased to go to heaven, (cf. H. Bachtold-Staubli, Handwörterbuch des deutschen Abersglaubens. Berlin, 1927–1942, 6 vol., s. v. Regenbogen).
3. 1.11.31.17 in the text, but 15 in the translation.
4. *bāhūbhyāṃ ca nadī-taraṇam* (scil. *varjayet*), (26); cf. 1.2.5.9; 1.5.15.11 (and the note SBE 2, p. 55): 1.11.32.26; also Mn 4.77,
5. *nāvāṃ ca sāṃśayikim* (scil. *varjayet*), (27).
6. *na saṃśaye pratyakṣavad brūyāt.*

"Let him (the snātaka) not insult those who have redundant limbs or are deficient in limbs, nor those destitute of knowledge, nor very aged men, nor those who have no beauty or wealth, nor those who are of low birth."[1] As a matter of fact, avoiding lies and avoiding harshness are both combined in the fourfold prescription emphasized by Mn (4.138):

satyaṃ brūyāt, priyaṃ brūyānna brūyātsatyamapriyam,
priyaṃ ca nānṛtaṃ brūyād eṣa dharmaḥ sanātanaḥ,

"Let him (the *snātaka*) say what is true, let him say what is pleasing, let him utter no disagreable truth, and let him utter no pleasant falsehood; that is the eternal law".[2]

Parallels for this aphorism are quoted from Viṣṇu– and Yājñavalkya–DhS, from the epics[3].... More could be adduced from Buddhist and Jaina scriptures.

Let us now turn to the Jainas.

First of all, one fact is remarkable: that two old canonical texts each devote one whole chapter completely to the examination of the different species of bhāṣā ("*bhāsā-jāyā*"), and to right conduct with regard to speech. This proves the very great importance attached to the subject by the Jaina teachers, and by the Jaina tradition. No less remarkable is the endeavour of Āyār and Dasav to explain what their guiding principles are; they can be summarized as follows: on the one hand, it is imperative to respect truth—an effort which involves the constant observance of self-control, *saṃyama-* (Amg *saṃjama*); on the other hand, it is necessary to combine respect for truth with respect for *ahiṃsā*. Such is the complex behaviour advo-

1. Mn 4.141.
2. *ṣuktā rūkṣāḥ paruṣā vāco na brūyāt*, BaudhDhS 2.3,20, "let him (the snātaka) not make empty, ill-sounding, or harsh speeches" (Bühler's trsl.)
3. .... *nākasmād apriyaṃ vadet,*
nāhitaṃ nānṛtaṃ caiva .... , Yājñavalkya DhS (ed. Stenzler Berlin-London, 1849), 1.132, "on no account should he say (anything) disagreeable, noxious, or, again, untrue .... ";
nāślīlaṃ kīrtayet (72) *nānṛtaṃ* (73) *nāpriyam* (74),
Viṣṇusmṛti, ch. 71 (ed. J. Jolly, Calcutta 1881, repr. 1962);
satyaṃ vaded vyāhṛtaṃ tad dvitīyam,
dharmaṃ vaded vyāhṛtaṃ tat tṛtīyam,
priyaṃ vaded vyāhṛtaṃ tac caturtham. MBh (Bh) 12.288.38,
(similar to Mn, loc. cit.; compare, infra, the Buddhist definition of *subhāsita*).
Of Rāma, it is said that, even if spoken to harshly, he never gave a harsh answer, Rām 2.1.10 (on which Gonda, Selected Studies, Leiden, 1975, p. 514).

cated in the introduction and conclusion of Āyār 2.4[1], where it is recommended (1) to "vomit" the four passions involving violence (*vantā koham ca māṇaṃ ca māyaṃ ca lohaṃ ca*), (2) to speak only after due reflection and with constant circumspection[2]. To help attain this ideal aim, bhāsā is analysed into four species (with subdivisions) : two of them are absolutely condemned and prohibited, because they are either totally or partly wrong and false; as for the other two, the monk should be educated to use them with discrimination : Dasav 7.1 proclaims :

cauṇhaṃ khalu bhāsāṇaṃ parisaṃkhāya paṇṇavaṃ
doṇhaṃ tu viṇayaṃ sikkhe, do na bhāsejja savvaso[3].

Āyār also distinguishes four *bhāsā-jāyā*, somewhat emphatically: *bhikkhū jāṇejjā cattāri bhāsā-jāyāiṃ, taṃ-jahā : saccaṃ egaṃ padhamaṃ bhāsā-jāyaṃ bīyaṃ mosaṃ taiyaṃ, seccā-mosaṃ, jaṃ n'eva saccaṃ n'eva mosaṃ n'eva saccāmosaṃ asaccāmosaṃ taṃ cautthaṃ bhāsā-jāyaṃ, se bemi....* (2.4.1.4). Thus the bhikkhu is invited, trained to recognize: (1) truth, (2) untruth, (3) truth mixed with untruth, (4) "what is neither truth, nor untruth, nor truth mixed with untruth ...."[4]. Consequently, Dasav 7 immediately

1. *se bhikkhū vā bhikkhuṇī vā vantā kohaṃ ca māṇaṃ ca māyaṃ ca lohaṃ ca, aṇuvīi niṭṭhābhāsī nisamma-bhāsī aturiya-bhāsī vivega-bhāsī samiyāe saṃjae bhāsaṃ bhāsejjā.*
   "a monk or a nun, putting aside wrath, pride, deceit, and greed, considering well, speaking with precision, what one has heard, not too quick, with discrimination, should employ language in moderation and restraint", (Āyār 2.4.2.19 trsl, Jacobi).
2. Compare Dasav 7. 54-57 :
   chasu saṃjae, sāmaṇie sayā jae,
   vaejja buddhe hiyaṃ aṇulomiyaṃ,
   "controlled (in his conduct) towards the six (groups of souls), (and) always restrained in monkhood the wise one shall speak good (and) kind (words)" (56 c-d, trsl. W. Schubring).
3. "Of the four kinds of speech, the thoughtful (monk) should, after consideration, learn the training in two, (but) should not use the other two ones at any occasion."
4. Cf. Viyāhapannatti, ch. 13, Ed Suttāgame, Gurgaon, 1953. vol. 1, 692, 15; Pannavaṇā, ed. Puṇyavijaya, etc. (Jaina-Āgama-Series 9.1), p. 215, §§ 870-876; Ṭhāṇanga ch. 4.1, ed. Suttāgame, 223,8 (*cattāri bhāsā-jāyā....*).
   See the same fourfold division "truth, untruth, ..." in relation with the first and second *guttis* (*gupti— : maṇa-gutti, vai-g.*), in Uttarajjhāyā 24. 20-23 (ed. J. Charpentier, Upsala, 1921, Archives d'Etudes orientales, 18), i.e. in the chapter concerning the eight *pavayaṇa-māyā* ("matrices of the Doctrine"). Here, the analysis of the three guttis follows that of the five *samitis* : the second of these is the *bhāṣā-samiti*, "care in speaking"

proclaims an interdiction "the thoughtful (monk) should not use" "that (form of speech) which is true (but) not to be uttered, that which is half-true, that which is (quite) untrue, none (of which is) practised by the Jinas"[1]. The positive recommendation is formulated in the next śloka :

"(But) he should, after deliberation (*samuppeham*), use a speech not exposed to doubt (*asaṃdiddhaṃ giraṃ bhāsejja*), that is (a speech) which is neither true nor untrue and (a speech) which is true, provided that it is not to be blamed or rough"

asaccamosaṃ, saccaṃ ca aṇavajjaṃ akakkasaṃ (Dasav 7.2-3)[2].

Thus, the conceptual frame is firmly set for a discussion on bhāsā to take place. The adduced definitions aim at being both clear and exact (in agreement with the complexity of reality); moreover, they expressly recognize the heterogeneity of charity and truth : further whereas, as we have just seen, Manu merely combined both virtues in, so to say, a formal fourfold pattern, the Jainas strive for complete integration and try to reconcile these sometimes contradictory requirements in a higher synthesis. Their effort can also be evaluated if compared with the

---

(ib 9-10), which stresses the necessity to expel all passions (compare, supra, ĀpDhS 1.8.23.5) :

kohe māṇe ya māyāe lo(b)he ya uvanttay ā
hāse bhae moharie vikahāsu tah'eva ca
eyāiṃ aṭṭha ṭhāṇāiṃ parivajjitu saṃjae
asāvajjaṃ miyaṁ kāle bhāsaṃ bhāsejja pannavaṃ

"To give way to anger, pride, deceit and greed, laughter, fear, loquacity and slander; these eight faults should a well-disciplined monk avoid; he should use blameless and concise speech at the proper time" (transl. H. Jacobi, SBE 45, Oxford, 1895, repr. Delhi, 1964, p. 131, and n. 2).

For other references, cf. W. Schubring, Doctrine § 173; P. S. Jaini, The Jaina Path of Purification, Berkeley . . . , 1979, 247-8); etc.

1. Dasav 7.2 :
jā ya saccā avattavvā, saccāmosā ya jā, musā
jā ya, buddhehi 'ṇāiṇṇā, na taṃ bhāsejja pannavaṃ,

2. Cp. Āyār 2.4.1.6 : *se bhikkhū va jā ya bhāsā saccā, jā ya bhāsā mosā, jā ya, bh. saccā-mosā, taha-ppagāraṃ bhāsaṃ sāvajjaṃ sa-kiriyaṃ kakkasaṃ sa-kaḍu-yaṃ niṭṭhuraṃ pharusaṃ aṇhaya-kariṃ cheda-kariṃ bheda-kariṃ pariyāvaṇa-kariṃ uddavaṇa-kariṃ bhūovaghāiyaṃ abhikaṃkha no bhāsaṃ bhāsejjā,*
"a monk or a nun, having well considered, should not use speech—truth, or untruth, or truth mixed with untruth—that is blamable, (speech which is) sinful, rough, stinging, coarse, hard, leading to sins, to discord and factions, to grief and outrage, to destruction of living beings" (trsl. partly following Jacobi).

2

Buddhist fourfold definition of *subhāsitā vācā*[1], and fourfold analysis of *anariya-vohāra*[2].

Now, though the Jaina analysis of bhāsā can be said to be comparatively clear-cut, the attached developments are not always plain to understand. Two points, nevertheless, are manifest: (1) all the prohibitions and injunctions included in the two relevant lessons of Āyār and Dasav can be shown to proceed from the above two fundamental principles, observance of truth based on *saṃjama*, and observance of *ahiṃsā*; (2) the various particular prescriptions are, in many cases, akin or similar to those which are laid down in the DhS; but, precisely because the Jaina chapters concentrate on bhāsā exclusively, all the minute rules can easily be recognized as special applications of an underlying theoretical scheme (applied examples of which are evidently liable to be multiplied); moreover, though they start from a multiplicity of particular consideration (most of which are formulated in all Indian śāstras), the Jainas obviously connect them with their own metaphysical system (and their doctrine of *jīva-nikāyas*, infra), therefore promote a more consistent and general outlook; finally, they tend to include in the bhāsā-chapter remarks which, in the DhS (also : in the Jaina suttas) mainly concern behaviour[3] : Just as bad behaviour should be shunned, words also must clearly, though not aggressively, help discriminate between good and reprehensible conduct; in all possible ways, speech shall conform to the correct norm[4]. Thus, from the Dasav and Āyār point of view, the scope of bhāsā seems almost unlimited[5].

---

1. *Idha bhikkhave bhikku subhāsitaṃyeva bhāsati no dubbhāsitaṃ; dhammaṃ yeva bh. no addommaṃ; piyaṃ yeva bh. no appiyaṃ; saccaṃ yeva bh. no alikaṃ. Imehi kho |. | catūhi angehi samannāgatā vācā subhāsitā hoti no dubbhāsitā; anavajjā ca ananuvajjā ca viññūnaṃ*, if a bh. "speak well and not badly, speak righteously and not unrighteously, speak affectionately and not unkindly speak truth and not falsehood, his speech having these four qualities, is well spoken, faultless, and not blamable by the wise", S 1.188.33-189.4 (C. Rhys Davids trsl.). With the "subhāsita-sutta" in S, compare the "subhāsita-sutta" in Sn. 78,5 ff., stanzas 450-454 (cf. infra).
2. *Cattāro anariya-vohārā. Musā-vādo, pisunā vācā, pharusā vācā, samphappalāpo*, "four are the ignoble modes of speech : lying speech, slandering speech, rough speech, frivolous speech", D 3.232. 5-6, etc., cp. M 1.42.10 ff.
3. Cf. ĀpDhS 1.11.32, supra.
4. Including the grammatical norm, infra.
5. Cf. the conclusion of Dasav 7 stanza 57 :
parikkha-bhāsī susamāh' indie
cauk-kasāyāvagae aṇissie
sa ṇiddhuṇe dhutta-malaṃ pure-kaḍaṃ
ārāhae logam imaṃtahā paraṃ–tti bemi,

Let us consider some of the examples adduced by the texts.

In Pannavaṇā, all speech inspired by the four *kasāyas*, **koha** *māṇa*..., is assimilated to lie, *mosā*[1]. On the other hand, according to Āyār, anger etc. are conducive to harsh words (2.4.1.1) that hurt (ib 6). As such, they are prohibited. For its part, Dasav explains, so to say, the śloka 7.11-35 by emphasizing twice, at the beginning, and towards the end of the development, that a wise monk must (even if it is true) avoid all "rough speech which does harm to living beings :

....*pharusā bhāsā guru-bhūovaghāiṇī*
saccā vi sā na vattavvā........ (7.11, cf. 29 c-d).

Without going into all the details and possible digressions, it is interesting to review what is prescribed and what is prohibited in the aforesaid passage. Various recommendations are met with which have been seen to be addressed either to the brahmacārin or the snātaka in the DhS. In Dasav 7.12, it is stressed that defect and mutilations should not be pointed to[2]; that various personal remarks are unacceptable (though they might be true literally speaking) for they might lead to faults of feeling and of conduct.[3] In this connexion, prescribed and recommended terms of address are specified, and detailed in six ślokas (14-19)[4]. But it is not enough to observe circumspection when addressing mankind : circumspection is necessary also when speaking of all other five sense creatures, *pancediya-pāṇa*, and, in particular, no *hiṃsā* should be suggested against them, whatever their species[5]. Cows, especially, should not be referred to foolishly :

"(he who) speaks after consideration, controls his senses well, has overthrown the four passions, (and) is without (worldly) support purges (his soul) of the dirt resulting from previous evil deeds (and) is sanctified in this world and the next. Thus I say "(trsl. Schubring). Compare Pannav chap. 11 § 830-1, the fourfold *ohāraṇī-bhāsā* : the *saccā* form is *ārāhaṇī*.

1. Cf. chap. 11 § 963.
2. *tah' eva kāṇaṃ'kāṇe' tti* .... *no vae,*
   ".... a monk should not call a one-eyed man .... " by this name; cf. Āyār 2.4.2.1.
3. *eeṇ 'anneṇa attheṇa paro jeṇ' uvahammaī,*
   āyāra-bhāva-dosa-nnū, na taṃ bhāsejja pannavaṃ,
   "because the person concerned would be hurt by this or similar statement, a thoughtful (monk) should not utter such speech, as he knows (that) faults of conduct and of feeling (would result from it). trsl. cf. Schubring. cf. Āyār 2.4.2.1-2.
4. *tah' eva "hole" "gole" tti* .... *na taṃ bhāsejja pannavaṃ*, 7.14. etc. Cf. Āyār 2.4.1. 8-11 (on how to address or not to address a man, a woman). Compare Chāndogya Upaniṣad 7.15.2.
5. Dasav 7.22.

tah' eva gāo dujjhāo dammā ....
.... n'evaṃ bhāsejja pannavaṃ[1]

So, "a thoughtful (monk) should not say : '(these) cows should be milked, tamed ....' . He should say : 'this is a young bull', 'this is a milk cow',

juvaṃ-gave tti naṃ būyā, dheṇuṃ rasa-daya tti va[2].

There can be little doubt that all these rules more or less echo what is to be found in the different sections of the DhS. But the Jainas adapt them and expatiate further. After they have mentioned the highest beings, the *pancendiya-pāṇas*, they jump to the other extremity of the animate world of the *chajjīva-nikāyas*—to the immobile *jīvas*, viz, trees (and their fruit), plants, etc.[3], which naturally must also be respected, as prescribed in ten ślokas (7,26-35) : in fact, all the jivas come to be protected thanks to the warnings against and condemnation of *bhūovaghāiṇī bhāsā*.

Thus, following the thread offered by the first part of Dasav 7 and (though perhaps not so clearly) by Āyār 2.4, we have encountered many of the prescriptions found in the DhS; it is obvious, nevertheless, that, in the Jaina suttas, they are integrated in a comparatively well-defined general structure.

The second part of Dasav 7 warns against colloquial expressions which, in fact, are misleading, as they confuse right and wrong.[4] Some concern, for instance, festive entertainments, (crossing, etc., of) rivers .... (36-39), in short, precisely those actions which are criticised in the above quoted khaṇḍas of ĀpDhS (1.11.31-32) and connected brahmanic texts : the Jainas retain most of the circumstances detailed in the DhS chapter(s), but, in the present development, they focus the attention on what is commonly—lightly *said* about them. Caution is also required if the monk should mention actions or preparations which are usually said to be "*well* done", "*well* cooked",

su-kaḍe tti su-pakke tti ....,

though they actually imply injury to living beings ! further, he should not issue orders and assertions which might be inconsiderate.[5] Thus, in all the above circumstances, the monk is warned against rashness and lack of self-control[6] :

tah' evasaṃjayaṃ ....
.... n' evaṃ bhāsejja pannavaṃ.[7]

1. Cf. Āyār 2.4.2.9.
2. Dasav 7.24-25, cf. Āyār 2.4.2.7-10. Compare supra, ĀpDhS, etc.
3. Cf. Āyār 2.4.11-16. Cf. the "lesson" on the six *jīva-nikāyas*, at the beginning of Dasav 4, ed. Leumann, p. 614-5.
4. Cf. Dasav 7. 48-49.
5. Dasav 7.41-42., cf. Āyār 2.4.2.3-6.
6. Dasav 7. 43-47.
7. Dasav 7.47; (=29 d; on the contrary *evaṃ bh. p.*, 39d=44d).

Self-control is further required when speaking of atmospheric phenomena. It will be remembered, in this connection, that Gaut DhS, etc. specify, in particular, how to mention the rain-bow (supra).[1] But, whereas the DhS seem to express some form of taboo, the Jainas aim at being accurate and consistent; the words chosen by the religious person should not contradict with the objective truths attained by the (Jaina) scientists; therefore, "he should not say that a cloud, the sky, or a man is a god, (but) he should (simply) state (the fact) that a cloud has formed itself or has risen high, or that a thunder-cloud has sent down rain" :

tah' eva meham va naham va māṇavaṃ
na deva deva tti giraṃ vaejjā;
'sammucchie unnae vā paoe'
vaejja vā 'vuṭṭhe balāhae' tti (Dasav 7.52).[2]

Moreover, the monk will naturally accept seasons and events with due equanimity.[3]

Self-control, *saṃjaya*, is all the more advocated as it often happens that false appearances are confused with truth, and hence, are conducive to lies and to sin.[4] Therefore, one should be careful when speaking of doubtful matters—an advice which is also given by ĀpDhS, as we have seen.[5] Dasav and Āyār apply this consideration to trivial remarks, especially to those concerning future events, which, by nature, are uncertain;[6] and, also, to those that concern the sex of various animals.[7]

Consequently, attention must also be paid to grammar and grammatical correction, of which Āyār recalls the fundamental constituents (2.4.1.3).[8] Thus,

1. Cf. ĀpDhS 1.11.31.16, etc. supra.
2. Cf. ib 53; Āyār 2.4.1.12-13.
3. Dasav 7.50-51; Āyār 2.4.1.12-13.
4. Dasav 7.5 :
   vitahaṃ pi tahā-mottiṃ jaṃ giraṃ bhāsae naro
   tamhā so puṭṭho pāveṇaṃ ....
   "by a speech which has the appearance of truth though it is untrue, a man is touched by sin" (trsl. Schubring).
5. Cf. Āyār 2.4.1.2.
6. Dasav 7.6-10 (compare Āyār 2.4.1.2) :
   jaṃ aṭṭhaṃ tu na jāṇejjā "evam eyaṃ" ti no vae,
   jattha sankā bhave jaṃ tu "evam eyaṃ" ti no vae,
   "if (a monk) does not know (or) has some doubt .... he should not say "it is thus" .... (Dasav 7. 8-9 (trsl. Schubring).
7. Dasav 7.21.
8. Cf. Paṇṇav § 896 (for a discussion on empirical truths, ib § 862).

the Jainas seem to advocate purism, at least as far as possible, and their attitude is noteworthy, as the Buddhists apparently deny that any fundamental connection exists between chaste speech and spiritual achievement.[1] In this case, then, as in several others,[2] the Jainas probably follow the Brahmanic trend more closely than the Buddhists do.

Be that as it may, it is obvious that the Jainas were well aware of the prescriptions concerning speech which are registered in the Dharmasāstras; moreover, in the above quoted Dasav and Āyār chapters, they appear to have added several new bhāsā rules which almost certainly stem from the same common sources, though they seem to have been suggested not so much by the actual wording (in the DhS they concern deeds) as by their location, (in the DhS, they are in the immediate context of the rules about speech).

On the other hand, it cannot be denied that the Jainas unweariedly strive to be explicit about the conceptual basis of, and reasons for, the rules they ordain. This, possibly, helped them to consider floating precepts with fresh eyes, to group them and integrate them in an organic unity. In this respect, whatever their actual sources, the Jainas can be said to have achieved a perfectly original work. Nowhere, in the Āyār and Dasav chapters, is there any mention of retaliation, or any trace of obscure fear of occult forces; on the contrary, all the percepts are well-grounded on objective considerations—whether scientific, metaphysical and/or ethical. To a certain extent, thanks to these lessons on bhāsā, we can witness how the Jainas have reconsidered generally accepted rules of conduct and recast them to build a really new, and comparatively systematic, code.

1. Cf. the commentary on the (Sn) Subhāsita-sutta, in Paramatthajotikā 2.2 (ed. Helmer Smith, London, Pali Text Society, 1917), 397.7–398.7 : *yad aññe| . | nāmādīhi padehi, lingavacana-vibhatti-kālakārādīhi sampattīhi ca camannāgataṃ vācaṃ 'subhāsitā' ti maññanti, taṃ dhammato paṭisedheti*, "what some believe, that 'subhāsita' means speech composed with words–names, etc.—possessed of gender, inflection, tense marker...., — One lawfully rightly, rejects this view—To avoid *dubbhāsita* means avoiding *pesuñña*, etc. (supra).
   Cf. the whole discussion, Pj 2.2.3966 14—398.12, and Sāratthapakāsinī (ed. F. L. Woodward, London 19... PTS) 1.272.8–274.22.
2. Cf. JACOBI, SBE 22, Introduction, p. xxix.

Abbreviations

Amg = Ardhamāgadhī;

ĀpDhS = Āpastambīya Dharma Sūtra (ed. G. Bühler, Bombay, 1968; translation G. Bühler, SBE 2, Oxford, 1879; repr. Delhi, 1965);

Āyār = Āyāraṅga-sutta (ed. H. Jacobi, London PTS 2) 1882; (Āgamodaya Samiti), saṃvat 1936 = A.D. 1880, repr. Delhi 1978; ed. Muni Jambūvijaya, Bombay, 1976 (Jaina-Āgama-Series 2. I); transl. H. Jacobi, SBE 22, Oxford, 1884);

Baudh (DhS) = Baudhāyana Dharma Śāstra (ed. E. Hultzsch, Leipzig 1884 + Id, Leipzig 1922 (Abhandlungen für die Kunde des Morgen-landes 8.4 and 16.2); transl. G. Bühler, SBE 14, Oxford, 1882, repr. Delhi 1965).

BI = Bibliotheca Indica;

D = Dīgha Nikāya (ed. T. W. Rhys Davids, London (PTS));

Dasav = Dasaveyāliya-sutta (ed. Ernst Leumann, ZDMG 46 (1982), 581-663; Puṇyavijaya and A.m. Bhojak, Bombay, 1977 (Jaina-Āgama-Series 15); transl., cf. Dasaveyāliya Sutta, ed by Ernst Leumann and translated by Walther Schubring, Ahmedabad, 1932; repr. in Walther Schubring, Kleine Schriften, herausgegeben von Klaus Bruhn, Wiesbaden, 1977 (Glasenapp-Stiftung, 13), p. 111-248);

DhS = Dharma Sūtra/Śāstra;

Gaut (DhS) = Gautama DhS (ed. F. Stenzler, London, 1876 (Sanskrit Text Society); transl. G. Bühler, SBE 2, Oxford, 1879; repr. Delhi, 1965);

M = Majjhima Nikāya (ed. V. Trenckner; R. Chalmers, London (PTS));

MBh = Mahābhārata (ed. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona)

Mn = Mānava DhS (ed. J. Jolly, London 1887 (Trübner's Oriental Series; transl. G. Bühler, SBE 25, Oxford, 1886);

PTS = Pali Text Society, London;

RV = Ṛgveda;

S = Saṃyutta Nikāya (ed. L. Feer, London (PTS));

Sn = Suttanipāta (ed. D. Andersen-H. Smith, London (PTS));

Vas = Vāsiṣṭha DhS (ed. A. A. Führer, 1883; transl. G. Bühler, SBE 14, Oxford, 1882).

UTTARAJJHAYAṆA-SUTTA XIV : USUYĀRIJJAṂ

K. R. Norman

The fourteenth chapter of the Uttarajjhayaṇa-sutta,[1] entitled Usuyārijjaṃ tells of the two sons of a purohita, named Usuyāra, who determine to leave the world and become (Jaina) monks. Their father tries to dissuade them, but fails. He follows them after they have gone forth, and is followed in turn by his wife. The king proposes to confiscate his property, but is dissuaded by the queen. He too goes forth, and the queen follows him. Jātaka No. 509 of the Pāli collection (Hatthipāla-jātaka = Ja IV 473-91) tells what essentially is the same story, although there are some minor differences, e. g. there are four sons. The parallels between these two texts, also with some verses of the Mahābhārata, were long ago noted by Western scholars, and studies of their relationship were made by Leumann[2], Franke,[3] and Charpentier.[4]

In both the Pāli and the Pkt versions the story is told in a mixture of *śloka* and *triṣṭubh* verses. In the Ja version there are 26 verses, of which 20 are *tr.* and 6 *śl.*; the Pkt version has 53 verses, of which 32 are *tr.* and 21 *śl.* Although the stories are similar, the direct parallels in the verses are not numerous. Among the *tr.* verses only six are held in common, and in several of these the parallelism extends only as far as a single pāda. Portions of three *śl.* verses in the Pāli are found in four *śl.* verses in the Pkt. On *śl.* verse in the Pkt corresponds to a *tr.* verse in the Pāli. With one exception, in *śl.* metre, the verses held in common all occur in the dialogues between the various characters in the story.

It has been pointed out by Alsdorf[5] that in such stories in mixed verse, the earliest version was probably in pure *tr.* verses, and the *śl.* verses probably

1. Abbreviations : Utt = Uttarajjhayaṇa-sutta : Ja = Jātaka; Sūy = Sūyagaḍaṃga; Mvu = Mahāvastu; MBh = Mahābhārata; *tr.* = *triṣṭubh*; *śl.* = *śloka*; v (v). = verse (s) in Utt; g (g). = gāthā(s) in Ja; Skt = Sanskrit; BHS = Buddhist Hybrid Sanskrit; Pkt = Prakrit; AMg = Ardha-Māgadhī; PED = Pāli-English Dictionary; v. l. = variant reading; cty = commentary.
2. E. Leumann, *WZKM* 6 (1892), pp. 12 foll.
3. R. Otto Franke, "Jātaka-Mahābhārata-Parallelen", *WZKM* 20 (1906), pp. 317-72 (= *Kleine Schriften*, pp. 344-99).
4. J. Charpentier, "Studien über die indische Erzählungsliteratur", *ZDMG* 62 (1908), pp. 725-47 (= Charpentier, 1908).
5. See L. Alsdorf, "Das Jātaka von weisen Vidhura", *WZKS* 15 (1971), p. 56.

represent later additions. It seems likely that this is true also of the present story, but if the earliest version was in *tr.* metre, it is nevertheless clear that some of the *tr.* verses are also later additions. The story in Utt begins with six narrative verses in *tr.* metre (vv. 1-6) which tell the background to the story. These are lacking in Ja, which has three introductory verses in *śl.* metre (gg. 1-3). Similarly the Ja story concludes with six *tr.* verses in which the queen discusses with the towns-people her intention to become a wanderer (gg. 21-26). There is no direct parallel to these in the Utt version, where the end of the story is told in five *śl.* verse (vv. 49-53).

The work done by the early scholars has stood the test of time, and when Charpentier made a new edition of Utt in 1922[1] there was little he could add to what he and others had done earlier. Since that time, however, further comparative studies, especially by Alsdorf,[2] have shed light on the relationship between Jaina and Buddhist texts, and in this paper I should like to make a further examination of some of the verses of Utt XIV and their counterparts elsewhere, in the hope that progress may be made in their interpretation and understanding.

(1) The first verse which is common to the two versions is v. 9 (⇒g. 4), in which the purohita tells his sons of the duties of a brāhmaṇa, which they should fulfil before they become wanderers. In Charpentier's edition[3] the verss reads :

ahijja vee parivissa vippe
putte pariṭṭhappa gihaṃsi jāyā
bhoccāṇa bhoe saha itthiyāhiṃ
āraṇṇagā hoha muṇī pasattā.

The Pāli version has *adhicca* in place of Pkt *ahijja*, which might be thought to show voicing of *-cc-* > *-jj-*. It is, in fact, due to a development from a different form. The Pāli is derived from *adhītya* (which occurs in the Skt version of the verse), whereas the Pkt is derived from *adhīya*, with *-īy-* > *-iyy-* > *-ijj-*.

Charpentier notes (p. 333) that Ja has *tāta* instead of *jāyā*, and he suggests reading *tāyā*. I do not understand his reference to Devendra apparently taking *jāyā* as an attribute of *putte*. According to the edition of Devendra's cty available to me, he takes it as a vocative and glosses it as *jātau putrau*, whereas he glosses *putte* as *putrān*. Although Charpentier reads *tāyā* in v. 18, which might seem to support his suggestion, he gives a v. 1. *jāyā*, and this seems to have been the reading known

1. J. Charpentier (ed.): *The Uttarādhyayanasūtra*, Uppsala 1922.
2. See L. Alsdorf, "The story of Citta and Sambhūta", *Dr. S. K. Belvalkar Felicitation Volume*, Benares 1957, pp. 202-208.
3. References to Utt are to Charpentier's edition, unless otherwise stated. References to Ja are to Fausbll's edition.

3

to Devendra, who glosses it *he jātau*. Charpentier himself reads *jāyā* again in v. 22, and once again Devendra glosses this as *he jātau*.

A Skt version of this verse occurs in the Mahābhārata in a story about a brāhmaṇa who is asked by his son about the action to be taken when the world is passing away (MBh [crit. ed] Śāntiparvan XII. 169). In the MBh the verse is followed by the equivalents of vv. 21-23. Not only does the *śl.* metre of these verses suggest that they are an addition to the story, but this is confirmed by the fact that they are lacking in the Ja version, although they do have a separate existence elsewhere in the Ja collection, at Ja VI 26, 11-16*.[1]

(2) In the version in Utt, as part of the discussion aimed at persuading his sons not to become wanderers, the purohita tells them that their action would be profitless, because the soul is not eternal. He states (v. 18) :

jahā ya aggī araṇī asanto
khīre ghayaṃ tellaṃ ahā tilesu
em eva, tāyā, sarīraṃhi sattā
saṃmucchai nāsai nāvaciṭṭhe.

Jacobi translates (p. 64):[2] "As fire is produced in the araṇi-wood, as butter in milk, and oil in sesamum seed, so, my sons, is the soul produced in the body; (all these things) did not exist before, they came into existence, and then they perish; but they are not permanent." In a footnote to his translation "soul" he states (p. 64 n. 1) : "*Sattā* is the original; it is rendered *sattva* by the commentators. Perhaps *sattā* is the prākrit for *svātmā*; at any rate the context of the next verse proves that the soul is intended."

The Jaina Viśva Bhāratī Prakāśana edition (Ladnun 1975) reads in pādas a :
jahā ya aggī araṇīu 'saṃto

and Devendra seems to have had the same reading before him when he commented : *yathaiva casyāvadhāraṇārthatvāt 'agniḥ' "araṇiu" tti 'araṇitaḥ' agnimanthanakāṣṭhāt 'asan' avidyamāna eva sammūrcchati, yathā kṣīre ghṛtaṃ tailam atha tilesu, evam eva he jātau ! śarīre sattvāḥ "sammucchai" tti 'sammūrcchanti' pūrvam asanta evotpadyante. tathā "nāsai" tti naśyanti "nāvaciṭṭhaṃti" na punar avatiṣṭhante śarīranāśe tannāśāt, iti sūtrārthaḥ.*

It would seem that Jacobi's translation is based upon the cty explanation, but this presents considerable difficulties Although Charpentier's reading *araṇī* is not easy to explain, Devendra's lemma *araṇīu* with the gloss *araṇitaḥ*, i. e. a quasiablative explained as *agni-manthana-kāṣṭhāt*, is also inappropriate, since in the context

1. See also H. Lüders. *Beobachtungen über die Sprache des buddhistischen Urkanon* Berlin 1954, § 20.
2. H. Jacobi, *Jaina Sūtras* Part II (=*Sacred Books of the East* 45), Oxford 1895.

with *khīre* and *tilesu* we should expect another locative Secondly, the explanation of *sattā* as the equivalent of Skt *sattvāḥ* necessitates the taking of *saṃmucchai* and *nāsai* as plurals, i. e. the equivalents of Skt *sammūrcchanti* and *naśyanti*. We can, however, provide a locative by dividing Charpentier's reading as *araṇīa 'santo*, and assuming that the expected Ardha-Māgadhi reading *araṇīe 'santo* was replaced by Charpentier's reading as a result of the existence of the word *asan* in the cty's explanation,

The second problem can possibly be resolved by referring to the Sūyagaḍaṁga where a similar point of view is put forward by another non-Jaina, a śramaṇa or brāhmaṇa : *se jahāṇāmae kei purise tilehiṃto tellaṃ abhinivvaṭṭittā ṇaṃ uvadaṃsejjā ayam, āuso, tellaṃ ayaṃ pinnāe, evam eva n' atthi kei purise uvadaṃsettāro ayam, āuso, āyā iyaṃ....se jahāṇāmae kei purise araṇīo aggiṃ abhinivaṭṭittā ṇaṃ uvadaṃsejjā ayam, āuso, araṇī ayaṃ aggī, evam eva jāva sarīraṃ. evaṃ asante asaṃvijjamāṇe jesiṃ taṃ asaṃte asaṃvijjamāṇe tesiṃ taṃ su-y- akkhāyaṃ bhavati, anno bhavati jīvo annaṃ sarīraṃ* (Sūy II. 1.16=Suttāgame I, pp. 137.38). Jacobi gives a somewhat condensed translation (p. 341) : "As a man presses oil from the seeds of Atasī, and shows the oil and the oil-cake separately, so nobody can show you the soul and the body separately. The same applies also when fire is churned from Araṇi-wood. Those who believe that there is and exists no soul, speak the truth."

A comparison between this passage and v 18 indicates important differences. The speaker in the Sūy passage is saying that it is possible to separate oil from oil-seed, or make fire from a fire-stick and show the two separately, but it is not possible to show the soul separately from the body. In v. 18, if we follow Jacobi's translation, the speaker is saying that oil is not in the seed, nor fire in the fire-stick, nor the soul in the body. So Sūy and Utt seem to be contradictory.

This contradiction can be resolved by assuming that we should read not *araṇīa 'santo*, as just decided, but *araṇīa santo*. We should then translate : "Like fire being in the fire-stick". It would seem that the reading in Utt, with a negative *asanto* or (with prodelision) *'santo*, and Devendra's explanation of this reading, are in fact based upon the Sūy passage. The Utt passage states (if this suggestion is correct) that the soul is in the body, just as oil is in the seed and fire in the fire-stick, and if you destroy one you destroy the other with it. In the Sūy passage it is stated that it is possible to take oil from the oil-seed and make fire with the fire-stick and show them separately, but this cannot be done with the soul and the body.

The reason for this is that one and the same illustration has been used to serve two different purposes, and other examples can be given of illustrations being used in this way.[1] It is clear that Devendra, or the cty tradition he was following,

1. I have dealt with another example in "Kriyāvāda and the existence of the soul" in *Buddhism and Jainism* (ed. H. C. Das et al.), Cuttack 1976, Part II, pp. 4-12.

did not realise this, and consequently failed to understand the contrast between the two passages. He did not see that the point of v. 18 was that the fire was in the fire-stick, and so he emended the text to read *araṇīu*, i. e. a quasi-ablative, perhaps because of the existence of the word *araṇīo* in the Sūy passage. Because the latter passage had *asaṃte*, he interpreted the word *saṃto* in v. 18 as standing for '*saṃto* = *asaṃto*, which he consequently explained as meaning *asan*;

(3) In answer to the purohita's brahmanical view of the soul, the sons give the Jaina view of the soul's permanence (v. 19). As in the case of v. 18, there is no parallel to this verse in the Pāli version, possibly because an argument in favour of the permanence of the soul would be inappropriate in a Buddhist text. This does not, however, prove that these two verses are an addition made by the Jaina redactor, since they may be an original feature which was retained by the Jainas as being in conformity with their own views, but omitted by the Buddhists because it was not as with v. 18. The interpretation of the verse is helped by the occurrence of similar views elsewhere in Jaina literature.

The sons say : *no indiya-ggejjha amuttabhāvā*
amuttabhāvā vi ya hoi nicco.
ajjhatthaheuṃ niyayassa bandho
saṃsāraheuṃ ca vayaṃti bandhaṃ.

Jacobi translates (p. 64) : "(The soul) cannot be apprehended by the senses, because it possesses no corporeal form, and since it possesses no corporeal form it is eternal. The fetter of the soul has been ascertained to be caused by its bad qualities, and this fetter is called the cause of worldly existence."

The Jaina Viśva Bhāratī Prakāśana edition differs in pāda c where it reads :

ajjhatthaheuṃ niyaya 'ssa bandho

instead of Charpentier's *niyayassa*. Devendra's cty explains : '*no*' *naiva indriya-grāhyaḥ sattva iti prakramaḥ, amūrttabhāvāt, tathā amūrttabhāvād api ca bhavati nityaḥ, tathā hi—yad dravyatve sati amūrttaṃ tad nityam ākāśavat, na caivam amūrttatvād eva tasya sambandhāsambhavaḥ, yataḥ "ajjhatthaheuṃ niyaya 'ssa bandho" adhyātmaśabdena ātmasthā mithyātvādaya ihocyante, tatas taddhetuḥ—tannimitto niyataḥ—niścito bandhaḥ—karmabhiḥ saṃśleṣaḥ, yathā 'mūrttasyāpi nabhaso mūrttair api ghaṭādibhiḥ sambandha evam asyāpi karmabhir mūrttair api na virudhyate, tathā saṃsārahetuṃ na vadanti bandham iti sūtrārthaḥ*

It seems probable that in pāda a *indiyaggejjha* is metri causa for—*ggejjho* which agrees with *nicco*. The subject of the sentence must be the same as in the previous verse, i. e. *sattā*. This shows that *sattā* must be masculine and singular, and probably stands for Skt *svātmā*. Devendra assumes that the subject is the same as in the previous verse, i. e. *sattva*, but because the verb is singular he decides that the subject too must be singular, i. e. *sattvaḥ*. In pāda c *niyaya*, as read by

Devendra, must also be masculine, to agree with *bandho.* There seems to be no reason for reading *niyaya 'ssa,* since *niyayo 'ssa* would have exactly the same metrical length. It would therefore seem better to divide the words as *niyay' assa*, i. e. to assume that the final vowel of *niyayo* has been elided before *assa*. Jacobi, taking *niyayassa* as a genitive singular, translates it as "of the soul", although this meaning does not seem to be attested elsewhere for *niyaya* or *nijaka,* from which he presumably thought *niyaya* was to be derived.

If we accept Devendra's explanation, and assume that *niyay' assa bandho* stands for *niyataḥ* (=*niścito*) *bandhaḥ asya,* we can translate "its binding is fixed, determined, settled". The rest of Jacobi's translation of pāda c seems to be an interpretation rather than a translation, since he takes *ajjhatthaheuṃ* to mean "caused by its bad qualities", which seems to be based upon the explanation : *adhyātmaśabden ātmasthā mithātvādaya ihocyante, tatas taddhetuḥ tannimitto.* This, however, implies the reading *-heū* rather than *-heuṃ,* and the assumption that the word agrees with *bandho.* There seems to be no objection to keeping Charpentier's reading, and taking it as an adverbial accusative. We can therefore translate : "because of the things connected with the soul".

(4) v. 20 is the equivalent of g. 10, which is the sons' final statement before they abandon the world. In the version in Utt it is followed by v. 27, which is the equivalent of an earlier verse (g. 7) in the Pāli version. As we shall see, it is probable that v. 27 has been misplaced, and it should really come before v. 20 The verse reads :

jahā vayaṃ dhammam ajāṇamāṇā
pāvaṃ purā kammam akāsi mohā
orubbhamāṇā parirakkhiyantā
taṃ n' eva bhujjo vi samāyarāmo,

Jacobi translates (p. 64) : "Thus being ignorant of the law, we formerly did sinful actions, and through our wrong-mindedness we were kept back and retained (from entering the order). We shall not again act in the same way". This translation seems strange, and the presence of the singular verb *akāsi* in pāda b causes difficulties.

The cty explains : *yathā vayaṃ 'dharmaṃ' samyagdarśanādikaṃ ajānānāḥ 'pāpaṃ pāpahetuṃ 'purā' pūrvaṃ 'karma' anuṣṭhānaṃ 'akāsi' tti akārṣma kṛtavantaḥ 'mohāt' ajñānāt 'avarudhyamānāḥ' nirgamaṃ gṛhād alabhamānāḥ 'parirakṣyamānāḥ' anujīvibhir anupālyamānāḥ 'tat' pāpakarma naiva 'bhūyo 'pi' punar api samācarāmaḥ, yathāvad viditavastutvād iti sūtrārthaḥ.*

A comparison with Pāli g. 10 shows the correct way of interpreting this verse. It reads :

ayaṃ pure luddaṃ akāsi kammaṃ
sv āyaṃ gahīto, na hi mokkh' ito me
orundhiyā naṃ parirakkissāmi
māyaṃ puna luddaṃ akāsi kammaṃ.

This shows that pāda b of the Utt version originally referred to a singular subject, but has been incorporated into a verse with a plural subject. This explains why Devendra has to take *akāsi* as being a plural verb. It is also clear that *orubbhamāṇā* and *parirakkhiyantā* do not refer to the past, but to the future. We may therefore translate : "As formerly we did evil because of our delusion, not knowing the doctrine, being restrained and guarded we shall not do it again".

(5) In v. 27 the sons point out that only those who are friendly with death know when they will die, and are therefore able to make plans for the future. This seems more appropriate as an answer to the purohita's suggestion that they delay their departure until they have raised sons to take their place in the home. We may deduce, therefore, that this verse has been misplaced, and it should come earlier in the story, as its Pāli equivalent (g. 7) does. The fact that in Utt it is a *śl.* verse, whereas in Ja it is a *tr.*, suggests that it was originally an addition in *śl.* metre, which was transformed into *tr.* in the Pāli tradition. If it is an addition, then the fact that its position varies in the different traditions is understandable.

The difference between Pāli *sakkhī* and Pkt *sakkhaṃ* is probably to be explained by the assumption of the palatalisation of *-a* > *-i* after the *-y-* of *-khy-* before it was assimilated and disappeared.[1] PED lists *sakkhi* and *sakkhī* as neuter and feminine respectively.[2] There is no obvious reason for the change of gender, and except for the final *-i* there is no evidence that the word is feminine here. The lengthening of the final vowel is probably metri causa, since the fifth syllable of a *tr.* pāda is usually long before the caesura when two short syllables follow.

(6) Although Alsdorf in his article about the use of the verb *vam-* to refer to the abandonment of worldly belongings and sensual pleasures states[3] that the equivalent of Pāli g. 17 is not found in Utt, it does in fact occur there, split between vv. 44 and 45. The Pāli version has *hatthattham āgatā*, while Utt reads *hatthajjam-āgayā*, for which the punctuation *hatth'* [for *hatthaṃ*] *ajja-m-āgayā* is suggested by Charpentier (p. 335).

At Ja V 347, 14 the cty explains *hatthattham* (Ja V 346, 9*) as *hatthe atthaṃ pattaṃ*, which confirms that the text being commented upon included *-tth-*, but at Ja II 383, 9* Fausbll's edition reads *hatthattam*, and the authenticity of this reading

1. See K. R Norman, "The palatalisation of vowels in Middle Indo-Aryan" *Journal of the Oriental Institute (Baroda)*, Vol. 25, pp. 328-42.
2. See PED, s. v. *sakkhī*.
3. L. Alsdorf, "Vāntam āpātum", *Indian Linguistics*, Vol. 16, pp. 21-28.

is confirmed by BHS *hastatvam* (at Mvu II 182, 4*, although the Pāli equivalent at Ja IV 459, 28* has *hatthattham*). In the Utt version, Devendra explains *ajja* as a vocative (= *he ārya*), but Charpentier suggests that it is to be derived from Skt *adya* "today" = "now" (p. 335). Since, however, the variation in spelling in Pāli indicates that there was doubt about the derivation of the word, it is possible that *-jj-* represents an attempt on the part of the scribal tradition to make sense of something which had been inherited but found unintelligible.

The fact that in the Utt version vv. 44-45 come after v. 38 (= g. 18) supports Alsdorf's view[1] that in Ja the two verses which are intended to dissuade the king (gg. 17-18) are in reverse order, and g. 18 should come before g. 17.

(7) The queen also utters v. 46 to dissuade the king from taking the purohita's possessions. It has no parallel in the Pāli version, but one exists in the Mahābhārata, in a section describing the attainment of happiness and tranquillity. The fact that it is an addition in the Utt story is shown by the fact that it is not quite appropriate in the context, and this is confirmed by its being in the *śl.* metre. It was probably added because like vv. 44-45 it deals with birds and food. The

verse reads : *sāmisaṃ kulalaṃ dissa bajjhamāṇaṃ nirāmisaṃ*
āmisaṃ savvam ujjhittā viharissāmi nirāmisā.

Jacobi translates (p. 68) : "As an unbaited (bird) sees a baited one caught in the snare, even so shall we avoid every bait and walk about, not baited by anything".

This translation is only acceptable on the supposition that the first line is some sort of accusative absolute construction, and Charpentier has drawn attention[2] to its lack of clarity. Franke had already given a reference for the Skt parallel, which was quoted by Charpentier :[3]

sāmiṣaṃ kuraraṃ dṛṣṭvā vadhyamānaṃ nirāmiṣaiḥ
āmiṣasya parityāgāt kuraraḥ sukham edhate (MBh XII. 171).

The first line means : "Seeing the eagle with bait being killed by those without bait", and this is confirmed by another verse quoted by Franke :[4]

sāmiṣaṃ kuraraṃ jaghnur balino 'nye nirāmiṣāḥ
tad āmiṣaṃ parityagya sa sukhaṃ samavindata.

Translated into Pkt, the first line of the first verse would read : *sāmisaṃ kulalaṃ dissa vajjhamāṇaṃ nirāmise*, with the instrumental plural ending *-e* instead of the more usual *-ehi*, which would not scan. It is likely that the Jaina redactor did

1. L. Alsdorf, "Vāntam āpātum" *Indian linguistics*, Vol. 16, p. 27.
2. Charpentier, 1908, p. 739 n. 2.
3. *ibid.*
4. Franke, *op. cit.* (in n. 3), p. 345 n. 1.

not recognise this rare ending-*e*,[1] and in the belief that it was a nominative in–*e* (it would be difficult to fit a locative in–*e* into the sentence), he changed it to -*aṃ*.

Charpentier stated (p. 335) that *viharissāmi* in pāda d spoiled the metre, and suggested reading *carissāmi*. He also believed that *urago* in pāda c of v. 47 made bad metre, and proposed to read *uāgo*. He further suggested (p. 333) reading *bavh-* in place of *bahu-*in pāda b of v. 7, without comment. All three suggestions are unnecessary When Charpentier made his edition of Utt little work had been done on such questions as the resolution of vowels in metrical texts. The words he queried are all examples of the common resolution of an initial long syllable in a *tr.* or *śl.* pāda.[2]

(8) The one exception to the statement that all the parallel verses occur in the dialogue is v. 48 (=g. 20). The verse reads :

nāgo vva bandhanaṃ chittā appaṇo vasahiṃ vae
evaṃ paccham mahārāyaṃ Ussuyāri (v. 1 *Usu-*) *tti me suyaṃ.*

Jacobi translates (p. 68) : "Like an elephant who has broken his fetters, go to your proper destination. O great king Iṣukāri; this is the wholesome truth I have learned". It is clear that if this translation is correct, then *tti* has been misplaced, and a comparison with Pāli :

idaṃ vatvā mahārājā Esukārī disampati
raṭṭhaṃ hitvāna pabbaji nāgo chetvā va bandhanaṃ

suggests that we take *vae* in pāda b not as an optative "you should go", but as an example of the not uncommon usage in Pkt of an aorist which has a form identical with that of an optative.[3] The name *Us(s)uyāri* would then be a nominative, not a vocative, and we should have to assume that the word *mahārāyaṃ* (or the v. l.

1. For examples of this ending in Pāli see W. Geiger, *Pāli Literatur und Sprache*, Strassburg 1916, £ 79.6, and add *guṇe desah' upāgataṃ* (Buddhavaṃsa 2.32); *dasahi kusale upāgato* (Cariyāpiṭaka 74); *aṭṭhapade pi kīlanti, dasapade pi kīlanti* (Vinaya-piṭaka II 10,17 = III 180,22; cf. —*ehi pi kīlanti* at Niddesa I 379,6-7); *citraggaler-ugghusite* (Ja VI 483,5*). For Pkt *ege jie jiyā paṃca paṃce jie jiyā dasa* (Utt 23.36); *sārīramāṇase dukkhe bajjhamāṇāṇa pāṇiṇaṃ* (Utt 23.80).
2. Se K. R. Norman, *Elders' Verses* I, London 1969, §§ 26 (d), 36
3. For a recent survey of this phenomenon, see K. R. Norman, "Notes on the Vessantara-jātaka", in *Studien zum Jainismus und Buddhismus*, Wiesbaden 1981, pp. 168-69. In view of the statement made there. (p. 169) about the normalisation of readings, it is perhaps of interest to note that in an example quoted above Mvu II 182,4* reads *āgacche* while Ja IV 459,28* reads *āgañchi*.

-rāya) had been introduced as a replacement for *mahārāyā*. We could then translate : "King Iṣukāra went forth to that auspicious (place) as an elephant breaking its fetters (goes) to its own dwelling. Thus have I heard."

Since it is in both versions, we can deduce that this *śl.* verse was an early addition to the story, and at one stage must have formed the end of the narrative. It therefore follows that everything that comes after it is a later addition, as Charpentier notes (p. 335). In both versions the reference to the queen going forth comes after this verse, and it seems possible that at an earlier stage of the story there was no mention of her doing this. Both traditions would have had no difficulty in adding independently details about her going forth, to round off the story and to give a parallel to the purohita's wife following the purohita.

We may draw certain conclusions : (a) The Utt and Ja versions of the story have six *tr.* verses in common. These are all dialogue, and are ascribed to the same speakers and occur in the same order in the two traditions. They cover the episodes of the purohita trying to dissuade his sons, their reply leading to their going forth, the purohita's decision to follow them, and his wife following him. This is the very oldest part of the story.

(b) An early addition in *śl.* metre tells of the sons' replies to their father, the queen's attempt to dissuade the king, and the king's decision to go forth. These verses were added to the story early enough for them to be in both traditions. The Pāli tradition converted the first of them into *tr.* metre.

(c) The Jaina version contains two *tr.* verses giving the brahmanical and anti-brahmanical views of the soul. These may belong to the earliest version of the story, although they are similar to passages found elsewhere in Jaina texts. The Buddhist version either never knew them, or omitted them.

(d) The version in Utt adds a dialogue in *śl.* verses about the threat to the world. These also occur in the MBh, in company with the first verse uttered by the purohita.

(e) The Utt version adds another *śl.* verse, also found in the MBh, about the greediness of birds.

(f) Each version adds separate introductory verses, in the *śl.* metre in the Ja version and in *tr.* metre in the Utt. The Utt version also adds narrative verses in *tr* metre to clarify the story. The Ja version has its prose story, so such narrative verses are not required.

4

(g) Each version adds a conclusion. The Ja adds verses in *tr.* metre dealing only with the townspeople and the queen, since the prose can tell the rest of the story. The Utt version adds verses in *śl.* metre dealing with all six participants. Both versions tell of the queen going forth, but the details may be of independent origin, since her action follows naturally after the king's, and is a parallel to that of the purohita's wife.

REFLECTIONS ON THE JAINA EXEGETICAL LITERATURE

B. K. Khadabadi

According to the Jaina tradition the teachings of Jina Mahāvīra were grasped and then composed by his close disciples, the *gaṇadharas*, in the form of *sūtras* which later on came to be orally transmitted to the successive generations of teachers. And those teachings, according to the Śvetāmbara tradition, finally settled down in writing, passing through a few redactions carried over during the course of about a millenium, as the "Ardhamāgadhī canon" consisting of same 45 sacred texts. Depending on the nature of the texts and the needs of the time, a great number of explanatory works—āgamic *vyākhyās*—were composed, at first in Prakrit, and next in Sanskrit and old Gujarātī[1] by the Jaina *ācāryas* between the period of *c.* A. D. 100-1800. This huge mass of literature is generally known as the Jaina exegesis or the Jaina exegetical literature, which has contributed its important mite to the history of Indian thought and literature. This vast literature is represented mainly by its four classes or types, namely Nijjutti (Skt. Niryukti), Bhāsa (Bhāṣya), Cuṇṇi (Cūrṇi) and Vitti (Vṛtti) or Ṭikā, mostly forming the four successive layers.

After the Jaina studies in general and the study of Jaina canonical works in particular were pioneered by the Western scholars like A. Weber and Hermann Jacobi, for several years it was the 4th class of the Jaina exegetical literature, namely the Ṭikās, that served the purpose of scholars indulging in deeper and extensive studies in the field of Jainology, both in India and in the Western countries, and in Japan. The state of knowledge of the other three classes was so poor that even scholar like Jacobi at times confounded Bhāṣya and Cūrṇi[2], and Jal Charpenteer rather conjectured the Cūrṇi as metrical[3] besides suspecting (through grammatical lapses) the metrical correctness of the Niryukti and the Bhāṣya.[4] The Niryukti, the first type of exegetical literature, being long ago ignored by the later Sanskrit commentators (the Ṭikākāras) by dropping them from their works, likewise had received scant attention in our days. It was Leumann who inaugurated a systematized study of the Niryuktis some 90 years ago, concentrating as he then did on one of them, namely the *Āvassaya-nijjutti* (*Āvaśyaka-niryukti*), extended its study over subsequent layers and allied groups, and finally called the outcome of his long, hard and sustained studies, the "Āvassya Literature". Since then the importance and magnitude of, as well as the hurdles in, the study of the Jaina exegetical literature conspicuously have come to light. But, unfortunately, as remarked by Walthar Schubring and noted by Ludwig Alsdorf,[5] "Leumann has never had a successor" —his work has not been resumed and continued[6]. The reasons for such a state of affairs in this important domain of Jaina studies can be noted as follows : the non-coming to

light of the entire exegetical material, the existence of the non-critical and unsatisfactory texts of all the four types of commentaries (parts of many of which are either mixed or intermingled), their non-availability owing to rarity of manuscripts and several of the published ones going out of print, the limited or difficult accessibility (owing to rarity) to the available ones at many centres and libraries, etcetera.[7]

Let us, then, have in brief a connected and comparative view of these four classes of the Jaina exegetical literature as known and today available.

The Niryuktis are a peculiar type of versified commentaries developed by the early Jaina teachers with a view to explaining the canonical texts. To facilitate oral transmission, they came to be composed in the form of memorial verses with catch-words that helped the teacher in instructing and explaining the holy scriptures. Actually, the Niryukti is defined as that which contains a decided or intended meaning of the terms contained in it. Alsdorf points out that the most prominent feature of the Niryukti "is the so-called *nikṣepa,* no doubt the exclusive invention of the Jaina scholars and their most original contribution to scholastic research."[8] The *nikṣepa* is a method of investigation to which any word or concept can be subjected by applying the various points of views for getting the multi-faced knowledge of the same. Such being the nature of the Niryukti, it did not much help in understanding the meaning of the corresponding canonical text. Hence other explanatory verses were, at later stages, inserted or added. The result was the emergence of the Bhāṣya, the next class of the Jaina exegetical literature. The available Niryuktis are ten in number and tradition attributes them to Bhadrabāhu I (B. C. 300). But Leumann, after deep study, has attributed them to the Bhadrabāhu of A. D, 100[9] though a group of scholars now-a-days take the bulk of them to be posterior to the Valabhi Synod II (*c.* A. D. 454/457 or better A. D. 503/516).[10] The Niryuktis have not been written on all the canonical texts but only on the most important ones, those that formed the nucleus of the canonical material and required that kind of explanations. They contain, on the average, a few hundred verses. But the *Āvaśyaka-niryukti* has the largest number of verses and it is said to be complete and scientifically presented.

As noted above, from the later additions and insertions of the further explanatory verses into the body of the *Niryukti*, there emerged the Bhāṣya type of exegetical literature. This phenomenon has been explained by different scholars in differing ways. I would rather quote here H. R. Kapadia : "Nijjutti contains verses really belonging to it and some of the corresponding Bhāsa too; but the former preponderate over the latter. Similarly Bhāsa consists of verses which legitimately belong to it; and in addition, it has some verses of the relevant Nijjutti as well; but the former exceed the latter in number."[11] This means that the verses in the extant corresponding texts of these two classes of exegetical literature are partly intermingled. We today possess no Bhāṣyas for 5 Niryuktis, (There is no

certainty whether these ever were written). The total number of the currently available Bhāṣyas on the canonical texts is 11, which are broadly dated between A. D. 500-700.[12] Most of the Bhāṣyas comprise a few thousand Prakrit verses each. Re-explanatory processes at length in the case of some important scriptural texts like the *Āvassaya* have produced extraordinary commentaries like the *Viśeṣ=Āvaśyaka-Bhāṣya* (*c*. A. D. 585-590) that comprises the more ancient *mūlabhāṣya* as well as the Bhāṣya, and the Viśeṣabhāṣya, the author Jinabhadra gaṇi Kṣamāśramaṇa (latter half of the 6th cent. A. D.) is prominent among the Bhāṣyakāras, besides Saṅghadāsa gaṇi Kṣamāśramaṇa.

The Cūrṇis mark a new phase in the growth of the Jaina exegesis, both in respect of form and linguistic trait. They are mostly in Prakrit prose with the mixture of Sanskrit in varied degrees.[13] This indicates the need of the time—the Jaina Ācāryas being tempted to begin to adopt Sanskrit too in their exegetical writings, a trend that further paved the path for the latter commentaries in Sanskrit, namely the Ṭikas. Cūrṇis are found to have been written on some 20 canonical works between *c*. A. D. 600-700. The prominent of the Curṇikāras is Jinadāsagaṇi Mahattara. It may be noted that the sub-domains of Bhāṣya and Cūrṇi cannot be duly demarked chronologically; at least one Bhāṣya is posterior to the earliest Cūrṇis; but a Bhāṣya on which we have a Cūrṇi is assuredly anterior to that particular Cūrṇi. The main value of the Cūrṇis lies in the preservation of the old Prakrit narratives in their own grand style. And several quote from works now lost. Leaving aside the mixture of Sanskrit, the Cūrṇi, on the whole, may be said to have contained the full text of the traditional exegesis that was passed on from tongue to tongue in early days.

When we come to the Ṭikās we find some interesting features of form, language, exegetic methodology, etcetera. They are in Sanskrit prose. Most of them, however, preserve their narrative parts in Prakrit—in almost the same form and content as in the Cūrṇis.[14] They explain the Niryukti verses as well as the Bhāṣya verses, many a times alternately and often adopting and brandishing the technique of the Brahmanic Nyāya school. There has been at least one Ṭikā for almost every canonical work. Haribhadra Sūri (8th cent. A. D.) happens to be the first among such commentators and most of the remaining commentators flourished between A. D. 800-1300, though the Ṭikās continued to be written till A. D. 1600.

My interest in and curiosity for the Jaina exegetical literature led me through some of these works and the concerned ctitical writings of some modern scholars and made me acquaint myself pretty well with these four classes or layers of the Jaina exegesis, a very succinct account of which I have so far tried to give. But some of Alsdorf's observations in this regard, presented very concisely,[15] most particularly drew my attentien. They are :

'To quote Schubring (*Doctrines.*, p. 63): "As long as such insertions were limited, the title of Nijjutti remained .... but when the size of the latter had swollen up owing to an extraordinary number of Bhāṣya verses, it was they who gave the whole work its title." What this explanation fails to make clear is the relation between Bhāṣya and Cūrṇi. According to Schubring, the Cūrṇi is a commentary on the Nijjutti as well as on the Bhāṣya, but in some cases the Cūrṇi follows immediately on the Nijjutti without a Bhāṣya in between, I am afraid these views are based on a misunderstanding of the true character of the Bhāṣya. My own opinion will be given with some reserve; it may have to be modified after a more extensive study of the whole Bhāṣya literature. But a comparison of the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* with the *Āvaśyaka-cūrṇi* leaves to me no doubt that the former is a mere versification of the prose tradition represented by the latter. I believe that certainly in this case, and probably also generally, Ṭīka and Bhāṣya represent two parallel developments: the Ṭīkā changes the Prakrit language of the Cūrṇi to Sanskrit but keeps to the prose form; but the Bhāṣya versifies the traditional prose yet keeps to the Prakrit language. It is perhaps not too bold to see in the Bhāṣya an attempt at the continuing, beside the new Sanskrit exegesis, the old Prakrit tradition in a new form. This new form may indeed have been suggested by the progressive insertion of Bhāṣya stanzes into the Nijjuttis; but that the Bhāṣya really marks a new departure is shown by its very size which is a multiple of that of the average Nijjutti; it is underlined by distinguishing the 257 Bhāṣya stanzas inserted into the *Āvaśyaka-nijjutti* as 'Mūlabhāṣya' from the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* of Jinabhadra.

After going through this passage we find that Alsdorf proposes to present here (of course, with some reservation and subject to modifications after thorough investigation), his opinion about the true character of Bhāṣya mainly through the following lines of thinking :

(i) The comparison of the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* with the *Āvaśyak-cūrṇi* undoubtedly shows that the former is a mere versification of the latter.

(ii) Ṭıkā and Bhāṣya (the *Āvaśyaka-ṭīkā* and the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* and also other Ṭikās and Bhāṣyas) represent two parallel developments :- (a) The Ṭīkā changes the Prakrit language of the Cūrṇi to Sanskrit but keeps to the prose form; (b) the Bhāṣya versifies the traditional prose but keeps to the Prakrit language.

(iii) In the Bhāṣya one sees an attempt at continuing, besides the new Sanskrit exegesis, the old Prakrit tradition in a new form.

Now examining the first line of thinking of Alsdorf's opinion, of course on the basis of my own comparison of the two works of the Jaina exegetical literature, namely the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya*[16] and the *Āvaśyaka-cūrṇi*,[17] I find that the learned Professor's attention has, some how, missed the narrative element which prominently appears in the *Āvaśyaka-cūrṇi*, wherein the *kathānakas* are narrated in beautiful Prakrit prose. On the other hand, the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* is

satisfied by merely giving a very brief summary of the narratives, or rather by merely quoting the concerned Niryukti verses containing catch words of the respective narratives. For example, after mentioning in v. 3332 (which also happens to be the Niryukti verse No. 865) the eight names of religious heroes to be exemplified in respect of *sāmāyika*, the *Viśeṣa = Āvaśyaka-bhāṣya* disposes off the eight narratives in just 17 verses (3333-3349). The narrative of Cilātīputra is given here in just four verses (3341-3344), which, also, happen to be the Niryukti verses 872-875.[18] On the other hand, in the *Āvaśyaka-cūrṇi* the tale of Cilātīputra is fully and beautifully told in Prakrit prose on pp. 497-498, and this prose narration is followed by the same Niryukti verses (872-875) by way of its closure with an apt quotation.[19] Hence the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* cannot be said to be a mere versification of the prose tradition represented by the *Āvaśyaka-cūrṇi*. Second, the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* comprises Mūlabhāṣya, Bhāṣya and Viśeṣabhāṣya verses. Such composition cannot be said to be a single (planned) attempt at representing the old prose tradition. Third, when we go to extend such comparison of Bhāṣya and Cūrṇi to some other similar cases, we find that the comparison does not stand at all: The *Dasaveyāliya-bhāsa* comprises 63 verses[20] and the *Uttarajjhayaṇa-bhāsa* comprises just 45 verses;[21] how, then, can these stand comparison with the corresponding Cūrṇis which are pretty bulky prose texts? Hence Bhāṣyas cannot be said to be mere versification of the prose tradition represented by Cūrṇis.[22]

Further, we can also say that Ṭīkā and Bhāṣya cannot represent two parallel developments: Because, we have just seen in the foregoing how the Bhāṣya type of exegetical literature emerged and now it is essential to note that Ṭīkā changes the Prakrit language of the Cūrṇi (already in prose) to Sanskrit as per the need of the time, which fact has been already indicated by the mixture of Sanskrit with Prakrit appearing in the Cūrṇī itself. And one's viewing in the Bhāṣya an attempt at continuing the old Prakrit tradition in a new form, applies only to the extraordinary commentaries, like the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya*.

I find that the history of the genesis and growth of these four layers of exegetical literature that developed around the Jaina canonical texts, remains condensed in a single aphoristic observation of Schubring[23]: "The commentaries on the canonical texts represent the apprehensions of their time", on which I would comment as follows: An early nucleus of the canonical texts was provided with the Niryuktis—comprising memorial verses with catch words, leaving the other explanatory and instructional matter to the teacher. These Niryukti verses, along with the canonical Sūtras, later required to be further explained, leading as it did to the composition of Bhāṣyas. Some Bhāṣyas, like the *Āvassaya* (*Āvaśyaka*), the *Kappa* (*Kalpa*), and the *Nisīha* (*Niśītha*) had to indulge in further detailed explanations of philosophical, dogmatical and disciplinary matter and, consequently, they swelled to considerable size.[24] The Cūrṇis embarked on the prose style, almost assuming the written form for the old full oral exegetic tradition, which earlier was

maintained with the memorial verses containing catch words; but, as the same time, the Cūrṇis indicated their temptation to switch over to Sanskrit by partially admitting Sanskrit into their regular Prakrit medium. The Ṭīkās, then, fully realized this temptation of the Cūrṇis, imbibing scholastic techniques of the Brahmanic Nyāya school and displaying them well in their commentarial efforts.

After getting introduced fairly well to these four types of the Jaina exegetical literature, some interesting questions stand before us : Why do we have no Bhāṣya for every Niryukti ? Or, why Niryuktis like the *Āyāra* and the *Sūyagaḍa* remained free from later additions and insertions of explanations ? Why some Cūrṇis stand independent of Bhāṣya ? Why should a Bhāṣya, like that on the *Dasaveyāliya* (*Daśavaikālika*) comprise just 63 verses ? We cannot bundle off all these and many such other questions by simply saying that all the exegetical works (in different layers too) have not come down to us. But we have to apply ourselves, first and foremost, to bringing out critical editions of the available exegetical works and to study them intensively, extensively, and comparatively, so that we may be able to answer all such questions and also know many new facts about and facets of the Jaina tradition, history, dogmatics, theology, philosophy, metaphysics and hence the Jaina contribution to Indian thought and literature. This would be possible only when we will have some Leumanns, in India and Japan, and of course in the West, who would produce scholarly studies like 'Āyāra Literature', 'Dasaveyāliya literature', 'Nisīha Literature', etcetera.

Notes and References

1. There could have been also produced some such exegetical works in Apabhraṁśā, old Hindi and old Rājasthāni. But I have no knowledge of their existence.
2. Walthar Schubring. *The Doctrines of the Jainas*, Delhi 1962, p. 83, f. n. 5.
3. *Ibid.*, p. 83, f. n. 3.
4. Ibid., p. 84, f. n. 3.
5. *Vide* "Jaina Exegetical Literature and the History of the Jaina canon", in *Mahāvīra and His Teachings*, Bombay 1977.
6. Alsdorf and his team of scholars were said to have been trying to do it in Hamburg. *Vide* Alsdorf, "Jaina Exegetical.", p. 8.
7. (i) Last year I intended comparatively to refer in respect of the "Cilātīputra Kathānaka", to all these four types of commentaries on the *Āvassaya.* I had to borrow, with difficulty, the *Viśeṣ = Āvaśyaka-bhāṣya* Volumes from the Rajaram College Library, Kolhapur. And when I sat for my job with all the works, the uncritical and intermingled texts, with neither tables of contents nor indexes of any kind, tired me for days together until I received a reminder from Kolhapur to send back the borrowed Volumes.

(ii) At the same time I cannot fail deeply to appreciate the generous lending hand of the rich Rajaram College Library, which I many a time have availed.

8. Alsdorf, p. 8.

9. Mohanlal Mehta (after Muni Puṇyavijayaji), however, states that this Bhadrabāhu happens to be the brother of the great astrologer Varāhamihira and hence is placed between 500-600 V. S. Vide *Jaina Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa* (Hindi) (Part III), Varanasi, 1967, intro., p. 9.

10. Only this date can synchronize with the Maitraka ruler Dhruvasena's date. This alternative, seemingly providing a more valid date, is based on computing at B. C. 477 the *Nirvāṇa* of Mahāvīra.

11. *A History of the Canonical Literature of the Jains*, Surat 1941, p. 123. (However, most historical synchronisms are possible if B. C. 477, in lieu of B. C. 527, is taken as the date of *Nirvāṇa* of Jina Mahāvīra.)

12. M. A. Dhaky recently has narrowed down this bracket to *c*. A. D. 550-600, just as *cūrṇis* to *c*. A, D. 600-700.

13. Alsdorf observes that the amount of Sanskrit in a *cūrṇi* indicates its relative age—the more Sanskrit the later the *cūrṇi* : "Jaina Exegetical.", p. 8.

14. Some commentators, however, have rendered the Prakrit narratives in Sanskrit.

15. Alsdorf, p. 8.

16. Part II, Ratlam 1937.

17. (i) Part I, Ratlam, 1928.
(ii) *Vide* also *Āvaśyakasūtra* (Part III), Surat 1936.

18. *Op. cit.*

19. *Op. cit.*

20. Kapadia, *The History of the Canonical.*, p. 189.

21. *Ibid.*, p. 189.

22. In point of fact there is hardly any *cūrṇi* on any *āgama* which can be said to precede its *bhāṣya.*

23. *The Doctrines.*, p. 82.

24. The mentioned Bhāṣyas contain 4847, 8600 and 6439 verses respectively. *Vide* Kapadia, pp. 187-190.

TĪRTHAMKARAS OF THE FUTURE

Nalini Balbir

I wish to express my deep gratitude and respect to Pandit Dalsukh D. Malvania. Useful discussions on the subject of Future Tīrthaṃkaras have been provided to me by his undeservedly little known study of the Ṭhāṇaṃga and Samavāyāṃga (Ahmedabad, 1955; in Gujarati). Moreover, in September 1981, in Ahmedabad, I had the good fortune to read with him the relevant portion of the palm-leaf manuscript of Bhadreśvara's Kahāvalī which he had himself thoroughly analysed in a paper read at the first International Symposium on Jaina Canonical and narrative Literature (Strasbourg, France, 16-19 June 1981). I am happy to be able to include here some material from this text.

1. Data about Future Tīrthaṃkaras :
    - 1.1. Statements about the existence of Future Tīrthaṃkaras ; list-material.
        - 1.1.1. Canonical sources.
        - 1.1.2. Later Śvetāmbara lists.
        - 1.1.3. Collation of the Śvetāmbara data.
        - 1.1.4, About the Digambara lists.
    - 1.2. Narrative sources.
        - 1.2.1. Narrative sources concerning, F. Ts' careers.
2. Ethical aspects connected with F. Ts.
    - 2.1. Tīrthaṃkarahood in the chain of rebirths.
    - 2.2. Original context and later use of the Tīrthaṃkaranāmakarman notion.
3. Notes on Buddhist counterparts.
   Conclusion,
4. Synoptical chart.

A symmetrical conception of Time lies in the background of the oldest Jaina cosmological descriptions : on the one hand the sixfold descending half-cycles (Sa. *avasarpiṇī* Pk. *ossappiṇī*), and on the other hand the future sixfold ascending half-cycles (Sa. *utsarpiṇī* ; Pk. *ussappiṇī*) which endlessly "follow directly upon one another in unbroken succession" on the Wheel of Time.[1] The "Great Men" of the former, among whom are Mahāvīra and the other Tīrthaṃkaras who came before him, are fairly well-known from numerous Jaina sources of various types, and have for a long time[2] aroused the interest of many scholars. In contrast, the "Universal History" of the coming age appears to have been comparatively neglected in modern studies[3] in the belief that it is a mere repetition of the avasarpiṇī one.

I do not claim here to exhaust the subject; I shall mainly focus on data connected with the F. Ts. as they occupy a prominent position in the available sources, when compared to other categories of mahāpuruṣas, viz. Cakravartins, Baladevas, Vāsudevas and Prativāsudevas

1. Data about F. Ts.

1.1. Statements about the existence of F. Ts. : utsarpiṇī-mythology and lists of F. Ts.

1.1.1. Canonical sources will be reviewed first : their collation may be of some help for the question can rightly be asked as to the antiquity of the concept of future Tīrthaṃkaras in Jainism : do they form an original part of the Jaina mythology or are they a later addition, added for the sake of perfect symmetry in the description of the Universe ? Though less important *past* Tīrthaṃkaras sometimes also have their place in the texts....[4]

At an early stages, an indirect statement about the existence of 24 F. Ts. as a whole is to be found in the Viyāhapannatti (5th Aṃga), in an old chapter belonging to the nucleus of the work (XX,8)[5]. It is put both in Gotama's and Mahāvīra's mouth :

Jambuddīve dīve Bhārahevāsa āgamessāṇaṃ carima-Titthagarassa *Kevaiyāṃ kālaṃ titthi aṇusvjjissai ? Goyamā, jāvaie ṇaṃevaiyāiṃ saṃkhejjāiṃ* āgamessāṇaṃ carima-Titthagarassa *titthe aṇusajjissai* (S. I, 805,3-5).

"....How long will the Lore survive the twenty-fourth future Tīrthaṃkara ? —The Lore will survive the twenty-fourth Tīrthaṃkara by the same definite number [of thousand of years] as...."[6].

While an extensive list of the 24 Ts' names from Ṛṣabha to Mahāvīra has been supplied in a preceding passage of the Viy (XX, 8, 3a)[7], not a single name is quoted in the present case at the sūtra level[8]. But no conclusion can be drawn from this fact. On the other hand, no place seems to be alloted to the F. Ts. in the debates about time-divisions put forward in the fifth Aṃga.

The Āyāraṃgasutta (I, 4, 1, 1), an earlier part of the Canon, might suggest the idea that a complete Jaina mythology was fixed at a very early date :

se bemi : je ya aīyā, je ya paḍuppannā, je ya āgamissā arahantā bhagavanto, savve te *evaṃ āikkhanti, evaṃ bhāsanti, evaṃ pannaventi, evaṃ parūventi*[9] (S. I. 13,27-28).

"The Arhats and Bhagavata of the past, present, and future, all say thus, speak thus, declare thus, explain thus."[10]

However, I would rather interpret these lines as a general utterance, as a standard stock-phrase to express totality[11], insisting upon the everlasting character of the

Jinas' teachings[12] (cf. *savve te*). Concern with the effective existence of Jinas at a given time is not specially relevant in this dogmatical context (as is also shown by the Āyāraṃga epexegetical tradition, cūrṇi, followed by Ṭ) : past and future Ts. are said to be infinite in number, as time has neither a beginning nor an end[13]. Thus, here, the number 24 does not apply to them just as it does not apply to the present Ts. who all together are alleged to be 170[14].

In contrast, detailed material regarding F. Ts. is included in the Samavāyaṃga (4th Aṃga), the Ṭhāṇāṃga (3rd Aṃga), and the Titthogālī (Paiṇṇa ? infra), viz. in the middle or later Canonical texts. The bulk of it is gathered in ready-made lists which either supply only the F. Ts.' names or their names together with those of their previous souls, or these latter alone Canonical narrative documentation will be considered separately (1.2),

The first fairly elaborate treatment of the utsarpiṇī is to be found in the *final* portion of the Samavāyāṃga (S. I. 381-383) : there the information is presented in tabular-form, in prose for the general outline and in verses (ślokas, āryās) for the lists. It is the exact counterpart of the systematic exposition worked out in the case of avasarpiṇi-Great Men, covering both the Bhārata and Airāvata Lands. Complete data, however, is not provided for all the headings introduced in the development (below). Thus, the general picture is as follows :

A. List of the seven "family-founders" (Pk. *kulagara*)[15] to be born in Bharata : S I, 381, 19-22* Ṭhāṇ, S I, 281, 10-12.* List of the ten kulagaras to be born in Airāvata : S I, 381, 22-24; the names are identical with those occurring in Ṭhāṇ, S I, 313, 4-6, but the order is different.

B. "Great Men" of Bharata.

1. The 24 F. Ts. are dealt with under eight headings ("slots") : (1) their names, and (2) the names of their previous births are enumerated in full, in two independent and successive lists (S I, 381, 25-382,8*; see the chart, below (4); they will be discussed later on (1.1.3 After this the slots for their (3) fathers, (4) mothers, (5) first male disciples, (6) first female disciples, 7) first donor, (8) sacred tree, are not supplied with names (382, 8-11).

2. The 12 future Cakravartins: (1) the list of their names is given (382, 12-14*); whereas the lists of their (2) fathers. (3) mothers and (4) wives are not elaborated.

3, The 9 future Baladevas and Vāsudevas (382,17-28). Their names are listed (21-23*), together with those of their enemies (*paḍisattu*, 382, 26-27*). The other headings (mothers, fathers, previous births, etc.) are not detailed.

C. "Great Men" of Airāvata. For the F. Ts' names only are listed (S I, 382, 29–383,8*); the above headings are mentioned and also have to be applied to the other categories of mahāpuruṣas (383, 8-14).

Fragmentary but important information is contained in the ninth section of the *Ṭhāṇāṃga*. The three main points are :

(i) A first list records the names of nine souls contemporary with Mahāvīra who are destined to become Ts. in the future :

samaṇassa ṇaṃ bhāgavao Mahāvīrassa titthaṃsi ṇavahiṃ jīvehiṃ Titthagara-ṇāma-gotte kamme ṇivvattie, taṃ jahā : (1) *Seṇieṇa,* (2) *Supāseṇaṃ,* (3) *Udāiṇā,* (4) *Poṭṭileṇam aṇagāreṇaṃ,* (5) *Daḍhāuṇā,* (6) *Saṃkheṇaṃ,* (7) *Sayaeṇaṃ,* (8) *Sulasāe sāviyāe,* (9) *Revaīe* (or 9) *sāviyāe Revaīe*). (S I, 299, 7-9).

Abhayadeva's Ṭ breathes life into these figures in various ways (ed. Agamodaya Samiti, p. 432b-433b). He merely points to their identities : (1) The king Sreṇika is well-known (infra 1.2); Supārśva is Mahāvīra's uncle.[16] He relates short accounts in Sanskrit for the others (cf. 4 below), but in one case fails to do so : (5) *Dṛḍhāyur apratītaḥ.* He warns against possible misunderstandings in the case of two characters bearing identical names : (4) Poṭṭila of the Ṭhāṇ seems to be different from Poṭṭila of the Aṇuttarovavāiya-dasāo (chap. 3).

(ii) This is followed by the names of the nine souls who, according to the sūtra, will attain final Siddhi in the utsarpiṇi (S I, 299, 9-12); short stories in Sanskrit are handed down by Abhayadeva (Ṭ, p. 434a-b; cf. 4).

.... (1) *Kaṇhe Vāsudeve,* (2) *Rāme Baladeve,* (3) *Udae Peḍhālaputte,* (4) *Poṭṭile,* (5) *Sayaye gāhāvaī,* (6) *Dārue niyaṇṭhe,* (7) *Saccaī niyaṇṭhīputte,* (8) *sāviya-buddhe Ambaḍe parivvāyae,* (9) *ajjā vi ṇaṃ Supāsā Pāsāvaccijjā āgamessāe ussappiṇīe cāujjāmaṃ dhammaṃ pannavaittā sijjhihinti jāva antaṃ kāhinti.*

According to the Ṭ, however, some heroes will attain Tīrthaṃkarahood, whereas others will reach Omniscience :

eteṣu ca madhyama-Tīrthakaratvenotpatsyante kecit, kecit tu kevalitvena (p. 434b). Be that as it may, a comparison with the Samav. list (see 4) shows that except for Supāsā, a disciple of Pārśva's disciple (Ṭ, 434b), the eight remaining characters do occur among those destined to become F. Ts. Thus, the traditions handed down by the third and fourth Aṃga, though embedded in different contexts, show a general consistency : 14 names, out of 24, are common to both texts. Two, Poṭṭila and Sataka, occur twice in the Ṭhāṇāṃga.[17]

(iii) Sreṇika's life as a F. T. (S I, 299, 13-302, 17) : see 1.2.2.

Finally, a general survey of utsarpiṇī-mythology is found in the *Titthogālī,* "The Degradation of Tīrthas"[18], a Prakrit work sometimes included among the Paiṇṇas.[19] According to Pandit D. D. Malvania, it must have been "completed

in 5th century of Vikrama era".[20] The Śreṇika-episode is alloted an important place (ga. 1025-1112) : see 1.2.2.

As in the Samav, lists of all the categories of mahāpuruṣas are given. Differences between the two works mainly concern the marginal elements, i.e. the kulagaras and Airāvata.

A. Names of the seven kulagaras to be born in Bhārata in the second utsarpiṇī-phase (gā. 1004-1006; Samav). The seven kulagaras of the Airāvata (1007-1009; Samav : 10 kulagaras). Condition of the world at that time (1011-1023).

B. Birth of Jinas, Cakrins and Dasāras (i. e. Vāsudevas) in the third utsarpiṇī-phase (1024ff).

The 24 future Tīrthaṃkaras of Bhārata (1115-1121). Their names only are listed : see the chart.

The 24 F. Ts. of Airāvata (1122-1127; Samav in spite of common elements).

The 12 Cakrins of Bhārata and their treasures (*nidhi*) : 1131-1146.

The 9 Vāsudevas and Prativāṣudevas of Bhārata (1147-56). Thus, 54 mahāpuruṣas in all.

C. The fourth to sixth utsarpiṇi-phases (1157-1171).

Concern for exhaustiveness regarding time and space is apparent from the manner of exposition : the six periods of utsarpiṇī are considered; although only the main Bhārata and sometimes Airāvata-Lands are detailed, care is often taken to state that the same things are also seen in the remaining kṣetras.[21]

1.1.2. Later Svetāmbara : cf. 4.

F.Ts' names are enumerated in :

(i) Nemicandra, Pravacanasāroddhāra (11th cent.[22]) gā. 293-295.[23]
They are inserted in an almost exhaustive survey of Ts. from the point of view of both time and space. Thus : Ts. of Bhārata (288-295) including the 24 Ts. of the past (288-90), of the present (291-92) and of the future; Ts. of Airāvata (296-303), of the present (296-99; cp. Samav, S I, 381, 13-19*) and of the future (299-302; cp. Samav, S I, 382,29-383,8*).

(ii) Hemcandra, Abhidhānacintāmani i, v. 53-56 (65-70).[24]

Their names along with those of their previous incarnations are recorded in the following works embedded in the context of general exposes of Jaina mythology of the future ages. The connection between both is explicitly stated by the use of ordinal numbers.

(iii) Nemicandra, Pravacanasāroddhāra, gā. 458-470.

(iv) Hemacandra, Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita, X, 13, 187-200.[25]

(v) Bhadreśvara, Kahāvalī, "ms S2", uttarārdha, fol. 238a (ca. 12th cent.), in Prakrit.[26] The text is sometimes very corrupt, but collation with other Śvet. texts may help to improve the readings. However, I have tried to keep the names as they are read.

(vi) Jinaprabhasūri, Apāpābṛhatkalpa, in Prakrit prose, p. 47, 7-21 in Vividhatīrthakalpa, also called Dīvalīkalpa (14th cent. A.D.)[27]. The account of utsarpiṇī-mythology is narrated by Mahāvīra as an answer to Goyama's question.

(vii) All the existing tradition is stored up, as it were, in Vinayavijaya's Lokaprakāśa (saṃ. 1708 = 1651 A.D.) : sarga XXXIV, p. 552b, 18-557 b, 17 (v. 292-406).[28] Hence the value of this composite work which supplies quotations of isolated statements relevant to individual F. Ts.[29] as well as entire passages occurring in the Apāpābṛhatkalpa (on p. 556b), and the Samav (p. 557a). The Pravac is referred to as having identical contents : *Pravacanasārodhāre 'py evaṃ dṛśyate* (but op. below). Where appropriate, f. Ts' names and those of their corresponding former births are accompanied with versions of the stories already known from Ṭhāṇ Ṭ etc. (cf. 4). But no new narrative not already known from earlier sources is adduced.

(viii) Stotra literature also hands down this type of double list based on one or the other of the above mentioned works : e. g. *Bhāvi-caturviṃśati-Jina-stavana* in Sanskrit by Dharmaghoṣa-sūri[30]; *āvatī covīśī nū caityavandana*[31] in Gujarati, etc. These hymns are naturally less numerous than those to the avasarpiṇī-Ts. considered together or individually.

1.1.3. collation of the Śvetāmbara data; notes about the chart (4).

The textual documentation regarding utsarpiṇī-Ts. is undoubtedly characterized by variations and discrepancies, in spite of a general unity. The Jaina writers are fully aware of such disagreements. Actually the absence of a well established tradition, and the contradictions between treatises are adduced as justification for the future Jinas not being dealt with in detail :

ete (i. e. Jināḥ) *ca tathāvidha-sampradāyabhāvāt śāstrantaraiḥ saha visaṃvāditvā ca na viśeṣato vivṛtāḥ* (Pravac Ṭ, p. 112a)[32].

They are not only noticed between different works, but in the case of samav- even within the same work. The Pravac Ṭ again takes note of it : *evaṃ agre 'pi nāma-viṣaye yatra kva cit samavāyāṅgadibhir visaṃvādo dṛśyate tatra matantaram avaseyam* (p. 81a).

On the other hand, it had already been underlined by A. Weber that, for the part concerned here, viz. the very last section of the Aṃga, the manuscripts considerably vary in the amount of data given[33]. I have not consulted any manuscript. But the Samav is extensively quoted by later authors who must have taken it as the standard because it was the only canonical source for F. Ts. Thus variants affecting the Samav have also some bearing on them. The relevant portions as they are handed down in Siddhasena's Ṭ on Pravac (p. 81a) and the Lokaprakāśa add to the available editions, viv. Suttāgame (cf. 1.1.1); ed. with the Ṭ of Abhayadeva who remains completely silent on F. Ts (Bombay, 1918, p. 153b-154a); Ladnun ed.—Angasuttāṇi, ed. Muni Nathmal vol. I. p. 651-652 is convenient as it contains variant readings. From F. T. 1 to 11 all agree except for the name of F. T. 6 : the option between Devassuya and Devagutta in the Samav is also reflected in the later lists. In contrast, two traditions are available from F. T 12 to 24, depending on the interpretation of the expression *savvabhāvaviū Jiṇe*. They are bracketed together on the chart :

> (7) *Udae*, (8) *Peḍhālaputte ya*, (9) *Poṭṭile*, (10) *sattakitti ya*, (11) *Muṇisuvvae ya arahā*. (12) *savvabhāvaviū Jiṇe*, (13) *Amame*, (24) *Anantavijae iya*.
>
> (Samav, S I, 381, 27*)

In order to get the total required number of 24 F. Ts it has to be taken here as the proper name of a Jina. However, in the Lokaprakāśa quotation, alone, it has to be understood as a general qualification applied to the Arhats, for a new name, Bhadda, has been introduced as the F. T. 24 :

> ....(11) *Munisuvvate ya arahā, savva-bhāva-viū Jine*/ (12) *Amame*.../ (24) *Bhadde ti ya* (Samav as quoted Lokap. 567a, 3-5).

To some extent, the problem is solved in a similar way in the Titthogāli by the addition of Tiyya, or Tivvaya, as F. T. 24, but this name is not transmitted in any other text[34]. Be that as it may, this fact certainly accounts for disagreements regarding the serial-number i. e. the position occupied by the F. Ts. in the lists : e. g. F. T. Amama is No. 12 or 13 : the contradiction is pointed out in the Lokaprakāśa (557a, 10ff.); T. 17 is Samādhi or Citragupta, etc. Individual narrative accounts, which I shall try to analyze (1.1.2), will help to ascertain to what extent these differences are rooted in the literary tradition or which is the prevalent trend.

On the other hand, there is a clear demarcation-line between two groups of the texts at the level of the F. Ts' former lives : on one side we have the Samav, Pravac and Apāpābṛhatkalpa, and on the other, the Kahāvalī, Triṣaṣṭi and Lokaprakāśa; hence the order followed in the chart in spite of the chronology : See, for instance, Poṭṭila against Udāyi in No. 3[35]; Kekasī and Reyalī as Nos. 9 and 10.

1.1.4. About the Digambara lists of F. Ts.

They are included in a general picture of the utsarpiṇī-mythology. The texts referred to are :

(i) Yativṛṣabha, Tiloyapannatti, and old Prakrit cosmological treatise "to be assigned to some period between 473 A. D. and 609 A. D."[36]. : IV, v. 1579-81; 1584cd-1587[37].

(ii) Guṇabhadra, Uttarapurāṇa LXXVI, v. 471-475; 476-80, in Sanskrit[38], and

(iii) Puṣpadanta, Mahāpurāṇa CII, 6-7, in Apabhraṃśa, both go back to the 9th-10th centuries A. D.

All three composition list both the F. Ts' names and those of their former births in independent lists.

In contrast, only their names appear in :

(iv) Jinasena, Harivaṃśapurāṇa[40] : LX, v. 558-562, in Sanskrit.

(v) Nemicandra, Trilokasāra[41], gā. 873-875, in Prakrit.

(vi) Śrīcandra, Kahakosu[42] : XV, 11, 1-11, in Apabhraṃśa.

As a fairly convenient synoptical table collecting the data from these works has been drawn up in the Jainendrasiddhāntakośa[43], I shall restrict myself to a few observations and only append Guṇabhadra's lists which have not been taken into account there[44] (cf. 4).

As far as the lists of avasarpiṇī-Ts. are concerned, the Svet. and Dig. traditions agree on the whole (but cf. fn. 45). The situation seems more blurred in the case of the F.Ts. What can be observed is : a perfect correspondence between the two traditions from. F. T. 1 to 4; then, in spite of slight variants regarding the forms of the names, a fairly good correspondence for the F. Ts, names; but considerable discrepancies regarding their previous existences; this is partly due to the fact that Tīrthaṃkarahood is strictly out of question for a woman according to the Dig[45], whereas at least three of them are definite in the Śvet. sources : Rohiṇī, Sulasā, Revatī[46]. Anyway, the Uttarapurāṇa stands closer to the Samav than to the other Śvet. lists.

On the other hand, new information is brought by the Dig. texts. For instance the size and life-span of the first and last T. to-be are sometimes added : respectively they are of 7 cubits and more than 116 years[47]; 1000000 pūrva and 500 dhanuṣ. Care for throughness occasionally leads to the statement that "there is no teaching concerning the heights and life-spans of the others" :

e. g. *uccheh'āūpahudisu sesāṇaṃ ṇ'atthi amha uvaeso* (Tiloyap. IV. 1583)[48]. A special position is assigned to F. T. 1, Śreṇika-Mahāpadma, who is said to have been the son of the last kulagara, according to Tiloyap. IV. 1578 :

ta-kkāle Titthayarā cauvīsa havanti; *tāṇa* paḍhama-Jiṇo
antilla-kulakara-sudo *Videha-vattī tado hodi*.

This statement is confirmed on the narrative side by the Kahakosu (XV, 11, 1-2)[49] and the Bṛhatkathākośa (No. 55, v. 311)[50] :

aṣṭāviṃśārdha-(i. e. 14 kulagaras *yuktasya bhoginaḥ kulakāriṇaḥ Padmādipungavasyāyaṃ bhaviṣyati sutaḥ paraḥ*.

1.2. Narrative sources.

1.2.1 Narrative sources about F. Ts' previous births.

The most specific characteristic of the F. Ts. is that they are "linked up with the past (....through) those personalities in whom they were once incarnated."[52] I deal with them here and shall start with the analysis of Śreṇika and Vāsudeva-Kṛṣṇa episodes. Both heroes are jointly mentioned in a Prakīrṇaka-verse as people who became F. Ts. because they were possessed of right faith, though it was not accompanied by conduct :

suddhe sammatte avirao vi ajjei Titthayara-nāmaṃ jaha āgamesi-bhaddā Harikula-pahu-Seṇiāīyā (Bhattaparinnā, gā. 67)[53].

In both cases the narrative patterns follow a similar course, irrespective of the version (Śvet. or Dig.)[54]. For their descriptions, the basic text referred to here is the Canonical Antagaḍadasāo 5 about Kṛṣṇa[55]. It can be summarized thus : two characters are engaged in a dialogue : a king (Kṛṣṇa; Śreṇika) and a Saint (Ariṣṭanemi; Mahāvīra).

(i) The Saint's prediction to the king[56] : he will be reborn as a hellish being as the result of bad karman.
kālamāse kālaṃ kiccā taccāe Vāluya-ppabhāe puḍhavīe ujjalle narae neraiyattāe uvavajjihisi (S. I. 1173, 30-1174,1).

(ii) The king's fear and despondency.
tae ṇaṃ Kaṇhe Vāsudeve araho Ariṭṭhaṇemissa antie eyam aṭṭhaṃ soccā nisamma ohaya jāva jhīyāi (S. I. 1174, 1-2).
Possible variations : the king is surprised that such a destiny can be his and would expect the Saint to be able to modify it, but the karmic law is all-pervading and cannot be escaped : e. g. Triṣaṣṭi, trsl. vol. VI, p. 238, following Āvaśyakaṭīkā and cūrṇi for Śreṇika; Ākhyānakamaṇikośa p. 122, gā, 54 for Kṛṣṇa.

(iii) Relief given by the Saint : the next existence of the king will be that of a future T.

Curiously enough, this stage does not appear in the Āvaśyakaprose commentaries about Śreṇika[57], though the relevant niryukti verse (1158) states that he will become a Jina in the coming age :

ṇa Seṇio āsitayā bahu-ssuo, na yāvi Pannatti-dharo na vāyago.
so āgamissāe Jiṇo bhavissai, *samikkha pannāi, varaṃ khu daṃsaṇaṃ.*

Thus also in a parallel Bhagavatī-Ārādhanā gāthā introduced in a similar dogmatical discussion about *daṃsaṇa / sammatta*[58] : as a matter of fact, Śreṇika as a F. T. is common to both the Dig. and Śvet. traditions (see 1.1.4 and 4.).

Now, at this level (iii), additional precise details i. e. serial-number and/or name of the F. Ts. are optionally introduced. It can then be asked whether they are consistent with the data collected in the lists, whether they contradict them or whether they happen to reflect the discrepancies.

Thus, most often with a minimum amount of detail we have :

e. g. *āgamissāe ussappiṇīe tumae* (i. e. (Śreṇika) Titthayareṇa *hoyavvaṃ* ti (Cauppaṇṇa, p. 320, lines 18-20 and supra).

With an intermediate or a maximum amount of information, in which case disagreements may arise between the versions, we have for instance :

jamhā ahaṃ iva (sic. i. e. Nemi) *tumam avi* (i. e. Kṛṣṇa) *vara-kevalanāṇa-daṃsaṇa-paīvo* (....)

terasamo Titthayaro *hohisi taṃ muṇi-sahassa-pariyario* (Ākhyānak., p. 122, gā. 59ab; 60ab)

but : ....*ih'eva Jambuddīve Bhārahe vāse āgamesāe ussappiṇīe Puṇḍesu* (*Puṇṇesu*) *jaṇavaesu Sayaduvāre* bārasame Amame nāmaṃ arahā *bhavissasi* (i. e.Kṛṣṇa) read in Antag. 5 (S I, 1174, 5ff.) also corresponds to the Uttarajjhāyā tradition[59] : *Baladevo....*) bārasama-Amama-Titthayara-Kaṇha-Jīva-*titthe* (*sijjhihi*), and seems to represent the prevalent tradition[60]. This disagreement regarding the order (12/13) reflects the one testified to by the lists (cf 4) : T. 12 Amama-Vāsudeva in Kahāvalī, Hemacandra, Lokaprakāśa, but T. 13 in Samav, Pravac[61].

Other such examples could be adduced. I refer only to Revatī, a laywoman contemporary with Mahāvīra who offered medicine to cure him. (i) She is not considered as destined to be a F. T. in the accounts of her life given in the Viyāhapannatti XV (S I, 730-732) and the Triṣaṣṭi (trsl. vol. VI, p. 227-228). (ii) Her story is told by Abhayadeva Ṭ (p. 433ab) ad Ṭhāṇ 9 (cf. 1.1.1.) : the sūtra has stated that she will become *a* F. T.; (iii) The story is retold in the Lokaprakāśa (p. 555b-556a); it is now embedded in the general frame of the 24 F. Ts. : she is the *16th* F. T. Citragupta

arjitāneka-su-kṛta-sañcayā Revatī tu sā
ṣoḍaśas Tīrthakṛd-bhāvī Citragupto *'bhidhānataḥ'*.

(iv) Parallel versions occurring in dāna-collections show the existence of disagreements as Revatī becomes the 17th F. T. named Samādhi[62].

"In contrast, may be by chance all the evidence I could trace is consistent in the case of Sulasā, also a laywoman of Mahāvīra's time : she is *a* F. T. according to Ṭhāṇ Ṭ (p. 433a), the *15th* F. T. Nimmama in the Prakrit Ākhyānakamaṇikośa (p. 97, gā. 52) or in the Apabhraṃśa version of the Mūlaśuddhiprakaraṇa[63]. Thus :"

(tatto) cavittu āgāmiṇie Titthayaru bhaviss' ussappiṇie
panarāsāmau nāmiṃ Nimmamattu, *apparimiya-ṇāṇa-caritta-sattu*
(p. 56. 5-6).

Statements presenting heroes as F. Ts. were available from the tradition; they could freely be used by the Mediaeval popular literature if necessary to fulfill the requirements of the preaching monks : Revatī is a F. T. in works praising charity, but not in biographies focussing on Mahāvīra; Ambaḍa is the 22nd F. T. in a story where he is the main figure[64], but not in the verisons mentioned above where he appears as a co-hero together with Sulasā.

In most cases, however, narrative sources are too fragmentary to allow any conclusion regarding possible discrepancies as they do not mention the T's name or serial number;[65] e. g. Baladeva is only *a*. F. T. in the Digambara Uttarapurāṇa and Mahāpurāṇa (cf. 4.).

1.2.2. Narrativa sources about F. Ts' careers.

All the stories which have been considered in 1.2.1 end with the F. Ts' name and/or serial number, at most, I now come to the F. Ts' lives in the utsarpiṇī age.

Descriptions are available in the case of the Ist. F. T. Śreṇika-Mahāpadma. They are found in Ṭhāṇ 9 (S. I, 299, 13-302, 17), and Titthogālī, gā. 1025-1112.[66] The Lokaprakāśa (552b, 22-553b. 19) is a late Sanskrit version which does not provide any new information[67]; the Prakrit account of the Apāpābṛhatkalpa is reduced to a few lines; hence they will generally be omitted here.

The Ṭhāṇ episode in the usual stereotyped Canonical prose is told by Mahāvīra himself and presented as a prophecy :

esa ṇaṃ, ajjo, Seṇie rāyā Bimbhisāre....uvavajjihiti (299, 13-14).

It fixes the pattern of all future Ts' biographies and includes the following elements[68]; in the coming utsarpiṇī, rebirth in the country of the Puṇḍas in the city Śatadvāra at the foot of Mt. Vaitāḍhya as Mahāpadma, the son of the kulagara Sammuci and his wife Bhadrā[69]; birth-festivities and the ceremony of name-giving; coronation and life as a king also known as Devaseṇa and Vimalavāhaṇa; visit of

two gods and renouncing of the world; upasargas; Omniscience, conduct as a monk, stated in the phraseology used for Mahāvīra (Kalpasūtra; ubi alia); number of gaṇadharas; life-spans in the various stages of life.

Thus this account strikingly lacks any originality or individuality. On the contrary, great care is taken to emphasize the identity of what Mahāpadma's career will be with what Mahāvāra's has been[70] ;

mae...., evām eva Mahāpaume vi arahā (S. I, 301, 18-12, etc.).
mama ṇava gaṇā, igārasa gaṇaharā, evām eva Mahāpaumassa vi araho ṇava gaṇa igārasa gaṇaharā bhavissanti (S I, 302, 8-9).

ahaṃ tīsaṃ vāsāiṃ agāra-vāsa-majjhe vasittā muṇḍe bhavittā....,
evām eva Mahāpaume vi arahā tīsaṃ vāsāiṃ.... (S I, 302, 10-14); etc.

The whole set of equivalences is summarized at the end of the legend :
jaṃ-sīla-samāyāro arahā Titthaṃkaro Mahāvīro
ta-ssīla-samīyāro hoi u arahā Mahāpaume (S I, 302, 16-17).[71]

In the Titthogāli this tendency goes still further. Pauma's life is closely inspired by the Āvaśyaka-niryukti section dealing with Mahāvīra, to the extent that (exceptionally) "Vīra" is used instead of Pauma[72], or that Yaśodā is also the name of his wife[73] ! This is equally shown through the numerous verse-correspondences between the two works[74] :

Titthogāli 1026 = bhāṣya-verse 46; 1027, 1029 = 47; 1033ab ± 61; 1040 = 63 1046-1048 = 69-71; 1049-50 = 76-77; 1052 ± 79; 1056 = niryukti-verse 460; 1057 = bhāṣya-verse 81; 1058 = 83; 1059 = 84; 1060 = 82; 1061 = 85; 1064-68 = 86-90; 1073-85 = 92-105; 1087bcd = 106bcd; 1088-1091 = 107-110; 1093 ± niryukti-verse 537; 1094ab = 538ab; 1097-1098 = 539-540; 1099 = 592.

Thus, similarities are more important than the few minor differences : the transfer of the embryo is not mentioned in the case of F. T. 1[75]; but he is said to have entrusted the kingdom to his son, the prince Naliṇakumāra when leaving the secular world (gā. 1069 ff.), this detail is unknown in Mahāvīra's legend.

The *Amamasvāmicarita*, composed in saṃ. 1252 = A. D. 1195, is a complete individual account about the twelfth F. T., who was formerly Kṛṣṇa. His life-sketch is not different from Mahāpadma's as can be deduced from the analysis given in the *Jaina Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa* (Varanasi 1973, vol. VI. p. 127-128) : Birth; childhood; marriage; coronation; dīkṣā; Omniscience; samavasaraṇa; Teaching; gaṇadharas; Liberation.

To conclude this survey of the narrative data (1.2 and see 4.) : two groups stand out of the 24 figures destined to be F. Ts. A few of them are really living figures, e. g. Revatī, Sulasā, Ambaḍa, all contemporary with Mahāvīra. Some do not seem to have reached the level of an independent existencc in texts other than

those devoted to future Tīrthaṃkarahood, e.g. Udāyi (No. 3); a Śankha (No. 6), Śataka (No. 10), Satyaki (No. 11) ... : but who can be sure that they have exhausted the post-Canonical story-literature ? Śreṇika, an historical figure, also of Mahāvīra's time, and Kṛṣṇa, a pan-Indian character, represent an outstanding pair. The others are mere names, not gifted with any personality, and even if they are not totally unknown, there is not sufficient evidence to identify them.

2. Ethical aspects connected with F. Ts.

2.1. Tīrthaṃkarahood in the chain of rebirths.

(Future) Tīrthaṃkarahood is one of the numerous destinies offered to human beings : I shall here underline its specific position in the chain of incarnations, then the means of attaining it.

A direct connection between rebirth in the hell(s) followed by a rebirth as a future T. appears from the narrative scheme drawn for the Śreṇika and Kṛṣṇa-episodes (stages i and iii, above 1.2.1.) : after their lives in the Ratnaprabhā or Vālukāprabhā-hells, both heroes will become the 1st and 12th or 13th F. Ts. On the other hand, besides the names of Dasārasiha (i. e. Kṛṣṇa) and Seṇiya, the Āvaśyaka-niryukti (gā. 1160) also mentions Peḍhālaputta and Saccai who all underwent a low birth (*aharaṃ gaiṃ gayā*) because of their lack of conduct, though they were possessed of right faith : they are also among the Ts. to be (cf. 4).

Now, these facts are perfectly consistent with the sections of the Śvet. and Dig. theoretical books devoted to the narakas. Considering the issues (*antakiriyā*) of hellish beings as Ts. Cakravartins, Baladevas or Māṇḍalikas, the Pannavaṇā (4th Uvaṅga; S II, 463, 8-23) admits the possibility of reaching the status of a T. for those beings coming from the first hell (Ratnaprabhā) who will have acquired a T's karman (2.2, Titthaga*ra-nāma-goyāiṃ kammāiṃ baddhāiṃ, puṭṭhāiṃ....*). Beings coming from the second and third hells are in the same category :

> *evaṃ Sakkarappabhā jāva Vāluyappabhā-puḍhavī-neraiehiṃto Titthagarattaṃ labhejjā*
> (S II, 463. 18-19)

But this possibility is denied to those coming from the last four hells (463, 19-23)[76] Similar statements can be found in Dig. sources, for instance in Jinasena, Harivaṃśapurāṇa IV, 382 :

> *tṛtīyāyāḥ (i. e. kṣiti-) dvitīyāyāḥ prathamāyāśca niḥsṛtaḥ Tīrthakṛttvaṃ labhetāpi dehī darśana-śuddhitaḥ.*[77]

2.2. Original context and later use of the Tīrthaṃkara-nāma-karman idea.

It is well-known that Tīrthaṃkarahood is gained through a special type of karman (*Tīrthaṃkaranāmakarman* = Tnk) for which twenty components (*sthānakas*) are

recorded in the Śvet. texts and sixteen in the Dig.[78] : on the whole, they summarize the essentials of morality or good conduct : charity, compassion, self-control, right faith, etc.

Their enumeration appears to be closely related to the avasarpiṇī-mythology and they represent, as it were, an attempt to give a rational account of the Ts' existence on earth, in accordance with the law of karman and rebirth. In the Āvaśyakaniryukti, for instance, the Tnk notion is adduced as a theoretical excursus (gā. 179-184) justifying the passage from Ṛṣabha's last previous birth to the present one when he will become a T.[79] The same verses come again in Mahāvīra's case (gā. 451-456 = 179-184) before the account of his birth in Devānandā's family. They are also quoted in the Nāyādhammakahāo 8[80] to account for Mahābala's rebirth as a god then as Mallī. And Hemacandra proceeds likewise for each of the twenty-four Ts. through stereotyped recurring phrases (Triṣaṣṭi, ed. III, 1,100; etc.)[81]

Though the Tnk-causes do not occur explicitly in the context of utsarpiṇī, they probably have to be applied there also. On the other hand, the later literature shows an extension of the field of Tīrthaṃkarahood, as is seen from the Mediaeval *Viṃśatisthānakacarita* (or Vicārāmṛtasārasaṃgraha) by Jinaharṣa[82] : this work is based on the twentyfold enumeration of the Āvaśyaka-niryukti. A few introductory verses detail each of the terms; ad hoc stories, all built on the same pattern, unavoidably end with the remark that the heroes will become Ts. in their third rebirths. Whether a name is given to them or not, they have absolutely no link with any of the Ts. found in the mythological lists.[83] Here, the intention is merely to illustrate the idea that any layman who observes one or more of the sthānas (i.e. one of the many aspects of the Jaina ethics recommended to him) can attain Tīrthaṃkarahood. Thus, through a shift of emphasis, this notion is adapted to the daily didactic purposes of the monks. It is an element of the "marvellous" appealing atmosphere that they have to present to the layman as a possible reward for his good conduct. This is equaliy confirmed by the late religious popular literature in Gujarati and the so-called *vīśa sthānaka nī caityavandana stuti* (gīt, dūhā, etc.), hymns extolling the "twenty causes".[84]

3. Notes on Buddhist counterparts.

Theravāda Buddhism as handed down in the Pali Canon gives only limited information and refers to Maitreya as the unique coming Buddha who will renew the Teaching[84] (see below (i) and (ii)). But interesting elements may be gleaned from later Theravāda texts such as the Anāgatavaṃsa[85] and the Dasabodhisattuppattikathā[86] (ca. 14th cent. A. D.) which both list the same ten Future Buddhas, as well as from the Mahāyāna tradition which is characterized by the absence of any limitation in their number.

I here propose to review some Buddhist parallels to the Jaina facts surveyed above and to underline the similarities in the ways of presentation, independently of any historical or doctrinal interpretation.

(i) Use of the compound *atīta-anāgata-paccuppanna*—applied to the Arhats as a whole : e.g. Dīgha-Nikāya XVI (ed. Pali Text Society, vol. II, 83, 6-7 = XXVIII, vol. III, 100,23-24; also II, 82,29-30 = III, 100, 16-17 :

Na kho me, bhante, atītānāgata-paccuppannesu arahantesu *Sammāsambuddhesu ceto-pariya-ñāṇaṃ atthi.*

"Lord no knowledge have I concerning the mind of past, future and present Arhats Awaked ones" (RHYS DAVIDS' trsl.),

Cp. above 1.1.1. Āyāraṃga I, 4, 1, 1.

(ii) Birth of the future Buddha Maitreya is predicted by Gautama Buddha : cf. Dīgha-Nikāya XXVI (vol. III, 75, 30-76. 21) :

Metteyyo nāma Bhagavā loke uppajjissati arahaṃ sammā-sambuddho .... (76, 1-2). Emphasis is laid on the identity between the life-patterns of both : e.g. *so dhammaṃ desissati-ādi-kalyāṇaṃ .... seyyathā pi 'haṃ etarahi dhammaṃ desemi ādi-kalyāṇaṃ .... (ibid.,* 76, 13-16; etc.). cp. in Jainism 1.2.2. the Śreṇika-Mahāpadma episode.

(iii) With the prophecies of rebirth as future Tīrthaṃkaras told by a T. (above 1.2.1 and fn. 56), compare, in the Mahāyāna tradition, the Buddha Tathāgata announcing to his disciples their future destinies as Buddhas : e.g. *Saddharmapuṇḍarīka*, chap. VI, p. 142 ff.; chap. VIII, p. 193 ff.; chap. IX, p. 206 ff. (trsl. H. KERN, Sacred Books of the East, vol. XXI); the Encyclopaedia of Buddhism vol. III, p. 360 refers to an Avadānaśataka chapter entirely devoted to such predictions; etc.

(iv) Story-pattern in the Dasabodhisattuppattikathā : the adventures of the heroes in their present births are told at length; they acquired merit mostly through their generosity. In contrast, the accounts of their careers as future Buddhas are very meagre and generally only mention a few details such as their names, physical measurements, life-span. But, as has been rightly noticed by Venerable H. Saddhatissa (p. 7), there is no elaboration of them as there is for the past Buddhas[87] in the Buddhavaṃsa text and commentary. Thus, for instance :

evaṃ, Sāriputta, iminā dāna-phalena ca Todeyya-brāhmaṇo anāgate Narasīho nāma Sammā-sambuddho bhavissati (chap. VIII, 151, 70); etc.

In the Mahāyāna tradition, see *Saddharmapuṇḍarīka*, chap. VI, VIII, IX, ...

Cp. the Jaina stories ad 1.2.1 and the Viṃśatisthānakacarita (2.2). Unfortunately, I have not come across any kathākośa collecting the stories relevant to the 24 figures occurring in the Jaina lists.

(v) The Dasabodhisattuppattikathā shows that persons said to become future Buddhas belong to two categories : historical characters who were alive in the Buddha's time, known to the Pali Canon, and others who are mere names on which stories have been hung.

A comparable distinction appears from the collation of the Jaina data (p. 16). Pasenadi, the king of Kosala contemporary with Gautama Buddha will be the Buddha Dhammarāja (Dasabodhi., chap. III) : cp. king Śreṇika contemporary with Mahāvīra.

(vi) The Tīrthaṃkara-nāma-karman notion of Jainism (cf. 2.2) has rightly been compared to the Buddhist Pāramitās : cf. P. S. JAINI, *Tīrthaṁkara-prakṛti and the Bodhisattva-Path,* Journal of the PTS IX, 1981, p. 98 ff. (96-104). The contexts where both concepts are adduced are also similar : cf. 2.2. about the connection between the twenty sthānakas and the Ts : incarnations in Jainism. In the later Buddhist tradition as recorded in the Buddhavaṃsaṭṭhakathā[88], the Buddha-kāraka-dhammas which are defined as the ten (or thirty) Perfections leading to Buddhahood[89] are mentioned on the occasion of the twenty-five Buddhas' incarnations, (including Gotama) :

e. g. 141, 28-142,5 : *pāramiyo pūretvā Tusitapure nibbattitvā.... Tusitā kāyā cavitvā....kucchismiṃ paṭisandhiṃ gaṇhi*; *ibid.* 78,35;79,9; 160, 19-26; etc. 272, 33-36.

Conclusion.

The interest in future Prophets which is seen to have thus developed is but natural in doctrines where time is thought of as evolving in cycles as is well-known, similar developments also took place in Hinduism (Viṣṇuism) where Kalkin, the future Viṣṇu's avatāra, is conceived as destined to put an end to the Kali-Yuga[90]. The Jaina teachings and stories concerning the destinies of Future Tīrthaṃkaras make it clear that they are closely linked with the theories of saṃsāra and karman; there, the Messianic aspect is not so important as the individual improvement which everybody has to attain for himself. The Tīrthaṃkaranāma-karman makes it possible, while the idea of a unique Saviour would be, so-to-say, unacceptable.

4. Synoptical chart of data about Future Tīrthaṃkaras.

N. B. No serial-number is assigned to the names mentioned in the Thāṇ (column 1) in the text. Here they have been placed in front of the corresponding ones in the Samav.

F.T's No.	Ṭhāṇ 9 SI,299,7-12	Samav SI, 381, 25-382, 8*	Titthogālī gā. 1116-1120	Pravacanasā-rodhāra gā. 293-95+ 458-70	Apāpābṛhat-kalpa p. 41, 7-21
1.	Seṇiya	Mahāpauma Seṇiya	Mahāpaum	Paumanāha Seṇiya	Paumaṇāha Seṇiya
2.		Sūradeva; Surādeva (Pravac. p. 81a) Supāsa	Suradeva	Sūradeva; Su-(293) Supāsa	Suradeva Supāsa
3.	Udāi = Udaa, PrPN	Supāsa Udaa	Supāsa	Supāsa Udāyi	Supāsa Udāi
4.	Poṭṭila aṇa-gāra	Sayaṃpabha Poṭṭila aṇagāra	Sayaṃpabha	Sayaṃpabha Poṭṭila	Sayaṃpabha Poṭṭila

F.T's. No.	Kahāvalī Uttarārdha, fol. 238a	Hemacandra Abhidhānacintāmaṇi, 53-56 +Triṣaṣṭi X.13 189-200	Lokaprakāśa XXXIV, p. 552b-557b	Narrative sources and observations.	Dig. list : Uttarapurāṇa LXXVI, 471-480
1.	Paumanābha	Padmanābha	Padmanābha	Ṭhāṇ 9 (Sl,299, 13-302,17);	Mahāpadma
	Seṇiya	Śreṇika	Śreṇika	Titthogālī gā, 1025-1112; Āvaśyaka-niryukti gā. 1158; Bhagavatī Ārādhanā gā 739; Bhattaparinnā, gā. 67—Lokaprakāśa, p. 552b-553b—Other accounts : see fn. 54.	Śreṇika
2.	Suro devo (sic)	Śūradeva	Sūradeva	Supārśva : Mahāvira's uncle Ṭhāṇ Ṭ p. 432b;	Suradeva
	Supā(pā)hu	Supārśva	Supārśva	Pravac Ṭ Lokap. 553b,20.	Supārśva
3.	Supāsa	Supārsva	Supārsva	Udāi : Thāṇ Ṭ p. 432b; Lokap.	Supārśva
	Poṭṭila	Poṭṭila	Poṭṭila	556b : he is Koṇika's son; thus PrPN 4. Udāi=2. Udāi =5. Udaa.	Udaṅka
4.	Saṃpayabha, for Sayaṃp.	Svayamprabha, —prabhu;	Svayāmprabha	Dṛḍhāyu cf. under F.T.5 —Poṭṭila :	Svayaṃprabha
	....ḍa... (corrupt)	Dṛḍhāyuḥ.	Dṛḍhāyuḥ	Ṭhāṇ 432b Ṭ Lokap. 553b : different from Poṭṭila of the Aṇuttarovavāiya dasao 3.	Prosthila

F.T's No.	Ṭhāṇ	Samav	Titthogālī	Pravac	Āpāpābṛhatka-lpa
5.	Daḍhāū	Savvāṇubhūī Daḍhāū	Savvāṇubhūti	Savvāṇubhūi Daḍhāu	Savvāṇubhūī Daḍhāū
6.		Devassua Devautta (Ladnun ed.); Devagutta (Pravac. p. 81a)	Devagutta	Devasuya	Devassua
		Kattiya		Kitti	Katia
7.	Saṃkha	Udaa Saṃkha	Udaga	Udaya Saṁkha	(U)daa Saṃkha
8.		Peḍhālaputta Nanda	Peḍhāla	Peḍhāla Āṇanda	Peḍhāla Āṇanda
9.		Poṭṭila Sunanda	Poṭṭila	Poṭṭila Sunanda	Poṭṭila Sunanda
10.		Sat(t)akitti; Satae(ti), Ladnun ed.; Satae iya, Pravac. p. 81a	Sattagitti	Sayakitti	Sayakittī
	Sataa gāhāvaī	Sataa		Sayaga	Sayaga

F.T's No.	Kahāvalī	Hemacandra	Lokaprakāśa	Narrative sources	Uttarap
5.	Savvāṇabhūi	Sarvānubhūti	Sarvānubhūti	Drḍhāyura-pratītaḥ Ṭhāṇ Ṭ P. 432 b.	Sarvātmabhūta
	Kattiya	Kārtika	Kārttika		Kaṭaprū
6.	Devagutta	Devaśruta	Devaśruta	Śaṅkha : Ṭhāṇ Ṭ 432b; Lokap. 553b-554a; also named Puṣkali; cf. F. T. 7.	Devaputra
	Saṃkha	Śaṅkha	Śaṅkha		Kṣatriya
7.	Udaa	Udaya	Udaya		Kulaputra
	Nanda	Nanda	Nandī		Sreṣṭhin.
8.	Peḍhālaputta	Peḍhāla	Peḍhāla		Udaṅka
	Sunanda	Sunanda	Sunanda		Śaṅkha
9.	Peḍhila	Poṭṭila	Poṭṭila		Prosṭhila
	(K)kekkasī	Kekasī	Ānanda or Kekasī, according to Hemacandra		Nandana
10.	Sayakittī	Śatakīrti	Śatakīrti	Śataka : Ṭhāṇ Ṭ 432b; Lokap 553b -554a; along with Śankha, F. T. 6-7	Jayakīrti
	Reyali	Reyali	Śataka or Revatī, according to Hemacandra who has in fact Reyalī		Sunanda

F.T's No.	Ṭhāṇ	Samav	Titthogālī	Pravac	Apāpābṛhat-kalpa
11.		Muṇisuvvaa Devaī	Muṇisuvvata	Muṇisuvvaya Devaī	Muṇisuvvaa Devai
12.		Amama (Samav in Lokap.) Savvabhāvaviū	(Satvabhāva-viu-Jiṇe, 1117) Amama; Amama *and* Savvabhāvavi haṃjaṇa,PrPN!	Amama	Amama
	Saccaī niyaṇṭhī-putta	Saccai		Saccai	Kaṇha
13.		Nikkasāa (Lokap) Amama	Nikkasāa	Nikkasāa	Nikkasāa
	Vāsudeva	Vāsudeva		Vāsudeva	Saccai

F.T's No.	Kahāvalī	Hemacandra	Lokaprakāśa	Narrative sources	Uttarap
11.	Muṇisuvvaa	Suvrata	Suvrata	Satyaki : Ṭhāṇ Ṭ 434a; Lokap. 554b; PrPN s. v. Mahissara (1); cf. F. T. 12.	Munisuvrata
	Saccai	Satyaki	Satyakī		Śaśāṅka
12.	Amama	Amama	Amama	F. T. 12 Amama-Kaṇha Vāsudeva, Antagaḍa-dasāo 5 (SI, 1173-2174); Lokap. 554b-555a;	Ara
	Vāsudeva	Kṛṣṇa Śārṅgin	Kṛṣṇa Vāsudeva	other accounts, cf. fn. 54 and 1.2 Kṛṣṇa as a F. T. : Bhattaparinnā gā. 67; Alsdorf, Harivaṃśap, 92, 6, 5; Uttarap; LXXII 181+281, etc. Kṛṣṇa as F.T.13 : Ākhyānakāmaṇikośa p. 123, gā, 60.	Sevaka
13.	Nikkasāmia	Niṣkaṣāya	Niṣkaṣāya	Baladeva belonging to the congregation of F. T. 12 Amama in Svet. accounts; as a F. T. along	Apāpa
	Baladeva	Baladeva	Baladeva	with Kṛṣṇa in Dig. versions : Uttarap. LXXII 182-184; LXXII, 279; Alsdorf, Harivaṃśa 92, 6, 10 : cf under F. T. 17, Uttarap.	Premaka

F.T's No.	Ṭhāṇ	Samav	Titthogālī	Pravac	Apāpābṛhat-kalpa
14.		Nippulāa Nikkasāa	Nippulāa Nikkasāya. PrPN	Nippulāya	Nippulāa
	Baladeva	Baladeva		Baladeva	Baladeva
15.		Nimmama Nippulāa	Nimmama Nippulāa, PrPN	Nimmamatta	Nimmama
	Sulasā	Rohiṇī		Sulasā	Sulasā
16.		Cittautta Nimmama	Cittagutta Nimmama, PrPN	Cittagutta	Cittagutta
		Sulasā		Rohiṇi	Rohiṇi, or Kakki-putto Datta-nāmo; = Abhidhā-narājendra.
17.		Samāhī Cittautta; -gutta	Samāhī Cittagutta, PrPN	Samāhi	Samāhī
	Revaī	Revaī		Revai	Revai
18.		Saṃvara Samāhī	Saṃvara Samāhi, PrPN	Saṃvara	Saṃvara
		Sayālī Migālī; Mimālī (Ladnun ed.)		Sayāli	Sayāli

F.T's No.	Kahāvalī	Hemacandra	Lokaprakāśa	Narrative sources	Uttarap
14.	Nippalāva Rohiṇī	Niṣpulāka Rohiṇī	Niṣpulāka Rohiṇī	Sulasā a F.T.	Niṣkaṣāya (A)toraṇa
15.	Nimmama	Nirmama	Nirmama	Ṭhāṇ Ṭ 434a-b Sulasā F. Ṭ. 15 : Ākhyāna-kamaṇikośa p. 97, gā. 52; Mūlaśuddhi-prakaraṇa, p. 56, 5-6, Loakp. 555a-b.	Vipula
	Sulasa (sic)	Sulasā	Sulasā	Revatī, a F.T.	Raivata
16.	Cittagutta	Citragupta	Citragupta	Ṭhāṇ Ṭ, 433ab; F.T. 16 Re-vatī-Citragupta : Lokap-555b-556a; F. 17	Nirmala
	Revai	Revatī	Revatī	Revatī-Samadhi: Dānāṣṭaka-kathā.	Vāsudeva
17.	Samāhi	Samādhi	Samādhi	Baladeva as a F. T. in Dig. versions : cf. under F. T. 13	Citragupta
	Gāvali	Gavāli	Gavāli		Baladeva
18.	Saṃvara Maggali	Saṃvara Gārgali	Saṃvara Gāgali		Samādhigupta Bhagali

F.T. No.	Ṭhāṇ	Samav	Titthogālī	Pravac.	Apāpābṛhat-kalpa
19.		Aṇiyaṭṭi Saṃvara or Jasohara (Sed.)	Aṇiyavaṭṭī Saṃvara, PrPN	Jasohara	Jasohara
		Bhayālī		Divāyaṇa	Dīvāyaṇa
20.		Vijaa Aṇiyaṭṭī	Vivāga (Vijaya) Aṇiyaṭṭi, PrPN	Vijaya	Vijaa
		Dīvāyaṇa		Kaṇha	Kaṇṇa
21.		Vimala Vijaa; Vivāa, Pravac, p. 81a	Vimala Vivāga, PrPN	Malla; Malli (295)	Malla
		Kaṇha		Nāraya	Nāraya
22.		Devovavāa Vimala	Devovayāa Vimala PrPN	Deva	Deva
	Ambaḍa	Nāraā		Ambaḍa	Ambaḍa
23.		Aṇantaviria Devovavāa	Aṇantavijaya Devovavāya, PrPN	Aṇantaviriya	Aṇantavīria
		Ambaḍa (Dārumaḍa)		Amara	Amara
24.	Dārua niyaṇṭha = Dārumaḍa of the Samav, PrPN s. v.; Ṭhāṇ Ṭ 434a :	Bhadda (Lokap.) (Aṇantavijaya	Tiyaa (?). Tivvaya Aṇantavijaya, PrPN	Bhadda; v. l. Bhadrakṛt (Ṭ p. 80b).	Bhaddakara
	Dārua is Kṛṣṇa's son, the same as in Antagaḍadasāo 7.	Dārumaḍa; or Sāi(buddha) ?		Sāibuddha	Sāyabuddha

F.T's No.	Kahāvalī	Hemacandra	Lokaprakāśa	Narrative sources	Uttarap
19.	Niyaṭṭhi Devāyaṇa	Yośodhara Dvīpāyana	Yaśodhara Dvīpāyana		Svayambhū Vāgali
20.	Vivega Kanna	Vijaya Karṇa	not mentioned Karṇa	Karṇa	Anivartī Dvaipāyana
21.	Vimala Nāraya	Malla Nārada	Malla Nārada		Vijaya Kanaka
22.	Deva(yā)	Deva	Deva	Ambaḍa, Ṭhāṇ Ṭ 434b : a different person from Ambaḍa of the Uvavāiyasutta; Lokap. 556a and Jaina stories : F. T. 22	Vimala
	Ajjaḍa	Ambaḍa	Ambaḍa		Nārada
23.	Aṇanta	Anantavīrya	Anantavīrya		Devapāla
	Dāramadu(?)	Dvāramada	Nārada		Cārupāda
24.	Vijaa Sāi	Bhadrakṛt Svāti	Bhadrakṛt Svāti		Anantavīrya Satyakiputra

* CNRS. ERA 094 "PHILOLOGIE BOUDDHIQUE ET JAINA" (Paris).

Abbreviations

‡ indicates a close correspondence between two verses or two passages.

† different from

* after a number indicates a verse in a work where prose and verses are mixed.

Di. = Digambara; F. T(s) = Future Tīrthaṃkara(s), i. e. of the utsarpiṇī; gā. = gāthā; intr. = introduction; Pk. = Prakrit; Pravac = Pravacanasāroddhāra (cf. 1.1.2); PrPN = Prakrit Proper Names, vol. I = II; Ahmedabad, 1970-72 (L. D. Series 28;37); Sa. = Sanskrit; Samav = Samavāyaṃga (4th Aṃga); Śvet. = Śvetāmbara; Ts = the 24 Tīrthaṃkaras from Ṛṣabha to Mahāvīra; Ṭ = ṭikā; Sanskrit commentary; Ṭhāṇ = Ṭhāṇaṃga (3rd Aṃga); Tnk = Tīrthaṃkara-nāma-karman; v. = verse(s).

Book series : DLJP = Devacand Lālbhāī-Jaina-Pustakoddhāra, Bombay. MDJG = Māṇikchanda-Digambara-Jaina-Grantha-Mālā, Bombay.

S I or S II = Suttāgame ed. of the Jaina Canon, Gurgaon, 1953-54, vols. I–II; with page and line number.

1. P. S. Jaini, *The Jaina Path of Purification*, Delhi, Varanasi, Patna, 1979, p. 30-31; W. Schubring, *The Doctrine of the Jainas*, Delhi, 1962, p. 18; Haribhadra, *Āvaśyakaṭīkā*, ed, Bombay, 1916, p. 333a-b E. Leumann, *Ubersicht über die Āvaśyaka-Literature* (....) Hamburg, 1934, p. 43b-44a; A. Mette, *Indische Kulturstiftungsberichte und ihr Verhältnis zur Zeitaltersage*, Wiesbaden, 1973 (Ak. der Wiss, u. der Lit. Mainz) : "die Dekadenz-und die Aszendenz—Theorie" in Greek and Indian Cosmologies (p. 3); p. 7 and n. 19 on the Jaina standpoint.

2. E. g. in the German school : 1858, A. Weber, *Uber das Catrunjaya Māhātmyam*, Leipzig (Abh. für die Kunde des Morgenlandes 1,4); 1888, R. Fick, *Eine jainistische Bearbeitung der Sagara-Sage*, Kiel; 1914, 1921, H. Jacobi's eds. of Vimalasūri, *Paumacariya* (Prakrit Text Series 7ff.), of Haribhadra, *Sanatkumāra* and *Nemināha-cariya*; 1936, L. Alsdorf, *Harivaṃśapurāṇa*. Ein Abschnitt aus der Apabhraṃśa-Welthistorie "Mahāpurāṇa Tisaṭṭhimahāpurisacariya. Ein Beitrag zur Kenntnis der Jaina-Universalgeschichte, Hamburg (Alt–u. Neu-Indische Studien 8); etc.

3. It is often not even mentioned in the basic books e.g. J. C. Jain, *Life in Ancient India as depicted in the Jain Canons*, Bombay, 1947, p. 371; etc. However, a special mention must be made of H. von Glasenapp, *Der Jainismus (....) nach den Quellen dargestellt*, Berlin, 1925, repr. 1964, p. 307–310 : "Die zukünftige Weltperiode und ihre Heiligen", and of Ch. Krause, *Ancient Jaina Hymns*, Ujjain, 1952 (Scindia Oriental Series 2), Intr., p. 15–16. A Dig. and a Śvet. list of F. Ts following Hemacandra, are already found in C. Mackenzie, *Account of the Jains*, p. 261.

4. Enumerated for instance in Hemacandra, *Abhidhānacintāmaṇi* (cf. fn. 24), v. 5o–53ab (58–64); *Pravacanasāroddhāra*, gā. 288–290 (cf. 1.1.2).

5. J. Deleu, *Viyāhapannatti* (*Bhagavaī*). The Fifth Aṃga of the Jaina Canon (....), Brugge, 1970, Intr., p. 18ff. "Nucleus and Accretions".

6. Deleu, *ibid.*, p. 257.

7. S I. 804, 14–16 : *Goyamā, cauvvīsaṃ Titthagarā, taṃ jahā*: *Usabha-Ajiya* (....) *Nemi-Pāsa Vaddhamāṇā* 24; Deleu, *ibid.*, xx, 8, 3a, p. 256.

8. Later on (11th cent. A. D.), Abhayadeva's commentary on this passage naturally mentions the first of the 24 : *'āgamessāṇaṃ' ti āgamiṣyatāṃ*, bhavisyatāṃ *Mahāpadmādīnāṃ Jinānāṃ* .... (ed. Surat, 1940[2]).

9. Text according to W. Schubring, *Ācārāṅga–sūtra.* Erster Śrutaskandha. Text, Analyse und Glossar. Leipzig, 1910 (Abh. für die Kunde des Morgenlandes xii, 4), p. 17, lines 16–18. I here take *arahantā* as a synonym of *Tīrthaṃkaras* and do not enter into any discussion about the two terms.

10. Jacobi's trsl, in the *Sacred Books of the East*, vol. xxii. Jaina Sūtras, Delhi, 1884, repr. 1968, p. 36.

11. Cp. similar expressions in Buddhist texts, below 3; H. Smith, ed. *Saddanīti*, vol. iv, Lund 1949, 5.3.1. In the Jaina Canon, applied to the Jina : *Sūyagaḍa* I, 15, 1 (S I, p. 132) :

    jaṃ aiaṃ paḍupannaṃ āgamissaṃ *ca nāyao*
    savvaṃ *mannai taṃ tāī daṃsaṇāvaraṇ'ntae.*

12. Cp. the Āyāraṃga–nijjutti verse 226 (ed. Jambūvijaya Muni, Delhi, 1978), p. 120.

    je Jiṇavarā aīyā, je sampai, je aṇāgae kāle
    savve vi te ahiṃsaṃ vadiṃsu vadihinti vivadinti.

"What is past, present and to come, all this is known to the Leader, the Saviour who annihilates the hindrances to right faith (JACOBI's trsl. *Sacred Books of the East*, vol. xlv); cf. also *Uvāsagadasāo* 7 (S I, 1149, 14-15 ff.) : *tīya-paḍuppannam aṇāgaya-Jāṇae arahā Jiṇe;* used to emphasize the eternal character of the custom of distributing wealth, observed by the Śakras when the Arhats leave the world, *Nāyādhammakahāo* I, 8 (S I, 1032, 14-15) : *taṃ jiyam eyaṃ tīyapaccuppaṇṇam aṇāgayāṇaṃ Sakkāṇaṃ arahatāṇaṃ bhagavantāṇaṃ nikkhamamāṇāṇaṃ im' eyārūvaṃ attha-sampayāṇaṃ dalaittae;* Ṭhāṇ 3 (S I, 216, 22; 25).

13. Cūrṇi (ed. Ratlam, 1942), p. 133, 1.9 ff.; Śīlānka's Ṭ (ed. Jambūvijaya, ibid.), p. 119 : *atikrāntās Tīrthakṛtaḥ kālasyānāditvād anantā atikrāntā anāgatā apy anantā āgāmi-kālasyānantatvāt.*

14. They were born in the five Bhāratas, the five Airāvatas and the five Mahāvidehas. Cf. cūrṇi; Ṭ ibid. records various opinions regarding the number of Ts : 10, 20, or 170, viz, 32 × 5 + 10. This is also recorded in

Bhattaparinnā (ed. Bombay, 1972), gā. 172 : sattari-sayaṃ Jiṇāṇa *va gāhāṇaṃ samaya*-*khetta-pannattaṃ ārāhanto vihiṇā sāsaya-sukkhaṃ lahai mokkhaṃ*. About the computation see K. von KAMPTZ, *Uber dievom Sterbefasten handelnden ältern Paiṇṇa des Jaina-Kanons*, Hamburg, 1929, p. 23; PrPN, p. 338.

15. They are usually not included among the 54 or 63 "Great Men".
16. P. 432b *Śreṇiko rājā prasiddhaḥ; Supārśvo bhagavato Vardhamānasya pitṛvyaḥ.*
17. Cf. Ṭ p. 434a : *Poṭṭila-Śatakāv anantaroktāv eva.*
18. *Titthogāli-Paiṇṇaya*, ed. Paṃnyāsa Kalyāṇa Vijaya Gaṇivara, Jalor, 1974 (With a Sanskrit chāyā and a Hindi translation).
19. Cf. W. Schubring, *The Doctrine of the Jainas*, p. 109.
20. D. D. Malvania, *Study of Titthogāliya*, in *Bhāratīya Purātattva. Purātattvācārya Mnni Jinavijaya Abhinandana Grantha*, Jaipur, 1971, p. 129-138.
21. For instance, gā. 1010 :
causuṃ vi Eravaesuṃ, evaṃ causu vi ya Bharaha-vāsesu
ekk' ekkammi u hohintī kulagarā satta.
1028a : *Eravate vi ya evaṃ*; 1112a : *navasu vi vāses' evaṃ*; etc.
22. Cf. R. Williams, *Jaina Yoga*, London, 1963, p. 1; 10.
23. Vol. I, Bombay, 1922 (DLJP 58), with Siddhasena's Sanskrit commentary
24. Ed. O. Boethlingk—Ch. Rieu, St. Petersburg, 1847; repr. 1972
25. Ed. Bhavnagar, saṃ 1965; Helen M. Johnson, *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacaritra* trsl. vol. VI, p. 347, Baroda, 1962 (Gaekwad's Oriental Series 140).
26. Cf. D. D. Malvania, *On Bhadreśvara's Kahāvalī, Indologica Taurinensia* vol. 11, Torino, 198.
27. Ed. Jinavijaya Muni, Bombay, 1934 (Singhi Jain Series 10), Cp. *Abhidhānarājendra*, Ratlam, vol. 2, *s. v. ussappiṇī*, p. 1171-1172,
28. Ed. DLJP 86, Prose. original verses and quotations are mixed in this work. I thus refer to page and line numbers.
29. On p. 555a, 7a, there is quotation which is said to come from the Āvaśyaka-niryukti about F. T. 13 Niṣkaṣāya-Baladeva :
bhava-siddhio ya bhayavaṃ sijjhissai Kaṇha-titthaṃmi.
I am not able to find it. See moreover. fn. 67 (Nandīvṛtti) and fn. 60 (Vasudevahiṇḍi, Nemicaritra, and Antagaḍadasāo). Anonymous quotations; 552a, 10; 555a, 2.
30. No. 93, p. 241-242 in *Jainastotrasandohe* (*Prācīna-stotra-saṃgraha*), Pt. I. Ed. Caturvijaya Muni, Ahmedabad, 1932.
31. E. g. p. 49-50 in *Parvatithi vigere nā caityavandanādi no saṃgraha*, Bhavnagar, saṃ. 1981.
32. Cp. *Lokaprakāśa* 557b. 15-17 :
atra caiteṣāṃ pakṣāṇāṃ visaṃvāde bahuśrutāh sarvavido vā pramāṇam
iti jñeyam. ya ca noktā vyatikarā, Jinānāṃ bhāvinām iha/kecit te
'tyanta-viditāḥ, ke cit cāviditā iti.

33. A. Weber, *über die heiligen Schriften der Jaina, Indische Studien* xvi. Leipzig, 1883, repr. 1973, p. 293; on the question of variants and alterations in the transmission of the Canonical texts, cf. C. Caillat, *Notes sur les variantes dans la tradition du Dasaveyāliyasutta, Indologica Taurinensia,* vol. viii-ix (1980-81), Torino, 1981, pp. 71-83.
34. There is some trace of confusion in the data of Titthogālī as can be gathered from PrPN where Amama and Savvabhāvavihaṃjaṇa are both mentioned as F. T. 12, whereas no F. T. 13 can be found.
35. Cf. Glasenapp, *Jainismus*, p. 310.
36. A. N. Upadhye, intr. to Tiloyap., vol. ii, p. 7., Sholapur, 1951.
37. Ed. A. N.Upadhye-H. L. Jain, Sholapur, 1956[2] (Jivaraja Jain Grantha mala 1), vol. I.
38. Ed. Pt. Pannalal Jain, Delhi, 1968[2] (Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha 14).
39. Ed. P. L. Vaidya, Bombay, 1937, MDJG 37, vol. III.
40. Vol. II (MDJG 33).
41. Ed. MDJG 12.
42. Ed. H. L. Jain, Ahmedabad, 1969, Prakrit Text Series 13.
43. Vol. II, Delhi, 1971, p. 376. A work by some Jayasena is also taken into account there, the data of which correspond to those of the Kahakosu. Names are all given in their Sanskrit form.
44. They are the basis of GLASENAPP's list in *Der Jainismus*, p. 309.
45. P. S. Jaini, *The Jaina Path of Purification*, p. 39 and 40 n. 93; G. Roth, *Mallī-Jñāta, das achte Kapitel im sechsten Anga* (....) Inaugural Dissertation zur Erlangung der Doktorwürde (....) München, 1952, p. 50-52 quoting Kundakunda, Aṣṭapāhuḍa 2, 22-26.
46. Is the Dig. Raivata (No. 15) a reminiscence of her ?
47. Tiloyap iv, 1582; Trilokasāra 876; Mahāp. cii, 6, 9-12; Uttarap. lxxvi 476-77 : 100 years as the first T.s' life-span according to the Hindi trsl which seems somewhat confused here. No information of the kind in Harivaṃśap. and Kahakosu.
48. Idem about the size of the kulagaras other than the first and the last : iv, 1572ab; or about the 63 "Great Men" of Airāvata for whom the teaching is said to be lost : iv, 2366 -
ṇavari viseso tassiṃ salāga-purisā bhavanti je keī
tāṇaṃ ṇāma-ppahudisu uvadeso sampai paṇaṭṭho.
49. *pacchima-kulayarāsu ghari....*
tuhũ Mahapomu nāmu bhava-bhaya-horu|hosahi paḍhamu etthu Titthaṃkaru.
50. Ed. A. N. Upadhye, Bombay, 1943, Singhi Jain Series 17.
51. Depending on the sources, their total number is 14 (Tiloyap. iv, 1570; Harivaṃśap. lx, 554-557) or 16 (Uttarap. lxxvi, 463-66; Mahāp. cii. 5, 6-13; Trilokasāra 872), if T. 1 and Cakravartin 1 are included (Mahāp. n. ad loc. p. 292).

52. Ch. Krause, *Ancient Jaina Hymns*, intr. p. 15.

53. Ed. Bombay, 1927; cf. K. von Kamptz, *Uber die vom sterbefasten handelnden älteren Paiṇṇa des Jaina-Kanons*, Hamburg, 1929, p. 38; Upadhye, *Bṛhatkathākośa*, intr. p. 29. Cp. the verse quoted in Jinaharṣa, *Viṃśatisthānakacarita* (on which below 2.2.; ed. DLJP 60, 1923), p. 89b :

aladdha-puvvaṃmi bhavodayaṃmi lahanti Titthassa pabhāvaṇāe
Titthesarattaṃ amar' inda-pūjjaṃ (sic) Dasārasīho iva Seṇio vā. (i. e. Kṛṣṇa)
Seṇio va Cp. Āvaśyaka-niryukti 1158 quoted below.

54. Śreṇika: *Āvaśyakaṭīkā* of Haribhadra, ed. Agamodayasamiti 1916, p.681a, lines 1-5 cūrṇi, ed. Ratlam, 1929, II, p. 169, lines 5-8; R. Williams, *Two Prakrit versions of the Maṇipaticarita*, London, 1959; anonymous, gā. 405-11; Haribhadra, gā. 114-123; Śīlāṅka, *Cauppaṇṇamahāpuriscariya*, ed. Prakrit Text Series 3, 1961, p. 320, 3-20; Guṇacandra, *Mahāvīracariya*, ed. DLJP 75, p. 333a-334a; *Ākhyānakamaṇikośavṛtti*, ed. Prakrit Text Series 5, 1962, p. 118, gā. 133-138; p. 334, gā. 97; *Triṣaṣṭi*, ed. x, 9, 139-165 (trsl. vol. vi, p. 238); *Uttarap.* lxxiv, 450-453; *Kahakosu* xiv, 16; etc. Similar facts but a different scheme in *Bṛhatkathākośa* No. 55, p. 87; Prabhācandra, *Ārādhanākathākośa*, ed. A.N. Upadhye, Delhi, 1974, No. 21 and 90* 31.

Kṛṣṇa : *Antagaḍadasāo* 5; *Vasudevahiṇḍi*, according to the Lokaprakāśa 555a, 4-6) : *Ākhyānakamaṇikośa*, p. 122-123; *Triṣaṣti* viii, 11, 50-54 (trsl. vol. v. p. 297); Guṇavijaya, *gadya-baddha-śrī-Nemināthacaritram* (saṃ. 1668 = A. D. 1611), ed. Surat, 1920, p. 159a; *Nemicaritra* quoted in the Lokaprakāśa, 555a, 7-11.

55. S I, 1173, 30-1174, 7; trsl. L. D. Barnett, *The Antagaḍadasāo and Aṇuttarovavaīya-dasāo*, London, 1907 (Oriental Translation Fund, New Series, vol. 17), p. 81-82.

56. Motif of a future birth predicted by a Jina see Deleu, *Viyāha-pannatti*, Index s. v. Rebirth; ubi alia; Cp. in Buddhism, below 3.

57. Reference in fn. 54.

58. *Acharya Shri Shivaray's Bhagavati-Aradhana* (....). Ed.....by Pandit Kailashchandra Shastri, Sholapur, 1978², 2 vols. (Jivaraja Jain *Granthamala* 36, 37), gā. 739 :

suddhe sammatte avirado vi ajjedi Titthayara-ṇāmaṃ
jādo du Seṇigo āgamesī aruho (Sa. arhat) *avirado vi.*

739ab = Bhattaparinnā, ga. 67 quoted above; Bhagavatī Ār. 723-776 Bhattaparinnā 59-90.

59. H. Jacobi, *Die Jaina-Legende von dem Untergange Dvāravatī's*, ZDMG 42, 1888, p. 508, lines 6-8.

60. Also Triṣaṣṭi and Guṇavijaya (cf. fn. 54); Nemicaritra and Lokaprakāśa, 555a, 10: ....*Jitaśatroḥ suto 'rhas tvaṃ dvādaśo nāmato 'mamaḥ*; Vasudevahiṇḍi quoted ibid. : ***duvālasamo Amama-nāma-Titthayaro bhavissai.*** I cannot trace this passage in the text itself.

61. Kaṇha (No. 21 in Samav) must be a different person : cf. PrPN s. v. 7 Kaṇha; contra Ch. Krause. *Ancient Jaina Hymns*, intr. p. 16, where he is identified with the previous one.

62. Cf. *Dānāṣṭakakathā*, Paris, 1982, n. 3, p. 197-198; *Indologica Taurinensia*, vol. 11.

63. 11th cent. A. D. Ed. Prakrit Text Series 15. I purposely do not expatiate here on the contents of the stories.

64. Cf. *Jaina Stories as retold in Hindi* (....) by Muni Shri Mahendrakumarji Pratham. English trsl. by K. C. Lalwani, vol. I, Calcutta, 1976, p. 47 and Intr. p. xviii.

65. Conversely, narrative literature gives information about heroes to whom rebirth as T., Cakravartin etc. is predicted, though they do not occur in the lists : e. g. Rāma's prophecy about the future destinies of Sītendra, Rāvaṇa and Lakṣmaṇa (Triṣaṣṭi, trsl. vol. IV, p. 351) : the first will be a Cakravartin, the two others T., after three births; cp. Svayambhū-; deva, *Paumacariu* (ed. H. C. Bhayani, Bombay, 1960, vol. III) : XC, 9, 4 9, 10; 10, 6.

66. See 1.1.1.

67. 552b, 25, a quotation attributed to the Nandīvṛtti mentions an interval of 84007 years and 5 months between Vīra and Mahapauma :

culasī vāsa-sahassā, vāsa satt' eva paṃca māsā ya
Vīra-Mahāpaumāṇaṃ antaram eyaṃ viyāṇāhi. iti Nandī-vṛttau.

I am not able to trace this verse in the text itself, but it was possibly well-known as it occurs almost identically in the Titthogālī gā. 1039.

68. The rebirth in the third hell (see 1.2.1) comes first, but is not staged in a dialogue : Ṭhāṇ (S I, 299, 13–16); *Titthogālī*, gā. 1031-32.

69. Sammuī as one of the 10 kulagaras, Ṭhāṇ (S I, 313,6), but not among the seven of Samav (S I, 381, 20–21). It is strange that Śreṇika-Mahāpadma's genealogy, also given Triṣaṣṭi (trsl. vol. vi, p. 347) exactly reproduces what is prophesied by Mahāvīra for Gośāla's future births : Triṣaṣṭi vol. vi, p. 223, following Viyāhapannatti xv (S I, 733,28ff.; Deleu, p. 220); also PrPN p. 568, *s. v.* 9 *Mahāpauma*.

70. Cp. *Lokaprakāśa* 552a, 11–12 : F. Ts' measurements, caste, life-span, colour, etc. correspond to those of the avasarpiṇī-Ts. taken in the reverse order :

eṣo 'vasarpiṇī-jāta-caturviṃśa-Jinopamaḥ
prāyo 'ṅga-māna-varṇāyuḥ-kānti-prābhṛti-paryavaiḥ (284)
ity utsarpiṇy-avasarpiṇy-arhac-cakry-ādayo 'khilāḥ
prātilomy-ānulomyābhyāṃ bhāvyās tulyā manīṣibhiḥ (285).

Thus F. T. 1 corresponds to T. 24 Mahāvīra, etc. F. T. 3 to T. 22 Nemi: ibid., 553b, 21 :

Poṭṭilasya ca yo jīvaḥ, sa tṛtīyo bhaviṣyati
Supārśva-nāmā dehādi-mānair Nemi-Jinopamaḥ (323);

F. T. 13 is equated to T. 12 Vāsupūjya. 557a, 14; etc

71. Cp. *Apāpābṛhatkalpa*, 41, 10-11 : *vaṇṇa-ppamāṇa-laṃchaṇa-āūṇi gabbhāvahāra-vajjaṃ paṃca-kallāṇa-yāṇaṃ māsa-tihi-nakkhattāīṇi ya jahā mama* (i.e. Mahāvīra) *tah' eva bhavissanti* ; Lokaprakāśa 553b, 17 :

kalyāṇakānāṃ pañcānāṃ tithi-māsa-dinādikam
śrī-Vardhamānavad bhāvi Padmanābha-prabhor api.

72. *Titthogālī*, gā. 1086 :
aṇavaraya dāṇa-sīlo, Naliṇa-kumāreṇa parivuḍo Vīro
ujjāṇaṃ saṃpatto, nāmeṇaṃ Paumiṇī-saṃḍaṃ.

73. *Ibid.*, gā. 1052 ;
tihi-karaṇammi pasatthe mahanta-sāmanta-kula-pasūyāe
kārenti pāṇi-gahaṇaṃ Jasoya-vara-rāya-kaṇṇāe.

74. For other common verses see D. D. Malvania, *Study of Titthogāliya*, p. 137-138. Numbering according to Haribhadra, Āvaśyakaṭīkā.

75. Cp. the Apāpābṛhatkalpa quoted fn. 71 (*gabbhāvahāra-vajjaṃ*).

76. See also the introduction to Paṇṇavaṇāsuttaṃ, Ed. Jain Āgama Series 9, Pt. 2 (1971), p. 362-369; W. Kirfel, *Die Kosmographie der Inder nach Quellen dargestellt*, Bonn-Leipzig, 1920; repr. 1967, p. 326.

77. Also *Pdt. Sukhlalji's Commentary on Tattvārthasūtra of Vācaka Umāsvāti*, ch. III, Ahmedabad, 1974 (L. D. Series 44), p. 139; ubi alia.

78. E. g. Śvet. : useful discussions in Triṣaṣṭi I, 1, 882-903 (trsl. vol. I, p. 80-84); Pravac. gā. 310-312; 313–319; G. Roth, *Mallī-Jñāta*, p. 21–22k; Dig. : P. S. Jaini, *The Jaina Path of Purification*, p. 259–260 "Attainment of the Tīrthaṃkara Status".

79. Cp. *Vasudevahiṇḍi* (ed. Caturvijaya-Puṇyavijaya, Bhavnagar, 1930) 159, 14–16 : *tato bhayavaṃ Usabha-sāmī puvva-bhave Vairanābho Titthayaranāma-goya-kāya-saṃgaho Savvaṭṭhasiddhāo vimāṇāo tettīsaṃ sāgarovamāiṃ visaya-suham aṇuttaraṃ aṇuhaviūṇa Marudevāe kucchiṃsi uvavaṇṇo ....*; Jinasena, Harivaṃśap. viii, 37; etc.

80. S I, 1012, 22 ff.; W. Schubring, *Nāyādhammakahāo.* Das sechste Anga des Jaina Siddhānta (....), Wiesbaden, 1978, p. 29; 32.

81. Before Sambhavajina's last birth :
viṃśateḥ sthānakānāṃ ca sthānakair aparair api
sa puposa nijaṃ karma Tīrthakṛn-nāma-nāmakam; trsl. vol. II, p. 232; also p. 25; vol. III, p. 2; 65 passim; see below 3. for Buddhist counterparts.

82. saṃ. 1502 = 1445 A. D ; ed. DLJP 60, 1923; cf. W. Schubring, *Die Lehre der Jainas*, Berlin, Leipzig, 1935, 196; C. B. Tripathi, *Catalogue of the Jaina Manuscripts at Strasbourg*, Leiden, 1975 (Indologia Berolinensis 4), Serial No. 169-170; *Jaina Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa*, vol. VI, p. 307.

83. Thus for cxample :
tataś cyuto Videheṣu | bhāvī Tīrthaṃkaro nṛpaḥ (v. 54, p. 10b); or :
tataś cyuto Videheṣu sa bhāvī Tīrtha-nāyakaḥ
nāmato Jagadānandī, jagad-ānandi-rūpa-bhṛt. (p. 15b.).

84. E. g. in *Parvatithi vigere nā caityavandanādi no saṃgraha*, Bhavnagar, saṃ. 1981, p. 26, 27, 157, 246, 345. Lists of the 20 causes are identical with the older ones (see fn. 78), except for No. 15 : strangely enough Pk, *cciāa* (Sa. *tyāga*) or *dāna* is optionally replaced by "Goyama" explained as the 28 labdhis. Sometimes numbers are substituted to words, i. e. 24 instead of *arahanta* (No. 1), 5 instead of *nāṇa*, etc. P. 346, Śreṇika, Satyaki, Sulasā, Revatı are said to have become famous lay people through their observance of the sthānakas.
84 bis. A good survey of the various Buddhist traditions about Maitreya is to be read in E. Abegg, *Der Buddha Maitreya, Mitteilungen der Schweizerischen Gesellschaft der Freunde Ostasiatischer Kultur*, VII, 1985, p. 7-37.

85. Ed. by Minayeff, JPTS, 1886, p. 33-53; cf. T. W. Rhys Davids, *Anāgatavaṃsa in Encyclopaedia of Religion and Ethics*, vol. I, p. 414; E. Leumann, *Maitreya-samiti, das Zukunft Ideal der Buddhisten*, Strassburg, 1919. II. Teil : Indischer Teil.

86. *The Birth-Stories of the Ten Bodhisattas and the Dasabodhisattuppattikathā*. Ed. trsl. H. Saddhatissa, London, 1975 (Sacred Books of the Buddhists 29); esp. intr. p. 18–26.

87. Cf. R. Gombrich, *The Significance of Former Buddhas in the Theravādin Tradition* in *Buddhist Studies in honour of Walpola Rahula*, London, 1980, p. 62-72; I. B. Horner, *Some notes on the Buddhavaṃsa Commentary* (*Madhuratthavilāsinī*), *ibid.*, p. 73-84; ID , Intr. to *The Clarifier of the Sweet Meaning* (*Madhuratthavilāsinī*), trsl. London, 1978 (Sacred Books of the Buddhists 33).

88. Ed. I. B. Horner, 1946, Pali Text Society 55; repr. 1978.

89. Ibid., 104, 16–17 : *'Buddha-kare dhamme' ti buddhatta-kare dhamme, budhattakarā nāma dhammā dāna-pāramitādayo dasa-dhammā.*

90. Cf. the Kalki-Purāṇa, thoroughly analysed by E. Abegg, *Der Messiasglaube in Indien und Iran*, Berlin, Leipzig, 1928, p. 71-138; passim.

THE ISI HĀSIYĀI AND PĀLI BHDDHIST TEXTS—A STUDY

C. S. Upasak

The *Isibhāsiyāi* (*Ṛṣibhāṣitāni* :[1] *c.* 2nd-1st cent B. C.) is the only Prākṛta Jaina text which incorporates the sayings of some 44 (or 45) seers most of whom, from the later Jaina standpoint, are definitely heretics, or at best are those that belonged to contemporary non-Jaina religious folds. These saints are designated as 'Isi' (Ṛṣi, though not in the same connotation as given in the Brahmanical texts), in this ancient Jaina work. They, moreover, and invariably, are called 'Arahā' (Arhat), the two honorofic terms are used there as synonyms. 'Isi' is a person gifted with special spiritual powers of insight and intuition, a holy man, an anchorite. In Pāli Buddhist texts, 'Isi' occurs as a synonym of "Paccekabuddha," and probably was used in the same sense as implied in the Jaina texts Paccekabuddha attains 'enlightenment' by himself, without any guidance or help of a teacher like the Buddha, but does not indulge in proclaiming and propagating the 'Truth' and so does not found his 'Saṅgha' or sect and hence had no following.[2] It appears that, in the Buddhist texts, the Buddha, the Paccekabuddha and the Arhat as terms were somewhat more frequently employed than in the Jaina texts where the term *muni* became popular for a saint, although all these terms were known to both the branches of the Śramaṇic culture. Undoubtedly, the term Paccekabuddha has been exclusively used by the Buddhists in early times, the Jainas seemingly adopted it later. In the Buddhist tradition the Paccekabuddha was held in very high esteem and is mentioned along with the Buddha and the Arhat. During the Kuṣāṇa period, in the early centuries of the Christian era, when the worship of the Buddha became more popular by his thorough deification, the worship of Paccekabuddha also became popular. In the Taxila Scroll Inscription of a Kuṣāṇa king (year 136 / A. D. 79), exhumed from Dharmarājika stūpa along with the relics of the Buddha, the worship of Paccekabuddha is recorded together with the Buddha and the Arhat[3].

The *Isibhāsiyāi* is a text in which, as the later Jaina commentaries explain (pointed out also by Walther Schubring), the term 'Isi' is used in the sense of Pratyekabuddha, although in the text the term Pratyekabuddha never figures; instead, we largely find Arahat, and sometimes not even 'Isi' for a saint.

For instance, Sātiputta (No. 38) is designated as Buddha (*Sātiputtena Buddhena Arahatā buitaṁ*). At most of the places in the *Isibhāsiāi*, the assertions of the saints are described as....*arahatā isinā buitaṁ*, thus specifically calling them both 'Isi' and *Arahata* (not Pratyekabuddha). The text also refers to an *Arahata* and 'Isi' (No. 21) who is described as *taruṇa* (young) in age and who was the son of a middle

class householder (*gāhāpatiputta*) suggesting that usually the *isis* were of advanced age and hailed from the upper class of the society, mostly Brāhmaṇas and Kṣatriyas. Four Brāhmaṇa *parivrājakas* (non-śramaṇic wanderer-ascetic), namely Piṅgala (No. 32), Isigiri (Ṛṣigiri) (No. 34), Sirigiri (Śrīgiri) (No. 37) and Divāyaṇa (Dvipāyaṇa) (No. 40) are mentioned in the text; while three of them are designated as *Arahat* and *Isi*, Isigiri (No. 34) is called only *Arahata*.

Buddhist Influence

As we earlier have seen, the *Isibhāsiyāi* includes the assertions of a number of sages which definitely are either of Buddhist or Brahmanic folds. A number of its verses are parallel to early Pāli Buddhist texts, some of them being almost exactly the same, both in general form and content. This feature of the text points to its being very ancient, probably soon after some of the more ancient texts of the Pāli Tipiṭaka. The inclusion of the sages not belonging to the Jaina, leaves no doubt that the 'sages' or seers' in true sense were equally revered and honoured by other religionists also, notwithstanding their philosophical differences or ecclesiastical and religious practices. The *Isibhāsiyāi* in this respect is an illustrious text, indeed very important for the cultural study of ancient India, revealing as it does the cultural commonality shared by all the religionists of that period. Saintly personages in ancient India were held in the highest esteem by the society and they commanded the utmost respect. This fact is known from several sources, but mainly from literature.

The account of these *Isis* in the text is called *Ajjhayaṇa* (Skt. *Adhyayana*) or 'study' of the philosophical views of the sages. However, neither chronological order nor sect-wise grouping can be noticed in the text. It contains rather an arbitrary selection and equally arbitrary ordering of the *Isis*.

The very first *Ajjhayana* is about Nārada. Nārada is a popular "Devarṣi" in the Brahmanical mythology; in the Pāli text also, the personages bearing the name Nārada are equally popular. Pāli texts mention as many as 18 persons with this appelation.[4] It is difficult to ascertain the identity of the Nārada of the *Isibhāsiyāi* with any found in the Pāli texts. There is one Thera Nārada in the *Saṁyutta-Nikāya* (II, 115) who declares himself as being aware of the nature of Nibbāna, but he is not an *Arahanta*. The ninth out of the twenty-four Buddhas was also called by this name (but not Paccekabuddha). Two sages called 'Nārada' are mentioned in the *Jātakas*. One is described as a 'sage', brother of Kāladevala and pupil of Jotipāla in the *Indriya Jātaka* (No. 433) and the other is an ascetic, son of sage Kassapa who finds mention in the *Cullanārada Jātaka* (No. 220). Obviously, the *Isibhāsiāi* text may have refered to any of these sages having this name, but probably not that of the Brahmanical mythology, as we do not find any hint toward him in the *Isibhāsiyāi*.

The second saint of the text is Vajjiputta, who is both Arahat and Isi. He is said to have advocated the law of *kamma* (*karma*). It is *kamma* which determines the future birth on the basis of the deeds done in the past. Of the *kammas*, *moha* (delusion) is the cause of all the sufferings. As the name suggests, he belonged to the Vajji (Vātsi) clan of Vesāli (Vaiśāli), and probably a person of some standing. In the Pāli Buddhist texts, two Vajjiputta Theras figure, who probably represent one and the same person (*Cf. DPPN* Vol. II, p. 810, 811). He is called there an *Arahat*. In the *Dhammapadaṭṭhkathā* (III, 406ff.) he is called 'Rājā'; probably, then, he belonged to the princely family of Vesāli. The *Isibhāsiyāi* perhaps refers to this very Vajjiputta Thera of the Buddhist text. He may be regarded as the one who was the head of the Vṛjjiputras, as Schubring chooses to describe (p. 4). But Vṛjjiputra school of thinking flourished somewhat later, probably later than our text.

The name of another sage, Devila (No. 4) of the text figures in the Pāli text as Devala and also as Asita Devala (*DPPN* vol. I, p. 70). And if we take Devila as Devala, we are reminded of a sage who visited the court of Śuddhodana, the father of Gautama Buddha, and who prophesied that the child Siddhārtha will become a 'Cakravrtti' if he chose to be the ruler, and, if a recluse, would become a Buddha. He is said to have attained various miraculous powers, *iddhis* (*riddhis*). Because of his dark complexion and probably to distinguish him from other sage of the same name, he is known as Asita Devala or Kāladevala (*DPPN*. Vol. I, p. 208). Another sage by the same name is known from the *Dhammapadaṭṭhakathā* (I. 32). He lived in the Himālayas and once, while he was staying with another ascetic named Nārada under the same roof, the latter was trodded over in the night : (*Cf. DPPN*. II, p. 1116). A Paccekabuddha with this name is mentioned in the *Theragāthā Aṭṭhakathā* (I. 368), At least five persons of this name are found in different Pāli texts (*Cf. DPPN*. Vol. I, p. 1116), and it appears that the *Isibhāsiyāi* refers to any of them, very probably to Asita Devala.

One other saintly personage referred to in the *Isibhāsiyāi* is Aṅgirisa Bhāraddaya (Aṅgirasa Bhāradvāja) (No. 4) who is mentioned several times in the Pāli texts as one of the ancient Vedic seers. (*DPPN*. Vol. I, p. 20). A Paccekabuddha bearing that name is also mentioned in the *Majjhimanikāya* (III, 70) for instance. Even the Buddha is called Aṅgirasa several times in the Pāli texts (*Cf. DPPN*. Vol. I, p. 20). Another ascetic by this name occurs also in the *Jātaka* (IV. 99) in a list of eleven ascetics who were born in the heaven Brahmaloka. (*Cf. DPPN*. I, p. 20). The *Isibhāsiyāi* probably refers to the Vedic Ṛṣi by this name.

An Arahanta Bakkula Thera is referred to in the Pāli text who got the initiation at the age of eighty and became emancipated only within eight days after hearing the preachings of the Buddha. Vakkalaciri (No. 6) of the *Isibhāsiyāi* is probably different from Bakkula Thera of Pāli text, Vakkalaciri probably was a seer of the Brahmanical tradition who used to clad himself with the cloth made of

bark (*valkala*). Mendicants with this dress are common in the Brahmanical tradition who used to clad themselves with the cloth made of bark (*valkala*). (In the Jaina lore, the personality of the Brahmanical "Ṛṣyaśṛṅga" has been fused with "Vakkalaciri").

Mahākāsava (No. 9) is obviously the same person who is known in the Pāli texts as Mahākassapa, one of the most eminent disciples of the Buddha. He had attained a very high level in saintlihood. He, in point of fact, is the same great patriarch who presided over the First Buddhist Council held at Rājagṛha in order to make the collection of the words of the Buddha soon after his *Mahāparinibbāna*. (*DPPN*. Vol. II, pp. 476-483). The prose and the verses occurring in the *Isibhāsiyāi* in his context deal with the theory of *kammavāda* as propounded by the Buddha which supports the authencity of the text. The text's statements ascribed to Mahākāsava are true, as they should be upheld by one of the Buddha's main disciples like Mahākassapa.

Maṅkhaliputta of the text (No. 11) is obviously "Makkhali Gosāla", one of the six heretical teachers mentioned in the Pāli texts, who were contemporary to the Buddha. He is also known to the Jaina texts, particularly the *Vyākhyāprajñpti*. Gosāla had his own followers and his own Saṅgha In the Buddhist Pāli texts he is described as *Saṅghī* and *Gaṇī* which suggest that he was enjoying a high status among the mendicants of Buddha's time. He is said to have propounded the view that there is no cause either ultimate or remote for the depravity of beings or for their restitude. But his views are confused and difficult to understand : (*DPPN*. Vol. II, pp. 398-400). So we find here, in the *Isibhāsiyāi*, as rightly pointed out in its Commentary, that while the stanzas 1-4 deal with the acquired knowledge, the stanza 5 contradicts the moral insight : (*Isibhāsiyāi*, p. 107).

During the life time of the Bu'dha, a sage Uddaka Rāmaputta was renowned for ascetic practices, As is recorded, the Buddha also went to him for instructions soon after leaving his home as a wanderer. Although the Buddha abandoned him for finding him not 'perfect', he held him in high regard because of his spiritual attainments. In the *Isibhāsiyāi* (No. 23) we find him described both as an *Arahat* and *Isi*. He is said to have believed that, by purifying the eight types of defilements (*mala*), one reaches a stage where he remains for ever. In the Pāli texts he is said to have attained a state of "neither consciousness nor non-consciousness (*Nevasañña nāsaññā*), the 'Fourth' *jhāna* where factors like *sukha* (happiness) and *ekaggatā* (*ekāgratā*, concentration) exist.

The 26th Isi of the *Isibhāsiāi* is devoted to Māyaṅga who may be identified with Mātaṅga of the Pāli texts. However, there occur four persons bearing this name. He may be the one who is said to be a Paccekabuddha : (*DPPN*. Vol. II, p. 599). The allegory of *kṛṣi* or tilling of the land as found in the *Isibhāsiyāi* may be compared with the description found in the "Kāsibhāra-dvāja-sutta" of the

Suttanipāta Cf. Gathā 77, *Khuddakanikāya* Vol. I, Nal. Ed., p. 281) and also in the *Saṁyutta-nikāya* with a little variation.

Piṅga is another Brāhmaṇa *parivrājaka* (No. 32) whose utterances are recorded in the text. His statements may be compared with the sayings of the above 'Isi Māyaṅga'. Both of these *Isis* compare the life of an ascetic with a farmer who tills the land by the bulls. sows the seeds in the field; so also the ascetics till the land of *ātmā*; the *tapa* or penance is the seed, *saṁyama* or moral restraint is like the two *naṅgalas* or furrows and *ahiṃsā* is the rains of the mendicants. This is the 'divine agriculture' or *Dharmagarbhā-kṛṣi*. Here, again, the allegory is the same as we find in the *Suttanipāta* and in the *Saṁyutta-nikāya* of the Pāli Tipiṭaka as mentioned in the foregoing. These similar accounts suggest that the ascetics or religious wonderers had to encounter with the people for substantiating their 'unproductive' way of life. The Buddha also had to justify his monastic life by comparing it with the life of a farmer while discussing with Kāsi Bhārdvāja, a big landlord of his time.

Isi Piṅg of the *Isibhāsiyāi* text is said to be a Brāhmaṇa Parivrājaka. The *Aṅguttaranikāya* mentions one Brāhmaṇa named Piṅgiyānī of Vesāli who is said to be the follower of the Buddha. (*DPPN.* Vol. II, p. 199ff.) Again, in the *Saṁyuttanikāya* (I. 35, 60), another Piṅgiya is described as a Bhikkhu who attained Arahatship. It is difficult to descern Piṅga of the *Isibhāsiyāi* from any of the Pāli texts. The Jaina text probably refers to an earlier Piṅga from whom a line Piṅgāyanī emanated. But the allegorical illustrations are interestingly similar which point to the archaic nature and hence antiquity of the *Isibhāsiyāi.*

The utterances of the two sages, namely Sātiputta and Sañjaya are placed in the text one after another (Nos. 38 & 39). Sātiputta has been identified with Sāriputta of the Pāli canon. He is one of the two "Chief Disciples" (*Aggasāvakas*) of Gotama Buddha, the other is Moggallāna. The Buddha has praised Sāriputta as 'foremost among those who possessed wisdom' (*Etaggaṁ mahāpaññānam*): He is looked upon as a sage next to the Buddha, as wise in understanding the Dhamma as the Buddha himself. Significantly, in the *Isibhāsiyāi*, he is the only saint who is designated as 'Buddha' and 'Arahat' while other sages hold the title of 'Isi' and 'Arahat' or 'Isi' or 'Arahat' only. Probably because of his first grade spiritual achievements he was held in high esteem and reverence by all other religionists of the period. He was probably popular among other sects and equally among the Jaina saints who also paid him full regard on account of his spiritual attainments. The compiler of the *Isibhāsiyāi* probably was aware of the esteemed personality of Sāriputta and so calls him 'Buddha' (not *isi*), and thus, the text in the original linguistic form may be a composition of not later than the 3rd or 2nd cent. B. C, if not still earlier. The other saint Sañjaya, a contemporary of Sāriputta (and also of the Buddha and Mahāvīra) is included in the list of six 'heretical teachers'

in the Pāli texts. (*DPPN*. Vol. II, p. 999ff.) He is called there Sañjaya Velaṭṭhiputta. Sāriputta and Moggallāna, the two 'Chief Disciples' of the Buddha were his earlier disciples before they joined the Order of the Buddha. Sañjaya had formed his own Saṅgha and probably had gathered a good number of followers. It is recorded in the Pāli texts that he had died soon after Sāriputta joined the Saṅgha of the Buddha at Rājagṛha. Sañjaya of *Isibhāsiyāi* appears to be the same saint who is known to the Pāli texts. In the Commentary (*Saṅgrahaṇī*) of *Isibhāsiyāi*, both Sāriputta and Sañjaya are described as non-Jain saints in the *tīrtha* (life time) of Mahāvīra. This indicates the authenticity of the text and also proves that both were contemporary to the Buddha and Mahāvīra, as also evidenced from other sources.

The teachings of the above-noted saints succinctly recorded in the *Isibhāsiyāi* and traceable in the early Pāli Buddhist texts, are once more points in evidence as regards the venerable antiquity of the text. The author of the text is well aware of the great saints of ancient India and so he records their names and their teachings on the whole fairly/accurately. Thus, this text is one more valuable source for the evaluation of the religious ambience of the times that were contemporary, preceding, and immediately succeeding Buddha and Vardhamāna Mahāvīra.

Note and References

1, *Ed.* Walther Schubring, L. D. Series 45, Ahmedabad 1974.

2. *Cf.* Rhys Davids, Pali-English Dictionary, p. 385; R. C. Childers, *A Dictionary of Pali Language*, p. 309; *Abhidhānarājendra*, Vol. V, p. 1325; *Tattvārthādhigama* of Umāsvāti, Pt. II (Surat, 1980), p. 309; *Sarvārthasiddhi* Ch. X-9. Also *cf.* for Ṛṣi in *Amarakoṣa*, 2.7.42. *Cf. Mahāvaṁśaṭīkā* XII, p. 277 (Nal. Ed.).

3. *Devaputras Khusanasa̱arogadakṣinaye sarvabudhana puyāe pracagabudhasa puyāe*- *Epigraphia Indica*—I, XIV, p. 295, *C.I.I.*, Vol. II, Pt. 1, No. XXVII, p. 77.

4. *DPPN*, Vol, II, p. 52ff.

ASITA-DEVALA IN ISIBHĀSIYĀI

Lollanji Gopal

The *Isibhāsiyāi* (*Ṛṣibhāṣitāni*)[1] is one of the most ancient Jaina āgamic works. The *Ṭhāṇāṅga* (*Sthānāṅga*)[2] mentions it as the third chapter of the *Paṇhāvāgaraṇāim* (*Praśnavyākaraṇa*), the tenth *aṅga*. But the text of the *Paṇhāvāgaraṇāim*, being a post-Gupta replacement of the original, does not contain this chapter. The *Samavāyaṅga*[3] also knows the *Isibhāsiyāi* and describes it as containing forty-four *ajjhayaṇa* (*adhyayana*). This tallies with the form of the *Isibhāsiyāi* which has fortyfive sections.[4] The text evidently was of considerable significance to the Jainas, because the scholiast, who wrote the *Āvassayanijjutti* (*Āvaśyaka-niryukti*) (erroneously taken as the celebrity, Bhadrabāhu), expresses his resolve to write a *nijjutti* on it also.[5] The *Sūyagaḍa* (*Sūtrakṛtāṅga*)[6] names certain earlier "Mahāpuruṣa Arhats" who evidently belonged to the Vedic tradition and achieved the position of Arhats by resorting to ways and practices which generally are not approved by Jainism. The term *iha* used here refers to Jaina canonical literature. But the author of the commentary explains it to signify *Ṛṣibhāṣita* and other texts (*Ṛṣibhāṣitādau*). The text commanded respect in Jaina literature. It was accepted as a *kālīya* text which, though not included in the *aṅgas*, was approved for the study hours in the daily time-table.[7]

On the basis of 'numerous indisputably genuine early reminiscences in language and style' Schubring places it in the category of the most ancient Jaina *āgamas* such as the *Āyāra* (*Ācāra*, particularly its first part, the *Bambhacerāim*), the *Sūyagaḍa* (*Sūtrakṛta*), the *Uttarajjhāyā* (*Uttarādhyayana*) and the *Dasaveyāliya*[8] (*Daśavaikālika*). The *Isibhāsiyāi* doubtless has parallels in language and expression with these four texts. In the number of stanzas, the predominance of Ślokas and the extant of prose the *Isibhāsiyāi* is closest to the *Dasaveyāliya*; in the diversity of the metres it is like the *Dasaveyāliya*, *Uttarajjhāyā* and *Sūyagaḍa*.[9] Like the *Bambhacerāim*, our text is characterized by an intermingling of prose with verse, in which 'whole stanzas, half stanzas and single *pādas* alternate with unmetrical executions'.

The author of the text, as ascertained by Schubring, was close to Jina Pārśva from the doctrinal standpoint. This is indicated by the greater importance given to Pārśva in devoting a rather long passage for expounding his dictum.[10] The text, moreover, does not separate the fourth and fifth vows separately as was the case with the *Cāturyāma-dharma* preached by Pārśva before Vardhamāna Mahāvīra. The *Isibhāsiyāi* was evidently still under the influence of Pārśva. It fuses the fourth and fifth vows into one.

The text breathes an atmosphere of liberal attitude which may have characterised the early days in the history of Jainism. It pays respect to many thinkers and religious leaders standing outside the Jaina fold by collecting their sayings to form a canonical work. Some of these belonged to the Vedic or Brahmanical tradition. We also find Maṁkhaliputta[11] (Maskariputra Gośāla) and the Buddhists Mahākāsava[12] (Mahākāśyapa) and Sāiputta (Śāriputra)-*buddha*.[13] There are, in the text, certain views which could not have been tolerated in later days of Jainism, when orthodoxy had settled down and anything inconsistant with the set doctrines, dogmas and practices could not expect an honourable reference. Section 20 introduces an anonymous *utkaṭa-vādin* in place of a *ṛṣi* and mentions, with a fair show of approval, his materialism. We have an 'unjinistic' recognition of farming as *divvā kisī*[14] and a reference to cosmogonic theories, including one about the origin of the world from water.[15] Likewise, orthodox Jainism of later times could not have accepted the equation of Pārśva, Mahāvīra, and latter's adversary Gośāla Maskariputra, alike as *pratyekabuddhas*, which we find in our text. These 'strange things' in the text explain, according to Schubring, why it fell into 'nearly complete oblivion'[16] and created uncertainty about it in later writings. This is exemplified by the confusion about it in Haribhadra's commentary on the *Āvassayanijjutti*. In it the *Isibhāsiyāi* is identified at one place[17] with the canonical *Paiṇṇa* (*Prakīrṇaka*) named *Devindatthaya* (*Devendra-stava*), and in another[18] with the *Uttarajjhāyā*. We already have referred to the later confusion about the number of sections in the text.

A pointer to the date of the text is the reference to Gośāla Maskariputra. The *Viyāhapannatti*[19] (*Vyākkyā-prajñapti*) (*c.* 2nd-3rd cent. A. D.) represents him as a renegade disciple of Mahāvīra for that passage, but in our text he does not suffer from any such humiliation. On the contrary he enjoys an honoured position as a *pratyekabuddha*. This transformation in his status in Jaina perception must have taken a long period. Thus, the *Isibhāsiyāi* is to be placed a few centuries before the selfsame (and other passages are similar in vein and style) in the *Viyāhapannatti*.

The emphasis on ethical thought is the main characteristic of the text. It brings out the common points in the ethical ideas of the early religions of different traditions. The metaphysical and doctrinal details and differences, which dominate later sectarian and scholastic texts, did not receive any importance from the author of this text. This also is a significant pointer to the early date of the text.

Our text purports to collect the views of *ṛṣis*. Generally the word *ṛṣi* is used for a sage. It is supposed to be synonymous with *muni*. But, in our text it is employed in the special sense of a *pratyekabuddha*. A *pratyekabuddha* is a person, who, having realised the highest knowledge, acquired the status of the *buddha* for himself but, unlike the *buddha*, did not found a school or community. That the

pratyekabuddhas of our text had no intention to teach, though they had their own characteristic views, is clear from the fact that the word *buitam* (dictum) and not *pannattam* (teaching) is used for them.[20] Under the name of *ṛṣi* or *pratyekabuddha* the text records the views of forty-five thinkers, though in one case the actual name of the *ṛṣi* is not mentioned.

The text does not give enough details to identify the *ṛṣis* or to locate them in time and place in all the cases. However, some of them can be easily identified with personalities mentioned in early texts of the Brahmanical tradition, for example, Jaṇṇavakka (=Yājñavalkya), Bāhuya (=Bāhuka or Nala), Soriyāyaṇa (=Sauryāyani), Addālaka (=Uddālaka) and Aruṇa Mahāsālaputta (=Āruṇi). The Brāhmaṇa association is clear in the cases of Piṅga, Isigiri, (Ṛṣigiri) and Sirigiri (Śrīgiri) who are called *māhaṇa-parivvāyaga* (*brāhmaṇa-parivrājaka*).[21] Other names in this category are Asiya Davila (=Asita Devala), Aṅgarisi Bharaddāya (=Aṅgiras Bhāradvāja), *deva* Nārāya (=*devarṣi* Nārada),[22] Divāyaṇa (=Dvaipāyana) and Mātaṅga. Vāu (=Vāyu), Soma, Jama (=Yama) and Varuṇa are the four Lokapālas (Regents of the Quarters) in the Brahmanical pantheon from very early times. Some names, for which we cannot adopt a very definite view (but some of them can still be identified), are Madhurāyaṇa (=Mathurāyaṇa), Tārāyaṇa (=Tārāgaṇa, more probably sage Nārāyaṇa), Āriyāyaṇa, Varisava-Kaṇha (=Varisakaṇha or Vārṣagaṇya, the ancient Sāṁkhya teacher). About Harigiri, Kumbhaputta. Pupphasālaputta, Rāmaputta (correctly Rāmagutta), Gāhāvaiputta (=Gāthāpatiputra) Taruṇa, Ketaliputta[23] and Vidu (=? Vidura) we are less certain. Besides Vaddhamāna (=Vardhamāna Mahāvīra) and Pāsa (Pārśva), we have Maṁkhaliputta (=Gośāla Maskariputra), Sāiputta (=Śāriputra) Buddha and *mahai* Mahākāsava (=Mahākāśyapa). Vajjiyaputta possibly also had a Buddhist association and belonged to the Vajji republic.[24] Vāgalacīri (=Vakkalacīri), Jaina Ṛṣyaśṛṅga, enjoyed a place of high respect in the eyes of the author of the text being referred to as *viyatta bhagavaṁ* and *uggatava*. The other names in the text are Metajja (Maitreya), Bhayāli, Sāṁjai (=? Sañjaya),[25] Dagabhāla,[26] Vārattaya Addaga, Indanāga (Indranāga) and Vesamaṇa (Vaiśravaṇa).

Some of these names occur in some other Jaina texts as well. The *Sūyagaḍa*[27] (*c.* 2nd cent. B. C.) mentions Asita, Devala, Dvaipāyana, Pārāśara, Namī-videhī Rāmagupta, Bāhuka and Nārāyaṇa as *mahāpurisā* who achieved the highest knowledge, even though they followed ways not approved by Jainism. Confirmation of the names from other Jaina writings and non-Jaina texts makes a strong case for the historicity of most of the names mentioned in the *Isibhāsiyāi*. In the case of some others, we can postulate a quasi-historical existence, as they were handed down by a long and persistent tradition. (The four Lokapālas and Vaiśravana are of course Vedic divinities).

In section 3 the name of the *ṛṣi* in the introductory prose passage is 'Asiya Davila'. The concluding prose sentence mentions him simply as Davila. Schubring[28] feels no difficulty in taking Asita Devala to be the original of Asiya Davila. There cannot be any objection to equating Asiya with Asita. But Devala, as the original of Davila, is not so easy to explain, However, considering the major changes occurring in the name of other sages in the text and the form Davila (as intermediary between Devala and Davila), the restoration is to be accepted.

Here I intend to discuss the identity of "Asita Devala" with particular reference to his characteristic ideas as stated in the *Isibhāsiyāi*.

At the very outset it is to be pointed out that, though Asita Devala is mentioned as the name of a single person, the *Sūyagaḍa*[29] makes Asita and Devala two different persons. The commentator Śīla-sūri (*c*. 3rd quarter of the 9th cent. A.D.) falls in line with the *Sūyagaḍa*.[29a] There is some other Jaina evidence in support of Asita alone being the name of an individual. The *Isimaṇḍala* instead mentions the name as *Devilāsuta*.[30] There is no doubt that the *Isimaṇḍala* has Asita Devala of the *Isibhāsiyāi* in mind, because the introductory phrases in the two cases are closely parallel.[31] In Brahmanical tradition Asita Devala sometimes appears as one single name. But Devala alone is generally used as the name for an ancient sage respected as an authority alike in the Āyurveda and the Sāṅkhya, besides being a Smṛti writer. Hence, we would not involve ourselves in the discussion whether there were more than one Devala, or the first Devala made contributions to many areas of knowledge. The varied contributions of Devala are reflected in the quotations from the *Devaladharma-sūtra* surviving in medieval commentaries and digests.

The main burden of the teachings of Asita Devala in the *Isibhāsiyāi* is the cessation of all moral impurities or sins (*savvalevovarata*). The introductory prose passage begins by saying that those who are contaminated by moral impurities (*levovalittā*) revolve for a long time in this ocean of world. It seems that after the expression *saṁsārasāgaraṁ* the expression *aṇupariyaṭṭanti* is missings. Likewise, in the following sentence the word *levovaratā* also seems to have been dropped.[32] The second sentence says, by way of contrast, that the person whose moral impurities have ceased, having crossed the world, reaches a permanent abode and remains there. A number of adjectives describe the happy state of such a person. The text adds that, 'having resolved to become a man free from all moral impurities, Asita Davila, the *arhat-ṛṣi*, (thus) said'. The eleven verses which follow are supposed to record the teachings of Davila.

Thus it begins : He, who does violence (*vihiṁsate*) to the life of a small or big being, has his soul over-dominated by attachment and malignity (*rāgadosābhibhūtappā*) and he is contaminated by sinful acts (*lippate pāvakammuṇā*)[33] (Verse 1).

He, who takes any belongings (*pariggahaṃ giṇhate*), whether little or considerable, is contaminated by sinful acts on account of the guilt of stupefication caused by greed (*gehīmucchāya doseṇaṃ*)[34] (Verse 2). He, who expresses anger (*kohaṃ*), on his own or for another person, is contaminated by sinful acts on account of the chains caused by it (Verse 3).

After this we have a note saying : 'In this manner up to *micchādaṃsaṇasalla*.[34a] This term appears as the last in the list of eighteen *pāpas* recognised in the Jaina tradition[34b] and signifies a false philosophy of life.

Verse 4 enumerates as moral impurities (*leva*) killing a living thing (*pāṇātivate*), saying untruth (*aliyavayaṇaṃ*), stealing or taking what has not been given away (*adattaṃ*), intercourse (*mehuṇagamanaṃ*) and amassing property (*pariggahaṃ*). Verse 5 mentions anger (*kohe*), conceit (*māṇo*), deceit (*māyā*), and greed (*lobho*) as moral impurities which are of various forms or types (*bahuviho, bahuvidhavidhīe* and *bahuvidhā*). Hence, having considered them to be the cause for augmenting sinful acts, one should be a noble seeker of the best goal and should become a wandering ascetic for vigorous efforts[35] (Verse 6). As milk is destroyed after being associated with poison, attachment and malignity are the destroyer of continence (*bambhacera*) (Verse 7).[35a] As the best of milk by stupefication is turned into curd, so the sinful acts increase on account of the guilt of greed (Verse 8).[36] The jungle trees in a forest, when burnt by the wild fire, grow again, but, in the case of people exhumed by the fire of anger, it is very difficult to be free from unhappiness (Verse 9).[37] Even the fiercely burning fire can be extinguished by water, but the fire of delusion cannot be extinguished by all the water in the sea (Verse 10).[38] He, who has realised the nature of the shackles of birth and death, has broken the (cycle of) birth and death and is free from the dust (of action), achieves final beatitude (Verse 11).[39]

At the end we have a summarised sentence[40], the full form of which appears earlier at the end of the first section. The fuller sentence is to be translated thus : 'I say, "Thus becoming enlightened, indifferent (to worldly attachment), freed from sins, restrained, taking all objects to be the same, and a renouncer[41], he does not come again for the activities of this (world)." '

We have to discuss the extent to which these passages represent Asita Devala's own words and ideas. According to Schubring the whole text was composed by one single author; the parallelism in the structure of the individual chapters proves this 'no less than the throughout uniform style and the numerous self-quotations'.[42] He admires the text as being original and attractive.[43] The 'charm of novelty' of the text reveals itself when contrasted with the 'uniform creation' of contemporary parallel texts which are only 'more or less cleverly and transparently composed compilations'. Our author has adorned the passages borrowed from the words of the *ṛṣis* by covering them with 'the plumage of its own'. This has camouflaged the

original words of these *ṛṣis* to such an extent that their disciples 'would indeed have stood perplexed before these splinters from the thought-workshop of the master'.

For determining the original views and expressions of any *ṛṣi* in this text, we have to concentrate on the motto and the exposition parts of the concerned section. The sections do not show a uniform style in regard to these two. They are in any of three forms, prose, verses, or both mixed together. The variation is more noticeable in the case of motto.[44] The variations, as against a stereotyped uniformity, may be construed to show that the form and expressions in the different sections result from the peculiarities in the original expression of the teachings of the different *ṛṣis*.

The nature of the text compelled the author to make 'greater borrowings' from the original. Schubring has suggested that in the motto and exposition portions, stanzas, in a metre other than the *śloka*, would generally appear to have been borrowed by the author from some other source. Likewise, some prose passages are parallel to passages in other texts and were 'more or less conscious reminiscence.'[45] These two criteria of the metre of the stanzas and the expressions in the prose passages do not help us much in the case of the section on Devala and we will have to analyse the content of the section for internal indications.

In the section we notice a visible attempt to cast Devala's ideas into the mould of Jainism. Schubring[46] points out that verse III. 1 and III. 2 of the text deal respectively with the guilt effected by *prāṇātipāta* and *parigraha*, i.e. the violation of the first and fifth *mahāvratas* (vows) in Jainism. Tne second of the four manuscripts of the text, which Alsdorf photographed in Jain Bhandar in 1957, inserts three verses between lines *a* and *b* of verse 2.[47] They refer to the guilt effected by the violation of the second (speaks the untruth—*musaṃ bhāsae*), third (takes what is not given—*adinnaṁ geṇhai*) and fourth (enjoys intercourse—*mehuṇaṁ sevai*) vows. According to Schubring[48], these verses 'do not make the expression of an old text.' He admits that the insertion of these stanzas, relating to the second, third and fourth vows, is logical in itself. But, considering the approach of the author in a parallel situation in an earlier section of the text (I. 19ff), where he mentions only the first, third and fourth vows, we can say that it was not imperative on his part to include these five lines to cover the second, third and fourth vows. The Sanskrit Ṭīkā also does not take cognisance of these five lines. It seems that somebody, with a view to fitting the stanzas into the Jaina formulation of *mahāvratas*, added these lines.

An analysis of the subsequent portions of the text makes it clear that the author did not have the model of the *mahāvratas* in his mind. In verse 3 he refers to the expression of anger (*kohaṃ*) as a factor causing contamination with sinful acts, on the same footing as the killing of beings and the taking of belongings. Verse 3 is followed by the expression *Evaṁ jāva micchādaṃsaṇasalle*, The author,

thus, intends to cover factors, the first three being mentioned in the first three verses, which go up to *micchādaṃsaṇasalle*. The Jaina tradition mentions eighteen *pāpa-karmas*.[49] Of these the first is *prāṇātipāta* (verse 1 of our text), the second, third and fourth are respectively *mṛṣāvāda*, *adattādāna* and *maithuna* (five lines in the manuscript mentioned above), the fifth is *parigraha* (verse 2 of our text), the sixth is *krodha* (verse 3 of our text) and the eighteenth is *mithyā-darśanaśalya*.[50] Thus, according to the author of the text, Devala also spoke about the eighteen *pāpakarmas*, beginning from *prāṇātipāta* and ending with *mithyādarśanaśalya*. The intention of the author becomes quite clear when in verses 4-5 he enumerates the guilt-contaminations as *pāṇātivāto*, *aliyavayaṇaṁ*, *adattaṁ*, *mehuṇagamanaṁ*, *pariggahaṁ*, *koho*, *māṇo*, *māyā* and *lobho*, which occur in the same order as the first nine *pāpa-karmas* in the Jaina tradition. Clearly, he was straining hard to present Devala's verses on *lepas* within the pattern of Jaina enumeration of *pāpakarmas*.

Schubring points out quite a few mistakes and contradictions in the text,[51] some of which were due to the defective tradition on which the author drew, while he was doubtlessly responsible for some others. It is, however, not possible to fix the responsibility on the author or tradition in each case. But, it is to be noted that the author was not satisfied to work as a mere cataloguer or compiler of the views of others. He had a definite plan or purpose and he asserted his rights as an author to realize it. As pointed out earlier, he wanted to emphasise the ethical parts in the teachings of the thinkers. The omission of other aspects of their teachings was bound to project a partial or lopsided picture of their total teachings. In his effort to project the ethical problems of the ideas of his predecessors, with the view to bringing home the homogenity and universality of the ethical core of different religions, our author could have inadvertently, and in some cases deliberately, ironed out the divergent details. This possibly happened in the case of Devala's teachings also.

The attempt on the part of the author to present the teachings of Devala to suit his convenience is to be seen in the structure of the section. Like all other sections in the text it has three distinct parts : the motto, the exposition separated from it by the name of the *ṛṣi*, and the conclusion. No amount of reasoning will convince anyone to believe that all the forty-four *ṛṣis* formulated their views in the stereotyped form in which they occur in our text. This holds good for the section on Devala also. The absurdity is apparent in the case of the concluding sentence. Though it purports to be an utterance of a particular *ṛṣi*, it has a set formula of words, so much so that the author dispenses with the formality of reproducing it in full in all the sections and instead gives the opening and concluding expression. Clearly the sentence recording the concluding resolve of the different *ṛṣis* could not have been identical, even if we admit the closest similarities in their views. Thus,in the present section also we see the working of the hands of the author who wanted to present Devala's teachings according to his scheme and structure.

The very first line of the introductory prose passage shows that the central point in Devala's teachings is *leva* (*lepa*), contamination of sin. Verses 4 and 5 confirm it. The first three verses explain *leva* by employing the descriptive expression *lippata pāvakammuṇā* as the refrain. Later on, verses 6 and 8 also speak of the *pāvakamma* getting augmented.

The original work of Devala is not available. On the basis of quotations in later commentaries and digests we have been able to reconstruct some parts of the erstwhile *Devala-dharmasūtra*.[52] The text, it is revealed, possessed one full chapter concerning *pāpadoṣas*. *Prāyaścitta*, doubtless, had formed an important part of the *dharmaśāstra* literature. But only a few *Smṛtis* refer, and that too very briefly, to the *pāpas*. The account of *pāpadoṣas* in the *Devaladharmasūtra* is without any parallel in any other Brahmanical text. It classifies *pāpadoṣas* broadly into three on the basis of their origin from mind, speech, or body. These three are further divided respectively into twelve, six and four sub-types. Each of these is first defined and explained in prose passages in the form of *sūtras*. They are followed by verses explaining or illustrating in a more popular style the nature of the different *pāpadoṣas*. Thus, the chapter on *pāpadoṣas* would appear to be one of the more significant portions of the *Devaladharmasūtra*. It was quite proper, then, on the part of the author of the *Isibhāsiyāi* to include an account of the contamination caused by sin on the basis of the treatment of the subject by Devala.

We have seen above that in the first three verses of our text there was a deliberate attempt to accommodate Devala's views in the Jaina pattern. But, in this process, the original kernel of Devala's writings peeps out. Thus, in the first two verses, though the violations of the vows of *ahiṁsā* and *aparigraha* are treated, it is clear that the original emphasis was on *rāgadoṣa* (attachment and malignity) and *gehī* (greed) as factors causing contamination of sinful acts. The author could not pursue this exercise of his for long, probably because there was not enough material in Devala's verses amenable to the Jaina scheme. He included a verse on *koho* (anger) and finally gave up the exercise by remarking that in this way it goes up to *micchādaṃsaṇasalla*.

This incongruity becomes still more clear in the subsequent verses. Verse 8 again refers to the increase in sinful acts on account of the guilt of *gehī* (greed). *Gehī* (*Skt. gṛddhi*) does not appear in the Jaina list of eighteen *pāpas*. It does not occur in the *Devaladharmasūtra* either. But, we find that in the extant quotations from Devala, the verses describing *lobha* contain three which bring out the significance of *tṛṣṇā* or *tṛṣā*. We cannot rule out the possibility that some of the lost verses contained a similar reference to *gṛddhi*. Further onward, in verse 10, the *pāpa*, which has been underlined, is followed by *moha*. *Moha* also does not figure in the Jaina list of the 18 *pāpasthānakas*. But it has been included by Devala in the list of twelve *pāpadoṣas* which arise out of the mind.

Verses 6 and 11, though touched by the author of the *Isibhāsiyāi*, retain words with a specific usage characteristic of the Brahmanical tradition to which Devala belonged. The second line of the verse 6 reads: *uttamaṭṭhavaraggāhī vīriyattāe parivvae.* In the expression *uttamaṭṭha*, *aṭṭha* has been used in the sense of one of the pursuits of life (*puruṣārthas*). In the Jaina texts the usual term in such a context would be *eṣaṇā*. The expression *uttamaṭṭha* here stands for *mokṣa* which is described as the highest or ultimate pursuit of life. The verb *parivvae* is to be derived from the Sanskrit verb *parivraj*[53] and is to be connected with the words *parivrajyā*, *parivrāj*, *parivrāja* and *parivrājaka*. They refer to a wandering mendicant, recluse, or ascetic who has renounced the world. In the religious atmosphere prevailing at the time of the appearance of the Buddha, the order of the *parivrājakas* was fairly prevalent. In the wake of the popularity of the Śramaṇic systems, the Brahmanical tradition made an effort to contain and control it by recognising it as the fourth stage of life (*āśrama*). The fourth *āśrama* in later times was generally termed *sannyāsa*, but in earlier times the appelation *parivrājaka* seems to have been more in vogue. In one surviving excerpt from the *Devaladharmasūtra*[54], the duties and rules relating to a *parivrājaka* were prescribed. Thus, it can be seen that verse 6 of our text advises that pursuing the ultimate *puruṣārtha* (*mokṣa*) one should become a *parivrājaka* (enter the fourth *āśrama*) and exert himself.[55]

Verse 11 says that he who has understood the nature of the chains of birth and death, breaks the cycle of birth and death and is taintless, attains *siddhi*. The word *siddhi* in a general sense often means fulfilment or success But it has a restricted and specialised meaning as well. In the Yoga system *siddhi* (or *aiśvarya-guṇa*) refers to superhuman powers or faculties, which are supposed to be eight in number. The *Devaladharmasūtra* evidently contained a detailed account of the Yoga and Sāṅkhya systems.[56] Here *siddhi* seems to have been used in the technical sense common to the Yoga system and the *Devaladharmasūtra*.

Verse 7 reveals the original words of Devala which seem to have escaped the changing hands of the author of the *Isibhāsiyāi*. It describes *rāga* (attachment) and *dosa* (*dveṣa*, malignity) as the destroyer of *bambhacera* (*brahmacarya*). The use of the term *bambhacera* is significant. It stands for the first stage or order in the life of an individual (*āśrama*), the life of celibacy passed by a Brāhmaṇa boy in studying the Vedas, or celibacy, chastity, etc. The context, however, does not have any reference to the first stage of life alone. Likewise, the passage will not yield a happy meaning if *brahmacarya* is restricted to celibacy inasmuch as there is no direct and intimate connection between *dveṣa* and *caryā* on the one hand and celibacy on the other. Among the many meanings of Brahman are 'Supreme Being', 'religious austerities', and 'intellect'. The *caryā* of Brahman will, therefore, signify religious study or self-restraint. This use of the term *brahmacarya* in this verse appears to have survived from the original verse of Devala.[57]

Against the background of these indications of the original Brahmanical core of Devala surviving the Jaina revision, we may refer to certain features of style and structure, which, though not conclusive, are compatible with the known features of Devala's writings in the available excerpts.

First is the introductory prose passage. It is admitted that this portion of the text was intended to introduce the views of a *ṛṣi* and hence would appear to have been formulated mostly by the author of the text. As against the other sections in the text associated with other *ṛṣis*, whose original writings are not available, the section under study is to be compared with the views of Devala as recorded in a *dharmasūtra* named after him. This *dharmasūtra* was partly in prose *sūtras* and partly in verses. The surviving prose passages of the *Devaladharmasūtra* show a peculiar style. We often find long sentences, wherein the details are in the form of adjectives qualifying the main noun.[58] This is also a feature of the introductory prose passage in the section associated with Devala. In the partly damaged second sentence we have several words qualifying *saṃsārasāgaraṁ* and *ṭhāṇam*. The style comes out beautifully in the third sentence which has a long string of adjectives describing the characteristic of a *savvalavovarae* person. We cannot argue, in the absence of the full text of the *Devaladharmasūtra*, that these expressions or sentences occurred in the original, but, we can suggest that the author of our text possibly tried to present the introduction, which purports to record the motive or resolve of Devala, in the peculiar style he noticed as characterising the prose passages in Devala's original work.

Another prominent feature of the style of the *Devaladharmasūtra* is that it first enumerates all the important points or subdivisions in a summarised form and in subsequent verses, elaborates, explains, and illustrates them. Although the full text of the *Devaladharmasūtra* is unavailable, in all the cases where we are able to reconstruct a chapter, this style is evident. In our text the section on Devala also seems to possess this characteristic. This point is all the more significant because our author was not under any obligation to reproduce all the passages from Devala's original. He was presenting the views of Devala, within the frame-work of his text and the task taken up by him. Verses 1–3 followed by the remark *evaṁ jāva micchādaṁsaṇasalle* show that the author cut short the portions dealing with the enumeration of the factors causing *pāvas*. Verses 4–5 retain the style of enumeration in a pronounced manner. The subsequent verses (6–11) are evidently in the nature of further explanation and elaboration of the points or factors listed in the earlier verses. To illustrate our point, we may refer to verses 8 and 9 which bring home the force of *gehī* and *koha* mentioned as factors causing *pāva* in verses 2 and 3. A comparison of the phrasing of verses 2 and 8 will show the intrinsic connection between the two.[59] This similarity in the style suggests that our author had before him the original *Devaladharmasūtra* from which he drew. No doubt it may be argued that this characteristic is shared by early Indian thought as projected in some

of the earlier works belonging to different branches of learning. However, it must be remembered that it was not an invariate feature of Indian thought and texts, and, when compared with texts of a similar nature, the *Devaladharmasūtra* has it in a very pronounced manner.

A few other features of the passages attributed to Devala in our text may also be noted. We are conscious that they are found associated with many other early texts and are not so characteristic of the passages surviving in the name of Devala to drive home the connection between the two only on the basis of these features,

The first is the metre *śloka* employed in our text. Though the metre has been used in the *Devaladharmasūtra* also, it is the most convenient and popular metre for this type of writings and occurs in Sanskrit, Pali and Prakrit texts alike.

The second pronounced feature noticeable in our text is the repetition of the same phrases in the fourth part of the verse as refrain. In verses 1 to 3 we find the words *lippate pāvakammuṇā* being repeated thus. In verses 4 and 5 *levo* occurs seven times evidently for emphasising its importance. This feature can also be seen in many other texts with a religious, philosophical, diadectical, or ethical theme which resort to a similar style for creating greater effect.

Another significant feature of the style in our text is the use of homely simile and illustration for clarifying the point. In verses 7 to 10 the illustrations are derived from the phenomena of milk being destroyed as a result of contamination with poison, milk turning into curd, forest trees being burnt by jungle fire and fire being controlled with the help of water. This feature is characteristic of many early Indian texts, particularly those which have to explain a difficult philosophical idea in an easy manner or which seek to create greater impact in emphasising the importance of a religious or ethical precept.

Notes and References

1. *Isibhāsiyāim. A Jaina Text of Early Period.* Ed. Walther Schubring. L. D. Series 45, Ahmedabad, 1974. It was originally published in *Den Nachrichten der Wissenschaften zu Gottingen*, 1942, pp. 489-576. The Sanskrit commentary was published in the same *Akademie*, 1951, pp. 21-52. The second edition of the text published from Hamburg in 1969 contains its German translation as well.
2. *Sthāna*, 10, *sūtra* 755.
3. *Samavāya* 44.
4. According to Schubring, *op. cit.*, p. 2, the difference in the number of sections is to be explained by the fact that section no. 20 of the text does not correspond to the pattern of other sections, each of which is associated with the utterence of a *ṛṣi*. There is no such explanation of the *Vihimaggapavā* (Ś 1363 = A. D. 1441) of Jinaprabha mentioning fifty as the number of sections in it.

5. *Āvassaya-nijjutti*, II. 6.
6. *Ibid.*, III. 4.1–4 *Ete puvviṃ mahāpurisā āhitā iha saṃmatā.*
7. *Nandī* (Agamodaya Samiti) 202 b; *Pakkhiya* (Devchand Lalbhai Pustakoddhara), 4, 66a.
8. *Op. cit.*, p. 2.
9. *Ibid.*, p. 7.
10. Section 31. Pages 66-69.
11. Section 11.
12. Section 9.
13. Section 38.
14. Sections 26 and 32.
15. Section 37—*Savvaminạṁ purā udagamāsi tti.*
16. *Op. cit.*, p. 9.
17. On *Āvassaya-nijjutti*, II. 6.
18. *Ibid.*, VIII. 5.
19. *Ibid.*, 15.
20. Schubring, *op. cit.*, p. 2.
21. Ambaḍa is also called *parivvāyaga*. His interlocutor is Jagaṁdharāyaṇa (=Yaugaṁdharāyaṇa).
22. Schubring, *op. cit.*, pp. 4-5 prefers to identify him with Prince Nārāya of Bāravaī.
23. Schubring, *op. cit.*, p. 4 suggests it to be a perplexity varient of Tetaliputta in section 10.
24. Schubring (*ibid.*) describes him as the head of the school of the Vātsīputras, i. e. Vatsīputra.
25. Schubring, *op. cit.*, p. 7 equates him with a king whose name is Sanskritized as Saṃyata.
26. Schubring (*ibid*) identifies him with Gaddabhāli, the teacher of Saṃjaya = Saṃyata.
27. I. 3. 4.1-4.
28. *Op. cit.*, p. 5.
29. I. 3.4.3—आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी।
णरासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥
29a. अपि च आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमादयः शीतोदक बीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते।
30. Here it is said that King Devilāsuta nearly married his own daughter. We do not have any confirmation of this fact about Asita, Devala, or Asita Devala from any other source and are not in a position to offer any explanation of it.
31. The *Isibhāsiyāi* has *bhaviyavvaṁ khalu bho savvalevāvvateṇaṁ*, whereas the *Isimaṇḍala* reads *bhaviyavvam bho khalu savva-kāma-viraena'eyam ajjhayaṇaṁ bhāsittu Devilāsuya rāyarisi siva suhaṁ patto.*

32. Schubring, *op. cit.*, p. 103.

33. Verse 2 has *lippae* in place of *lippate*.

34. Here and in verse 8 *gehī* is to be rendered as *gṛddhi*, from the root *gṛdh* to covet, desire, strive after greedily.

34a. *Salla* (=*Śalya*) meaning a spear, dart or arrow also stands for an extraneous substance lodged in the body and giving it very great pain. Figuratively it signifies any cause of poignant or heart-sending grief. The word also means sin or crime.

34b. A. M. Sethiya, *Jaina Siddhānta bola saṅgraha*, Vol. 3, p. 182.

35. तम्हा ते तं विकिंचित्ता पावकम्मवड्ढणं ।
उत्तमट्ठवरग्गाही वीरियत्ताए परिव्वए ॥

35a. खीरे दूसिं जधा पप्प विणासमुवगच्छति ।
एवं रागो व दोसो व बम्भचेरविणासणा ॥

36. जधा खीरं पधाणं तु मुच्छणा जायते दधिं ।
एवं गेहिप्पदोसेणं पावकम्मं पवड्ढती ॥

37. रण्णे दवग्गिणा दड्ढा रोहंते वणपादवा ।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं दुक्खा दुक्खाण णिव्वुती ॥
The Sanskrit Ṭikā cannot make out any sense in the second line of the verse and remarks : मुनेस्तु क्रोधाग्निना दग्धानां दुःखानां निवर्तनं प्रत्यागमो न भवति । कस्तु नाम दुःखानां प्रत्यागममिच्छेदित्यस्पष्टम् । The commentator fails to notice that in the earlier two verses also the comparisons are not completely parallel in the use of the expressions, even though the main points are clear.

38. सक्का वण्ही णिवारेतुं वारिणा जलितो बहिं ।
सव्वोदहिजलेणा वि मोहग्गी दुण्णिवारओ ॥
The Sanskrit Ṭikā does not take any notice of verses 10 and 11.

39. जस्स एते परिन्नाता जाती-मरणबंधणा ।
से छिन्नजातिमरणे सिद्धिं गच्छति णीरए ॥

40. एवं से बुद्धे ······ णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

41. *Tāi* may be rendered as either *tyāgī* or *trāyī*. In the second case it will mean protector.

42. Schubring, *op. cit.*, p. 9.

43. *Ibid.*, pp. 8-9.

44. Schubring, *op. cit.*, p. 3.

45. *Ibid.*, p. 9.

46. *Op. cit.*, p. 126.

47. *Ibid.*, pp. 126-127—
जो मुसं भासए किंचि अप्पं वा जइ वा बहुं ।
अप्पण' अट्ठा परस्स वा लिप्पए पाव-कम्मणा ॥
अदिन्नं गेण्हइ जो उ····(   )···· ।
मेहुणं सेवइ जो उ तेरिच्छं दिव्वं माणुसं ।
राग-दोस, अभिभूय' अप्पा लिप्पए पाव-कम्मणा ॥

48. *Ibid.*, p. 127. He refers to the metrical defect in lines 2, 3 and 5 and to the use of *kammaṇā* instead of *kammuṇā* of verses 1-3.

49. A. M. Sethiya, *op. cit.*

50. From the seventh to the seventeenth we have *māna, māyā lobha, rāga, dveṣa, kleśa, abhyākhyāna, piśunatā, paraparivāda, rati-arati* and *māyā-mṛṣā*.

51. *Op. cit.*, p. 11 : 'wavering in the judging of the *riddhi* (9 and 45), and the error concerning the *agandhana* (45), the repeated use of the same motto in 26 and 32, the transformation of current names, the Ṛṣi Ketaliputta besides Tetaliputta'.

52. Our reconstruction is to be published shortly.

53. For a similar use of the verb *pravraj* see *Jābālopaniṣad*, 4—*vanī bhūtvā pravrajet*; *Baudhāyana-dharmasūtra*, II. 10.2, 18—*brahamacaryavān pravrajatītyekeṣām*.

54. *Kṛtyakalpataru*, Vol. XIV, p. 49.

55. *Vīriyattāe* (Skt. *vīryārtham*) may be taken to make an indirect allusion to Jainism. Mahāvīra is the name of the twenty-fourth *tīrthaṅkara* of the Jainas, who is often glorified as the real founder of Jainism.

56. Śaṅkara on *Vedāntasūtra*, I. 4. 28. One of the earliest full account of the eight *siddhis* is associated with the *Devala-dharmasūtra*. Our article "Devaladharmasūtra on Aiśvarya" appears in *Śrī Dineśacandrikā : Studies in Indology* (D. C. Sircar Felicitation Volume), pp. 153-58.

57. This seems to have been the original and early meaning of the term *brahmacarya*. This will be an indicator of an early date for Devala.

58. See, for example, passages on the four *varṇas* in our article on "Devaladharmasūtra on Varṇas and Jātis", *Dr. R. N. Dandekar Felicitation Volume*, Delhi 1984, pp. 239-245.

59. Both employ the terms *mucchā, gehi, doseṇam* and *pāvakamma* in a specific sense.

ĀSRAVA : HOW DOES IT FLOW ?

Alex Wayman

It is well known that in Jaina texts the term *āsrava* means an inflow of *karma*—a kind of material—into the soul.[1] Still a Western translator of Buddhist texts has translated the same term as "out-flow."[2] Granted that a number of technical terms are employed in varying senses in the different philosophical systems and religions of India. The diametrically opposite rendition of the important term *āsrava* is certainly striking and warrants investigation, which I shall carry on by way of varieties and the theory of "flowing."

Varieties and the negative form

A Pāli dictionary explains the term *āsrava* as meaning "influx" or "outflow" (e. g. discharge from a sore).[3] The Chinese renderings of *āsrava* are overwhelmingly "flow, flux, leaking."[4] The Tibetan translation is regularly *zag pa*, "flow, leaking."[5] For my own translation projects I adopted a rendition "flux" or in the adjectival case "fluxional."[6] The Sanskrit form is either *āsrava* or *āśrava*.[7]

Three kinds are stated in the *Sammādiṭṭhisutta* of the Majjhima-Nikāya—*kāmāsava*, *bhavāsava*, and *avijjāsava*.[8] The *Abhidhammattha Saṁgaha* of Bhadanta Anuruddhācariya mentions four, which are the foregoing three plus *diṭṭhāsava*.[9] To take them individually :—

(1) The *kāma* variety is explained in *Saddhammappakāsinī* as *vatthukāma* (desire for given things) and *kilesakāma* (desire for defilement).[10] This pair agrees with Asaṅga's self-commentary on the *Paramārtha-gāthā*[11] :

mokṣaṃ dvividhaṃ darśayati / kleśamokṣaṃ vastumokṣaṃ ca / sarvabījasamutsādena kleśaparikṣayāt kleśamokṣaṃ/tatraiva cāpy asaṃkleśād vastumokṣaṃ/ yo bhikṣavaś cakṣuṣi / chandarāgas taṃ prajahīta / evaṃ ca tac cakṣuḥ prahīṇaṃ bhaviṣyatīti / sūtrapadanyāyena / evaṃ sopadhiśeṣaṃ mokṣaṃ darśayitvā nirupadhiśeṣaṃ darśayati /

That release he shows to be of two kinds : release from defilements and release from given things. There is release from defilements by destroying all seeds through eradication of defilement; and in the same place, as well, there is release from given things through no stain. The *sūtra* says : "O monks, whatever be the sensuous lust in the eye, abandon that ! So also will the eye disappear." In the manner of that text he thus shows the release with remaining basis and then shows the one without remaining basis.

According to this passage, if desire for defilements (*kleśakāma*) is eliminated, desire for given things (*vastukāma*) will also leave.

(2) The *bhava* variety is a passion for gestation (*bhava*) in the realm of form and the formless realm, according to C. A. F. Rhys Davids' *Compendium.*[12]

(3) The *diṭṭha* variety is the sixty-two wrong views (*dṛṣṭi*) of the *Brahmajāla-sutta*, according to the *Compendium.*[13]

(4) The *avijjā* variety is ignorance of the four Noble Truths, past and future lives, the formula of dependent origination. and so on, according to the *Compendium.*[14]

The negative form *an-āsrava* may be employed as an unqualified negation; so the *Saddhammappakāsinī* : anāsavan 'ti āsavavirahitaṃ.[15] Is it so in Vasubandhu's *Abhidharmakośa* (I, 4, 5) ?[16]

> sāsravā 'nāsravā dharmāḥ saṃskṛtā mārgavarjitaḥ /
> sāsravāḥ āsravās teṣu yasmāt samanuśerate //
> anāsravā mārgasatyaṃ trividhaṃ cāpy asaṃskṛtam /
> ākāśaṃ dvau nirodhau ca tatrākāśam anāvṛtiḥ //

> The natures (*dharma*) are either *sāsrava* or *anāsrava*. The constructed ones are *sāsrava* except on the path, since the *āsrava* leave their mark in those [=the constructed ones, the five *skandha* per AK I, 7a-b].
>
> The *anāsrava* ones are the Truth of Path and the three non-constructed, namely, space and the two cessations. Among them, space is non-obstruction.

Vasubandhu comments on the verb *samanuśerate* : *anuśayanirdeśa eva* (an indication of 'trace', *anuśaya*). Here, while the term *anāsrava* can apply both to the Truth of Path and the three "non-constructed", it appears to diverge in significance for the two cases. When applying to the "non-constructed" it is an unqualified negation, as in the *Saddhammappakāsinī* comment. But when applying to the path (*mārga*), it cannot be unqualified, or persons on the path would be entirely free of *āsrava* while this was supposed to be Arhat attainment at the end of the path for which such a term as *kṣīṇāsrava* (erased the *āsrava*) is used.[17] For the path, the term *anāsrava* appears to mean "opposed to *āsrava*", i.e. actively opposing, hence reducing *āsrava.*[18] Accordingly, the term *sāsrava* would mean "promoting *āsrava*". Then Vasubandhu clarifies that the role of the *āsrava* in "constructed" (*saṁskṛta*) natures—excepting the path—is described by *anuśaya*. This term is not connected with "flow" as is *āsrava* (ā+ √sru, to flow); rather goes with the root √2 śī, to lie, referring to its varieties as dormant. The *Abhidharmakośa*, Chap. V, shows various ways of classifying the *anuśaya*. Asaṅga; in his *Yogācārabhūmi*, includes them among increasing enumerations (*ekottara*) of defilements (*kleśa*).[19] For the number seven he presents seven *anuśaya*, each labelled "*anuśaya*" : *kāmarāga* (sensuous lust),

12

pratigha (hostility), *bhavarāga* (passion for gestation), *māna* (pride), *avidyā* (nescience) *dṛṣṭi* (wrong views), *vicikitsā* (doubt). Reducing *kāmarāga* and *bhavarāga* to *rāga*, one gets his list of six which he does not label *anuśaya*, but which is the basic list of six *anuśaya* in AK, Chap. V, 1c-d.[20] According to Asaṅga's list, these defiled traces (*anuśaya*) are an expansion of the four kinds of *āsrava*. The renditions of this term *āsrava* in its Pāli form *āsava* by translators of scriptures in that language, namely (Mrs. C.A.F. Davids) "intoxicants", (Miss I. B. Horner) "cankers", and the like, appear to attribute to the word *āsava* qualities that go with certain varieties, which prejudges the case.[21]

The theory of flowing

First, the ancient Buddhist canon, the Saṃyutta-Nikāya I, contains in the Māra Suttas the question by one of Māra's daughters and the Buddha's response, about the five streams and the sixth; and the episode is in a Sanskrit version in the *Mahāvastu*, III[22]; here the Pāli[23] :

"kathaṃ vihārībahulodha bhikkhu,
pañcoghatiṇṇo atarīdha chaṭṭhaṃ /
kathaṃ jhāyi bahulaṃ kāmasaññā,
paribāhirā honti aladdhayo taṃ" ti //

"passaddhakāyo suvimuttacitto,
asaṅkharāno satimā anoko /
aññāya dhammaṃ avitakkajhāyī,
na kuppati na sarati na thino //

"evaṃ vihārībahulodha bhikkhu,
pañcoghatiṇṇo atarīdha chaṭṭhaṃ /
evaṃ jhāyi bahulaṃ kāmasaññā,
paribāhirā honti aladdhayo taṃ" ti //

For the translation, instead of the Pāli *aladdhayo taṃ* we should accept the Sanskrit *alabdhagāḍhā*, supported by the Tibetan version *gña' dag ma ṯhob* when the same verses are presented and commented upon by Asaṅga in *Cintāmayī bhūmi* in the Tibetan canon[24] :

(Māra's daughter :) "How should a monk in his numerous states, having crossed the five streams, cross the sixth ? How should a meditator who has not attained union (Pāli, **yogam*,[25] Skt. *gāḍhā*) expel the abundant ideas of desire ?"

(Buddha :) "With body cleansed and mind liberated; without instigation, mindful, and untroubled; knowing the doctrine (*dharma*) and meditating without constructive thought, passion does not stir, nor is he torpid.

"Thus should the monk in his numerous states, having crossed the five streams, cross the sixth. Thus should the meditator who has not attained union expel the abundant ideas of desire."

According to Asaṅga, the term "stream" stands for sensory activity; thus, the eye is a stream because viewing forms, and likewise for the remaining five senses; then the sixth stream is the mind *(manas)* because perceiving mental natures *(dharma)*. The Pāli commentator Buddhaghosa has a consistent remark.[26] Furthermore, when the "body is cleansed"—i. e. there is "cathartic of body" *(kāya-praśrabdhi)*, the mind may be "liberated" from lust *(rāga)*, hatred *(dveṣa)*, and delusion *(moha)*. And thus one crosses those streams. As to attaining "union", as I understand Asaṅga's discussion, it is the union of "calming the mind" *(śamatha)* and "discerning the real" *(vipaśyanā*, where the verse's "non-instigation" points to the "calming", and where the verse's "mindful" as the four "stations of mindfulness" *(smṛtyupasthāna)* points to the "discerning", with the verse's remaining words representing further clarifications of this union.

Since Asaṅga's *Śrāvakabhūmi* statement about "restraint of sense organs" contains the verb form ***anusraveyus***, it is well to present it now[27] :

indriyasaṃvaraḥ katamaḥ / sa tam eva śīlasaṃvaraṃ niśrityārakṣitasmṛtir bhavati / nipaka-smṛtiḥ / smṛtyārakṣitamānasaḥ samāvasthāvacārakaḥ sa cakṣuṣā rūpāṇi dṛṣṭvā / na nimittagrāhī bhavati nānuvyañjanagrāhī yatodhikaraṇam asya pāpakā akuśalā dharmāś cittam anusraveyus teṣāṃ saṃvarāya pratipadyate rakṣati mana-indriyaṃ sa śrotreṇa śabdān ghrāṇena gandhāñ jihvayā rasān kāyena spraṣṭavyāni / manasā dharmān vijñāya na nimittagrāhī bhavati nānuvyañjanagrāhī yatodhikaraṇam asya pāpakā akuśalā dharmāś cittam anusraveyus teṣāṃ saṃvarāya pratipadyate rakṣati mana-indriyaṃ / mana-indriyeṇa saṃvaram āpadyate / ayam ucyata indriyasaṃvaraḥ /

What is restraint of sense organs? When one has taken recourse to just the restraint of morality, he guards mindfulness. His mindfulness is prudent. His mind is guarded by mindfulness. He has the sphere of the even state. When he sees forms with the eye, he does not take hold of sign-sources or details by reason of which sinful, unvirtuous natures would flow *(anusraveyus)* after his mind. He acts in each case to restrain those. He guards his mind sense-organ. When he perceives sounds with his ear, odors with his nose, tastes with his tongue, tangibles with his body, natures *(dharma)* with his mind, he does not take hold of sign-sources or details by reason of which sinful unvirtuous natures would flow after his mind. He acts in each case to restrain those. He guards his mind sense organ. The mind sense-organ exerts the restraint. This is called "restraint of sense organs."

The Mahāyāna biography of the Buddha called *Lalitavistara* in its dependent origination *(pratītyasamutpāda)* verses has this one where "flow" is given by the word *salila* :[28]

skandhā pratītya samudeti hi duḥkham evaṃ
saṃbhonti tṛṣṇasalilena vivardhamānā /
mārgeṇa dharmasamatāya vipaśyamānā
atyantakṣīṇa kṣayadharmatayā niruddhāḥ //

The personal aggregates *(skandha)* arise in dependence—in this way does suffering arise. They swell by the flow of craving. When discerned on the path by sameness of natures *(dharma)*, undergoing extreme depletion, they cease by their underlying nature of destruction.

Edgerton, in his entry on "*āsrava*",[29] also cites the *Lalitavistara* (351.1) to show how this "destruction" *(kṣaya)* takes place : *śuṣkā āśravā na puna śravanti* ("The fluxes, dried up, flow no more").

The foregoing investigation presents no suggestion that the word *āsava* means out-flow. Indeed, the verbal prefix ā- means here "to, unto". So Nārada explains the word in his book on the *Abhidhammattha Saṁgaha* : "They are so called either because they flow up to the topmost plane of existence or because they persist as far as the Gotrabhū consciousness (i. e., the thought-moment that immediately precedes the Path-consciousness of the 'Stream-Winner'—Sotāpatti). These Āsavas are latent in all worldlings and may rise to the surface in any plane of existence."[30] Notice that the remark "latent in all worldlings" points to the word *anuśaya* (traces), while "may rise to the surface" is normally expressed by a different term, *paryavasthāna* (entrapment).

There is also a way of talking about *an-āsrava* as a kind of "bleeding". One may refer to the *Laṅkāvatāra-sūtra's* passage on the *ānantariya* (deadly sins, five in number, bearing immediate retribution),"patricide", "matricide", etc., by *abhisaṃdhi*, a deliberate transvaluation of the terms,[31] in this case the *ānantariya* of causing, with evil intention, the Tathāgata to bleed; and the *sūtra* states[32] :

svasāmānyabāhyasvacittadṛśyamātrāvabodhakānāṃ mahāmate aṣṭānāṃ vijñānakāyānāṃ vimokṣatrayānāsravaduṣṭavikalpenātyantopaghātād vijñānabuddhasya duṣṭacittarudhiropādanād ānantaryakārīty ucyate / Mahāmati, when the eight sets of *vijñāna* which imagine the inherent *(sva)* and the generalizing *(sāmānya)* [characters *(lakṣaṇa)*] to be external while they are merely what is seen by one's mind, are completely extirpated of their faulty (= evil) constructions by the three liberations and "non-flux", thus causing a bleeding, with "evil intention", of the Vijñānabuddha —it is called an "immediacy deed".

Here, the negation *an-āsrava* has the effect of an opposite movement to *āsrava*. Whereas *āsrava* is a flow *unto* or *upto*, the *an-āsrava* is a flow *away from* or *down and out*.

I have elsewhere cited another passage about "bleeding"[33] :

> Another Tibetan text mentions omens that the defilement will be purged : Furthermore, there are omens for the purging of sin and defilement, that speaking generally, are superior when concrete, middling when mental, and inferior when in dream; to wit, the good omens that the body emits much filthy matter, or bleeds blood and pus, or that one is bathed and in white clothes.[34] And so long as they do not occur one should continually trust (that they will).

So far I have not gone into the matter of the Buddha's "third watch of the night (of enlightenment)" when according to some Buddhist traditions he knew the eradication of *āsrava*, that this is included in the supernormal faculties *(abhijñā)* as the sixth one, or that the Arhat-attainment is especially characterized by *āsrava-kṣaya*. Such considerations would not have advanced my purpose of showing the significance of the positive term generally and of the negative form in special circumstances such as the Buddhist path.

Finally, I must applaud the consistency of translators of Jaina scriptures in rendering the term *āsrava* by "in-flow". My investigation suggests that everywhere that the term occurs in Buddhist texts and was rendered "out-flow" the context would have been better served by rendering it as "in-flow" or by the more neutral "flux".

Notes

1. A recent work continuing this rendition, in fact "influx", is Padmanabh S. Jaini, *The Jaina Path of Purification* (Motilal Banarsidass, Delhi, 1979).
2. Edward Conze, *Buddhist Thought in India* (George Allen & Unwin Ltd., London, 1962), at one spot renders the term "outflows" and at another, "impurities." However, this late Buddhologist, famous for his important works on the Prajñāpāramitā scriptures and whose various works on Buddhism are readily available and influential, adopted the rendition "outflows" for *āsrava* in his "List of Buddhist Terms" which was duplicated and handed out at places where he would teach.
3. T. W. Rhys Davids and William Stede, *The Pali Text Society's Pali-English Dictionary*, s. v.
4. So in M. Honda, "An Index to the Philosophical Sūtras, No. II, "*Proceedings of the Okurayama Oriental Research Institute* (Yokohama, Japan), 1959, Vol. 3, p. 70.

5. So in the Sanskrit-Tibetan Buddhist Dictionary *Mahāvyutpatti*, ed. Ryozaburo Sakaki, 2 vols. (2nd ed., Tokyo, 1962).
6. So in Alex Wayman and Hideko Wayman, *The Lion's Roar of Queen Śrīmālā*; a Buddhist Scripture on the Tathāgatagarbha Theory (Columbia University Press, New York, 1974), pp. 85-86.
7. Franklin Edgerton, *Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary* (New Haven, Yale University Press, 1953), s. v.
8. Majjhima-Nikāya, I,55 (Pāli Publication Board, Bihar, 1958, I, p. 75.11).
9. Nārada, *A Manual of Abhidhamma : Abhidhammattha Sangaha* (Buddhist Publication Society, Kandy, Ceylon, 1968), p. 322.
10. *Saddhammappakāsinī : Commentary on the Paṭisambhidāmagga*, ed. by C. V. Joshi, Vol. III, p. 624.11-12.
11. Alex Wayman, *Analysis of the Śrāvakabhūmi Manuscript* (University of California Press, Berkeley, 1961), pp. 177-178, 185.
12. Caroline A. F. Rhys Davids, *Dhamma-Sangani (Compendium of States or Phenomena)*, also : *A Buddhist Manual of Psychological Ethics* (London 1900), p. 293, n. 2.
13. C. A. F. Rhys Davids, *Dhamma-Sangani*, p. 293, n. 3.
14. C. A. F. Rhys Davids, *Dhamma-Sangani*, p. 294, referring to p. 283.
15. *Saddhammappakāsinī*, Vol. III, p. 628.25.
16. *Abhidharmakośabhāṣyam of Vasubandhu*, ed. P. Pradhan (K. P. Jayaswal Research Institute, Patna, 1975), text, p. 3.
17. For Pāli passages about this Arhat attainment, cf. *Pāli Tipiṭakaṁ Concordance*, Vol. I : A-O (Pāli Text Society, London, 1956), p. 348.
18. This is a significance of a small group of a-/an- negations, having as well-known example the term *avidyā*, which the commentaries, such as Vasubandhu in the *Abhidharmakośa*, do not accept as just not it or other than *vidyā*, but which actively opposes *vidyā;* cf. AK, III,28c-d, and Vasubandhu's comment.
19. Vidhushekhara Bhattacharya, ed., *The Yogācārabhūmi of Ācārya Asaṅga*, Part I (University of Calcutta, 1957), p. 161.
20. Cf. Louis de la Vallée Poussin, *L'Abhidharmakośa de Vasubandhu* (Chap. V-VI). (Paris, 1925), pp. 2-3.
21. Mrs. C.A.F. Davids attempted to justify her rendition in *Dhamma-Sangani*, p. 291, n. 1, starting with a claim that no adequate English equivalent is available To this there is response that the English "flux" is just what the Chinese and Tibetan translators adopted in their own languages, while her "intoxicant" is a translation by in place of presumed *effect* of the *āsava*. Miss Horner's "canker(s)" in her translation of Majjhima-Nikāya seems to adopt the medical meaning of a sore that is discharging, which disagrees with the side of *āsrava* constituted by the latent *anuśaya*.

22. Cf. J. J. Jones, *The Mahāvastu*, Vol. III (London, 1956), pp. 271-272; Radhagovinda Basak, ed. *Mahāvastu Avadāna* (Sanskrit College, Calcutta, 1968), pp. 375-376.
23. Saṃyutta-Nikāya, I, 126 (Pāli Publication Board, Bihar, 1959, I, p. 125.22 to 126.8).
24. Photo ed. of Tibetan Kanjur-Tanjur, Vol. 110, p. 4-5-8, ff.
25. J. J. Jones, *The Mahāvastu*, Vol. III, p. 271, n. 4, observed that the Pāli *-yo tam* is a corruption, but did not notice that the reading should be *yogam*, which is partially synonymous with the Sanskrit *gāḍhā*; while he mistranslated the phrase by assuming Sanskrit *gādhā*, which is from a different root.
26. J. J. Jones, *The Mahāvastu*, Vol. III, p. 271, n. 3.
27. Alex Wayman, *Analysis of the Śrāvakabhūmi Manuscript*, pp. 61-62.
28. I use the edition in Franklin Edgerton, *Buddhist Hybrid Sanskrit Reader*, pp. 24-25; he mentions that this passage, LV 418-22-420.10, immediately follows "The First Sermon".
29. Franklin Edgerton, *Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary*, s. v.
30. Nārada, *A Manual of Abhidhamma*, p. 327.
31. The word *abhisaṁdhi* means "deliberate misrepresentation" but in the good sense of being required for circumstances of teaching. Four of them are stated in the texts and listed in the *Mahāvyutpatti*, nos. 1672-1675. Examples are given for the four in a work of an ancient Tibetan translator, Dpal brtsegs, his treatise on Dharma-paryāya in Photo ed. of Tibetan Kanjur-Tanjur, Vol. 145, p. 128-4-6, ff. For the fourth one, *pariṇāmābhisaṁdhi*, he gives as example this very list of the five deadly sins. Here, *pariṇāma* means "transvaluation" of term(s) standing for sin(s).
32. Bunyiu Nanjio, ed. *The Laṅkāvatāra Sūtra* (Kyoto, at the Otani University Press, 1956), 138.18-139.3.
33. Alex Wayman, "Purification of Sin in Buddhism by Vision and Confession", in G. H. Sasaki, ed., *A Study of Kleśa* (Tokyo, 1975), p. 68.
34. One immediately, thinks of the Jaina Śvetāmbara saint.

CONCEPT OF "JĪVA (SOUL)" IN JAINA PHILOSOPHY

J. C. Sikdar

The Jaina conception of Jīva (Soul) occupies the first place among the doctrines of independent Soul (Svatantrajīvavāda); for the Jaina view on soul seems more ancient than those held by other Indian philosophical systems. It, moreover, is comprehensible to the common people. Besides, this "sentient principle" was well established as the object of meditation for liberation of Jina Pārśvanātha in the *c.* eighth century B. C.[1] In the continuum of Jaina tradition, no fundamental change in the doctrine of soul (which was anciently conceived by the Jaina thinkers through their experience in life and in Nature) came, even up to the present time (unlike in the Buddhist and Vedic traditions in regard to it) even when fresh thoughts on the problem progresively emerged in the field of Indian Philosophy.[2]

The reference to the concept of the six *kāyajīvas* (embodied souls or beings),—*pṛthivīkāya* (earth bodied being), *apakāya* (water-bodied being), *tejakāya* (fire-bodied being), *vāyukāya* (air-bodied being), *vanaspatikāya* (plant-bodied being) and *trasakāya* jīvas (mobile beings)[3] reveals a belief in animism in Jaina philosophy, indeed a reflection of the old concept of animism which conceived non-difference of Jīva and Śarīra (Soul and body).[4]

There are stated to be many synonyms for Soul—Jīva, Jīvāstikāya, *prāṇa*, *bhūta*, *sattā*, *vijña*, *cetā*, *jetā*, *ātmā*, *pudgala*, *mānava*, etc. The term *poggala* (Skt. *pudgala*) stands as the synonym for Soul, just as it is used in the Buddhist texts[5] to denote Soul or personality, according to the *Vātsīputrīyas*. Jīva is called both *poggaḷī* (*pudgalī*) and *poggala* (*puggala*); just as the *chatri* (holder of umbrella) is known by the *chatra* (umbrella), the *daṇḍin* (staff-holder) by the *daṇḍa* (staff), the *ghaṭrīn* (pot-holder) by the *ghaṭa* (pot), the *paṭīn* (cloth holder) by the *paṭa* (cloth), the *karīn* (elephant) by its *kara* (trunk), so is known Jīva (Soul) to be *pudgalin* with regard to the sense-organs of hearing, sight, smell, taste and touch, and it is *pudgala* with regard to Jīva.[6] According to the commentator Abhayadeva (latter half of the 11th cent. A. D.), Jīva is called *pudgala* because of integration and disintegration[7] of bodies etc. It seems that there had been a commcn tradition to use this word '*poggala*' or '*puggala*' in order to signify Soul or personality before the era of Jina Mahāvīra and Gautama Buddha. The definition of Jīva becomes clear by the meanings of its synonymous words; the term 'Jīva' for instance connotes that Soul is consciousness itself and consciousness invariably is Soul.[8] (He) whoever breathes is invariably Jīva (being); but Jīva breathes in some and does not breathe in other respect[9], as it is co-extensive with the body. Kundakundācārya (8th cent. A.D.)[10] clarifies the point by defining it in this way: "That which is *traikālika* (lived in the past, lives at present and will

live in future) with life-essentials,—five senses, three channels of activities, duration of life and respiration,—and is fashioned by the material substance is Jīva (Soul or Sentient Principle)."[11]

The nature of Jīva is thus explained in the *Vyākhyāprajñapti* (compiled *c.* 3rd cent. A. D): Jīvāstikāya is a colourless, odourless, tasteless, touchless, non-corporeal, living, eternal and permanent, and fixed (constant) substance of the Cosmic Universe, having the attribute of consciousness.[12] Here Jīva is studied from the aspects of *dravya* (substance), *kṣetra* (field or locus), *kāla* (time), *bhāva* (condition or state) and *guṇa* (capacity or quality) in regard to its correlation with them. In it is infinite living substances (*aṇaṁtāiṁ jīvadavvāiṁ*) from the standpoint of *dravya*; coextensive with the space of the Cosmic Universe (*Lokapramāṇa*) from that of *kṣetra*; eternal and permanent from that of *kāla*; colourless, odourless, tasteless and touchless from that of *bhāva*; and, finally, it is endowed with an attribute of consciousness from that of *guṇa*, (capacity or quality).[13] On the basis of the Āgamic explanation of the nature of Jīva, Umāsvāti (*c.* 5th cent. A. D.) and the later exponents clearly define it by stating that Soul is permanent in nature, fixed in number, non-corporeal in substance and hence devoid of the characteristics of Matter, namely colour, smell, taste and touch.[14]

Jīva is infinite in number and it is different on account of the difference of body; for, in the universe, there are infinite number of living beings having infinite different bodies.[15] The doctrine of plurality of souls, having a unity running through them as substances in regard to their substantiality of existence, is advocated in Jaina philosophy, because, it is observed that two or more sentient beings are individual observers and transformers of food; and they bind (i. e. make) separate bodies and assimilate matters or "form bodies" independently. They differ with regard to their respective senses, conditions of soul, attitude of mind, knowledge, and activities. For example, some of them have this consciousness or sentiency (such as "we absorb food-stuff"), while some of them do not have this feeling, but still they take food and so forth.[16]

There are countless points of space in one single soul-substance because of its coextensiveness with Lokākāśa (Universe) by expansion.[17] "Pradeśa is the unit of three dimensional space which is employed in the measurement of the dimensions of the substance of the Universe. Taking this as the measure, the number of *pradeśas* in the Universe is said to be countless. The media of motion and rest are coextensive with the Universe and thus have a similar number of *pradeśas*. Souls are found in different bodies of different dimensions in their mundane state, but each one of these has the capacity of expanding and filling the whole Universe by contraction and expansion of its *pradeśas*; a soul is capable of occupying the countless *pradeśas* of the Universe just like the flame of a lamp whose light can fill either a small room or a big hall".[18] Thus the number of *pradeśas* in each individual soul is equal to the number of *pradeśas* in the Universe, namely countless *pradeśas*.

Among many capacities of Soul the main and most comprehensib'e of all the *jñānaśakti* (capacity of knowledge), *vīryaśakti* (capacitiy of striving energy), *saṁkalpa-śakti* (capacity of volition or desire) and *śraddhāśakti* (capacity of right attitude of mind or belief). These capacities are non-different from it.[19] In the machine of human body one feels the experience of another agency which defies the laws of nature, space, and time; there is something which is not physically analysable but is distinct from the object. So it is explained in the Jaina Āgama that Jīva is endowed with energy, exertion, action, strength, effort and vigour, and it manifests its sentiency (Jīvabhāva) by the state of itself,[20] because Soul having an inherent attribute of consciousness attains cognition of infinite modes of all kinds of knowledge and those of wrong knowledge, those of sêlf-awareness, etc.[21]

As to the point that the capacities of Jīva are non-different from it, the Jaina Āgama explains that Soul is knowledge[22] i. e. endowed with right knowledge in some respect and is also wrong knowledge. i. e. possessed of wrong knowledge in other respect and knowledge itself is invariably Soul, for consciousness *(upayoga)* is its inherent quality. Similarly, self-awareness (as one aspect of consciousness) and outside objects are correlated, because Soul is possessed of the capacity of taking note of the natural external objects; it is the 'knower'. It is also invariably self-awareness *(darśana)* and self-awareness is invariably Soul itself.[23]

In Jaina Philosophy Soul is studied from the following eight aspects of its capacities, namelv *dravyātmā* (soul as substance), *kaṣāyātmā* (Soul actuated by passion), *yagātmā* (soul endowed with activity), *upayogātmā* (soul endowed with consciousness), *jñānātmā* (soul possessing knowledge), *darśanātmā* (soul possessing self-awareness), *cāritrātmā* (soul existing in conduct) and *vīryātmā* (soul endowed with energy).[24] It manifests itself in and through these stages of life. There exists psychologically an inter-relation among these eight aspects of Soul, for they are interconnected as different aspects of one and the same Soul-Substance. As for example, he who has *dravyātmā* has in some respect *kaṣāyātmā* and he has not got it in other respect. But he who is endowed with *kaṣāyātmā* has invariably *dravyātmā*.[25]

Life-essentials of Soul are represented by five senses, mental, vocal and bodily activities, duration of life and respiration.[26] Whatever things and behaviours it makes, such as *saṁskāras* (forces), etc. are reflected in it, one fine material body *(paudgalik śarīra)* containing an impression of these forces is being formed by it, and that body exists with it, i. e. accompanies it at the time of taking up another new body.[27] As a changing entity Soul always vibrates in different forms, moves further and goes to all directions, then it enters into the world; it agitates and transforms those conditions of living beings. [8] Soul is the agent of all acts of beings, for 18 kinds of sinful acts (act of killing up to the perverted attitude of mind) and the acts of desistance from them, different states of it *(bhāva)*, perception *(avagraha)*, retention *(dhāraṇā)*, exertion, action, etc., up to determinate and indeterminate consciousness of being do not take place without it.[29]

Jīva (Soul) experiences pleasure, pain, life and death through the agency of Pudgala (Matter).[30] "From the empirical point of view a worldly soul draws in fine karmic matter in consequence of the activities of mind, body and speech and experiences their results."[31] Here Jaina metaphysics throws light upon the theory of transmigration of Soul in terms of karmic matter an extraordinary conception which is not found in any other Indian system of thought. While commenting on the aphorism "Sukha-duḥkha-jīvitamaraṇopagrahāśca" of the *Tattvārthādhigama-Sūtra*, Pūjyapāda Devanandi explains that "Not only is Matter the basis of pleasure, pain, life and death but one piece of Matter is capable of producing physical and chemical changes in another piece of Matter. This fact is connoted by the word *"upagraha"* in the *Sūtra*. The examples cited here are the purification of bronze by the addition of certain ashes, the purification of water by the addition of an organic substance *nirmali* and tempering of steel with the help of water."[32]

Jīva, even being conscious and non-corporeal, becomes corporeal by its only activity of collected (formed) corporeal body upto the moment of the existence of such body.[33] In regard to the relation of Soul with mind, speech and body, it is explained that speech and mind are non-soul, i. e. matters, for they are corporeal, non-conscious and non-living, and are associated with the spiritual being-Soul.[34] As to its relation with body it is defined that Soul is body, i. e. identical with it, when the former exists in the latter, and non-soul (No-ātā) is also body. It is both corporeal and non-corporeal, conscious and non-conscious, living and non-living and it is of beings and non-beings also.[35] The body was destroyed in the past, it exists and undergoes transformation at present, and it will undergo transformation in future into the gross physical, gross physical-cum-translocation—, transformation—, transformation-cum-translocation, translocation—, translocation-cum-karmic, and karmic bodies[36] in association with the spiritual being or self, i. e. Soul, for the *dehin* (possessor of body) existing in eighteen kinds of sinful acts up to determinate and indeterminate consciousness is Jīva and the very Jīva is known to be Jīvātmā (Soul of being).[37]

Umāsvāti explains that "The mundane souls help each other."[38] Ācārya Pūjyapāda, while commenting on the aphorism "Parasparopagraho jīvānām" of Umāsvāti, makes it clear that "the master and his servant, the teacher and the taught are the examples of mutual obligation. The master helps the servant with money and the servant repays it through his humble service; a teacher renders a great service through his sound training and advice, while the taught repays it through his good conduct."[39]

According to the body, *parimāṇa* (dimension or extent) of Soul decreases and increases. The decrease and increase of its *parimāṇa* do not affect its fundamental substantiality; its basic essence remains the same as it is; only its *parimāṇa* increases or descreases due to the difference of *nimitta* (cause). This is one kind of *pariṇāma-vāda* (doctrine of transformation) and it is also *Pariṇāminityatāvāda* (doctrine of permanence-in-change). Its other aspect is the decrease and increase of the mani-

festation of the quality or capacity (or power) of Soul. Even though the fundamental capacity or inherent quality remains the same in its basic form, still there takes place less or more degrees of purity and impurity *(śuddhi* and *aśuddhi)* in it as a result of effort *(puruṣārtha*). It becomes of the nature of permanence-in-change of the capacity.[40]

It is revealed in the *Vyākhyāprajñapti* that the soul of an elephant and that of an insect *(kunthu)* are equal and same in respect of Soul-substance, although their bodies are different in size and extent.[41] Soul pervades the body in which it exists, e. g. the whole bodies of tortoises, allegators, cows, men, buffaloes, etc., and even their inner parts cut into pieces are pervaded by the *pradeśas* (units) of their respective souls.[42] "Souls are existent in every iota of space beginning with one or more countless fractions of it up to the whole universe, i. e. if space is divided into countless points, the size of a soul can be so small as to occupy one or more of these points of space and in special cases the size of a single soul can fill the whole universe."[43] In the Universe there is no such a place where there is no existence of souls having fine or gross bodies.[44] This view of Jaina philosophy on the nature of Soul has been severely criticised by Ācārya Śaṅkara with the following arguments that if a soul is equal in extent to its body, it is impossible that the same soul can enter into the bodies of a fly and an elephant.[45] In fact, there is controversy amongst the philosophers regarding the precise part of the body which should be assigned as the seat of the Soul. Some think it is located in the heart; according to others, it is located in the head or in some specific brain centre. If this view is accepted, it is difficult to think how one could feel the bodily affections as its own. Since body grows from a microscopical size in the mother's womb to its full proportions to reincarnate into a new seed, it follows that the size of the soul cannot remain fixed.

In the multitude of souls *(jīvarāśi)* the inherent capacity of soul is accepted as one (equal); nevertheless, the manifestation of each one is not as such. It is conditional upon the strength of its efforts *(puruṣārtha)* and other causes. This problem is dealt with in a round about way in the *Vyākhyāprajñapti* in this manner that there are stated to be eight aspects of Soul, namely *dravyātmā* (soul as substance), *kaṣāyātmā* (soul having passion), *yogātmā* (soul having activity), *upayogātmā* (soul endowed with consciousness), *jñānātmā* (soul endowed with knowledge), *darśanātmā* (soul endowed with self-awareness), *cāritrātmā* (soul existing in conduct), and *vīryātmā* (soul endowed with energy).[46] It means that the basic capacity of Soul is one, namely consciousness, but it manifests itself in and through these stages. Soul is neither heavy nor light in regard to the weight of the material substance which maintains a specific gravity.[47] It is imperishable, immortal and impenetrable; none can cause pain or destruction to it nor can cut its inner points (units) by touching it with hand or cutting it with a sharp weapon or burning it with fire; no weapon can enter into it.[48] The same views in regard to its imperishability, immortality and impenetrability are embodied in the *Śrīmad Bhagavadgītā* in this way : "The soul is never born nor

dies; nor does it exist on coming into being for, it is unborn, eternal, everlasting and primeval; even though the body is slain, the soul is not.[49] Weapons cannot cut it nor can fire burn it; water cannot drench it nor can wind make it dry[50], for this soul is incapable of being cut; it is proof against fire, impervious to water, and undriable as well."[51]

It is explained in the *Vyākhyāprajñapti* that Soul is eternal from the point of view of time (*kāla*) and non-eternal from that of the state of existence (*gati*), as it is studied from its substantial and modal aspects, for it was in the past, is at present and will be in future, i. e. it is *traikālika*, and it undergoes change or transformation (*pariṇāma*) from one birth to another respectively.[52] The similar view is also embodied in *Śrīmad Bhagavadgītā* : "This soul is eternal, omnipresent, immovable, constant and everlasting".[53] "As a man, discarding worn-out clothes, takes other new ones, likewise the embodied soul, casting off worn-out bodies, enters into others which are new."[54]

Soul in finite from the aspects of *dravya* (substance) and *kṣetra* (field or locus) and infinite from those of *kāla* (time) and *bhāva* (condition), because it is one single substance from the point of view of *dravya* and it is possessed of countless points (*pradeśas*) and immersed in countless points of space of the Universe from that of *kṣetra*; and it is infinite from that of *kāla* and *bhāva*, for it is *traikālika* and endowed with infinite modes of knowledge, self-awareness, conduct, neither heaviness nor lightness, etc.[55]

In a nutshell the nature of Jīva conceived in Jaina Philosophy is this that it is supersensuous, imperishable, immortal, impenetrable, non-corporeal, eternal as well as non-eternal, infinite but also finite, and dynamic in nature. It is to be observed here that there is the sameness of Jaina Ātmatattva (Principle of Soul) all along the course of its development. The tradition of Jina Pārśvanātha and Jina Mahāvīra regarding Soul is continuing up to the present day, but the concept of Soul has changed to some extent, as is evidenced in the evolution of the doctrine "Tajjīvaṁ taccharīraṁ" and that of the theory "Taṁ jīvaṁ taṁ śarīraṁ". In the early period the common people had simple thoughts and views : "That which is Jīva (Soul) is śarīra (body)." Following this conception Cārvāka maintains that Jīva (conscious being) and *śarīra* (body) do not exist after death, for he did not accept the doctrine of rebirth. But the Jainas admit soul as distinct from body and the theory of rebirth; hence they also accept both gross and fine bodies. As a result, they conceive the idea of the fine body (Kārmaṇaśarīra) from the doctrine of rebirth of Jīva and accept the gross body, together with soul, from the conception of the *pṛthivīkāya* (earth-body) up to the *vanaspatikāya* (plant-body) and *trasakāyika* (body of mobile being). But later on it is found that body and soul of worldly beings (*saṁsāriṇaḥ*) are non-different.[56] Gradually the concept of Jīvātmā and Paramātmā also was accepted by them. Consequently, they admit the degree (or difference = *tāratamya*) of the mind of the one-sensed being. In the current of thought of men there took place the

birth of meditation as a result of which the fourteen stages of spiritual development (*guṇasthāna*) was considered for the spiritual attainment, for when they accepted rebirth, then there arose the question of *karmakāṇḍa* (action), *pāpa* (demerit or vice) and *puṇya* (merit or virtue), *svarga* (heaven) and *naraka* (hell), austerity and meditation on Soul.

The Jaina view and the Sāṁkhya-Yoga conception of the nature of Soul

The study of the Sāṁkhya-Yoga system of thought reveals that like Jaina Philosophy it accepts each individual soul endowed with beginningless and endless inherent consciousness.[57] It admits the existence of infinite souls (i. e. plurality of souls) by conceiving soul as distinct due to the difference of body. That is to say, "The plurality of the spirits is established, because birth, death and organs are allotted separately, because there is no activity at one time, and because there are different modifications of the three attributes "[58]

The Jaina and Sāṁkhya-Yoga systems differ on the point that the latter does not admit Soul's capacity of contraction and expansion as being equal to the extent of the body or pariṇāmitva (changeability) in consciousness from the point of view of substance as maintained by the former, but both of them accept the reality of consciousness (*cetana-tattva*) as unchangeable permanent (*kūṭastha-nitya*), eternal and all-pervading. The Sāṁkhya-Yoga philosophy does not conceive any kind of guṇa (quality or attribute) or possibility of *dharma* (characteristic or change in *Jīvatattva* (Sentient Principle) because of non-acceptance of *kartṛtva-bhoktṛtva* (doership and enjoyership) and *guṇaguṇī-bhāva* (relation of attribute and substratum of attribute), or *dharmadharmī-bhāva* (relation of characteristic and possessor of characteristic), just as the doership and enjoyership in Soul, the decrease and increase or change in Qualities *(guṇas)* as purity and impurity in it are found in the Jaina tradition. The Sāṁkhya says : "And from that contrast it follows that the spirit is endowed with the characteristics of witnessing, isolation, indifference, perception, and inactivity. Therefore, the non-intelligent liṅga becomes as if intelligent on account of its contact with that (spirit). And although the activity belongs to the Attributes, yet the indifferent (spirit) seems as if it were an agent".[59]

Jaina metaphysics admits one material subtle body being formed around Soul, for it is regarded as the receiver of the impression of all *karma-pudgalas* (karmic matters) fallen on it as a result of auspicious or inauspicious mental effort or apprehension (*adhyavasāya*). That material body (*kārmaṇa-śarīra*) becomes the container or the medium (material agency) of Soul from one birth to another. In the Sāṁkhya-Yoga system, inspite of having accepted Soul or consciousness itself as unchangeable or immutable *(apariṇāmī)*, indifferent spectator (*alipta*), devoid of

doership and all-pervading, the conception of each individual subtle body (*liṅgaśarīra*) per self (*puruṣa*) has been made to the cause of its rebirth. That subtle body itself only is the doer and enjoyer, the substratum of qualities, such as, knowledge and ignorance, merit and demerit, etc., like the soul of Jaina Philosophy; and it is having change as its decrease and is endowed with the capacity of contraction and expansion just as the Soul of the Jaina system possesses. In short it can be said that except the inherent capacity of consciousness, all those whatever characteristics (*dharmas*), quality (*guṇa*) or modification (*pariṇāma*) are existent in the Soul of Jaina metaphysics are accepted in the intellect (*buddhitattva*) or subtle body (*liṅgaśarīra*), of the Sāṁkhya-Yoga Philosophy. "The subtle body (*liṅgaśarīra*), formed primevally, unimpeded, permanent, composed of intellect and the rest down to the subtle elements incapable of enjoyment, migrates and is endowed with disposition."[60]

According to Jaina Philosophy, Soul, though non-corporeal in its natural state, can become 'corporeal' in actuality by the non-different relation (*tādātmya-yoga*) of the corporeal karmic body, while the Sentient Principle (*cetana-tattva*) of the Sāṁkhya-Yoga is accepted to so much extreme point of view that no impression (reflection) of the non-living substance or of corporeal subtle physical matter, which always exists in its contact, falls on it, but the reflection of Puruṣa (Self) on the transparent intellect (*buddhi-tattva*) and that of the characteristic existing in the intellect (*buddhigata-dharma*) on Puruṣa (Self) are admitted by this system of thought because of their mutual relation of nearness (*sānnidhya*), it is only supposed to be unreal and phenomenal for this reason. As for example, just as there does not take place any real shadow or impression of a portrait (*citra*) on the looking glass or mirror (*ākāśa*), just so the impression of Puruṣa (Self) on the intellect (*buddhi-tattva*) and vice versa should be regarded.[61] "Therefore, not only (spirit) is bound or liberated, nor (does any) migrate. It is the Nature, abiding in manifold forms that migrates or is bound or liberated."[62]

The Jaina metaphysics accepts such capacities like knowledge, energy, self-awareness, etc., while the Sāṁkhya-Yoga regards them as existing in the subtle body like intellect (*buddhi-tattva*), but not as inherent in the self (*cetana-tattva*).[63]

In the Jaina system of thought, even though there being the capacity of each individual soul as equal, its manifestation is accepted according to the effort (*puruṣārtha*) and cause (*nimitta*). Similarly, in the Sāṁkhya-Yoga the subtle body or the intellect is regarded as the cause. That is, although all the intellects are having equal capacity in the natural form, still again, their manifestation is conditional upon the strength of distinction between body and Soul, effort and other cause.[64]

The Jaina-Sāṃkhya Views and the Nyāya-Vaiśeṣika Conception of the Nature of Soul

Like the Sāṁkhya-Yoga Philosophy, the Nyāya-Vaiśeṣika conceives beginningless and endless, infinite soul-substances as distinct by the difference of body;[65] but having not accepted Soul as intermediate dimension (*madhyama parimāṇa*) like the Jaina

metaphysics, this system admits it as all-pervasive just as the Sāmkhya-Yoga regards it.[66] The Nyāya-Vaiśeṣika, having denied the idea of *madhyama-parimāṇa* or contraction and expansion of Soul, accepts it as unchangeable permanent (*kūṭastha-nitya*)[67] from the point of view of substance like the Sāmkhya-Yoga, otherwise in that case it would have been non-eternal. Nevertheless, the Nyāya-Vaiśeṣika agrees with Jaina Philosophy in regard to the relation of quality and substance (*guṇa-guṇī* or *dharma-dharmī)* having fallen apart from the Sāmkhya-Yoga system in this respect, which accepts *cetana* (Self) as partless and devoid of any kind of quality (*guṇa*) or characteristic *(dharma)*. It accepts Soul as the substratum of many qualities.[68] In spite of there being its agreement with Jaina metaphysics in this respect, the Nyāya-Vaiśeṣika appears to differ from the former in other respects.

The Jaina Philosophy, having accepted inseparable capacities like inherent eternal consciousness, bliss, energy, etc., in soul, admits their ever newer modes at every moment, whereas the Nyāya-Vaiśeṣika system does not admit such inseparable inherent eternal capacities like consciousness *(cetanā)*, etc. in the Soul-Substance; nevertheless, it accepts knowledge, bliss, pain, desire, hatred, effort, merit, and demerit, etc., as the qualities possessed by Soul.[69]

The existence of these qualities continues up to the relation (i. e. existence) of the body and they are produced and destroyed.[70] These nine qualities of the Soul-Substance, namely intelligence, bliss and others conceived by the Nyāya-Vaiśeṣika are of the status of the modes of the inherent capacity of Soul as formulated in Jaina Philosophy. Nevertheless, the basic difference between these two systems is that, according to the latter, the pure mode or transformation of the capacities like inherent consciousness (or sentiency) bliss, energy, etc., in the Soul-Substance or the continuous whole of their modes in it is taking place even in such state of its liberation when released from the body (*videha-muktāvasthā*) also, though there may not be the physical relation, connection or activity (*śarīra-yoga*), whereas from the Nyāya-Vaiśeṣika point of view there is no possibility of any such pure or impure, momentary or permanent qualities like intelligence *(buddhi)*, etc., in the Soul-Substance at the state of liberation from the body or the separation from the body,[71] because this philosophy does not accept the capacities like inherent consciousness, etc., in it like Jaina metaphysics. Here, though the Nyāya-Vaiśeṣika Philosophy agrees with the Sāmkhya-Yoga on one point, it differs from the latter on the others

The Sāmkhya-Yoga system accepts the Self as absolutely partless (*niramśa*) and unchangeable, permanent in itself (*kūṭastha-nitya*) and self-manifested consciousness (*svayam-prakāśa-cetana-rūpa*). Hence, just as this philosophy regards it is devoid of any kind of relation of qualities like *buddhi* (intelligence), etc. in the worldly condition, so it is in the liberated state, whereas the Nyāya-Vaiśeṣika philosophy does not accept Soul as natural consciousness; nevertheless, it conceives Soul as endowed with the qualities like *buddhi* (intelligence), etc. in the physical condition. But at the time of

liberation, because of there being the absence of such qualities in it, Soul becomes devoid of qualities (*nirguṇa*) in one respect just like the Self (Puruṣa) of the Sāṁkhya-Yoga. That is to say, in the liberated condition[72] Soul, having been bereft of qualities with the marks of origination and destruction by all means, becomes attributeless substance like the Self (Puruṣa) of the Sāṁkhya-Yoga. Similarly, according to the Nyāya-Vaiśeṣika philosophy, the liberated Soul becomes *ākāśa-kalpa.* But between these two systems, the difference is this much only that *ākāśa*, being a non-corporeal even, is accepted as material (*bhautika*),[73] while Soul is non-corporeal and non-material. There is no iota of difference between the emancipated soul and *ākāśa* (space or ether) from the point of view of the absence of inherent consciousness and the qualities like *buddhi* (intelligence), etc., or of their modes. Ākāśa is one single whole, while the liberated Soul is infinite in number. This numerical difference comes into thought.

The Nyāya-Vaiśeṣika system has the remarkable similarity and dissimilarity with the Jaina and Sāṁkhya-Yoga Philosophies in regard to many other aspects of the nature of Soul. Jaina metaphysics accepts the natural doership and enjoyership in Soul; so do the Nyāya-Vaiśeṣika admit such capacities in it. But the doership and enjoyership of Soul of the former system continue even in its perfect liberated condition, while such is not the case with the latter.[74] So long there is the body, the origination and destruction of the qualities like knowledge (or intelligence), desire, etc., take place in Soul, there exist the doership and enjoyership in it up to the end[75], but there does not remain any trace of them in its liberated state. Similarly, Soul as conceived in the Nyāya-Vaiśeṣika becomes identical with the Self (Puruṣa) of the Sāṁkhya-Yoga in its liberated condition.

The concept of the doership and enjoyership in Soul of the Nyāya-Vaiśeṣika is of different kind. It accepts the Soul-Substance as unchangeable permanent (*kūṭastha-nitya)*; hence the doership and enjoyership of any kind can not be explained to take place in it directly. For this reason, this philosophy brings about such doership and enjoyership in it by accepting the origination and destruction of the qualities in it. It says : "When there is the inherence of the qualities like knowledge, desire, effort, etc., in the soul, then it is the doer and enjoyer."[76] But in the absence of these qualities by all means in the liberated condition of Soul, there does not exist any perceptible or conceivable doership and enjoyership in it. Nevertheless, such usage was made from the point of view of the past.

Like the Jaina system the Nyāya-Vaiśeṣika, even having accepted the doership and enjoyership of Soul, can explain its *kūṭastha-nityatā* (unchangeable permanence), for, according to its views, the qualities like knowledge, etc. are by all means distinct from it (Soul-Substance). Therefore, there take place origination and destruction of its qualities, even then this system brings about its absolute permanence conceived by its own theory because of the view of distinction of the quality and its substratum. The Sāṁkhya tradition does not accept the existence of any kind of qualities in the Self for explaining its absolute permanence. And there where comes up the question of change

or another state brought about by the relation of another one, it is done or devised by this system analogically or imaginatively. Whereas the Nyāya-Vaiśeṣika explains the absolute permanence of Soul by another method. It has admitted the qualities as inherent in the Soul-Substance; even though they are subject to origination and destruction, still this system has denied any kind of real change in the substratum-substance, taking place due to them. Its argument is this that the quality is by all means different from the substratum-substance, hence its origination and destruction are neither the origination and destruction nor another state of the Soul-Substance. In this way the Sāṁkhya-Yoga and Nyāya-Vaiśeṣika systems propounded the theory of the unchangeable permanence of the real entity—Soul in their respective manners, but the basic current of the doctrine of absolute permanence in regard to it is preserved as one and the same in these two traditions.

Like the Jaina Philosophy, the Nyāya-Vaiśeṣika accepts this view also that *saṁskāra* (impression or force of the past action) of a being falls on the Soul-Substance because of the auspicious and inauspicious or pure and impure actions of an individual being, but as the Jaina system explains the fine material body (*kārmaṇa-śarīra*) having the reflection or shadow (*chāyā*) of that *saṁskāra* (impression or force), the Nyāya-Vaiśeṣika does not do so, nevertheless, it had to conceive something because of its accepting the doctrine of rebirth of Soul. In accordance with this view it admits that Soul cannot go and come on account of its being all pervasive, but one atomic mind[77] (or atom-like mind) is associated with each soul; it goes by moving to the place of taking up another body on the destruction of one body (i.e. the previous body). This change of place by the mind is the rebirth of Soul. According to the Jaina Philosophy, Soul itself goes to another place of its rebirth along with its subtle material body (*kārmaṇa-śarīra*), while the Nyāya-Vaiśeṣika maintains that the meaning of rebirth is not the change of place of Soul, but the change of place of the mind.

Here the process of determining rebirth of the Sāṁkhya-Yoga system compares well with that of the Nyāya-Vaiśeṣika, for the former conceives that the intellect *(buddhi)* or the subtle body (*liṅga-śarīra*) which is the substratum of the qualities like merit and demerit, etc., and which being *madhyama-parimāṇa* (intermediate dimension) is also motive at the time of death; it goes from one place to another by giving up the gross body,[78] while the Nyāya-Vaiśeṣika, having accepted eternal atom-like mind as motive, but not such subtle body of the Sāṁkhya-Yoga, has accounted for the process of rebirth of Soul. According to Jaina metaphysics, Soul has been admitted as making movement with the subtle karmic body for rebirth, but there is no place for capacity of making any kind of motion in Soul conceived in the Sāṁkhya-Yoga and Nyāya-Vaiśeṣika systems of thought. They maintain that the rebirth of Soul means the going and coming of its *upādhi* (attribute).

Like the Jaina Philosophy, the Nyāya-Vaiśeṣika admits the real elevation or rise and fall of Soul according to the dimension-magnitude of knowledge, belief (right

attitude) and energy, i. e. effort or purity-impurity of human effort in it, but not like the Sāṁkhya-Yoga tradition, as supposed by the relation of the attributive subtle body.[79]

The Nature of Soul : Buddhist View

In order to deal with the nature of Soul in the Buddhist Philosophy, it is to be noted that the central idea of Lord Buddha that he could not perceive the permanence of any entity or substance made a tremendous influence on the later entire retinue of his followers. So, one undivided theory in regard to the nature of Soul did not remain fixed in the Buddhist Nikāyas as it happend in the case of the Jaina, Sāṁkhya-Yoga, and Nyāya-Vaiśeṣika systems of thought.

In the history of the Buddhist Philosophy or the Buddhist determination of reality in regard to the nature of Soul there are found five divisions : (1) *Pudgala-nairātmyavāda*, (2) *Pudgalāstivāda*, (3) *Traikālika-dharmavāda* and *Vartamāna-dharmavāda*, (4) *Dharma-nairātmya* or *Niḥsvabhāva* or *Śūnyavādā*, and (5) The *Vijñānavāda*.[80] The Pāli Piṭaka says in one voice that the reality whose determination the other thinkers make in the form of Soul is like the momentary combination of mutually undivided feelings, ideas, volitions and other faculties and pure sensation or general consciousness.[81] That is to say, there is no Soul apart from feelings, ideas, volitions, etc.[82] The Buddhists make mention of it by the term '*nāma*'. In the Upaniṣads[83] the words 'nāma-rūpa' appear jointly and also a reference is there that any fundamental reality manifests itself in the nature of *nāma* (name) and *rūpa* (form). Lord Buddha did not accept any such different fundamental reality from which there may be the manifestation of *nāma*, but he admitted '*nāma*' as an independent reality like the *rūpa*; and this reality also is beginningless and endless because of being first indicated as aggregate *(saṁghāta-rūpa)* and bound in issues *(santatibaddha)*. Prof. Vidhusekhara Bhattacharya this way explains the point : "By name '*nāma*' we understand primarily the mind (citta, vijñāna, manas (consciousness) and secondarily the mentals (*caitasika dharmas)*, i. e. feeling, perception, and the co-effects of consciousness (vedanā, saṁjñā, saṁskāra). As the mind with the mentals 'inclines' (namati) towards its objects, it is called nāma".[84] It can be observed in the evidence of the Piṭaka that the stream of the aggregate of feelings, ideas, volitions and other faculties and consciousness is continuously flowing.

This theory is known as *Pudgala-nairātmyavāda* because of there being no place of the permanent reality of the Soul-Substance (*Pudgala dravya*) in this consciousness—centred current. But on the other side, there were four groups of the Buddhist order and many of the advocates of the doctrine of eternal Soul. When there might have begun the charge of Soullessness (*nairātmya*) from their quarters (four groups of the Buddhist order) and some people holding the view of the doctrine of eternality of Soul, might have joined the Buddhist order, then they again established the doctrine of Soul in their own manner. This doctrine is met with is the *Kathāvatthu*; the *Tattvasaṁgraha*

etc., as the opponent of the Ekadeśīya Buddhists.[85] It is stated in the *Tattvasaṁgraha* that "some people who regard themselves as Bauddhas describe the soul by the name of 'Pudgala' and declare it to be neither the same as, nor different from the Skandha, thought-phases."[86] That is the Vātsīputrīyas postulate the soul under the pretended name of 'Pudgala' which cannot be said to be either 'the same as' or 'different from' the 'thought-phases'. These Sammitīyas or Vātsīputrīyas said that there is Pudgala (personality) or Jīva-dravya (Soul-Substance) in a real sense, but when they were asked what is the existential form (*astitva rūpa*) as such, then they made denial of it. In this way, it is true that the doctrine of Pudgalāsti came up itself within the Buddhist Order. But it could not adjust itself with the basic central point of view of Buddha; at last its name died out consequently.

The doctrine of Pudgala-nairātmya was developing in many forms. The main thought was how could it stand before the advocates of the doctrine of eternal Soul and how could the account for rebirth and bondage, liberation, etc., be made in a comprehensive manner, besides giving reply to the charges of the opponents against it. Out of this thought there emerged Sarvāstivāda (the doctrine of the *traikālika* existence of all entities). The advocates of this doctrine made the application of 'nāmatattva' (the Principle of consciousness) by the word 'citta' also, and determined this *citta* (the aggregates of feelings, ideas, volitions and other faculties and pure sensation or consciousness) by dividing it into many co-born new comers (i. e. co-effects or issues) and common and uncommon elements. This doctrine of Sarvāstivādins made the subtlest analysis of *citta* (mind) and of its various conditions or *caitasikas* (mental faculties), but in spite of adhering to its own fundamental doctrine of momentariness, it established the *traikālikatā* (the existence of three points of time) of each individual *citta* (mind) and *caitasika* (mental faculty) in its own manner by admitting the past and future times.[87] For example, "on the ground of the gold continuing to be the same, when it comes to be regarded as something permanent to some Buddhists like Dharmatrāta and others, (they) hold (on the basis of this) that the thing (by itself permanent) passes through diverse states."[88]

In the face of this view there began again an opposition to this doctrine of the Sarvāstivādins that Buddha was only the advocate of the doctrine of momentariness of entities and the present time, then how could the theory of the three points of time (*traikālikatā*) be reconciled with that view of the Master ? The admission of the existence of three points of time was only the entrance of doctrine of eternality through the back door. Out of this thought there emerged the doctrine of Sautrāntikas. It maintained the postulation of the entire developed structure of elements of *citta-caitasikas* (mind and mental faculties) but freed these elements (*dharmas*) by all means from the fold of the *traikālika* existence and established its view of only present existence.[89]

Thus, there went on a strong mutual dispute among the Buddhist in regard to Reality. Some established the doctrine of *Sat* (Existence); others founded an entirely

opposite doctrine of *Asat* (Non-Existence); some did both; some established the theory of *anubhava* (experience or realization). Similarly, many groups, holding Reality as permanent, non-permanent, both (permanent and non-permanent), not-both and one, many, both (one and many), not-both, etc., were continuing. It appeared to Nāgārjuna that it was not proper to fall in the line of these groups in accordance with the middle path of Buddha. This thought led him to the direction of Reality *(tattva)* which was free from these *catuṣkoṭis* (groups or points of disputation).[90] And consequently he established Śūnyavāda (the doctrine of essencelessness or voidness of all appearances) out of this deliberation. 'Śūnya' means *dharma-nairātmya* or *niḥsvabhāvatā*. It was not the middle path to be bound in any Dharmin (substratum) or Dharma (element) and in this or that side. That which is Transcendental Reality is free from points of disputation or groups (*catuṣkoṭis*) and is only apprehensible by knowledge. For this reason, even while determining Śūnyavāda, he maintained *madhyamapratipadā* or the doctrine of spiritual elevation also.

After this came at last the Yogācāra school to which it appeared as such that Śūnyavāda did not make a determination of any Reality by *bhāvātmaka* (thoughtful or emotional) or methodical way. Consequently, *nāma-tattva* of Buddha, which centred on consciousness; also became as void (*śūnyavat*) in the views of the people. Certainly, such a thought led the Yogācārins to the side of the doctrine of consciousness. They established *nāma, citta, cetanā*, or *ātmā* (mind, consciousness or soul), whatever one calls them, as the only *vijñapti* (consciousness or beginningless root ideas or instinct of mind). The speciality of this theory from the first four doctrines as discussed above is this that the early Buddhists, having accepted the actual existence of the external matter apprehended by pure sensation or the senses (*vijñānabāhya-indriyagrāhya-bhūtabhautika-tattva*), used to think on the problem, while the Vijñānavādins—old and new, did not admit the separate existence of such external matters and said that the corporeal reality (*mūrtatattva*) which the Buddhist and other than the Buddhists called 'Rūpa' (Matter) is one aspect of nature of consciousness itself (*vijñāna*) only, but it appears to be different from consciousness due to ignorance (*avidyā*) desire (*vāsanā*) and hypocrisy (*saṁvṛti*). In this way the Buddhist tradition regarding the nature of Soul at last became established in the Vijñānavāda of the Yogācāra School, after having crossed many stages, and Dharmakīrti, Śāntarakṣita, and Kamalaśīla made successful attempts to make it comprehensible by the intellect.[91]

Whatever branch of the Buddhist Philosophy may be the real distinction of the issues of *citta* (Citta-santāna) of its own doctrine or of Jīva (Soul) by the difference of body is desirable to it. The Vijñānādvaitavādins, who did not accept anything other than consciousness as real, also followed the postulation of the distinction of Soul by the difference body,[92] having accepted the real mutual distinction of the issues of consciousness. This postulation was one general characteristic of the Śramaṇic tradition.

In regard to the dimension of Citta, Vijñāna-santati or Jīva, the Buddhist tradition did not bring forward any real thought by which it can certainly be said in this

way that it is *aṇuvādin* (the advocate of the atomic dimension of soul) or *deha-parimāṇavādin* (the advocate of the doctrine of the dimension of Soul up to the extent of body). Nevertheless, it is stated in some places in the Buddhist works that 'Hadayavatthu' (heart-entity) is the seat of substratum of Citta or Vijñāna. From this fact it can be said that, though the Buddhists might not have made any genuine consideration of Citta or Jīvatattva from the point of view of dimension, they still might have accepted the impact of consciousness in the form of feelings like pleasure, pain, etc., pervading the whole body.

It appears that, as the systems of thought like the Jaina, Sāṁkhya-Yoga, etc., admit the subtle body, moving from one place of birth to another, in order to explain the process of rebirth in their respective manners, so too the Buddhists might have accepted a similar process from the beginning. If anybody, having died, is just to be reborned at another place, then a Gandharva[93] waits up to seven days for a favourable occasion. On the basis of the conception of Gandharva, the discussion on the *antara-bhava-śarīra* (the body of intermediate stage of life) has been made by the Buddhists, and the view was supported by Vasubandhu and others.[94] While Buddhaghoṣa explained the *utpatti* (production or birth) of *pratisandhi* by giving some example. without accepting any such *antara-bhava-śarīra*.[95]

The Upaniṣadic view on the Nature of Soul

In regard to the nature of Soul and of the Brahman difference of conception and of thought is noticable in different early Upaniṣads and several times at different places of the same Upaniṣad. It can then be said that the voice of the entire Upaniṣads is not one and the same in this respect. For this reason, many separate developments of thought on the nature of Soul went on from the very start among the thinkers holding the basis of the concept of Soul in the Upaniṣads. Out of these developments Vādarāyaṇa composed the Brahmasūtra for the establishment of his own cherished views and mentioned also some other views which previously were current. Many commentaries were being written on it, and the bud of thought, which was in existence from the beginning, blossomed forth in the form of further explanations, but these early commentaries today are not found just as they originally were.

As soon as Ācārya Śaṅkara wrote a commentary on the Brahmasūtra, etc., and established the doctrine of Māyā (Illusion), a reaction started again. The thinkers to whom this Māyāvāda was not acceptable wrote commentaries on the Brahmasūtra by opposing this doctrine, having followed the path of any one of the previous teachers. There is more or less mutual difference of views in their thoughts; some difference of views is found in the application of definition and example : Even then all of them are agreed upon one point that Śaṅkara, says that such Soul has only the illusory (*māyika*) experience, not real, for it is also real, and this Soul having the real existence is also distinct by the difference of body and permanent.[96]

Every Ācārya like Śaṅkara and others took mainly the basis of the Upaniṣads in support of his views and produced one and the same reading in different places in different manners. Like this many diverse development of thoughts are found in the Upaniṣads but it can be said by making their classification that the first is the party of Ācārya Śaṅkara, the second is that of Madhva, and all the remaining Ācāryas are in the third group.

Śaṅkara, not concending that there is any really real existence except Brahman, explains the multiplicity of individual souls as experienced in practical life in terms of Māyā (Illusion) or Avidyāśakti (power of Nescience). This power also is not independent of the Brahman. Hence, according to his view, the mutual distinction between Soul and Brahman, is not real[97] (*tāttvika*). Madhva maintained an opposite view to that of Ācārya Śaṅkara in regard to Soul by asserting that it is not imaginary but is real, and it is also distinct from the Brahman. In this way the view of Madhva finds place in the doctrine of infinite eternal Souls.[98] Bhāskara[99] and all other Ācāryas actually accept Soul, but as a modification, an effect or a part of the Brahman. The modification, effect, or part, however, may be due to the power of the Brahman, but they are not at all illusory. Thus, the development on the concept of Soul went on progressing in the thinking of different Ācāryas.

The current of the Vedantic thought regarding the concept of Soul has continued in the traditions of aiming at Monism, namely, Kevalādvaita (Absolute Monism), Satyopādhi-advaita, Viśiṣṭādvaita, Dvaitādvaita, Avibhāgādvaita, Śuddhādvaita and Acintabhedābheda, and it is also finding support in the form of Dvaitavāda (Dualism).

Soul is nothing independent of the Brahman. (It is nothing at all). Hence, according to Śaṅkara, the (multiplicity of) individual Souls and their mutual difference are both unreal. Śaṅkara, admitting the Brahman to be the only real Reality, explains the multiplicity of individual souls as also the multiplicity (i. e. the multiplicity exhibited in) the world in terms of Māyā (Illusion). Hence, according to his view, individual soul is not independent and real entity. It is rather a mere appearance of the really real Brahman, an appearance due to the association of Māyā, Avidyā (Nescience) or Antaḥkaraṇa (internal organ). Even this appearance ceases to be there with the individual soul's realization of its own identity with the Brahman. Absolute Monism has to make a possibility of mutual distinction of individual souls just as it has to make a possibility of the relation of Soul with the Brahman because of there being only pure and undivided consciousness as its objective. Besides this, it has to determine the transmigration of Soul from body to body in order to effect rebirth. At the root, when there is only one transcendental reality and many kinds of distinction are to be made, then its only way is left to take the support of Māyā or Avidyā.

The disciples of Ācārya Śaṅkara and his commentators conceived many ideas about the nature of Soul; they appear to be contradictory to one another many a times. Some of their conceptions are given below :—

Pratibimbavāda :—Soul is conceived by some Ācāryas like Vidyāraṇya Svāmi and others in their respective manners as the reflection of the Brahman. Some accept such reflection as existing in (or deriving from) ignorance (*avidyāgata*); some admit it as existing in the internal sense-organ or the mind-substance (*antaḥkaraṇagata*); the third one regards it as existing in non-intelligence (*ajñānagata*). Thus, Pratibimbavāda (Doctrine of the reflection of the Brahman) has been supported in different forms.[100]

Avacchedavāda :—Some Ācāryas, having put the word 'Avaccheda' in place of 'Pratibimba' say that the Brahman reflected an the *antaḥkaraṇa* (internal sense-organ or mind-substance), etc., is not Soul but the Brahman narrowed or conditioned by the limitations of the *antaḥkaraṇa* (*antaḥkaraṇāvacchinna-Brahman*) only is the nature (*svarūpa*) of Soul.[101]

Brahmajīvavāda :—This doctrine maintains that Soul is neither the reflection (pratibimba) of the Brahman or its limited condition (*avaccheda*), but the unmodified Brahman itself is respectively Soul due to the cause of the spiritual ignorance as well as the Brahman because of the knowledge of spiritual truth.[102] Thus, these three views are mainly prevalent among the Kevalādvaitavādins in regard to the nature of Soul.

According to Bhāskara, the Brahman transforms Itself into Soul like the universe by Its various kinds of powers. So Soul is the modification of the Brahman and is endowed with activity, i. e. it is true because of being born of *satyopādhi* (limitation or condition of truth).[103] Even though the Brahman is one, still Its modifications may be many; there is no contradiction between oneness and manifoldness or multiplicity.[104] Just as one and the same sea is perceived as many in the form of waves, so is Soul the part and modification of the Brahman and there is the real existence of it insofar as it exists in association with ignorance, desires, and actions.[105] On the cessation of ignorance this Soul, which is atomic in nature, realises oneness or identity with the Brahman.

Rāmānuja, the advocate of Viśiṣṭādvaitavāda (qualified Monism), having conceived Soul, like the universe as the unmanifest body of the Brahman at the root, explains that unmanifest to be the manifest Soul and manifest prapañca in succession. All these that the unmanifest power of consciousness (*cit-śakti*) attains the form of the manifest soul and acts also, happen due to the cause of Parabrahma Nārāyaṇa[106] who exists in both fine and gross, inanimate and animate substances by pervading them. "The Self is often called jñāna, or consciousness, because of the fact that it is self-revealing as consciousness."[107] As the individual souls and the inanimate

creation are parts of the Brahman, "so their identity (abheda) with Brahman", becomes primary as their difference (*bheda*), inasmuch as the substance may be considered to be different from its attributes."[108]

As Dvaitādvaitavādin (advocate of the doctrine of the Absolute as unity in difference), *Nimbārka* accepts the modification of Parabrahman in the form of infinite souls, even though he regards Parabrahman as non-different essence or nature (*abhinnasvarūpa*). "Just as the life force or *prāṇa* manifests itself into various kinds of conative and cognative sense-functions, yet keeps its own independence, integrity and difference from them, so the Brahman also manifests itself through the numberless spirits and matter without losing itself in them."[109] These souls are not imposed (*āropita*), as the Brahman is at once one with and different from the souls.

According to the doctrine of Avibhāgādvaita of Vijñānabhikṣu, Puruṣa (Self) is beginningless and independent like Prakṛti, even then it cannot exist as separate or distinguishable from the Brahman.[110] All souls exists as undivided with It and are regulated by Its power.[111]

Vallabha, the Śuddhādvaitavādin, says that like the Universe, Soul too is the real modification of the Brahman. It has manifested Itself by Its own will with the preponderance of the elements of being, consciousness, and bliss (*saccidānanda*) in Its three forms as matter, soul, and the Brahman. In spite of such modification born of Its will, It exists only as unmodified and pure.[112]

According to Śrī Caitanya also, the Brahman manifests Itself as infinite souls by virtue of Its Jīvaśakti (the power represented by the pure selves). The relation of these souls with the Brahman is *bhedābheda* (identity-cum-difference),[113] but it is unthinkable (*acintanīya*), for the Brahman exists one with Itself and yet produces the universe through Its own unthinkable, indeterminable, and inscrutable power.[114]

All the doctrines from that of Bhāskara to that of Caitanya maintain that Soul is atomic in nature and size; it becomes liberated, when there takes place the destruction of ignorance by knowledge, devotion, etc. In the liberated condition it realizes identity or oneness with the Brahman, i.e. Its true nature, in one or other form.[115] All the Ācāryas, having advocated *aṇujīva* (atomic soul) makes the tenability of rebirth of Soul brought about by the subtle body.

Madhva, even though being a Vedāntin, does not take recourse to any kind of Monism or non-difference (identity). On the basis of Upaniṣads and other works he establishes a theory that Soul is atomic (*aṇu*) and infinite, but because of being independent and eternal, it is neither the modification of Parabrahman, nor Its effect, nor its part. When Soul becomes free of ignorance it realizes the lordship of the Brahman or Viṣṇu.[116]

A critical study of the nature of Soul as conceived by the Indian systems of thought reveals that the Jaina conception of Soul appeals to the common sense, besides its metaphysical value. Its importance lies in the fact that it reflects the doctrine of animism by admitting six kāyajīvas pervaded by Soul, namely pṛthivikāya-jīva (earth-bodied being), apkāya-jīva (water-bodied being), tejakāya-jīva (fire-bodied being), vāyukāya-jīva (air-bodied being), vanaspatikāya-jīva (plant-bodied being) and trasakāya-jīva (mobile being), as they exist in Nature.

References

1. *Bhāratīyatattvavidyā*, p. 80.
2. *Ibid.*
3. *VP.*, 34. 12-24, 702-715; also *Gommaṭasāra*, "Jīvakāṇḍa"
4. *VP.*, 202, 664.
5. Kecit Saugatammanyā apyātmānaṃ pracakṣate pudgalavyapadeśena tattvānyatvādivarjitam/—*Tattvasaṁgraha*, 336.
6. *VP.*, 8. 10. 361.
7. Pūraṇād-galanācca śarīrādīnāṁ pudgalāḥ /", *Ibid.*, 20.2. 664 (comm),
8. Jīve tāva niyamā jīve jīvevi niyamā jīve /" *Ibid.*, 6. 10. 256.
9. Jīvati tāva niyamā jīve, jīve puna siya jīvai siya no jīvai /" *Ibid.*, 6. 10. 256.
10 This date is recently arrived by M. A. Dhaky. *Cf.* His paper in this volume. Earlier conceded date was early centuries of Christian Era.
11. "Iṁdiyapāṇo ya tadhā balapāṇo tahā ya āupāṇo ya /
Ānappāṇappāṇo jīvāṇam hoṁti pāṇā te / "—*Pravacanasāra*, II. 54.
12. "Avaṇṇe jāva arūvī jīve sāsae avaṭṭhie logadavve /", *VP.*, 2. 10. 118.
13. *Ibid.*, 2. 10. 118.
14. Nityāvasthitānyarūpāṇi /", *TS.*, V. 4.
15. Jīvadavvā Goyamā ! no saṁkhejjā no asaṁkhejjā aṇaṁtā /", *VP.*, 25.2.720.
16. *VP.*, 20.1.661; "Sa aṁte jīve aṇaṁte jīve/". *Ibid.*, 2.1.91.
17. "Asaṁkhijjā dhammatthikāyapaesā .... jīvatthikāyapoggalatthikāyāvi evaṃ ceva /", *Ibid.*, 2.10.119; *Sthānāṅga*, 4.3.334; see also *Tattvārthasāra*, 3.19; *TS.*, V. 8.
18. "Pradeśasaṁhāravisargābhyāṁ pradīpavat /", *TS.*, V. 16; See also; *Tattvārthasāra*, 3. 14.
19. "Nāṇaṁ ca daṃsaṇaṁ ceva carittaṁ ca tavo tahā /
Viriyam uvayoga ya eyaṁ jīvassa lakkhaṇam //"
—*Uttarādhyayana-Sūtra*, 28.11.
20. "Jīve ṇaṁ savirie sapurisakkāraparakkame āyabhāveṇaṁ Jīvabhāvaṁ uvadaṁseti /", *VP.*, 2.10.120; 13.4.481.
21. *Ibid.*, 2. 10. 120; 13.4.481.
22. "Āyā siya nāṇe siya annāṇe nāṇe puna niyamaṁ āyā",
Ibid., 12.10.468.

23. "Āyā niyamaṁ daṁsaṇe daṁsaṇevi niyamaṁ āyā //", *Ibid.*, 12.10.468.
24. "Aṭṭhavihā āyā paṇṇattā, taṁjahā-daviyāyā kasāyāyā jogāyā, uvaogāyā nāṇāyā daṁsaṇāyā cārittāyā viriyāyā /", —*VP.*, 12.10.467.
25. *Ibid.*
26. "Iṃdiyapāṇo ya tadhā balapāṇo taha ya āupāṇo ya / Āṇappāṇappāṇo jīvāṇaṁ hoṁti pāṇā te //", —*Pravacanasāra*, II. 54.
27. "Vigrahagatau karmayogaḥ /"—*TS.* II. 26.
28. 'Jīve ṇaṁ sayā samiyaṁ eyate jāva taṁ taṁ bhāvaṁ pariṇamai", —*VP.*, 3.3.153.
29. *VP.*, 20.3.665.
30. "Sukhaduḥkhajīvitamaraṇopagrahāśca //",—*TS.*, V. 20.
31. "Kartā bhoktā ātmā pudgalakaramaṇo bhavati vyavahārāt /" —*Niyamasāra*, 18 *(Chāyā)*.
32. *Sarvārthasiddhi*, p. 289.
33. "Gaṇadharavāda" (3), *gāthā*, 1638.
34. "No āyā bhāsā annā bhāsā....rūvī bhāsā no arūvī bhāsā acittā bhāsā, ajīvā bhāsā, jīvāṇaṁ bhāsā no ajīvāṇaṁ //", —*VP.*, 13.7.493;

    "No āyā maṇe anne maṇe, jahā bhāsā tahā maṇe vi jāva ajīvāṇaṁ maṇe /", —*VP.*, 13.7.493-4.
35. "Āyāvi kāe annevi kāe.... rūvī vi kāe arūvī vi kāe........sacittevi kāe acittevi kāe, jīvevi kāe ajīvevi kāe jīvāṇavi kāe ajīvāṇavi kāe /", *VP.*, 13. 7. 495.
36. Pūvvimpi kāe, kāijjamāṇevi kāe kāyasamayavīikkaṁtevi kāe....pūvvimpi kāe bhijjai kāijjamāṇevi kāe bhijjai, kāyasamayavīikkamete vi kāe bhijjai/", *VP.*, 13. 7. 495.
37. Evaṁ khalu pāṇāivāe jāva micchādaṁsaṇasalle vaṭṭamāṇassa sacceva jīve sacceva jīvāyā jāva aṇāgārovaogo vaṭṭamāṇassa sacceva jīve sacceva jīvāyā// Ibid., 17. 2. 596.
38. "Parasparopagraho jīvānāṃ/", *TS.*, ch. V. 21.
39. *Sarvārthasiddhi*, pp. 289-90.
40. "Asaṁkheyabhāgādiṣu jīvānāṁ /"; "Pradeśasaṁhāravisargābhyāṁ pradīpavat /", *TS.*, V. 15. 16.
41. Hatthissa ya kunthussa ya evaṁ same ceva jīve /", *VP.*, 7,8.294.
42. *VP.*, 8. 3. 325.
43. "Asaṁkhyeyabhāgādiṣu jīvānāṁ /"—*TS.*, V. 15; "Aṇugurudehappamāṇo' uvasaṁhārappasappado cedā /", *Dravyasaṁgraha*, 10.
44. *GS.*, "Jīvakāṇḍa", 583.
45. *Śāṁkarabhāṣya* on *Brahmasūtra* II, 2. 34.
46. *VP.*, 12. 10. 467.
47. *Ibid.*, 1. 9. 73.

48. *Ibid.*, 8. 3. 325.

49. "Na jāyate mṛyate vā kādācinnāyaṁ bhūtvā bhavitā vā na bhūyaḥ /
Ajo nityaḥ śāśvato'yaṁ purāṇo na hanyate hanyamāne śarīre //",
Gītā, II. 20.

50. "Nainaṁ chindanti śastrāṇi nainaṁ dahati pāvakaḥ /
na cainaṁ kledayantyāpo na śoṣayati mārutaḥ //", *Ibid.*, II. 23.

51. "Acchedyo'ayamadāhyo'ayamakledyo 'asoṣya eva ca /
Nityaḥ sarvagataḥ sthānuracalo' ayaṁ sanātanaḥ // *Gītā*, II. 24

52. *VP.*, 9. 33. 387.

53. "Nityaḥ sarvagataḥ sthānuracalo 'ayaṁ sanātanaḥ / *Gītā*, II. 24.

54. "Vāsāṁśi, jīrṇāni yathā vihāya navāni gṛhṇāti naro'aparāṇi /
Tathā śarīrāṇī vihāya jīrṇānyanyāni samyāti navāni dehī //",
Ibid., II. 22.

55. *VP.*, 2. 1. 91.

56. "Atha mataṁ—jñānasya samavāyikāraṇamātmā, na śarīraṁ, atastasya kāryaikadeśatā na yukteti, tacca na śarīrātmanorekāntenāvibhāgāt' Saṁsāriṇah /",—*Viśeṣāvaśyakabhāṣya* p. 12.

57. "Hetumadanityamavyāpi sakriyamanekamāśritaṁ liṅgaṁ /
Sāvayavaṁ paratantraṁ vyaktaṁ viparītamavyaktaṁ //", *SK.*, 10.

58. "Jananamaraṇakaraṇāṇāṁ pratiniyamādayugapatravṛtteśca /
puruṣabahutvaṁ siddhaṁ traiguṇyaviparyayāccaiva //", *SK.*, 18.

59. "Tasmācca viparyāsāt siddhaṁ sākṣitvamasya puruṣasya /
Kaivalyaṁ mādhyasthyaṁ draṣṭṛtvamakartṛbhāvaśca //", SK., 19.

60. "Pūrvotpannamasaktaṁ niyataṁ mahadādisūkṣmaparyantaṁ/
Saṃsarati nirupabhogaṁ bhāvairadhivāsitaṁ liṅgaṁ//", *SK.*, 40;
See also the preface of Gaṇadharavāda, pp. 12, 21.

61. "Tasmāt na badhyate nāpi mucyate nāpi saṁsarati kaścit /
Saṁsarati badhyate mucyate ca nānāśrayā prakṛtiḥ //", *SK.*, 62;
"Citraṁ yathāśrayamṛte sthāṇvādibhyo yathā vinā chāyā /
Tadvadvinā viśeṣaih na tiṣṭhati nirāśrayaṁ liṅgaṁ //", *Ibid.*, 41.

62. *Ibid.*, 62.

63. *Ibid.*, 40.

64. "Puruṣārthahetukamidaṁ nimittanaimittikaprasaṅgena /
Prakṛtervibhutvayogānnaṭavadvyavatiṣṭhate liṅgaṁ //" *Ibid.*, 42.

65. "Vyavasthāto nānā /", *VS.*, 3.2.20; "Śāstrasāmarthyācca", *Ibid.*, 3.2.21.

66. "Vibhavānmahānākāśastathācātmā /", *Ibid.*, 7.1.22.

67. "Anāśritatvanityatve cānyatrāvayavidravyebhyaḥ /",
PPBhā., "Dravyasādharmyaprakaraṇa", Setu, p. 390.

68. "Prāṇāpānanimeṣonmeṣajīvanamanogatīndriyāntaravikārāḥ sukhaduḥkhecchādveṣaprayatnāścātmano liṅgāni /", *VS.*, 3.2.4;
See also *Ātmaprakaraṇa* of PPBhā.
69. "Tasya guṇāḥ buddhisukhaduḥkhecchādveṣaprayatnadharmādharmasaṁskārasaṁkhyāparimāṇapṛthaktvasaṁyogavibhāgāḥ /"
PPBhā., *Ātmaprakaraṇa*; see also *VS.*, 3.2.4.
70. PPBhā., *Ātmaprakaraṇa.*
71. "Tadatyantavimokṣo'apavargaḥ/", NS., 1.1.22; *NBhā.*, 1.1.22;
'Mokṣa means separation of or shedding off the *karmapudgalas* from soul' "Introduction to Gaṇadharavāda", p. 17.
72. VSU., 1. 1. 4.
73. PPBhā., *Ātmaprakaraṇa*, p. 30.
74. "Atthi avināsadhammī karei veu atthi nivvāṇaṁ /
Atthi ya mokkhovāo cha ssammattassa ṭhāṇaṁ //"
Sanmatiprakaraṇa, 3.55. (Sanmati Tarka)
75. "Na kāryāśrayakartṛvadhāt /" *Nyāyavārtika*, 3. 1. 6;
"Vaikalyaṁ pramāpaṇaṁ veti //", Ibid.; p. 509;
"Ekavināśe dvitīyavināśānnaikatvaṁ /
Vināśāvināśalakṣaṇaviruddhadharmādhyāsānnānātvamityarthaḥ /",
Ibid., 3. 1. 9., p. 510.
76. Jñāna (1) cikīrṣāprayatnānāṁ samavāyāḥ kartṛtvaṁ, sukhaduḥkhasaṁvitsamavāyo bhoktṛtvaṁ, etattu na śarīre, nimittatvāt kartṛśarīramucyate / —*Nyāyavārtika*, 3. 1. 6, p. 559;
see *Bhāratīyatattvavidyā*, p. 87, Pandit Sukhlalji Sangahvi.
77. "Tadabhāvādaṇu manaḥ /", *VS.*, 7. 1. 23; *VSU.*, 7. 12.
78. *Bhāratīyatattvavidyā*, pp. 81-90.
79. *Ibid.*, p. 90.
80. See *Buddhist Logic*, Vol. I., pp. 3-14 and *The Central Philosophy of Buddhism* p. 26, for the three Bhūmikās (introductions) of the Buddhist Tattvajñāna (Epistemology), *vide Bhāratīyatattvavidyā*, p. 94.
81. *Visuddhimagga*, 4. 33;
see *Saṁyuttanikāya*, III. 16;
Introduction to Gaṇadharavāda, pp. 82-87.
82. *The Central Conception of Buddhism*, p. 23, Prof. Stcherbatsky.
83. Taddhedaṃ tarhyavyākṛtamāsīt / tannāmarūpābhyāmeva vyākriyata //"
Bṛhadāraṇyanaka Upaniṣad, 1.4.7;
see also *Chāndogyopaniṣad*, VI, 2.2.3; VII, 14.1.
84. *The Basic Conception of Buddhism*, pp. 87-88; Vidhusekhara Bhattacharya
85. "Paudgalikasyāpi avyākṛtavastuvādinaḥ pudgalo api dravyato astīti /",
Abhidharmadīpa, p. 258;
"Nagnāṭapakṣe prakṣeptavyāḥ /", *Ibid.*, p. 257;
See also *Tattvasaṁgraha*, 336.

86. *Tattvasaṁgraha*, 336. Śāntaraksit, Gaekwad's Oriental Series No. XXX, XXXI, (Vols, I, II), 1926.

87. "Hemno anugamasāmyena sthiratvaṁ manyate tadā /
Avasthābhedavānbhāvaḥ kaiścidbauddhairapiṣyate //"
TS., 1786, p. 503;
"Sarvamasti pradeśo' asti sarvaṃ nāstiti cāparaḥ /
Avyākṛtāstivāditi catvāro vādinaḥ smṛtaḥ //
—*Abhidharmadīpa* (AbdD), kā. 299, p. 257, Vimala Mitra
Ibid. (comm).

88. *Tattvasaṁgraha*, 1786 f.

89. See *Abh.*K.,Kā. V. 24-6, vide *The Central Conception of Buddhism*, pp. 64-80.

90. Mādhyamika Kārikāvṛtti, pp. 16, 26 and 108 and 275, Kārikā 5.7 thereon SM., 17;
Mādhyamakakārikā, 5, 7. 8, vide *Bhāratīyatattvavidyā*, pp. 97-8;
"Vinā pramāṇaṁ paravanna śūnyaḥ svapakṣasiddheḥ padamaśnuvita /
Kupyet-kṛtānataḥ spṛśyate pramāṇamaho' sudṛṣṭam tvadasūyidṛṣṭam //"
—*Syādvādamañjarī* 17, p. 144.

91. *Pramāṇavārtika*, 2. 327 etc; TatS. 1965-1969 ff. pp. 550.82.

92. See Dharmakirti's *Santānāntarasiddhi.*

93. *Dīghanikāya*, p. 206, 'Gandhabba'.

94. *Milindapañho supra*, p. 46, No. 2; Ibid., p. 142 (*Ṭippaṇa*), p. 132;
See the Tibetan books of the dead; vide *Bhāratīyatattvavidyā*, pp. 90ff.

95. Tayidaṁ pākaṭena manussacutipaṭisandhikkameṇa pakasayissāma /',
VM., 17. 163, p. 389;
See Bhāratiyatattvavidyā, pp. 90-99.

96. "Cit-svabhāva ātmā viṣayī jaḍasvabhāvā buddhīndriya-deha viṣayā viṣayāḥ/",
Bhāmati, *vide* BS., p. 231;
"Ahaṁ pratyaya-viṣaya-kartṛvyatirekeṇa tat sākṣī sarva-bhūtasthaḥ sama ekaḥ kūṭastha nityaḥ puruṣa....sarvasyātmā /" *ŚBha.*, on BS., 1.1.4;
All the Non-Śaṅkarite Vedāntins agee in holding (1) that Śaṅkara is wrong when he says that an individual soul is an illusory (māyik), not real existence, for it is real and (ii) That individual souls are different in different bodies and (iii) that individual souls are eternal.

97. "Jiva Brahmaiva nāparaḥ /", *Brahmasiddhi,* p. 9;
See also *Bauddhadarśana and Vedānta*, Dr. C. D. Sharma, p. 224.

98 Sarvadarśanasaṁgrahagata Pūrṇaprajñādarśana, p. 55.

99. "Kāryarūpeṇa nānātvamabhedaḥ kāraṇātmanā /
Hemātmanā yathā abhedaḥ kuṇḍalyātmanā bhidā //"
Bhāskara on *BS.*, p. 18;
"Brahmakāryatvāt prapañcasya / vastutvaṁ Brahmaiva hi kāraṇātmanā kāryātmanāvyavasthitamityuktaṁ /", *Ibid.*

100. Vedāntasiddhāntasūktimañjarī, "Prathama pariccheda", 28-40.
101. "Ghaṭasaṁvṛtamityādiśrutiyuktisamāśrayāt / Anye antaḥkaraṇenāvacchinnaṁ jīvaṁ babhāsire //",
Vedāntasiddhāntasūktimañjarī, Prathama pariccheda, 41.
102. "Kaunteya iva rādheyo jīvaḥ svāvidyayā paraḥ /
Nābhāso nāpyavacchinna ityāhurapara budhāḥ //", *Ibid.* 1.42.
103. Bhāskarabhāṣya, II. 1. 27; also 1.4.25.
104. Abheda—dharmaśca bhedo yathā mahodadherabhedaḥ sa eva taraṅgādyātmanā vartamāno bheda ityucyate, na hi taraṅgādayaḥ pāsāṇadiṣu dṛśyante tasyaiva tāḥ śaktayaḥ śakti śaktimatośca ananyatvaṁ anyatvaṁ copalakṣyate........tasmāt sarvaṁ ekānekātmakaṁ nātyantaṁ abhinnaṁ bhinnaṁ vā /", *Ibid.*, II. 1.18.
105. *Ibid.*, I. 4.21; vide H. I. Ph., Vol. III, p. 6, S. N. Dasgupta.
106. See Rāmānuja's *Bhāṣya*, XI, 3. 40-41.
107. *Ibid.*, II. III. 29-30, *vide* H. I. Ph, Vol. III, p. 160.
108. Jīvavata pṛthak siddhyanarha viśeṣaṇatvena acidvastuno Brahmāṁśatvaṁ; viśiṣṭavastvekadeśatvena abheda-vyavahāro mukhyaḥ, viśeṣaṇaiśeṣyayoḥ svarūpasvabhāva-bhedena-bheda-vyavahāro' api mukhyaḥ /",
Śrī Bhāṣya, III, 2. 28, *vide* H. I. Ph.. Vol. III, p. 195.
109. H. I. Ph. Vol. III pp 405-6; see also Śrīnivāsa's commentary on Nimbārka's Vedānta Pārijāta-Saurabha on Brahmasūtra, I. i, 1-3, *vide* H. I. Ph., Vol. III, p. 406.
110. "Bhedābhedau vibhāgāvibhāgarūpau kālabhedena aviruddhau anyonyābhāvaśca jīva-brahmaṇor ātyantika eva/", *Vijñānāmṛtabhāṣya*, I. 1. 2, *vide* H. I. Ph., vol. III, p. 461.
111. *Ibid.*, 1. 1. 2, *vide* H. I. Ph., vol. III, p. 459.
112. *Ṣaṭ Sandarbha*, p. 254, *vide* H. I. Ph., Vol. IV, p. 404.
113. *Ibid.*, p. 260, vide H. I. Ph., Vol. IV, p. 407.
114. *Ibid.*, p. 675, vide H. I. Ph., Vol IV, p. 428.
Ibid., p. 678, vide H. I. Ph., Vol. IV, p. 429.
115. *History of Indian Philosophy*, Vol. IV.. pp. 155-6.
116. Nyāyasudhā on Aṇuvyākhyā, *vide* H. I. Ph., Vol. IV, p. 317; *Brahma-sūtra-bhāṣya*, 1. 1. 1.

'NĀTAPUTTA' IN EARLY NIRGRANTHA LITERATURE

M. A. Dhaky

The Pāli canon of the Buddhists refers to Jina Vardhamāna Mahāvīra as 'Nigganṭha Nāṭaputta' (Ceylonese version) or 'Nigganṭha Nāṭaputta' (Burman version). The appelation 'Nātaputta' is after Vardhamāna's clan-nomen 'Nāta', Jñātṛ; the prefixed term 'Nigganṭha' (Nirgrantha) alludes to the Śramaṇic Church of which he was the leader. No scholar, however, seems to have investigated in depth as to the situation as it obtains in regard to this specific (clanic) appelation inside the literature of the Nirgranthas. The present paper addresses itself to exploring this particular aspect of inquiry.

The earlier texts of the Ardhamāgadhī canon do contain clear as well as copious references to 'Nātaputta' (Jñātṛputra, scion of the Jñātṛ clan). The broad temporal bracket of the relevant passages (or verses as the case may be) inside the different texts is *c*. B. C. 250—A. D. 250. While this epithet virtually disappears after that period, the reminiscences of it echo in the post-Gupta, pre-medieval and medieval commentaries, laxicons, and sometimes also in the hymns, the phase with which the present paper shall not deal.

Unlike the Buddhist references which allude to Mahāvīra singularly by his clan epithet, the early Nirgrantha canonical texts employ it alongside a large variety of other honorifics and epithets.[1] Moreover, the Nirgranthas had not needed to prefix the qualificatory 'Nigganṭha' to his clan epithet 'Nātaputta' since for them he was not an outsider but the leader of their own Order, Nirgrantha Church. For them it, therefore, went without specifically so saying.

The earliest pertinent references to Nātaputta figure inside the two relatively later chapters of the *Ācārāṅga* (Book I) which of course do not seem later than the third and the second century B. C. The eighth chapter's eighth lecture (*uddeśa*) therein refers to 'Nātaputta' in a verse :

अयं से अवरे धम्मे **नातपुत्तेन** साहिते ।
आयवज्जं पडियारं विजहेज्जा तिधा तिधा ॥

—**आचारांग**, प्रथम स्कन्ध, ८.८.२७

Next the "Uvadhāna-sutta" ("Upadhāna-sūtra", *c*. 3rd-2nd cent. B. C.), which forms 'Chapter 9' (Book I) of the selfsame work, twice refers to this epithet (once as 'Nātasuta') in one and the same verse :

गथिते मिधुकथासु समयम्हि **नातपुत्ते** विसोगे अदक्खु ।
एतातिं से उरालातिं गच्छति **नातपुत्ते** असरणाए ।।
—**आचारांग**, प्रथम स्कन्ध, ९.१.५०.

In the *Sūtrakṛtāṅga* (Book I), several important references (*c.* 3rd-2nd cent. B. C.) containing this appelation occur : moreover, the variant 'Nātiputta', and the abbreviation 'Nāta', besides the usual 'Nataputta' also figure.

उच्चावतानि गच्छंता गब्भमेस्संतऽनंतसो ।
नातपुत्ते महावीरे एवमाह जिनोत्तमे ।।

—**सूत्रकृतांग** १.१.२.२७.

जे एत चरंति आहितं **नातेनं** महता महेसिणा ।
ते उट्ठित ते समुट्ठिता अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ।।

—**सूत्रकृतांग** १.२.२.२६.

एवं से उदाहु अनुत्तरनाणी अनुत्तरदंसी अनुत्तरनाणदंसनधरे
अरहा **नातपुत्ते** भगवं वेसालीए वियाहिते ।।

—**सूत्रकृतांग** १.२.३.२२.

(The variant 'Nātiputta' is the result of pronouncing 'Jñātṛ' as 'Jñātri' as is done in Hindi, Bāṅglā, etc., and not as 'Jñātru' or 'Jñātra (rural)' as rendered in Gujarātī, Oriyā, etc.)

Also in the "Mahāvīra-stava" (*c.* 2nd cent. B. C.) inside the selfsame *āgama*, a question is thus asked in regard to Nātaputta's knowledge and insights :

कतं च नाणं कतं दंसनं से सीलं कतं **नातसुतस्स** आसी ।
जानासि नं भिक्खु जथातथेनं अथासुतं बूहि जथा निसंतं ।।

—**सूत्रकृतांग** १.६.२

Next, in the same hymn, Nātaputta's dimensions of glory are compared with those of the Sudarśana-giri (Sumeru-parvata) :

सुदंसनस्सेस जसो गिरिस्स पवुच्चती महतो पव्वतस्स ।
एतोवमे **समणे नातपुत्ते** जाती-जसो-दंसन-नाणसीले ।।

—**सूत्रकृतांग** १.६.१४

And thereafter it is said : "Just as lending protection (*abhayadāna*) is best of helps, an unhurting right utterance is best in the category of truth-telling, and celebacy (*brahmacarya*) is best among austerities, so is best Bhagavān Nātaputta among the world :"

दानान सेट्ठं अभयप्पदानं सच्चेसु या अणवज्जं वदंति ।
तवेसु या उत्तम बंभचेरं लोगुत्तमे भगवं **नातपुत्ते** ।।

—**सूत्रकृतांग** १.६.२३

And finally the following verse in the selfsame hymn once more refers to Nātaputta : "And just as the one who possesses seven *lavas* (in the five ultimate heavenly worlds) are best among those beings who remain in stable state, and as the heaven Sudharmā's is the finest of all assembly-halls, and among all orders the one that leads to the path of liberation is the best, so is Nātaputta matchless (among the "knowers") :

ठितीण सेट्ठा लवसत्तमा या सभा सुधम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाण सेट्ठा जथ सव्वधम्मा **नातपुत्ता** परमत्थि नाणी ॥

—सूत्रकृतांग १.६.२४

Also in Book II of the *Sūtrakṛtāṅga*, in the chapter "Ardrakīya" (*c*. 3rd-2nd cent. B. C.) references to Samaṇa Nātaputta and Isiṇo Nātaputta figure :

पन्नं जता वणिए उदयट्ठी आतस्स हेतु पगरेति संगं ।
ततोवमे समणे **नातपुत्ते** इच्चेव मे होती मती वियक्का ॥

—सूत्रकृतांग २.६.१९

सव्वेसि जीवान दयट्ठताए सावज्ज दोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो **इसिणो नातपुत्ता** उदिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥

—सूत्रकृतांग २.६.४०

The *Daśavaikālika-sūtra* also refers to Nātaputta in its chapter on "Piṇḍeṣaṇā" (*c*. 3rd-2nd cent. B. C.) which dwells upon monastic rules for begging food and permissible alms. The two verses cited below (without translation) is the first case in point :

एतं च दोसं दट्ठूनं **नातपुत्तेन** भासितं ।
अणुमातं पि मेधावी मायामोसं विवज्जए ॥

—दशवैकालिकसूत्र ५.२.४९

विडमुब्भेइमं लोणं तेल्लं सप्पि च फाणितं ।
न ते सन्निहिमिच्छंति **नातपुत्तवचोरता** ॥

—दशवैकालिकसूत्र ६.१७

The next two verses claim that, if clothes, begging bowl, blanket, and the feet-cleaner are accepted (by a friar) for the sake of modesty and for the maintenance of ascetic practices, it cannot be construed as possession (*parigraha*); because it is (in the final analysis) the 'attachment' which is possession *par excellence* as enjoined by 'Nātaputta' :

जं पि वत्थं च पातं वा कंबलं पादपुंछनं ।
तं पि संजम-लज्जट्ठा धारेंति परिहरे वि च ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो **नातपुत्तेन** ताइना ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इति वुतं महेसिणा ॥

—दशवैकालिकसूत्र ६.१९-२०

In the famous "sa-bhikhu" chapter of this work, Nātaputta is once more referred to in connection with the six living substantialities (*ṣaḍ*[*jīva*]*nikāya*), the five great vows (pañca-mahāvratas) and the fifty kinds of channels for control (saṁvara) over passions :

रोतिय **नातपुत्तवचनं** अत्तसमे मन्नेज्जा छप्पि काए ।
पंच च फासे महव्वतानि पंचासवसंवरए जे, सभिक्खू ॥

—दशवैकालिकसूत्र, १०. ५.

In the *Uttarādhyayana-sūtra*, the reference to Nātaputta figures only once, as an ending sentence to its chapter six : This same sentence also figures in the *Sūtrakṛtāṅga* (I.2.3.22), cited in the foregoing. In both cases this seems a later addition, probably of *c*. first century B.C.–A.D.[2], though it is hard to determine which text was the first to receive it.

Among the last works to notice 'Nātaputta' is the *Vyākhyāprajñapti*, a scholiastic compilation very largely of *c*. 2nd-3rd cent. A.D., which uses earlier sources and occasionally incorporates phrases in the style of *c*. 1st cent. B.C.-A.D., particularly in its *kathānuyoga* passages. The work in the first place, and at two separate but otherwise identical situations, brings in Śramaṇa Nātaputta as the expositor of the five existentialities (*pañcāstikāyas*) and statements about which of them possess form and which other are formless; this figures inside the 'Kāludāya-pṛcchā' passage where Nātaputta (sometimes with the qualifying word 'Śramaṇa') is five times mentioned :[3]

एवं खलु समणे **नातपुत्ते** पंच अत्थिकाए पन्नवेति, धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं जीवत्थिकायं पोग्गलात्थिकायं आगासत्थिकायं ।

तत्थ नं **नातपुत्ते** चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए पन्नवेति, धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं पोग्गलत्थिकायं ।

एगं च समणे नातपुत्ते जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पन्नवेति ।

तत्थ नं **समणे नातपुत्ते** चत्तारि अत्थिकाए अरूविकाए पन्नवेति —धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगा-सत्थिकायं जीवत्थिकायं ।

एगं च नं समणे नातपुत्ते पोग्गलत्थिकायं रूविकायं अजीवकायं पन्नवेति ।

Also, in the querries of the *śramaṇopāsaka* Madduā, 'Śramaṇa Nātaputta' once again figures in connection with the exposition of the five existentialities.[4] (The date of this phrase may be the same as the last-noted.)

एवं खलु मद्दुया ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए **समणे नातपुत्ते** पंच अत्थिकाये पन्नवेति·······

In a long passage concerning Somila brāhmaṇa, Śramaṇa Nātaputta once again appears in a phrase, though the passage may not be very early and in point

of fact may be belong to the 2nd or 3rd century A.D. since it incorporates a term *pūrvānupūrvi*[5] :

एवं खलु **समणे नातपुत्ते** पुव्वानुपुव्वि चरमाने गामानुगामं दूइज्जमाने सुहंसुहेनं...............(इत्यादि)

Contemporaneous to the last noted, and final reference to 'Nātaputta' is to be discerned in the third appendix "Bhāvanā" in the second book of the *Ācārāṅga-sūtra* :

तेनं कालेनं तेनं समयेनं समणे भगवं महावीरे **नाते नातपुत्ते नातकुल**विनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसुमाले तीसं वासाति विदेहे त्ति कट्टु...........(इत्यादि,)

After this, references to 'Nātaputta' are virtually absent in the *āgamas.*[6]

Notes and References

1. Besides Vīra and Mahāvīra, he is also called Buddha, Ṛṣi, Maharṣi, Muni, Mahāmuni, Kāśyapa (after his *gotra*), etc.
2. In the *Daśavaikālika-sūtra*, the whole chapter is in the ancient Vaitālīya metre, the sentence appears as verse; but since it has no metrical consistency, it creates unconformity. The next verse numbered 23 seems an interpolation by virtue of its style, wording, and content. In point of fact this chapter of the *Daśavaikālika* ends with the verse 21. The whole of the chapter 6 of the *Uttarādhyayana* is in Anuṣṭubha metre, the end marked by the sentence under discussion appears separately in prose form with nothing after that.
3. While the *Vyākhyā-prajñapati's* main bulk is stylistically dateable to the 2nd-3rd cent. A.D., its *Kathānuyoga* passages and chapters, some of which could be of the 1st, 2nd, originally belonged to other works; these have been shunted to this work possibly in the period between the late fourth and the early sixth century A.D.
4. There is no evidence that Mahāvīra has expounded the *pañcāstikāyas*. These were known to, and collectively mentioned by Jina Pārśva in the *Ṛṣibhāṣitāni* and possibly the detailed nature of the *astikāyas* was first defined by the pontiffs of the sect of Pārśva.
5. The term does not figure in earlier texts.
6. The *Praśnavyākaraṇa*, a pretender *āgama* of *c.* seventh century A.D., mentions *nātamuni*; and Dhanañjaya, the Digambara poet of the 7th-8th century A.D., includes 'Jñātṛputra' in the list of the epithets of Mahāvīra. (I forego citing these later references, which in any case are secondary; for in the age of these later authors, the epithet 'Nātaputta' for Mahāvīra was not in currency, and if at all appearing as rare instances, the usage derives from or harks back to the early āgamic sources.)

N. B. In the citations from the *āgamas* the language has been restored to Ardhamāgadhī by eliminating the Mahārāṣṭrī Prākṛta affectations.

THE CONCEPT OF MIND IN JAINISM

T. G. Kalghatgi

The problem of the nature and functions of mind has a significant place in philosophy as well as psychology. It has eluded the grasp of the philosophers and psychologists from the early past to the present day. Metaphysically, the mind was considered by some as the principle of the Universe existing in relation to the phenomenal world. Mind, in point of fact, was given primary emphasis as a cosmic principle by the idealists. Psychologically, what concerns is the individual mind,—individual's sphere of psychic states.

It is not easy to define mind; for its difinition has to be in terms of psychic processes and states. Wundt says that mind is the pre-scientific concept. It covers the whole field of internal experiences.[1] McDougall defines mind as an organised system of mental and purposive forces.[2]

The philosophical study of mind shows that the ancient Indian thinkers possibly were aware that they were groping at grasping the intangible, ineffable and immaterial : But they could not free themselves from the material. In the pre-Upaniṣadic thought, the principle of *Ṛta* became the Principle of the Order of the Universe. Similarly, the term *kratu* is shown to be the antecedent of the term *manas* or *prajñā*. In the *Upaniṣads* the importance of mind and its functions was gradually realised. An expression such as "I was elsewhere in mind, I could not see, I could not hear" is met with in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*.[3]

The old metaphysical problem of the relation of mind and soul continued to disturb the philosophers of the ancient world. Aristotle, for example, in his *De Anima* said that Democritus regarded mind as identical with the soul for the fineness of its particles. Titus Lucretius Carus avered that mind and soul are kept together in close union and make up a single nature.[4] The Jaina thinkers, on their part, asserted the distinction between soul and mind. Jina Vardhamāna Mahāvīra was asked by Gautama whether mind was different from the soul. "Oh, Gautama," said, Mahāvīra, "mind is not the soul, as speech, like mind, is different from the soul. Non-living substances have no mind".[5]

Mind was postulated, and the postulation was based on the evidence of experience. The contact of the sense organ with the soul alone does not give rise to experiences, because there the mind is absent. Again mind has the functional connotation which speaks for its nature, just as speech signifies the function of speaking, fire expresses the function of burning and the light shows the light."[6] (Miss) Washburn says that there is no objective proof for the existence of mind.[7] We have to posit the existence of mind on the basis of behaviour and experience.

I intend, for this article, restrict study to the psychological aspect of the nature and functions of mind.

The Jaina approach towards the study of mind has been realistic. The mind and its states are analysed on the empirical level : Still the Jaina ideal is *mokṣa*, freeing of the soul from the impurities of *karma*. The purity as well as the divinity of the soul are the foundational principles of Jaina philosophy. The Jaina theory of mind postulates mind and nature as different in kind and as sharply separated and opposed. Traces of the primitive conception of the mind are still to be found in this theory. Yet, it tried to overcome the conflict between mind and nature and establish intimate relation between them. The function of the mind is knowing and thinking. The *Sthānāṅga* describes it as "*Saṁkalpa vyāpāracati*". The *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya* of Jinabhadra gaṇi (*c*. A. D. 585) defines mind in terms of mental processes[8]—"*maṇaṇaṁ vā maṇaye vā anena maṇo*" It is taken in the substantive sense. The contact of the sense organs with the soul alone does not give rise to cognition in the relevant experiences, because of the absence of mind. Again, the mind has the functional connotation which speaks for its nature. For instance, a man may not hear a sound or see an object when the mind is preoccupied; when the mind is elsewhere we cannot perceive, as we already find mentioned in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*. Mind, in the popular sense, is not simply a 'subject' in the logical sense, but is also a 'substance' in real being, and the various activities of mind are expressions or notions. *Manas* has functional significance because it describes the functions of the mind like thinking, imagining, and expecting.[9]

From the functional significance of the mind, its structure is inferred. The Jaina thinkers have made a distinction between the two phases of the mind—*dravya-manas* (structural phase) and *bhāva-manas* (the functional phase). The first refers to the material or the physical basis and the second to the psychic functions of the mind. The first, we may refer as analogous (though not perhaps the same) to the brain and the second to the psychic states and functions, like thinking, imagining, dreaming, willing etc. The cognitive, affective, and the conative functions of mind refer to the psychic aspect, the *bhāva-manas*. The material, as we described above, is composed of the infinite, very fine and coherent particles of atoms, meant for the formation of mind. They are the *manovargaṇās*. They are meant for the functions of mind : *Dravyataḥ dravya manaḥ*. It has been further described as a collection of fine particles which are meant for exciting thought processes due to *yoga* arising out of the contact of the soul with the body.[10] In the *Gommaṭasāra* (*jīvakāṇḍa*) (*c*. late 10th cent. A. D.), there is a description of the structural mind as produced in the heart from the coming together of mind molecules like a full-blown lotus with eight petals.[11]

The structural phase of the mind was recognised by the philosophers of India and the West as well. The Upaniṣadic philosophers supposed that mind for its formation depends on 'alimentation'.[12] Mind was supposed to have been formed out of the food that we take—"*annamayaṁ manaḥ*." Food takes three different forms—the subtlest part becoming mind. According the *Sāṁkhya-yoga*, *buddhi*, *ahaṁkāra* and *manaṣ* are products of *prakṛti*.[13] Hiriyanna says that, according to this view, the functions that we describe mental are really mechanical processes of the physical organism, which assume a psychical character only when illuminated by the spirit.[14] In the Vedānta-darśana, *antaḥkaraṇa* is looked upon as *bhautika*. In Western thought also, there were philosophers who conceived of mind as material. Mind is formed of fine and exceedingly minute bodies.[15] The Jaina distinction between the *dravya-manas* and *bhāva-manas* can be compared to the description of mind given by C. D. Broad in his *Mind and its Place in Nature*.[16] According to him, mind has two factors —the bodily and the psychic. The bodily factor is described as the living brain and the nervous system; about the psychic factor, says Broad; it is sentience alone. Neither mental characteristics nor mental events seem to belong to it. Broad, however, seems to be vague regarding the psychic factor. Regarding the *dravya-manas*, we may refer to the view of McDougall who has likened it to the mental structure, though he was careful to suggest that the structure of the mind is a conceptual system.[17]

The problem of the instrumentality of mind for experience may next be considered. It was generally believed that mind is a sense-organ (*indriya*) like other sense-organs. In the *Upaniṣads* we find references to the mind as *indriya*. The *Praśna-Upaniṣad* mentions mind as the central sense organ. There were some philosophers who believed that *manas*, *buddhi* and *ahaṁkāra* together constitute the internal organ (*antaḥkaraṇa*). The *Nyāya-Vaiśeṣika* systems regarded mind as an internal organ. Gautama did not include it in the list of sense-organs. Kaṇāda is silent on this issue. Vātsyāyana, on his part, included *manas* under the senses.

The Jainas believed that mind is a "no-indriya" in the sense that it is different from the 5 sense-organs. Its sense contents and functions are not entirely identical with those of *indriyas*. The prefix 'no' does not mean the absence in the negative sense : It is at times rendered as *Īṣad*. It is quasi-sense organ. They still accept the instrumental function of the mind. In the *Gommaṭasāra* (*Jīvakāṇḍa*), there is a brief description of the mind as *no-indriya* mental states, and events are possible through mind. But there is no external manifestation as in the case of other sense-organs. The function of mind is assimilative.[18] The *Pramāṇamīmāṁsā* describes mind as the thing which grasps everything. In the *vṛtti* of the same it is said, "*Manomindriyamiti no indriyamiti ca ucyate*".[19] The *Tattvārthasūtra* describes this function as *śruti*-cognition. The function is also the *mati*-cognitions and its modes.[20] The Jainas have accepted the instrumental nature of mind

(*karaṇatva*), having two spheres of function :— i) *bāhya karaṇatva* (external function) and ii) *antaḥkaraṇatva* (internal function). Even the *dravyamanas* has been described as *antaḥkaraṇa*. Being the internal organ, it is different from the sense-organs.[21] However, such a description of mind need not be interpreted in the sense that, according to the Jaina view, mind is not a sense organ; in fact it is more than a sense organ. The function is not specific like that of other sense organs : It is *sarvārthagrahaṇam*.

The relation between body and mind has been a perennial problem for philosophers and psychologists as well. Attempts have been made to solve it by presenting various theories based upon the fundamental philosophical standpoints of the philosophers. The problem has two sides— i) philosophical and the ii) psychological approach to the problem. Philosophically, there are the materialists who have given exclusive emphasis on matter, the mind, for them, being either a product of matter or a non-entity. The idealists lay emphasis on the primacy of mind. The realists emphasise the reality of both matter and mind. The relation between finite mind and finite body may be : 1) a complete dependence, as when mind is considered to be the secretion of the brain; 2) that of parallelism where the two series, the physical and the mental run parallel to each other and 3) the relation of interaction between the physical and the mental. The Jaina philosophers discussed the metaphysical aspect of the problem and they also brought out the psychological implications of the problem. This is very much evident in the exposition of the mechanism of the bondage of the soul, the psyche by the flow and accumulation of the *karma-vargaṇās*. Jina Mahāvīra had pointed out to Gaṇadhara Vāyubhūti that it is not correct to maintain that consciousness is a product of the collection of *bhūtas*, material elements, like earth and water, or just as intoxication is produced by the combination of *ghātaki* flowers and jaggery, though not found in the elements separately. The *cetanā* in point of fact is the quality or property of the soul. In this we find the refutation of the Lokāyata or Materialist view.[22] Similar arguments were put forth in the *Sūtrakṛtāṅga*.[23] On account of the rise (*udaya*), annihilation (*kṣaya*), and suppression (*upaśama*) of kārmic particles, *jīva* has 5 *bhāvas*.[24] Being affected by the changes in the kārmic material, *jīva* experiences certain emotional states. But whatever emotional states appear in the consciousness are due to causal agency of *jīva*. The extrinsic cause is the physical matter and the proximate cause is the *jīva*. It is thus parallelistic. Two distinct causal agencies have been discerned : *nimitta kartā* or efficient cause, and *upādāna kartā* or substantial cause of the psychic changes. The two series, the kārmic and the psychic correspond to each other. Kārmic matter brings about its own changes. *Jīva*, through its impure ways of thought that are conditioned by kārmic matter, brings about its own psychic changes. But the Jaina parallelism is not merely the temporal correspondence of the two series, point by point : It is transcended by the doctrine of *nimitta kartā*. As in the Cartesian view, their thinking and unthinking are distinct, yet the two are related by the peculiar

concept of causal relation. The unthinking may be the *nimitta kartā* of the other and the converse may be also true. But the two causal relationships are independent. Kundakundācārya gives a graphic description of the process of the formation of the physical and the mental states and also their interaction. The world space is filled with material bodies, some perceptible, others imperceptible. These constitute the *karma*. These are the *karma-vargaṇās*. They are the physical molecules of a particular constitution which give them the tendency to be attracted by the *jīva*.[25] This is also known as the *karma-prayoga-pudgala*. *Jīva* and *karmavargaṇās* coexist, but by the mere fact of contiguity, *Jīva* and karmic matter are brought together, as the casket filled with black collyrium power becomes black by mere contact.[26] The relation of the *bhāva-mana-rūpa* has been described on the analogy of the mixture of milk and water *kṣīranīravat*.[27] Just as the lotus-hued ruby placed in a cup of milk imparts its lustre to the milk, so does the *jīva* residing in the body impart its lustre or intelligence to the body.

Radhakrishnan has pointed out that the Jainas have accepted the dualism of body and mind and the parallelism, with all its limitations. The Jainas have advocated a sort of pre-established harmony to explain the reasons for the soul to experience the fruits of *karma*.[28] But the Jainas do not merely speak the language of the pre-established harmony. That would be a mere mechanistic explanation. Metaphysically, they recognised the dichotomy of body and mind. Yet, the empirical approach showed them that there is an interaction and mutual influence. Their approaches to the problems were from two different planes—the noumenal (*niścaya-naya*) and the phenomenal points of view (*vyavahāra-naya*). A clear and a consistent formulation from the *vyavahāra-naya* would have been possible if the metaphysical and the psychological analyses were clearly distinguished. "The Jaina theory was an attempt at the integration of the metaphysical dichotomy of *jīva* and *ajīva* and the establishment of the individual mind and body".[29]

Notes and References

1. Wilhem Wundt, *Principles of Physicological Psychology*, translated by E. B. Titchner, McMillan & Co., New York 1904, "Introduction", p. 3.
2. William McDougall, *An Outline of Psychology*, 12th edt., Mathuen & Co., London 1948, p. 35.
3. *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* III, 1, 4.
4. B. Rand, *The classical Psychologists*, Houghton Miffin Co., 1912, p. 98.
5. *Abhidhāna Rājendra* Vol. IV, p. 82.
6. *Ibid.*
7. Margaret Washburn, *The Animal Mind* (The Animal Behaviour Series 4th edition), McMillan & Co., New York 1936, p. 31.
8. *Viśeṣāvaśyakabhāṣya* 3525.

17

9. *Abhidhāna Rājendra*, Vol. IV, p. 74.
10. *Viśeṣāvaśyakabhāṣya* 3525.
11. *Gommaṭasāra—Jīvakāṇḍa* 443.
12. T. G. Kalghatgi, *Some Problems in Jaina Psychology* (Karnatak University), Dharwar 1961, p. 21.
13. *Chāndogya Upaniṣad* VI, 12.
14. H. Hiriyanna, *Outlines of Indian Philosophy* (Allen and Unwin), 1932, p. 285.
15. Rand, *The Classical*, p. 99.
16. C. D. Broad, *Mind and its Place in Nature*, Kegan Paul 1937, Ch. XIV.
17. McDougall, *An Outline*., p. 42.
18. *Gommaṭasāra* (*jīvakāṇḍa*) 444.
19. *Pramāṇa-mīmāṁsā* 24 and vṛtti thereof.
20. *Tattvārtha-sūtra* II, 21.
21. *Abhidhāna Rājendra* Vol. IV, p. 76.
22. *Gaṇadharavāda*, Part III.
23. *Sūtrakṛtāṅga* 8 and commentary.
24. *Pañcāstikāyasāra* 69, 70-78.
25. *Ibid*., 70-78. Sacred Books of the Jainas Vol. III, Arrah 1920, Editor's Commentary.
26. *Ibid*.
27. *Abhidhāna Rājendra* Vol. IV, p. 75.
28. S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, Vol. I., Allen Unwin 1941, p. 310.
29. T. G. Kalghatgi, *Some Problems*., p. 29.

A PROPOS OF THE BOṬIKA SECT

M. A. Dhaky
Sagarmal Jain

Up to the period of the *niryuktis* (*c*. A. D. 525[1]), the Śvetāmbara Jaina canon noticed only seven *nihnavas* (heretices), each of whom had differed on one singular point from, or one aspect or interpretation of, one or the other early doctrine of the Nirgrantha religion[2]. Partly basing his exposition on the immediately preceding, rather succinct, exegetical notices and partly on the then current elucidatory traditions on such and similar old records, Jinabhadra gaṇi kṣamāśramaṇa in the *Viśeṣ=Āvaśyaka-bhāṣya* (*c*. A. D. 585[3]), presents an historical as well as quasi-historical account of these traditional seven, plus an additional or the eighth heretic, Śivabhūti. While the preceding more ancient seven *nihnavas* ultimately had been proven inconsequential, the eighth one,—the heresiarch Śivabhūti,—by his separation from the main ecclesiastical stream, brought about a major schism which eventually grew into a definite, viable, and an important sect with a school of thinking and practice that was branded "Boṭika dṛṣṭi (Boḍiā diṭṭhi)" by the post-āgamic Śvetāmbara commentators.

The term "Boṭika" ("Boḍiya" or "Boḍiyāṇa" in Jaina Mahārāṣṭrī and "Bodiga" or "Boḍiā" in late Ardha-Māgadhī) has been taken to mean "Digambara" by current Śvetāmbara writers,[4] a misinterpretation that has been perpetrated presumably from the time of the late medieval Śvetāmbara writings onward, and had of late attracted unwarranted attacks on Jinabhadra gaṇi kṣamāśramaṇa by some pundits of the Digambara sect who did not suspect that the interpretation of the term and hence the ascription of the sect was wrong[5]. Indeed, Walther Schubring was aware that the term did not originally imply the way it was later thought to be.[6] Schubring, however, suggested no alternative interpretation. It was Muni Jambuvijaya who made a right guess that the appelation "Boṭika" had meant 'Yāpanīya'[7].

Let it at the outset be clarified that, before Jinabhadra gaṇi, the term "Boḍiya" is mentioned in the Bhāṣya (*c*. A. D. 550-575) on the *Āvaśyaka-sūtra*;[8] the *bhāṣya-gāthā*, moreover, reports the date of the origination of "Boḍiya diṭṭhi" to be V. N. S. 609/A.D. 132[9]. The still earlier *Mūla-bhāṣya* (*c*. A. D. 550) briefly alludes to a question asked by Śivabhūti to Ārya Kṛṣṇa at Rathavīrapura (the place of schism, unidentified, perhaps somewhere in M. P. or U. P.,[10]) which

apparently was a prelude to the discussion between the two pontiffs which ultimately led to the schisms (as the commentators including Jinabhadra gaṇi report). The latter *gāthā* also figures in the *Uttarādhyayana-niryukti* (c. A. D. 525)[11]. The *gāthā*, as found in the *mūlabhāṣya* of the *Āvaśyaka-sūtra*, may have been taken from the *Uttarādhyayana-niryukti* or, equally, it may have drifted to the selfsame *niryukti* from the *mūlabhāṣya*. At any rate the *gāthā* in question is not posterior to c. A. D. 550. The *Niryuktis* do sometimes briefly allude occasionally with one word or a few catch words, to the anecdotes purporting to some historical events or happenings besides legends, parables, etc., which are not long afterwards commented upon by the Prākṛta *bhāṣyas* and the *cūrṇīs* and next by the Saṁskṛta *vṛttis* in fuller perspective. At the same time, there are instances where the *Niryukti-gāthās* are partly (or wholly and sometimes inextricably) mixed up with those of *bhāṣyas*[12]. At any rate, the *mūla-bhāṣya* on the *Āvaśyaka* which alludes to Śivabhūti, is definitely anterior to the *Viśeṣ=Āvaśyaka-bhāṣya*. (This exonerates Jinabhadra gaṇi !)

Posterior to the *Viśeṣ=Āvaśyaka-bhāṣya*, the *Āvaśyaka-cūrṇī* (c. A. D. 600-650), while explaining the relevant older *bhāṣya-gāthās*, narrates the Śivabhūti episode at some length, and, at one other place, classes the monks of the five sects, —the Ājivaka, Tāpasa, Parivrājaka, Tatkṣaṇika (Buddhist), and 'Boṭiya'—as *avandya*, unworthy of paying obeisance.[13] A verse, plausibly an interpolation, in the *Ogha-niryukti* (main text c. early 6th cent. A. D.) interprets a visual encounter on one's way with a Cakracara[14], Pāṇḍuraṅga (Śivaite monk) and Boṭika as augering unpropitious, the worst of them all being Boṭika, meeting whom would consequence in death[15] ! This interpolation, however, could be of a date as early as the seventh or the eighth century; for contempt toward the Boṭika is also noticeable in the *Sūtra-kṛtāṅga-cūrṇī* (c. last quarter of the 7th cent. A. D.)[16], and what is more, still earlier in the *cūrṇī* by Agastyasiṁha on the *Daśavaikālika-sūtra* (c. A.D. 650)[17]. Incidentally, Bāṇa-bhaṭṭa, in the *Harṣa-carita* (c. early 7th cent, A. D.), explicitly refers to an episode of visual encounter of a *nagnāṭaka* to prince Harṣavardhana at one place and prince's looked upon as inauspicious, even prognosticative of death[18] ! It is then clear that, aside from the Śvetāmbaras, the brahmanists of the period also believed that the visual confrontation with a nude Jaina monk (*kṣapaṇa*) is unpropitious.

Among the early literary notices on Boṭika, the last is perhaps by Haribhadra sūri. In his *Boṭika-pratiṣedha*[19] which may perhaps be the same as his *Boṭikā-nirāsa*[20] also gives the characteristics of Boṭika[21] not applicable to the Digambara but to the Yāpanīya sect.[22]

None of these sources, however, define or explain what 'Boṭikā' means. The term may mean "polluted" or "corrupt". The verb 'boṭavun' in the current

Gujarātī means 'to pollute'. The *Sārtha Gujarātī Joḍaṇikośa*[23] derives the word from the *deśya* 'boṭṭa'[24] whereas the Prākṛta is "Boḍiā" and not "Boṭṭiā". So Professor Harivallabh Bhayani suggested another current Gujarātī word "boḍavun" to shave as a source-word and "Boḍiā" and its Sanskritized form "Boṭika" simply meaning "shaven" or by extension, nude.[25]

But the meaning of the term glossed above does not go far in explaining the characteristic features and doctrinal positions of the Boṭika sect. A statement in the Ācārāṅga-cūrṇī (*c*. late 3rd quarter of the 7th cent. A. D.), cited by Muni Jambuvijaya, somewhat illumines the problem.[26] According to this commentary, the Boḍiyas are those whose only possession is their body (*śarīra-parigrahi*)[27] meaning thereby that the Boṭika monks practicised nudity, and they received in and ate food from their folded palms (*pāṇi-puṭa-bhoji*), which, by implication, meant the rejection of begging bowl, the use of which the monastic practice of the proto-Śvetāmbara friars allowed. However, the definition of the term Boṭika, if this feature alone is considered, can equally apply to the Digambara monks. That the *Cūrṇi's* succinct but pointed description applies to the friars of the Yāpanīya order is clear from the Yāpaniya work *Ārādhanā* of Śivārya (*c*. 6th cent. A. D.), the author specifically declaring himself to be *'pāṇi-tala-bhoji'*.[28] The early Yāpanīyas, it seems, were particular in stressing this specific feature of their practice since the Northern Yāpanīya monks, unlike their Digambara counterpart, often bore the epithet 'ārya' (as in Śivārya's lineage) or *vācaka*, *kṣamāśramaṇa*, etc. as their early Gupta inscriptions (*c*. A. D. 370) from Vidiśā would tend to suggest.[29] There the friar concerned is expressly called "*pāṇi-pātrika*", the one who uses palms as bowl. The Yāpanīyas and the Digambaras shared two monastic features in common; strict nudity, and almost absolute non-possession for friars. But the Yāpanīyas recognized the same early *āgamas* which are the part of the Śvetāmbara canon; and hence there was no doctrinal difference between the Śvetāmbaras and the Yāpanīyas unlike Digambaras and these two sects.

However, the secessionist Śivabhūti, the originator of the Yāpanīya sect, was not Digambara but Śvetāmbara. Śvetāmbaras for long did not know about the existence of the Digambara sect and their different doctrinal views. Hence by the term Boṭika they could not have meant Digambara but Yāpanīya. According to the earlier part of the *Sthavirāvali* (hagiological list) of the *Paryuṣaṇā-kalpa*,[30] he was the disciple of Ārya Dhanagiri and grand disciple of Ārya Phalgumitra in the line of the illustrious of Ārya Vajra; and, according to the later additional part (*c*. A. D. 503/516)[31] of the selfsame *sthavirāvali*, Śivabhūti had a confrére Ajja Kaṇha, Ārya Kṛṣṇa.[32] There is, however, no hint there about Śivabhūti's secession from the main stream. In point of fact, his disciple—Ārya Śaṇḍila—onwards the line of pontiffs continues till it ends with Ārya Śaṇḍila (or Skandila) who had presided over the Mathurā Synod (*c*. A. D. 363) :

Ārya Vajra

Ārya Ratha

Ārya Puṣyagiri

Ārya Phalgumitra

Ārya Dhanagiri

Ārya Śivabhūti — Ārya Kṛṣṇa (*ob.* before K. E. 95)

Ārya Bhadra

Ārya Śaṇḍila (or Skandila)
(*c.* A. D. 363)

From the *sthavirāvali* it is clear that Ārya Śivabhūti was a senior confrere of Ārya Kṛṣṇa as against the impression carried in Jinabhadra gaṇi's narration, which makes Ārya Kṛṣṇa "*guru*" and Śivabhūti "śiṣya", a mistake in fact had been made by the earlier *bhāṣya*. Significantly, while the Śvetāmbara commentators denigrate Śivabhūti, the Digambara Jaina work *Bhāvapāhuḍa* (*Bhāvaprābhṛta*, *c.* late 8th cent. A.D. or later),[33] ascribed to Kundakundācārya, extalls Śivabhūti for his *bhāvaviśuddhi* by *tusa-bhāṣa*.[34] Since no Digambara pontiff with the appelation of Śivabhūti is known, it is very likely that Bhāvapāhuḍa's Śivabhūti is probably identical with the separatist Śivabhūti of the Śvetāmbara sources, who was most welcome to the Digambara sect since he had insisted on nudity and absolute non-possession.

As for the date of Ārya Śivabhūti, since he is fifth after Ārya Vajra (*c.* 1st cent. A.D.) in the succession list, he may be ascribed to *c.* 2nd-3rd cent. A. D. The Mathurā Śilāpaṭṭa (stone plaque) dated to the 95th year of the Kuṣāṇa Era very reverentially depicts "Kaṇha samana (Kṛṣṇa Śramaṇa or Ārya Kṛṣṇa)".[35] The date of the *śilāpaṭṭa* in terms of Christian Era variously can be A.D. 200-205, or 223, or 238, depending on the year from which the Era of Kaniṣka is reckoned or

computed.[36] In any case, the traditional date of V.N.S. 609/A.D. 132 for the Boṭika schism given by the *bhāṣya* and maintained by Jinabhadra gaṇi does not seem accurate.[37]

The Mathurā *śilāpaṭṭa* of Ārya Kṛṣṇa represents the *guru-mūrti*, and the presence inside the depiction of Nāgarāja shows that some years had already elapsed after the demise of the pontiff Ārya Kṛṣṇa. Under the circumstances, the Śivabhūti schism ultimately may have taken place some time late in the last quarter of the second century A.D. at the latest.

We may note, in passing, the date given by Devasena in his *Darśanasāra*[38] for the origination of the Yāpanīya sect: According to which it was founded by Śrīkalaśa, a Śvetāmbara pontiff, in V.S. 675 (A.D. 619), or, as the alternate reading says, in V.S. 205/A.D. 159, at Kalyāṇa.[39] Kalyāṇa was the capital of the Cālukyas from the days of Āhavamalla Someśvara I who was enthroned in A.D. 1044. Nothing, however, is known from the historical records about that town before the days of the Cālukyas. And the date, at least A.D. 619 is much farther afield from the truth. Devasena for certain was in darkness about the origin of the Yāpanīya sect. For all sects (excepting for his own), he not only conjures up an historical wrong perspective but, the worst of all, a highly sectarian and venomous standpoint also of which Śrutasāgara (15th cent. A.D.) and Ratnanandi (16th-17th cent. A.D.) were heirs.[40] There are no parallels in pre-medieval Śvetāmbara literature to the writings of the last two authors.[41]

Notes and References

1. The available *niryuktis* have been ascribed by late Muni Puṇyavijaya to (the so-called) Bhadrabāhu II, brother of the astronomer Varāhmihira (*c.* early 6th cent. A.D.), according to the Jaina writers of the Solaṅkī period. While the existence of Bhadrabāhu II cannot be proven, nor is there any real ground to so suppose, the *niryuktis* can of course be ascribed to *c.* A.D. 525, or inside years not long after the Valabhī Synod II (*c.* A.D. 503/516), with the qualification that they partly draw on the one hand from the floating *saṃgrahaṇīs* compiled between the third and the fifth century A.D., and on the other hand also contain verses which may have been interpolated between the sixth and the eighth century A.D.
2. The *Sthānāṅga-sūtra* (*c.* 3rd quarter of the 4th cent. A.D.), the *Aupapātika-sūtra* (*c.* 3rd cent. A.D.), and the *Āvaśyaka-niryukti* (*c.* A.D. 525) in particular take notice of the seven *nihnavas*. The subsequent exegesis elaborate upon the original succinctly stated information in the aforenoted works.

3. Jinabhadra gaṇi kṣamāśramaṇa apparently had passed away in *c*. A.D. 594. He had written the commentary in Sanskrit on his *Viśeṣ-Āvaśyaka-bhāṣya* which he had left unfinished before death. Also the *Viśeṣaṇavatī* and the *Jitakalpabhāṣya* were compiled before the *Viśeṣ=Āvaśyaka-bhāṣya*. So the plausible date of composition of the *Viśeṣ=Āvaśyaka-bhāṣya* could be *c*. A.D. 585 or at most a few years later on average computation.

4. This is the stock view reflected in most of the current Śvetāmbara Jaina writings. The writers were under double delusion in that they mistook the Yāpanīya like the *Ārādhanā* of Śivārya (*c*. 5th-6th cent. A.D,) and the *Mūlācāra* of Vaṭṭakare (*c*. 6th-7th cent. A.D.) as of Digambara affiliation (as did most, and still do many, Digambara writers themselves despite late A.N. Upadhye as well as late Pt. Nathuram Premi's investigations). The current historical investigations on the major early schisms in the Nirgrantha Church had, therefore, gone completely astray, the conclusions reached were absolutely erroneous, and all these writings have only served to mislead both old and new generations of scholars including Western and the Japanese. For the latest, among those who took "Boṭika" as "Digambara", *cf*. Jagadish Chandra Jain and Mohanlal Mehta, *Jaina Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa* (Hindi), Pt. 2, Varanasi 1966, p. 205.

5. One other factor that arose their anger was Jinabhadra's defence on the āgamic position of the sequential occurrence of perception and cognition for an omniscient.

6. *The Doctrines of the Jainas*, first edition, reprint, Delhi 1978, p. 50 : "The Śvetāmbara report (Av. nijj 418 a) on the heresy committed by Boḍiya Śivabhūti in the year 609 after MV, who wanted the Jina-kappa (Jina-kalpa) to be made generally acknowledged and who himself accepted it notwithstanding the warnings of his guru. Originally, however, this was nothing to do with the Digambaras and was related to them only later".

7. *Cf*. "Prastāvanā" (Gujarāti) *Āyārāṅga-suttam* (Pt. 1), Jaina-Āgama-Series Vol. 2, Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya, Bombay 1977, p. 49.

8. The first of these verses gives the date of the Boṭika schism at Rathavīrapura and the next verse ascribes it to Boṭika Śivabhūti the Heretic, and reports that this heresy came into being at Rathavīrapura. In the next verses figure a hint as to a dialogue between Śivabhūti and Ārya Kṛṣṇa at Rathavīrapura and to Kauṇḍinya and Koṭṭivīra, two supporters and disciples of Śivaonati.

छव्वाससताइं णवुत्तराइं तइया सिद्धिं गतस्स वीरस्स ।
तो **बोडियाण** दिट्ठी **रधवीरपुरे** समुप्पण्णा ॥३०३२॥

ऊहाए पण्णत्तं **बोडियसिवभूति**उत्तरेहि इमं ।
मिच्छद्दंसणमिणमो **रधवीरपुरे** समुप्पण्णं ॥३०३३॥

रधवीरपुरं णगरं दीवगमुज्जाण**मज्जकण्हे** य ।
सिवभूतिस्सुवहिम्मी पुच्छा थेराण कधणा य ॥३०३४॥

बोडियसिवभूईओ बोडियलिंगस्स होति उप्पत्ती ।
कोण्डिण्णकोट्टवीरा परंपरप्फासउप्पण्णा[9]॥३०३५॥

—**विशेषावश्यकभाष्य**

It seems that all four verses apparently are quotes from the earlier *bhāṣya*-commentaries. The last two at least have been called "*bhāṣya-gāthās*" or "*saṅgraha-gāthās*" by commentators. The basic verses are followed by a long narrative by Jinabhadra gaṇi (up to vs. 3093) on how it all eventualized.

9. *Cf.* above vs. 3032. The A.D. conversion is based on Harmann Jacobi's rackoning B.C. 477 as the year of Vīra-nirvāṇa.

10. This is just a guess; it may not be right.

11. *Cf.* Muni Puṇyavijaya (Gujarātī), "Chedasūtrakāra and Niryuktikāra," *Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya Rajata-Mahotsava-Grantha*, Bombay 1940, p. 191. Muni Puṇyavijaya had regarded Boṭika as Digambara.

12. For instance the *niryukti* and the *bhāṣya* of the *Bṛhat-kalpa sūtra* and of the *Niśītha-sūtra*.

13. किं च, इमेवि पंच ण वंदियव्वा समणसद्देवि सति, जहा आजीवण तावसा परिव्वायगा तच्चंणिया **बोडिया समणा** वा इमं सासणं पडिवन्ना, ण य ते अन्नतित्थे ण य सतित्थे जे वि सतित्थे न प्रतिज्ञा-मणुपालयन्ति ते वि पंच पासत्थादी ण वंदितव्वा ।

(For discussion, *cf.* Mohanlal Mehta, *Jaina Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa* (Hindi), Pt. 3, Pārśvanātha Vidyāśrama Śodha Saṁsthāna, Varanasi 1967, p. 302.)

14. The meaning of the term is unclear to us. It may perhaps mean a monk of a sect whose practice was to progress circularly on his way.

15. For discussion *see* Jain & Mehta, *Bṛhad.*, Pt. 2, p. 205.

16. तमिति तं अत्तयाए पसंवुडं रोयमाणं, **एगे** ण सव्वे, समंता भासंति **परिभासंति**, **आजीवकप्रायाः** अन्यतीर्थिकाः, **सुत्तं अणागतोभासियं च काऊण बोडिगा** ।

and :

ते इति आजीविकाः **बोडिया**दयो ये चोद्दिश्यभोजिनः पाखण्डाः ।

also :

प्रतिलभ्य ज्ञान-दर्शन-चारित्रवन्तं धर्मं प्रतिलभ्य तीर्थंकरोपदेशाद् जमालिवद् आत्मोत्कर्षदोषाद् विनश्यन्ति, गोट्ठामाहिलावसानाः सर्वे निह्नवाः आत्मोत्कर्षाद् विनष्टाः **बोटिकाश्च** ।
(Ed. Muni Śrī Puṇyavijayajī, *Sayagadaṅgasutta*, Prakrit Text Society Series No. 19, Ahmedabad 1975, pp. 90, 92, and 219.)

17. पुणो विसेसो जिणदेसिते, ण **बोडिग णिण्हगा**दिसच्छंदगाहे ॥
(Ed. Muni Puṇyavijaya, *Dasakāliyasuttaṁ*, Prakrit Text Society Series No. 17, Ahmedabad 1973, p. 256.)

18. *Cf. Harṣacarita* V; also *see* V. S. Agrawal, *Harṣacarita : Eka Sāṁskṛtika Adhyayana* (Hindi), Patna 1964, pp. 90. 109. Agrawal identifies the *nagnāṭaka* of Bāna bhaṭṭa with Yāpanīya monk. Earlier than Bāṇa, in Viśākhadatta's Saṁskṛta play, the *Mudrārākṣasa*, similar hateful attitude toward the *kṣapaṇaka* (nude Jaina monk) is evinced as noted by Agrawal : (For the text, *cf.* Kane, fifth edition, Motilal Banarasidas, Varanasi 1965, p. 20.)

19. As the name suggests, the work deals with the refutation of the Boṭika (monastic) practices.

20. This is the view of Pt. Dalsukh Malvania he expressed during a discussion with the first author. We have not seen this work.

21. For details *see* in this volume the article in Hindi on this subject by Pt. Malvania.

22. *Ibid.*, pp. 68-73.

23. Gujarat Vidyapith, 5th edition, Ahmedabad 1967.

24. *Ibid.*, p. 109.

25. During a personal discussion with the first author.

26. "आह—जइ एवं अप्पबहुअणुथुल्लचेयणाचेयणदव्वआदाणातो परिग्गहो भवति तेण जे इमे **सरीर मित्तपरिग्गहा पाणिपुडभोइणो** ते णाम अपरिग्गहा, तं जहा—उदुंडग-**बोडिया**(य)-सरक्खमादि तेसिं अप्पादिपरिग्गहवियप्पा णत्थि, तं च [ऽ]परिग्गहं भत्तं (वतं) लद्धुं सेसाणि वि वयाणि तेसिं भविस्संति, वलि(ति)त्ते य संजमो, ततो मोक्ख इ[ति] । तं च ण भवति, जम्हा—एतदेवेगेसिं महब्भयं भवति [सू० १५४] जे बोडियादि आउक्काया रसगादि तिविहेंति (आउक्काय-उद्देसिगादि गिण्हेंति ?) तेसिं तदेव सरीरं महब्भयं । जे वि आउक्काइयउद्देसियादि परिहरंति जावणिज्जाइणो ते वि अपडिलेहितं भुंजंति अपडिलेहिते य ठाणादीणि करेंति ।"—आचाराङ्गचूर्णि
(*Cf. Āyārāṅgasuttam*, "prastāvanā" (Gujarātī), Jaina Āgama Series 2, pt. 1, Bombay 1977, p. 49)

27. *Ibid.*

28. For the citation and the discussion thereof, *of.* Nathooram Premi, "Yāpanīyoṅ-kā Sāhitya" (Hindi), *Jaina Sāhitya aur Itihāsa*, Bombay 1956, pp. 68-69.

29. G. S. Gai, "Three Inscriptions of Rāmagupta," *Journal of the Oriental Institute*, Vol. XVIII, pp. 250-251.

30. *Ed.* Muni Darsanavijaya, *Śrī Paṭṭāvalī-Samuccaya.* Śrī-Cāritra-Smāraka Granthamālā, No. 22, Viramgam 1933, pp. 8 and 10.
31. १८——थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगुतस्स अज्जसिव भुइ थेरे अंतेवासी कुच्छसगुत्ते ।
१९——थेरस्स णं **अज्जसिवभूइस्स** कुच्छसगुत्तस्य अज्जभद्दे थेरे अन्तेवासी कासवगुत्ते ।
and :
वन्दामि फग्गुमित्तं च, गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं ।
कुच्छं **सिवभूइम्पिय**, कोसिय दुज्जंत कण्हे अ ॥१॥
32. This goes against the *Āvaśyaka* literature's statement that Ārya Śivabhūti was a disciple of Ārya Kṛṣṇa. The *Sthavirāvalī* being about five centuries earlier, for is certainly more reliable on this point.
33. Pt. Pannalal Sahityacharya, *Kundakunda-bhāratī*, Faltan 1970, p. 263.
34. तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य **सिवभूई** केवलणाणी फुडं जाओ ॥ **—भावपाहुड** ५३
35. *Cf.* Vincent A. Smith, *The Jain Stūpa and Other Antiquities of Mathurā*, Allahabad 1901, Plate XVII, Fig. 2.
36. It is now more or less certain that the Kuṣāṇa Era is not identical with the Śaka Era and hence did not commence in A.D. 78. The latest computation by G. V. Mitterwallner favours A. D. 143 for K. E. to begin.
37. It would be nearer the truth if the V. N. S. date is later than B. C. 477. Recent researches on the Buddha Nirvāṇa date favour a century later than the traditional B. C. 483. If this can be established, V. N. S., too, will come down by a century, in which case the Boṭika schism may have to be dated to *c.* A. D. 232. The Kaṇha-Samana plaque of K. E. 95, on Mitterwallner reckoning, is to be dated to A. D. 238. (The latter two dates are close enough !)
38. *Ed.* Nathooram Premi, Bombay V. S. 1974 (A. D. 1917), p. 13.
39. **कल्लाणे** व**रणयरे** संत्तसए पंच उत्तरे जादे ।
जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥२९॥
40. For a rejoinder, *cf.* Muni Kalyanavijaya Śramaṇa Bhagavāna Mahāvira (Hindi), Jālor V.S. 1998 (A.D. 1948), pp. 307-318. Muni Kalyanavijaya, as most others had, confused Boṭika with the Digambaras, and to that extent (and also due to a few other historical errors) his rejoinder suffers.
41. The existence of the Digambara sect as such was unknown to the Śvetāmbaras, who otherwise knew Boṭika (Yāpaṇīya) against whom of course they were bitter. Since Yāpanīya sect had for long disappeared in North, the later Śvetāmbara writers confused "Boṭika" with "Digambara" because of the *nāganya* (nudity) and their being *pāṇi-tala-bhojī* or using palms as a begging bowl.

RECONCILIATION OF BUDDHIST AND VEDANTIC NOTION OF SELF

Y. S. Shastri

There is a general impression that Buddhism is opposed to the existence of Self or Ātman. Indeed many scholars of distinction maintained that this non-soul theory demarcates Buddhism from Vedāntic philosophy. The Hīnayānists, the Mahāyānists, namely Śūnyavādins and Vijñānavādins explicity denied the existence of soul. In other words, this non-soul theory embraces entire Buddhist philosophical literature. Granted, all schools of Buddhism criticise the existence of Ātman; however, it is equally important to comprehend the notion of 'self' as they understood.

For this purpose, we must look through the arguments set forth by Buddhism against the existence of Ātman, from the days of Buddha to the Mahāyānist thinkers. It seems that the word Ātman for Buddha is nothing but 'ego' i.e. notion of 'I' and 'mine'. The notion of 'self' is here regarded as the cause of misery and bondage. The Buddhists call it 'sat-kāya dṛṣṭi'. When we take anything as a 'self' we get attached to it and dislike other things that are opposed to it.[1] The notion of self is considered as ignorance (Avidyā) and from it proceed all passions. This notion of self is, for the Buddhists, the root cause of all kinds of attachment, and hence of misery and pain. This notion of self which is, the fountainhead of all misdeeds led Buddhists to deny the existence of Ātman. Following this limited concept of Ātman as an 'individual ego', Buddhism in all subsequent phases of its development criticises the existence of Ātman as a false notion of the Vedāntins.

Says Buddha : Anattā (Anātman) means 'non-ego, not-self' i. e. the fact that neither within these bodily and mental phenomena of existence nor outside them can be found anything that in the ultimate sense can be called as self-reliant real ego-entity or personality. "All are impermanent, body, sensation, perception, they are not self".[2] It is mentioned in the *Saṁyukta-nikāya*[3] that self is nothing else but an aggregate of five *skandhas*, namely aggregate of body (*rūpa*) and four mental processes,—feeling (*vedanā*), perception (*saṁjñā*), disposition (*saṁskāra*) and self-consciousness (*vijñāna*). The five states of the five senses and the mind, the feeling that is related to mind, all these are void of self. There is no self or person or life principle which is permanent. No consciousness of any such permanent changeless entity or eternal principle obtains in man. In the *Majjhima-nikāya*, Buddha condemned the notion of self as an unreal thing imagined only by dull people.[4] Early Buddhist literature reveals that Buddha admitted the states of consciousness but

not the soul. According to him the union of mental and material qualities makes the 'individual'. The 'self' is nothing but an empirical aggregate. In the *Alagaddūpana-sutta*, it is said that there is no self or anything having the nature of self. Vidhusekhara Bhattacharya, quoting various references in support of the Buddhist denial of self, writes : "The existence of personal self or Ātman as accepted in other systems was utterly denied by the Buddha, thereby pulling down the very foundation of desire where it can rest."[5]

The same notion of 'self (non-ego)' is accepted by the later Buddhists and further elaboration of existence of non-soul theory is solely responsible for the misconception that Buddhism is diametrically opposed to Vedāntic thought.

In denying this notion of the self all the schools of Buddhism are unanimous. T. R. V. Murti rightly pointed out that "there is no Buddhist school of thought which did not deny the Ātman".[6]

Immediately after Buddha, negative approach towards the existence of the soul reached its climax; especially, in Nāgasena, we notice this negative attitude. Nāgasena, like Hume, maintained that the so-called 'self' is nothing but a stream of ideas. It is psychologically impossible to believe in the existence of 'self'. He observes that when we analyse the idea of soul, we wrongly imagine a soul underlying mental states. It is nothing else but a collection of certain qualities which exist together. The soul is a name for the sum total of the states which constitutes our mental existence. The soul or personality is like a stream of river; there is continuity, even though one movement is not the same as another. It is the view of all the Hīnayānist schools.

For the Mādhyamikas, 'self' is an unreal entity. Nāgārjuna (*c*. 2nd cent. A.D.) declares that it is neither identical with, nor different from the five *skandhas*.[7] When 'I' and 'mine' cease, the cycle of birth and death comes to a standstill.[8] If the 'self' by the same as the *skandhas*, then it too, like them, will be subject to birth and death and it cannot be known.[9] Nāgārjuna's followers like Āryadeva and Candrakīrti also treated soul as unreal entity. According to Candrakirti, Ātman is the root cause of all sufferings and demerits and he says that wise men (*yogi*) should deny its ultimate reality. Śāntideva also states similarly when he says that when we analyse the existence of 'self', nothing should be found ultimately. "Just as when one goes on taking off the layers of a plantain trunk or an onion nothing [ultimately] will remain, similarly, if one goes on analysing the so-called existence of self, ultimately it will be found to be nothing."[10]

In criticising the existence of 'self', the Vijñānavādins are not far behind the earlier Buddhists. They all took the notion of Ātman as ego-entity and criticise it as a non-existent entity. Let us see how Asaṅga, the great Vijñānavādin criticises the notion of self as mere illusion in his major work, the *Mahāyānasūtrālaṅkāra*. He says that the concept of Ātman is simply a 'pre-conception' or an "illusory concept',[11]

Like Nāgārjuna, he too asserts that it is neither a spiritual entity nor an aggregate of *skandhas*. Attacking the Vedāntins indirectly, he says that the Vedāntic comprehension of Ātman is not by itself characterised by the correct notion of Ātman. It is also mere misformation, identifying it with the aggregate of *skandhas* (*duḥsaṃsthitatā*) which is originated from impurities and instability (*kleśa-daurbalya-prabhāvitatvāt*). In other words, it is neither real nor unreal, but merely an illusion. Therefore, Ātman does not exist.[12] Thus, the liberation is also nothing else but destruction of this illusion or pre-conception.[13]

He strongly criticises the belief in the existence of the so called Ātman and argues as to how is it that the world believing in the conception of 'self' which is simply an illusion, does not see the nature of pain which is constantly attached with the *saṁskāras*. In other words, the world, falsely believing in the existence of 'self' which is a non-existent entity, does not see the root cause of pain produced by *saṁskāras* (which are an operating factor).[14]

How deep rooted is this ignorance or darkness which causes the world to misinterpret the play of existence and to perceive the 'self' which is not ? In fact it is possible that obscurity prevents us from seeing what is, but does not make us see what is not. He expresses surprise as to what sort of ignorance is this which obscures the truth and makes the world to perceive what is not.[15] He calls the notion of 'self' as baneful.[16] He declared that all *dharmas* are without self, or are *sans* substance.[17] All sorts of pain and sufferings are due to this imaginary notion of 'self'. The 'self', by its very nature, is characterised by pain. It is the root cause of all miseries and sufferings.[18] Really speaking Ātman, which (as a notion) is merely imaginary, does not exist.[19] If Ātman really existed, then there would be either liberation without effort or no liberation at all. Therefore, the imaginary soul does not exist.[20] Asaṅga denies the material existence of 'self'.[21] If it materially exists, then it must be seen like other material things.[22] If it is material then it must be subject to destruction like other material things; in that case, it cannot be a permanent entity. If *pudgala* or Ātman exists, then there would be either liberation of all without any effort or no liberation at all.[23] There will be liberation of all without any effort because on seeing the material Ātman, everyone will be liberated. Such, however, is not the case. By perceiving the Ātman nobody becomes liberated. Even those who have realised the highest truth do not accept the existence of Atman.[24] In that case, they may not be able to attain liberation. By merely perceiving the material Ātman nobody is liberated. Thus, there will be no liberation at all. Again, belief in the existence of ātman is the root cause of miseries and 'I' and 'mine' considerations spring from it.[25] This belief becomes the root cause of bondage rather than liberation. The Ātman or *pudgala* does not exist in reality. When the *pudgala* or 'self' does not really exist, how can it be taken as seer or a knower or liberator or doer or an enjoyer.[26] The notion of self is thus

purely imaginary and does not exist.[27] It may be argued that, in some places Buddha himself has preached the *pudgala* or 'self'. But it must be kept in mind that Buddha had preached the existence of 'self' only to attract the simple minded and to encourage them to perform good, and to refrain from evil, deeds; without teaching *pudgala*, it is not possible to preach its consequences and *pudgala-nairātmya*. Excepting this, it has no other significance.[28]

For Vasubandhu, the follower of Asaṅga, too, the notion of 'self' is the root cause of suffering and it is an unreal entity. He avers that the 'individual self' depends on the *ālaya* and is accompanied by four kinds of suffering : self-notion, self-delusion, self-pride, and self-love.[29] It ceases to function when the false notion of the self is destroyed and when the categories of intellect are transcended. Consciousness transcends the duality of the subject (*pudgala-nairātmya*) and the object (*dharma-nairātmya*) both of which ultimately are unreal.[30]

Even for later *vijñānavādins* like Dharmakīrti (active *c*. A. D. 620-660) and Śāntarakṣita (*c*. A. D. 705-762), the notion of Ātman is the root cause of misery and attachment. As long as one is attached to the Ātman so long will one revolve in the cycle of birth and death. Śāntarakṣita clearly maintained that Ātman is nothing but consciousness associated with ego; ultimately it denotes nothing.[31]

Thus, it is clear that the Buddhists, right from the Buddha to Śāntarakṣita, severely criticise the notion of 'self' and it is generally understood in the sense of an individual ego, root cause of passion, misery and attachment and its ultimate existence is denied on that ground. It is variously called, Ātman, Pudgala and Satkāyadṛṣṭi.

Let us, then, examine how far this non-soul theory is justifiable and how far Buddha and the Mahāyānists had understood the notion of Ātman of the Vedāntins.

The Hīnayānists taking literal meaning of the word 'non-ego' or 'not-self' took a sort of materialist approach reducing Ātman to mere mind and body complex or component of certain elements. It logically derives that the destruction of misery follows the destruction of self or certain component parts. Now this is nothing but sheer materialism. The Mahāyānists adopting idealistic view criticise the existence of self saying that it is an unreal entity or merely an illusory idea. They misunderstood or only partially understood the notion of Ātman of the Upaniṣads and based their criticism on that limited understanding. It is already mentioned in the previous pages that, for the Hīnayānists, 'self' is a mere aggregate of five *skandhas*. There is no permanent self which is the perceiver. Śaṅkara rightly pointed out that without a permanent soul acts of perception and memory become impossible. If self is a mere aggregate of five *skandhas* (collection of bodily and mental processes),—these being unconscious,—how can they combine

themselves with one another ?[32] If there is no intelligent principle as a guide, how can the non-intelligent *skandhas* aggregate in a systematic way ? Without permanent entity or soul, there will not be any aggregate and in their absence, there cannot exist the stream of mundane existence.[33] If *avidyā* and other members of the twelve-fold chain of causation can account for the formation of aggregate and mundane life, the insoluble problem is, how the *avidyā* and the like became the cause of aggregates which themselves come into existence subsisting in the aggregates or depend upon aggregates ?[34] If mind is only successive perceptions, there is nothing that perceives. Without perceiver there can not be consciousness of perception. Radhakrishnan rightly pointed out that the aggreate or bundle of impression could hold no beliefs, make no judgements, commit no errors, entertain no deceptive illusions.[35] If there is no perceiver, memory will become impossible. These Buddhists wrongly compare the self with the stream of a river. They forgot that the stream of a river is always flowing and never comes back. If the analogy is correct, we cannot remember past experiences. In fact, past experiences are retained in memory and we can recall them. Śaṅkara pointed out correctly that if the past is recognised in the present, the permanence of the percipient is necessary. Otherwise, it will become difficult to recognise the same man whom we saw yesterday.[36] The Hīnayānists accepted the difference between thoughts and objects (*nāma* and *rūpa*) but they failed to understand that thoughts can never be thinkers. The 'self' is the knower or subject (*jñātā*) and cannot be identified with 'Me' the mental contents of which are known (*jñeya*). Consciousness itself indicates existence of an agent which is conscious. The existence of 'self' cannot be brushed aside or dismissed merely by saying that there is a continuity or similarity of consciousness. The main question, then, is what is "my" abiding identical 'entity' or 'self' ?

The notion of thinking and activity implies that there is an agent whose activity unifies the multiplicity of data or differences into a single whole. This is an order which gives the whole its distinctive and unitary character. This order or agent would have to be the same throughout otherwise it ceases to function as a unifying factor. This unifying permanent principle or agent is called 'self' by the Vedāntins. Without accepting the existence of this permanent principle or 'self', the problem of identity cannot be solved. There is no proper answer for all these objections in the Hīnayānists' texts.

Even when accepting the absolutistic or an idealistic standpoint like Mahāyānists, it is not possible to deny the existence of 'self' at an empirical level. Every worldly knowledge is possible only when there is the subject or the knower and the object or the known. Ultimately, there is no subject-object duality but at the empirical level it must be accepted. Really speaking these Mahāyānists did not deny the existence of reality or the true self of the Vedāntins. Their understanding of the concept of Ātman of the Vedāntins is partial. This misunderstanding of

the word Ātman of the Vedāntins led them to criticise the existence of Ātman. Buddha himself is responsible for this misunderstanding. When Buddha says that the self is the root cause of all sorts of misery and attachment, it is clear that he misunderstood the notion of Ātman of the *Upaniṣads*. But his criticism is not against the true notion of Ātman described by the *Upaniṣads* which is the pure self, pure consciousness and which is the only reality. Buddha and the Mahāyānists, in one sense or other, accepted Upaniṣadic reality. The Ātman of the Upaniṣad is called not by the word Ātman but by different terms. They used different terminologies instead of the word Ātman. It is called Dharma, Bodhi, Prajñā, Citta, Tathatā, Tathāgatagarbha, Dharmadhātu, etc. The Mahāyānists like Asaṅga explicitly call Reality as Buddhātman, Paramātman. The Mahāyānists understood the word Ātman in the sense of individual ego or Jīvātman which is the product of *avidyā* and which is associated with the *antaḥkaraṇa* or *buddhi*. Śāntarakṣita makes it clear when he says that *citta* or pure consciousness associated with ego or *ahaṁkāra* is called Ātman.[37]

Really speaking Buddha narrows down the meaning of Ātman of the Upaniṣad taking it in the sense of ego which is the root cause of misery and attachment. In the *Bṛhadāraṇyaka* it is said that it is not for the sake of everything that everything is dear but for the sake of the 'self' that everything is dear[38]. Seemingly, by taking such types of statements of the Upaniṣads, Buddha wrongly understood the Ātman in the sense of 'I' and the 'mine' which is the cause of suffering and bondage.

Before criticising Buddha's and the Mahāyānists' view, it is very important to keep in mind the notion of Ātman described by the Upaniṣads. In the Upaniṣads, Ātman is identified with the Absolute Reality or Brahman in the ultimate sense. From the subjective point of view the same reality is called Ātman and as Brahman from the objective point of view. In the *Vedānta*, the word Ātman is used as a synonym of Brahman or Noumenal Reality. The *Bṛhadāraṇyaka* clearly states that 'The self is indeed Brahman'[39]. In other Upaniṣads also we find the same type of description. 'He is indeed just this Self, this Immortal, this Absolute, this All'[40]. 'The self is indeed all this'[41]. 'It is existence, consciousness and bliss'[42]. 'It is non-dual'[43]. It is absolute consciousness which is the parmanent background of all changing phenomena'[14]. 'There is no difference between Ātman and Brahman'. 'That thou art'[45]. All these passages clearly show that Ātman is identified with Brahman.

It is important here to note that 'Dharma' the Ultimate Reality called by the Buddha is nothing else but the same Ātman described by the Upaniṣads. 'Dharma' to him is Reality (*satyam*) itself in a dynamic form, regulating the course of nature like the Brahman or Ātman of the Upaniṣads which is the basis of all. It is described by Buddha as an unborn, un-made, non-becoming and un-compounded[46]. This is similar to the notion of Ātman or Brahman described in the *Kaṭhopaniṣad*. The self is never-born and never dies. It is unborn, eternal, everlasting[47]. Like

the Upaniṣadic seer he calls Reality as immortal or *amṛta.* After attainment of *sambodhi* or enlightenment, Buddha revealed his experience to his five desciples (Pañcavargīya Bhikṣu) as that of immortality declaring that thereby the gates of immortality are opened for all[48].

The idea is the same as that of the Upaniṣads. In the Upaniṣad, Reality is called Ātman, Immortal, and Brahman;[49] and in the *Kenopaniṣad* it is also mentioned that, 'when it is known through every conscious state, it is rightly known and one attains eternal life or immortality. Through his own knowledge he gains immortality.'[50]

This immortality can be attained through effort. Buddha himself declared that : "even so, brethren, have I seen an ancient path, an ancient track traversed by the perfectly enlightened ones of former times".[51] His criticism is against the permanence of the empirical ego or Jīva which is separate from Ātman in the Vedānta. The Upaniṣadic notion of Ātman is misunderstood and misrepresented by Buddha and his followers. But in the ultimate sense he accepted the Ātman or the Absolute Reality. Instead of calling his conception of reality as Ātman, he calls it 'Dharma' or 'Bodhi' or 'Amṛta', which in the ultimate analysis only represents a different jargon for the same entity. The Hīnayānists taking the literal meaning of Buddha's statement about the self, embraced sheer materialism.

In the Mahāyānists works this misunderstanding of the notion of Ātman of the Vedāntins as individual ego, is explicitly noticeable. They accept the absolute Reality but criticise the existence of Ātman as mere illusion or unreal. Consciousness associated with ego is called Ātman by some of the later Vijñānavādins.

Aśvaghoṣa's Tathatā (Suchness) or Bhūta-tathatā is nothing but Ātman of the Upaniṣads. He recognizes it as Absolute suchness, which, ultimately speaking, transcends everything. But tainted with ignorance it manifests itself as 'conditional suchness'. The subject-object duality is the result of this conditional suchness. When true knowledge dawns, we realise that we are no more finite things but absolute suchness.[52] This is the self-existent, Immortal Reality, calm and blissful, which must be realised.[53] It is beyond the grasp of intellect. This 'thatness' or Tathatā has no attribute and it can only somehow be pointed in speech as 'thatness'. It is neither existence nor non-existence nor both nor neither. It is neither unity nor plurality, nor both nor neither. It is neither affirmation nor negation nor both nor neither. Similar statements are found in the Upaniṣads. The *Bṛhadāraṇyaka* clearly states that Ātman is ungraspable; it can be expressed as not this, not this.[54] In the *Māṇḍūkya*, it is described as neither inwardly nor outwardly cognisant, nor on both sides together. It is unseen, ungraspable, indefinable, unthinkable, unpointable.[55] Dasgupta rightly points out that Aśvaghoṣa being a learned Brāhmin in his early age, interpreted Buddhism in the light of the Upaniṣads.

Nāgārjuna, the great Mādhyamika philosopher, also misunderstood the notion of Ātman and criticises it as an unreal entity. But his conception of Absolute Reality or non-dual Tattva or Śūnya is nothing else but Absolute consciousness or Ātman of the Upaniṣads which is indescribable. He defined reality as transcendental or beyond the reach of thought as non-relative, non-determinate, quiescent, non-discrusive, non-dual.[56] Even his conception of Śūnya is the indescribable Ātman or Brahman of the Vedāntins. 'Absolute cannot be called void or non-void or both or neither, but, in order to indicate, it is called Śūnya'.[57] Here the reality is described in negative terms. Reality which is unconditioned, indeterminate, and incapable of verbal elaboration is not apprehended by thought. Like Upaniṣadic thinkers, for Nāgārjuna language applies only to the finite or phenomenal world.

The same negative description of Ātman is given in the Upaniṣads. Nāgārjuna's definition of reality is similar to the description of Ātman given in the *Māṇḍūkya-upaniṣad*. It is said that Ātman cannot be described, cannot be grasped, is beyond the reach of thought, cannot be designated.[58] The *Bṛhadāraṇyaka* also describes Ātman in negative terms saying that Ātman is not this, not this.[59] It also describes Ātman as the not gross and the not subtle, the not short and not long . . . the speechless, the mindless".[60] It is clear that Nāgārjuna accepts the existence of pure self or Ātman of the Upaniṣads but only describes it by the negative term 'Śūnya'.

Nāgārjuna's followers, Āryadeva and Candrakirti, accept the Absolute Reality. Āryadeva says that Reality is pure Citta or Consciousness. The 'Jewel of Self' is absolutely pure and self-luminous and appears to be impure only on account of ignorance, just as a white crystal appears coloured on account of coloured thing placed near it.[61] Śāntideva's Bodhicitta or Pure Buddha is similar to the notion of Ātman of the Upaniṣads. Pure Citta or Pure Consciousness is the Absolute Reality for Śāntideva.

It is clear that Absolute or Śūnya or non-dual Tattva (*advayaṁ taṭtvaṁ*) of Nāgārjuna, Pure Citta of Āryadeva, and Pure Buddha of Śāntideva are nothing else but self-luminous Ātman of the Upaniṣads which is indescribable pure consciousness (*cit-prajñānaghana*). Let us examine the Vijñānavādins' view. Even though the *Laṅkāvatāra-sūtra* teaches the two fold selflessness i.e. self-lessness of persons and the self-lessness of things, the reality defined by it is nothing but Vedāntic Ātman or Brahman. It identifies the reality with Tathāgatagarbha or Ālayavijñāna. It says that Tathāgatagarbha or Ālaya is indescribable and transcends all categories of thought.[62] It tries to distinguish Tathāgatagarbha from Ātman of the Vedāntins on false ground. It says that it is not similar to the Ātman because it transcends all categories of finite thought (*nirvikalpa*) because it is neither affirmation nor negation nor both nor neither, and because it is to be directly realised by spiritual experience while the Ātman leads to eternalism

because it clings to affirmation.'[63] Even at first sight, no student of Vedānta and Buddhism can fail to understand the superficial and fallacious distinction made by the *Laṅkāvatāra-sūtra* between Tathāgatagarbha and Ātman of the Vedānta.

The Ātman of the Upaniṣads transcends all categories of thought. Ātman cannot be reached by speech and mind.[64] Ātman is beyond the grasp of intellect and learning.[65] It is ungraspable, indescribable, and indefinable.[66] Ātman does not cling to the category of affirmation. In fact no category can adequately describe it. It is attributeless.[67] That the Ātman is pure existence (*sat*) does not mean clinging to affirmation. It means to indicate the self-luminous 'consciousness self' in limited terms. It is really beyond description of categories of thought. '*Neti, Neti*', 'Not this, Not this' clearly indicates the indescribable nature of Ātman or Absolute Consciousness. It cannot be described, but it can be only experienced.

The *Laṅkāvatāra-sūtra*, however, speaks of self-realization. Suzuki points out that the idea of self realization is a special feature of the *Laṅkāvatāra*. If there is no self, no reality, no truth, then self realization would not have been preached. It says that: "All things are in their self nature, un-born; mahāmati, belongs to the realm of self-realization attained by noble wisdom and does not belong essentially to the realm of dualistic discrimination cherished by the ignorant and the simple-minded."[68] It is also said that Reality is eternal. "The ancient road of Reality, on Mahāmati, has been here all the time, like gold, silver or pearl, preserved in the mine. Mahāmati, the Dharmadhātu, abides for ever, whether the Tathāgata appears in the world or not, as the Tathāgata eternally abides, so does the reason (Dharmatā) of all things, reality for ever abides; Reality keeps it in order, like the roads in an ancient city.[69]

It may be noted here that even though Buddhists implicitly accepted the doctrine of Ātman of the Upaniṣads, they hesitated to use the word Ātman explicitly, simply because this terminology belonged to their opponents. Seemingly at the time of the composition of the *Laṅkāvatāra-sūtra*, there was a trend to preach the Ātman theory explicitly.

For Asaṅga, Absolute is Pure Consciousness (Cittam). It is non-dual. It is beyond the purview of speech or expression and indeed, it is indescribable.[70] It is neither existence nor non-existence, neither affirmation nor negation, neither production nor destruction, neither increasing nor diminishing, neither pure nor impure; it is a characteristic of Reality.[71]

These descriptions of Asaṅga do not differ from Vedāntic description of Ātman or Brahman which is beyond the grasp of intellect, speech and which is pure consciousness. Asaṅga goes a step further than earlier Buddhists and calls Absolute Reality as Pure Ātman and even Paramātman. "Understanding the true meaning of the doctrine of Śūnya and Nairātmya, the enlightened ones (Buddha) transcend the

individual existence and realises the Pure Soul (Śuddhātman) and thus, become one with the Universal Soul.[72] "When one realises this world to be merely a composite of *saṁskāras* (forces) and also realising the baneful existence of Ātman, he becomes one with Universal Soul.[73] Here, when Asaṅga says that the notion of Ātman is baneful, it applies only to individual ego because Reality, according to him, is pure consciousness and which by its very nature is self-luminous. All impurities are adventitious.[74] Reality is styled in different terms by Asaṅga, like Viśuddha-tathatā, Dharmadhātu, Śuddha-citta and Anāsrava-dhātu. He declares that Reality is Pure Existence (Anāsrava-dhātu). It is pure Tathatā (Viśuddha-tathatā), Thatness which is Ātman for Buddhists. It is the highest soul or Paramātman for the Buddhists.[75] Like the Vedāntins, he proclaims that different rivers merging in the ocean become one with it; similarly, the Buddhas or Bodhisattvas meriging in the Absoulte Reality (Buddhatva) became one with it.[76] It is similar to the statement of the *Chāndogya* which clearly states that : "as rivers which flow into the sea disappear in the mighty water (ocean) and lose their name and form, so does the wise soul become absorbed in the Transcendent Person and loses its name and form. When the souls are merged in the Real they cannot discriminate from which bodies they came.[77] Similar statement is found in the *Paśnopaniṣad* also.[78] It is clear that by not mentioning the word Ātman, Asaṅga indirectly accepted the Ātman of the Vedāntins which is pure consciousness and the only reality. He denied only individual ego and not pure consciousness, Ātman.

Vasubandhu, younger brother and follower of Asaṅga, also admitted Reality as Pure Consciousness which transcends subject/object duality. *Vijñapti-mātratā* is Reality for Vasubandhu. It is self-luminous non-dual Reality. Later Vijñānavādins, like Dharmakīrti and Śāntarakṣita (who are called Sautrāntika-Vijñānavādins by some writers) accepted that Reality is pure consciousness. Dharmakirti, clearly says that the Reality, which is pure consciousness, is beyond all words, names, and concepts.[79] Śāntarakṣita, as has been earlier mentioned, criticises Ātman associated with ego or Ego-self (*ahaṅkārāśrita-cittam*). Reality for him is one without a second. It is Citta which is self-luminous, consciousness and free from all impurities, impositions.[80] Like later Vedāntins, he explicitly maintained that realisation of pure self is true knowledge. Even he uses the word selfrealisation i.e. *viśuddhātmadarśana*.[81]

We can now draw the conclusion from all these Buddhist statements that Ātman of the Upaniṣads is generally misunderstood as Individual Ego or Buddhi or Jivātman as associated with ego, *māyā* or ignorance, and, on the other hand, the real Ātman or Brahman of the Vedāntins understood or called by different terms like Dharma, Bodhi, Tathatā, Dharmadhātu, Prajñapti-mātra, and Pure Citta. The ego (*ahaṁkāra*) is condemned not only by the Buddhists; in fact all the schools of Indian Philosophy condemned it as an obstacle in the path of self-realisation. The conflict, between the Buddhists and the later Vedāntins originates

from the misunderstanding of the word Ātman by the Buddhists. One can easily make out from the critical survey of conception of non-soul theory of the Buddhist texts, that Buddha himself is greatly responsible for this misunderstanding. Principally, there is no difference between the Ultimate Reality of the Vedāntins and the Buddhists. Due to this misunderstanding created by Buddha, they *sans raison* fought with each other on the philosophical battle field. C.D. Sharma had rightly pointed out that : "had Buddha refrained from committing an error of commission in degrading the Upaniṣadic Ātman to the level of the empirical ego and also an error of omission in not identifying his Bodhi or Prajñā with the Upaniṣadic Ātman or Brahman, the age-old battle regarding the Nairātmyavāda fought without any reasonable ground by the Buddhists and the Vedāntins on the soil of Indian philosopny would have been surely avoided."[82]

Notes & References

1, T.R.V. Murti, *The central Philosophy of Buddhism*, p. 17.
2. Oldenberg, *Buddha*, p. 218.
3. *Saṁyukta-Nikāya*, p. 54.
4. Kevalo paripūro bāladhammo, *Majjhima Nikāya*, 1.1.2.
5. *Basic conception of Buddhism*, p. 7.
6. Murti, *Central.*, p. 7.
7. M.K. X-15.
8. M.K. XVIII-4.
9. M.K. XVIII-7.
10. *Bodhicaryāvatāra*, IX-75.
11. Bhrama eṣa tu utpanno yeyamātma-dṛṣṭiḥ, MSA, VI-2, Com.
12. *Tasmānnāstyātmā*, MSA, VI-2, Com.
13. Na cātmadṛṣṭiḥ svayamātmalakṣaṇā na cāpi duḥsaṁsthitatā vilakṣaṇā. Dvayanna cānyad bhrama eṣa tāditaḥ tataśca mokṣo bhramamātra saṁkṣayaḥ. MSA VI-2.
14. Kathaṁ jano vibhramamātrāśritaḥ paraiti duḥkhaprakṛtiṁ na santatāṁ. MSA, VI-3.
15. Katamoyamīdṛśastamaḥ prakāro lokasya yadvidyamānaṁ pratītyasamutpādamavipaśyannavidyamānamātmānaṁ nirīkṣate. Śakyaṁ hi nāma tamasā vidyamānamadraṣṭuṁ syānna tvavidyamānaṁ draṣṭhumiti. MSA, VI-4, Comm.
16. Anarthamayātmadṛṣṭiḥ. MSA, XIV-37.
17. Sarve dharmā anātmānaḥ. MSA, XVIII-101.
18. Satkāyādṛṣṭiḥ kleśalakṣaṇo hyeṣa saṁkleśo, yaduta ahaṁ mameti. MSA, XVIII-92. Comm.
19. Parikalpita ātmā nāsti. MSA, XVIII-81, Comm.
20. Ayatnamokṣaḥ sarveṣāṁ, na mokṣaḥ pudgalosti vā. MSA, XVIII-103,

21. Dravyato nāstīti vaktavyaḥ. MSA, XVIII-92, Comm.
22. Yadi dravyato asti tasya karmāpyupalabhyate. Yathā cakṣurādīnāṁ darśanādi lakṣaṇaṁ ca rūpaprasādādi. Na caivaṁ pudgalasya, Tasmānna so asti dravyataḥ. MSA, XVIII, 92.103. Comm.
23. Ayatnamokṣaḥ sarveṣāṁ na mokṣaḥ pudgalo asti vā. MSA, XVIII-103.
24. Tathā hi sarveṣāṁ na dṛṣṭasatyānāṁ ātmadarśanaṁ vidyate. MSA, XVIII-103, Comm.
25. Sati cātmani avasyaṁ ahaṁkāra mamakārābhyāṁ ātmatṛṣṇayā cānyaiśca tannidānaiḥ kleśairbhavitavyamiti. Ato api mokṣo na syāt. MSA, XVIII-103, Comm.
26. Nairarthakyāt ato draṣṭā yāvanbhoktā na yujyate. MSA, XVIII-96.
27. Sraddh¯nusāryādi pudgala vyavasthānata ityasati dravyato astitve kasmāddeśitaḥ ? MSA, XVIII-101. Comm.
28. Saṁkleśa vyavadāne ca avasthā chedabhinnake. Vṛtti santānabhedo hi pudgaleṅopadarśitaḥ. MSA, XVIII-102. Comm.
29. Ātmadṛṣṭyātmamohātmamanātmasneha. TMS-6.
30. Tathā pudgala nairātmyapraveśo hyanyathā . punaḥ. Deśanā dharma nairātmya praveśaḥ kalpitātmana. VMS-10.
31. Ahaṁkārāśrayatvena cittamātmeti gīyate. *Tattvasaṁgrha*. Vol. I, p. 304.
32. Samudāyinām acetanatvāt. (B. S. B. II 2-18).
33. Tasmāt samudāyānupapattiḥ. Samudāyānupapattau ca tadāśrayā lokayātrā lupyeta. (B. S. B. II-2-18.)
34. B. S. B. II-2-19.
35. *History of Indian Philosophy*, Vol. I.
36. B. S. B. II-2-25.
37. Ahaṁkārāśrayatvena cittamātmeti gīyate. *Tattva-saṁgraha*. Vol. I, p. 204.
38. Na vā are sarvasya kāmāya sarvaṁ priyaṁ bhavati, ātmanastu kāmāya sarvaṁ priyaṁ bhavati, (Bṛh. Up. II. IV. V.)
39. *Ayamatmā brahma. Bṛ. Up*. II. 5.19 and Māṇḍ. Up. 2.
40. Sayoyamātmā, idamamṛtaṃ, idaṃ brahma, idaṃ sarvam. (*Br. Up*. II. V. 1-14.)
41. Ātmaivedaṁ sarvam. (*Chh. Up*. u. XXV. 2.)
42. Satyam, Jñānam, anantam brahma.
43. Advaitam, (Māṇḍ. Up. 7.)
44. Brahmaivedam viśvam. (Māṇḍ. Up. II. 2. 11.)
45. Tattvamasi. *Chh. Up*. VI. XVI. 3.)
46. Ajātam, akṛtam, abhūtam, asaṁskṛtam. (Udāna.)
47. Na jāyate mriyate vā kadācit. (Kaṭh. Up. I. II. 18.)

48. Amṛtamadhigataṁ uparuta tessaṁ amṛtassadvārā.
—*Vinayapiṭaka*, *Mahāvagga*. I. 1.7. Comm.
49. Bṛh. Up. II. V. 1-14.
50. Pratibodhaviditaṁ mataṁ amṛtatvaṁ hi vindate, also vidyayā vindate-mṛtam (Kaṭh. Up.)
51. *Saṁyuktanikāya*, "Nāgarasūtra", p. 36.
52. Sharma, C. D. : *Critical Survey of Indian Philosophy*, p. 85.
53. Śāntam, Śivam, kṣaimapadam, acyutam tat,
—*Saundarānanda*, XVI, 26.27.
54. Neti, Neti, Bṛh. Up. 4.5.15.
55. Nāntaḥ prajñam, na bahiḥ prajñam, nobhayataḥ prajñam......adṛśyam, agrāhyam, alakṣaṇam, acintyam, avyapadeśyam. (Māṇḍ. Up. 7.)
56. Apparapratyayaṁ śāntaṁ, prapañcaiḥ aprapañcataṁ, nirvikalpaṁ anānārthaṁ etat tattvasya lakṣaṇam (M. K. XVIII-9.)
57. Śūnyamiti na vaktavyaṁ aśūnyamiti vā bhavet. Ubhayaṁ nobhayaṁ ceti prajñaptyarthaṁ tu kathyate. (M. K. XXII-11.)
58. Māṇḍ. Up. 7.
59. *Neti neti*. (Bṛh. Up. IV-IV-22, and IV-V-15.)
60. Bṛh. Up. III-VIII-8.
61. Cittaśuddhiprakaraṇa, 27-28.
62. Suzuki : *Laṅkāvatāra*. p. 47-48.
63. Suzuki : *Laṅkāvatāra*. p. 77-78.
64. Naiva vācā na manasā prāptuṁ śakyaḥ. (Kaṭh. Up. II-VI-12.)
65. Na medhayā na bahunā śrutena. (Kaṭh. Up. I-II-22.)
66. Māṇḍ. Up. 7.
67. Nirguṇaḥ. (Śvetāśvatara Up. VI-II.)
68. Suzuki : LAS, p. 56.
69. Suzuki : LAS, p. 124.
70. MSA. XI-13.
71. MSA. VI-1.
72. Śūnyatāyāṁ viśuddhāyāṁ nairātmyānmārga lābhataḥ. Buddhāḥ śuddhātma lābhitvāt gatā ātmamahātmatām. MSA, IX-23.
73. Vihāya yānarthamayātmadṛṣṭiḥ mahātmadṛṣṭiṁ śrayate mahārthām. MSA, XIV-39.
74. Mataṁ ca cittaṁ prakṛti prabhasvaram sadā tadagantukadoṣadūṣitam. MSA, XIII-19.
75. Viśuddhatathatā sa ca buddhānāṁ ātma . . . Buddhānāṁ anāśravedhātau paramātmā vyavasthāpyate. MSA, X-23, Com.
76. Samudraviṣṭaśca bhavanti sarvāḥ ekāśrayā eka mahājalāśca. . . Buddhatvaviṣṭāśca bhavanti sarve ekāśrayā ekamahāvabodhāḥ. *MSA*, IX-83, 85.

77. Imāḥ saumya nadyaḥ purastānprachaḥ syandante paścāt-pratīcyastaḥ-Samudrat Samudrameva abhiyānti Samudra eva bhavati tā yātha tatra na Viduraymahamasmiti.

78. Pra. Up. VI-5

79. Pramāṇavārtika, p. 88, 93.

80. Prakṛtyā bhāsvare citte. Tattvasaṁgraha Vol. II 35,38.

81. Tadeva hi. tajjñānam yadviśuddhātmadarśanaṁ Tattva Saṁgraha, Vol. II 35-38

PAURANDARASŪTRA

Eli Franco

A couple of years ago I had the privilege of reading the *Tattvopaplavasiṁha*—a Lokāyata text—with Pt. Dalsukh Malvania. It is only appropriate, as a small token of my respect and gratitude to Pt. Malvania, to contribute a paper which is directly connected to what he taught me. I have chosen, therefore, to deal here with a Lokāyata fragment as it appears in a Jaina source.

The Jainas, no doubt, have made a most original and important contribution to Indian philosophy. However, the importance of the Jaina sources goes far beyond Jaina philosophy itself. Their importance for the study of all other systems of Indian philosophy cannot be underrated, for in no other system is the *pūrvapakṣa* presented with such honesty and thoroughness.

Strangely enough, although modern research on the Lokāyata school of thought was done exclusively by scholars who were interested in *pramāṇaśāstra*, their studies are mainly concerned with the *Bṛhaspatisūtra*, while the Lokāyata logicians are almost completely ignored.

It is well known that ever since Diṅnāga, epistemological and logical problems came into the foreground of Indian philosophy. Every philosophical school had to respond to the new discoveries made by Diṅnāga and his follower Dharmakīrti, and the Lokāyata school was no exception to this rule. The old Lokāyata arguments which were convincing enough as long as inferences were based on simple analogies, could no longer be applied to the new, well-established inferences, which were based on universal concomitance (*vyāpti*). In order to stick to the old doctrine according to which inference is not a valid means of knowledge, the Lokāyatikas developed a new kind of self-destructive logic: inferences which prove that no inference is valid.

In what follows I shall try to present three different interpretations for one of these inferences: the *Paurandara-sūtra*. The *sūtra* reads[1] *: pramāṇasyāgauṇatvād anumānād artha-niścayo durlabhaḥ.* "Determination of object through inference is impossible, because means-of-knowledge is not secondary."

The only one I know of who has tried to explain the *Paurandara-sūtra* is Professor Solomon in her study of Bhaṭṭa Udbhaṭa. Her explanation follows closely Vādi Devasūri's *Syādvādaratnākara*. "The nature of *hetu* (reason), which gives rise to inferences is that it is *pakṣa-dharma*, attribute of the *pakṣa* (the minor term, or subject of the syllogism). Now, the *pakṣa* is of the nature of an aggregate of attribute-and-thing; the total entity constituted of the thing and its attributes is called *pakṣa*. And if that is not ascertained, how can it be ascertained that the *hetu* is its attribute;

and if the *pakṣa* is ascertained, *anumāna* would no longer have any purpose to serve. So in order to establish or justify the usage of *pakṣadharma* (as defining characteristic of *hetu*), the word *pakṣa*, though conventionally denoting the aggregate of attributes-and-thing, has necessarily to be understood in a secondary sense as indicating or meaning the thing (alone), which is a part of the total denotation. Thus the *pakṣa* is *gauṇa* (secondary), and that being so, the *hetu* also is *gauṇa* because it is its attribute. So *anumāna*, which is produced by a *gauṇa* cause, is also *gauṇa*, and being *gauṇa* it is not a *pramāṇa*."[2]

In my opinion the above explanation does not make sense, and I will try to explain the *sūtra* differently. However, what follows should by no means be considered as a criticism of E. Solomon who simply explains Vādi Devasūri's interpretation of Purandara, and in so far her explanation is most accurate.[3] I also think she is probably right in assuming that the above interpretation induced Bhaṭṭa Udbhaṭa to give a new interpretation of the *sūtra*. I do not think, however, that Vādi's interpretation conveys the original meaning of the *sūtra*, for it simply makes no sense.

First note the exact words of the *hetu* : '*pramāṇasyāgauṇatvāt*'. If Purandara wanted to say what Vādi says he wanted to say, this would be a very oblique way of expressing himself--a *gauṇa* argument indeed--for he could simply say *pakṣasyāgauṇatvāt*. But this in itself is not enough to discredit Vādi's interpretation; so let us take a closer look at the content of the argument.

According to Vādi, Purandara's argument is based on the fact that, when applied to inference, the word *pakṣa* is used in a secondary or metaphorical meaning (*upacāra*). Now, the question that arises is : Is there something wrong in using a word, and more specifically the word *pakṣa*, in a secondary meaning ?

The Sanskrit texts provide a definite answer to this question : under certain conditions, there is nothing wrong with using the word *pakṣa* in its secondary meaning.

The use of the word *pakṣa* in its secondary meaning goes back to Diṅnāga (*PS*, III. 8)[4], and at the beginning of the *Hetubindu* Dharmakīrti enters into a rather detailed polemic against Īśvarasena in order to justify Diṅnāga's position. By looking into this polemic we can see when the word may be used in its secondary meaning, and when not.

Īśvarasena's objection is quite clear[5] : *prayojanābhāvād anupacāraḥ*. Thus the argument presupposes that one should not use a word in a metaphorical sense unless one has a reason or a purpose (*prayojana*) for doing so. And Dharmakīrti's answer shows that he shares Īśvarasena's presupposition, for it consists in showing that Diṅnāga had good reasons for the employment of the word *pakṣa* in its secondary meaning. Therefore, if Purandara wanted to convince anybody of his argument, one would expect him to give some reason why the metaphorical use is not appropriate.

Not only does he not do so, but, as a matter of fact, he argues (again according to Vādi) in favour of the opposite view : In order to establish the usage of *pakṣadharma* (*pakṣadharma-vyavahāra-siddhaye*), the word *pakṣa* has to / must be employed in its secondary meaning to denote the *dharmin* alone (*pakṣa-śabdas tad-ekadeśe dharmiṇy-upacaraṇīyaḥ*).[6] But this presupposes that one should never use a word in its secondary meaning, which is nonsense.

Now, if an argument makes no sense it is always better to assume that we do not understand it, or that something went wrong with the transmission of its original meaning, rather than to conclude that the argument really is nonsensical. When we deal with Lokāyata fragments, we have to be even more cautious, because they appear to us not in their original context, but as *pūrvapakṣas* in their opponents' works, and in such a case even a deliberate misrepresentation cannot be excluded. Therefore, before we can reconstruct the original meaning of a fragment, we have to take into account all sources where it is quoted or referred to. If a fragment is always interpreted in them in the same manner, and if this interpretation is acceptable within the general framework of Lokāyata, we can reasonably conclude that its original meaning is not misrepresented or misunderstood. This, however, is not the case with the *Paurandarasūtra*, for two more interpretations of it are to be found in Prabhācandra's *Prameyakamalamārtaṇḍa* (*PKM*) p. 473.8-9[7] *yac-cāgauṇatvāt pramāṇasyety uktaṃ tatrānumānasya kuto* [*gauṇatvam*,] *gauṇārtha-viṣayatvāt, pratyakṣa-pūrvakatvād vā ?* "As for the (*hetu*) stated above, namely 'because a means of knowledge is not secondary', why [does it apply] to inference ? Is it because its object is a secondary (i.e. unreal) thing, or is it because it is preceded by perception ?"

According to the first interpretation given by Prabhācandra the word *gauṇa* directly refers to inference, and not indirectly through the word *pakṣa* as stated by Vādi Deva. In other words, the argument intends to show that inference is not a means of knowledge in the strict sense of the word. When formulated in this way, one immediately recalls that this is precisely the Buddhist position, because every inference involves universals, and universals, according to the Buddhists, are pure mental constructions. As Dharmakīrti paradoxically puts it : "[an inferential cognition] is right cognition, inspite of its being false, because it is connected with the object."[8]

Interpreted in this manner, the argument starts to make sense. It becomes convincing, for it shows up one of the weakest points in the Buddhist theory of knowledge. Indeed, the Buddhist logicians never quite managed to explain how an inference which has a fictitious entity for its object, is nevertheless connected with reality, and leads to efficient action.

Attractive though it is, I feel uneasy about this interpretation, because it limits the scope of the argument to Buddhist inference alone, as was also clearly realized by Prabhācandra, for he says (*PKM*, 473.9-474.1) : *na tāvad ādyo vikalpaḥ, anumānasyāpy adhyakṣavad vāstava-sāmānya-viśeṣātmakārtha-viṣayatvābhyupagamāt. na khalu kalpita-sāmānyārtha-viṣayam anumānaṃ saugatavaj jainair iṣṭam ......*

"The first alternative (i.e. that inference has an unreal object), to begin with it, is not [applicable to our inference], because [we] accept that inference, just like perception, has for its object a real thing the character of which is general as well as particular. Unlike the Buddhists, the Jainas certainly do not accept an inference the object of which is a thing [that is] a mentally constructed universal."

Of course, the argument of the Lokāyata could be directed against a specific conception of *anumāna*, but the *sūtra's* formulation looks more like a general objection against inference. If the *sūtra* is to be undersood as a general argument against inference, then it presupposes a refutation of the universal, and since its original context is unknown to us, this possibility cannot be excluded. I cannot see, therefore, any reason to reject this interpretation.

However, the second interpretation proposed by Prabhācandra is at least equally possible.

According to this interpretation, the argument does not have anything to do with the primary or secondary meaning of words. (Note how the meaning of the word *gauṇa* changes according to the different interpretations.) It is inference, the cognitive process itself, which is secondary, and it is secondary to perception.

A mere look at this interpretation immediately recalls the definition of inference given in the *Nyāyasūtra* 1.1.5 (*tat-pūrvakaṁ trividham anumānam*...) where *tat*—refers to *pratyakṣa* of 1.1.4). But unlike the previous interpretation, the present one is certainly not limited to the Nyāya theory of inference alone, for all Indian philosophers agree that inference, at least in the final analysis, is based on perception.

One might ask : So what ? we admit that inference is preceded by perception, but why should this fact prevent us from calling it a means of knowledge ?

Taken at its face value, the argument seems to presuppose that a means of knowledge has to be absolutely autonomous, but this would be a rather strange presupposition. The Naiyāyikas who defined inference as preceded by perception were not bothered by this dependence. Neither do I see anything in the dependence relation as such to prevent inference from being a means of knowledge. The dwarf who sits on the giant's shoulder depends on the giant, but nevertheless reaches higher.

I think we have, therefore, to look for a more specific type of dependence relation.

Unfortunately. the extant fragment does not specify which kind of dependence relation Purandara had in mind while formulating his argument, and in the present state of our knowledge we cannot reach any definite conclusion on this point.

Drawing on our knowledge of other Indian philosophers, there are, roughly speaking, two reasons why a means of knowledge is not admitted. Either it is not valid (validity is not to be reduced to truthfulness, it can include other conditions such as having a new object etc.), or it is included in another means of knowledge

(for the Buddhists for instance, *śabda* is not a *pramāṇa* because it is included in *anumāna*).

As a matter of fact, Prabhācandra considers the second possibility at the very beginning of the *Cārvāka-pūrvapakṣa* (*PKM*, 472.2-3) :

ye hi pratyakṣam ekam eva pramāṇam ity ācakṣate na teṣām anumānādi-pramāṇāntara-syāntarbhāvaḥ sambhavati tad-vilakṣaṇatvād vibhinna-sāmagrī-prabhavatvāc ca.

"Those who say that perception is the one and only means of knowledge, for them inference and the other means of knowledge cannot be included [in perception], because they (i.e. the other means of knowledge) are defined differently (from perception), and because they arise from different causal complexes."

Of course, we cannot conclude that the Cārvākas in fact maintained this position just because the possibility is raised (and rejected).

If, on the other hand, the dependence of inference on perception is to be understood in such a way that it invalidates inference completely (i.e. as a means of knowledge in the technical sense of the word, this does not stand in contradiction to accepting inference as useful for everyday purposes, cf. below), then the dependence has probably to be understood as the dependence on the apprehension of *vyāpti*.

Now, the apprehension of *vyāpti* is not due to inference itself, because in order to make an inference, one already has to know a *vyāpti*. Cf. *PKM*, 473.3-4 : *nāpi [vyāpti-grahaṇam] anumānataḥ, asya vyāpti-grahaṇa-purassaratvāt. tatrāpy anumānato vyāpti-grahaṇe 'navasthetaretarāśrayatva-doṣa-prasaṅgaḥ.*

"Nor is [the apprehension of *vyāpti*] due to inference, because it (i.e. inference) is preceded by the apprehension of *vyāpti*. If there too (i.e. in the case of the *vyāpti* which precedes the inference) the apprehension of *vyāpti* is due to inference, this will result in the fallacies of infinite regress or mutual dependence."

If one cannot apprehend the *vyāpti* by inference, it has to be apprehended by perception, but the *vyāpti* cannot be apprehended by perception either, because perception is limited to objects which are directly in contact with one's sense organs, whereas the *vyāpti* applies to a whole group of things which are beyond the range of one's sense organs. Thus, inference not only depends on perception, but it also depends upon something perception cannot provide, and that is why it is not valid.

There is still another way of interpreting the dependence of inference on perception. Suppose, at least for the sake of argument, we somehow manage to get an apprehension of *vyāpti* through perception. Now, a *vyāpti* relation does not obtain between particulars, but between universals alone. Thus, an inference cannot have a particular for its object, for in that case there will be no *vyāpti*. But if an inference has an universal for its object, then it serves no purpose, for the universal is already known before the inference is undertaken. Thus, inference is secondary to perception. because it apprehends an object already apprehended by perception. Cf. *PKM*, 472,

5·6 *artha-niścāyakaṃ ca jñānaṃ pramāṇam, na ca anumānād artha-niścayo ghaṭate-sāmānye siddha-sādhanād viśeṣe anugamābhāvāt.*

"And a means of knowledge is a cognition which determines the object, but the determination of the object through inference is impossible, because if [the object of the inference is] a universal, it is a proof of what is already proved, [and] if [the object of the inference is] a particular, there is no concomitance."

It is clear from the above that I do not claim that any of these interpretations was actually intended by Purandara. What I have tried to do is to give possible explanation of the *sūtra* within the Lokāyata framework, that is, by using arguments which we know for sure to have been advocated by the Lokāyatikas. The passages quoted from Prabhācandra follow immediately upon the quotation of the *sūtra*, but we do not even know whether these arguments were formulated by Purandara or by other Lokāyatikas and even if they are all Purandara's, they could be independent arguments which did not have anything to do with the *sūtra*.[9]

Whatever the case may be, there is one more question to be asked : what did Purandara try to accomplish with his argument ? He certainly did not try to discard inference altogether, for in a fragment quoted by Kamalaśīla he clearly states the opposite view : [10]

Purandaras tv āha "loka-prasiddham anumānaṃ cārvākair apīṣyata eva, yat tu kaiścil laukikaṃ mārgam atikramyānumānam ucyate, tan niṣedhate" iti.

"Purandara said : 'inference which is well known in the world is certainly accepted by the Cārvākas too, but that which is taught as (or : called) inference by certain [would-be philosophers] who transgress [with it] the worldly path (i.e. every-day innocuous inferences), that is rejected."

If we put these two fragments together (they are to the best of my knowledge the only ones of Purandara that have come down to us), the picture becomes clearer, for now we know that the *sūtra's* aim is not to discard inference altogether, but to limit its scope to worldly affairs. By denying inference an independent status, that is, by emphasizing its dependence (*gauṇa*) on perception, Purandara wanted to restrict the field of operation (*viṣaya*) of inference to that of perceptible objects.

This is probably the most significant contribution of Purandara to the Lokāyata school (at least it is the one for which he is remembered), and in order to understand its importance, we have to reconstruct its necessity.

The old position of the school as formulated in the *Bṛhaspati-sūtra*, namely perception alone is a means of knowledge, involved too many internal contradictions which became apparent when the theory of knowledge became the central preoccupation of Indian philosophers. Dharmakīrti, for instance, formulated at the beginning of the *Pramāṇaviniścaya*[11] three short, but devastating arguments against the Cārvāka, and many more could be formulated in a similar vein. Arguments like these had to be urgently answered, or the Cārvāka would have been kicked out of the philosophical scene.

Purandara's answer consists in complying with this kind of argument without giving up the basic Lokāyata positions. Thus inference was accepted as far as it did not, or better, could not, contradict the Lokāyata positions, but as soon it was to be applied to prove the existence of Soul, God and other non-perceptible objects, which could endanger, if not annihilate, all the Lokāyatikas were fighting for-and I think it was ultimately to found social and political institutions independently of religious dogma—it was to be rejected as a non-valid means of knowledge.

In order to do this Purandara had to admit inference, but only up to a point, which is a rather difficult task, for once inference is accepted, there is no apparent reason why one should use it only as long as it suits the Lokāyata. Thus, the task which presented itself to Purandara was to find a reason why inference should never overlap perception. And his answer probably was: because it depends upon perception.

I argued above that Prabhācandra's interpretations of the *sūtra* are to be prefered to those of Vādi Deva and the others, because they make more sense. Now, suppose I am right in my premises, and that the *sūtra* does make better sense that way, does it follow that this was the original intention of the *sūtra* ?

Let me argue briefly in favour of the opposite view. The *sūtra* is mentioned and explained several times, and the majority of the sources interpret it in the same manner. Should we not accept the interpretation favoured by the majority ?

Moreover, Jayanta and Bhāsarvajña are roughly two centuries earlier than Parbhācandra (active c. A.D. 1025-1060), which means they are closer to Purandara's own time, and had, therefore, a better chance of first hand acquaintance with his work.

Further, Jayanta and the others give one sole interpretation of the *sūtra*, whereas Prabhācandra brings up two *vikalpas* in the *PKM* and no less than nine in the *NKC*. From this fact we can conclude that they were sure about the *sūtra's* meaning, whereas Prabhācandra was not quite certain about it.

Considering all this, we could make the following assumption : Bhāsarvajña and Jayanta were well acquainted with Purandara's thought, whereas Prabhācandra had only a fragmentary knowledge of it, and interpreted a nonsensical argument in an intelligent manner, but one which does not convey the original purport of the argument.

Such a view, however, no matter how well formulated, is self-defeating. There can be no reason why we should accept an illogical, confused interpretation rather than a logical one, for this would involve a contradiction in our presupposition. If we do not want to make our authors talk good sense, we have no business to comment upon them. Besides, any such reasoning can be cancelled by self-reference.

All this does not mean, of course, that what we take to be a nonsensical argument is in fact nonsensical, for we may have misunderstood it. But as long as our

ignorance is not enlightened, we have to stick to what we deem the more reasonable interpretation.

Now, if the interpretation given by Vādi Deva and the others is untrue, why was it repeated over and over again ?

They may have taken it from each other, or from a source unknown to us, but this is begging the question, for it arises again : Why was there at all an untrue interpretation of the *sūtra* ?

Frankly, I don't know; I can only suggest a hypothesis : it is due to a juxtaposition of two things which do not belong together. Someone who had Dharmakīrti's discussion of the word '*pakṣa*' in mind, concluded wrongly that Purandara was referring to it in his *sūtra*.

Having rejected the *pakṣa* interpretation we are still faced with the problem, which of the other two interpretations is to be accepted.

Here we cannot argue on grounds of method, because both of them make sense, and both of them are compatible with the Lokāyata position. The only way to decide between these interpretations would be to check the context. But dealing as we do with fragments, we have no context. Moreover, for what we know, it may have been both, for *sūtras* are sometimes deliberately formulated vaguely enough to allow different interpretations.

For the time being, I can see no way but to leave this question open.

NOTES

1. The *sūtra* is quoted in the following books :
   Nyāyabhūṣaṇa of Bhāsarvajña, ed., S. Yogīndrānanda, Varanasi 1968, p. 210.18.
   Nyāyamañjarī of Jayanta Bhaṭṭa, ed. K. S. Varadacarya, Mysore 1969, p. 312.8-9 (Banares 1936 ed. p. 108.10).
   Pramāṇavārtikavṛttiṭīkā of Karṇakagomin, ed. R. Sāṁkṛtyāyāna, Allahabad 1943, p. 25.26
   Prameyakamalamārtaṇḍa of Prabhācandra, ed. M. Sarrāph and R. Jain, Vira Jñānodaya Granthamālā 23, Delhi vī, ni. sam. 2504, p. 477. 2-3.
   Saṁmatiarktaprakaraṇa of Siddhasena Divākara, ed. with Abhayadevasūri's Vyākhyā by S. Sanghavi and B. Doshi, Gujarātapurātattvamandiragranthāvalī, Ahmedabad 1924, pp. 70.27; 72.33; 554.23.
   Vyomavatī of Vyomaśiva, ed. G. Kavirāj, Chowkhamba Sanskrit Series, Benares 1930, p. 575.14 (which reads *pramāṇasya gauṇatvāt*...; this is obviously wrong).
   The *sūtra* is also quoted in the *Syādvādaratnākara* of Vādi Devasūri, Arahatambata Prabhākara ed. p. 261 (?). I was unable to consult the book, but it is quoted by E. Solomon, "Bhaṭṭa Udbhaṭa", *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, Diamond Jubilee Volume, Poona 1978, p. 985,

2. *Cf.* E. Solomon *ibid*, p. 985.

3. *Cf. Syādvādaratnākara* p. 261 : *tato 'vaśyaṁ pakṣa-dharma-vyavahāra-siddhaye dharma-dharmi-samudāye rūḍho'pi pakṣa-śabdas tad-ekadeśe dharmiṇy-upacaraṇīyaḥ. tasmad itthaṁ pakṣasya gauṇatvam. Tad-gauṇatve ca hetor-api gauṇatā tad-dharmatvalakṣaṇatvād-asya. tasmād gauṇa-kāraṇa-janyatvena gauṇam anumānam. Gauṇatvāc ca na pramāṇam.* Quoted by E. Solomon, ibid, p. 985 n. 1.

4. *Cf.* E. Steinkellner, *Dharmakīrti's Hetubinduḥ*, Wien 1967, vol. II, p. 83 n.5.

5. *Cf.* E. Steinkellner, ibid, vol. I, p. 31.10-11.

6. *Cf.* n. 3.

7. References are given to the Delhi ed. (n. 1.). If you use a different edition, all the passages quoted here are from the very beginning of the *Pratyakṣoddeśa*.

   It is interesting to note that Prabhācandra certainly knew the '*pakṣa*' interpretation, although he does not mention it here. But in the *Nyāyakumudacandra* he gives no less than nine *vikalpas* for the word *gauṇa*, the seventh of which reads *dharmiṇi pakṣa-śabdopacārāt*. Unfortunately, these *vikalpas* are dealt with too briefly. I think most of them can be subsumed under the interpretation given in the *PKM* ; it is improbable, however, that all the nine of them were advocated by the Cārvākas, let alone by Purandara himself, as a direct explanation of the *sūtra*. Cf. *Nyāyakumudacandra* ed. Mahendrakumar, Mānik Chandra Dig. Jain Series 38, Bombay 1938, vol. I p. 71.1-4; *yac ca 'agauṇatvāt' ity uktam* (cf. p. 67.16), *tatrā-numānasya kuto gaunotvam-aviśada-svabhāvatvāt, svārtha-niścaya parāpekṣatvāt, visaṁuādakatvṣt, pratyaksa-pūrvaeatvāt, asthād anutpādyamānatvāt, avastu-viṣayatvāt, dharmiṇi pakṣa-śabdo-pacārāt, bādhyamānatvāt, sādhya-sādhanayoḥ pratibandha-prasādhaka-pramāṇābhāvād vā* ?

8. *Cf.* E. Steinkellner, *Dharmakīrti's Pramāṇaviniścayaḥ, Zweites Kapitel : Svārthānumānam*, Wien 1973, vol. I p. 25 : *bhrāntir apy artha-sambandhataḥ pramā.*

9. The fact that this is not an arbitrary juxtaposition on our part is corroborated by the passage quoted in n. 7, where similar interpretations are directly related to the word *gauṇa*.

10. *Cf. Tattvasaṁgraha* of Śhāntarakṣita with comm. '*Pañjikā*' of Kamalaśīla, ed. D. Shastri, Bauddha Bharati Series 1, Benares 1968, ad. v. 1481-82 p. 528.9-10.

11. *Cf.* T. Vetter, *Dharmakīrti's Pramāṇaviniścayaḥ, 1. Kapitel : Pratyakam*, Wien 1966, p. 34 n. 1 :
    pramāṇetara-sāmānya-sthiter anya-dhiyo gateḥ I

pramāṇantara-sadbhāvaḥ pratiṣedhāc ca kasyacit ||
"There is another means of knowledge (viz. inference), because of the general determination of means of knowledge and non-means of knowledge, because of apprehension of cognition of another [person], and because of negation of anything [whatsoever]." The verse is quoted by Prabhācandra at the end of refutation of the *Cārvāka-pūrvapakṣa PKM*, p. 477.4-5 (unidentified by the editor).

ON THE TRANSLATION OF THE BASIC NYĀYA TERMS : PAKṢA, HETU AND DṚṢṬĀNTA

D. D. Daye

A discussion of the problems of the translation of PA terms and Anglo-European logical terms is always in order, for to translate the vocabulary of the former into the vocabulary of the latter is to presuppose some implicit theories of and assumptions about logic. In this light, I shall consider the three widely used Sanskrit PA terms, pakṣa, hetu and dṛṣṭānta.[1]

Thesis (pakṣa[1]) : this word is used interchangeably with pratijñā, e. g., as in pratijñādoṣa, 'faults of the thesis statement'. The word 'pakṣa' has been used in three senses; pakṣa[1] is the statement of the thesis or conclusion of the PA schema, i. e., the whole statement 'Sound (śabda) is impermanent' (anitya) 2, 2.1, 2.3-4, 3.1); pakṣa[2] refers to property (dharma) of the thesis (pakṣa[1]) which is extensionally equivalent to the sādhya (the property-dharma-to-be-justified, 2.2, 2.4, 3.2.2 (5), 3.2.2 (4), e.2.2 (5); pakṣa[3] has one occurrence in the NP (2.1. (1)) where it has been used to refer to the dharmin ("locus/property-possesser") of the dharma "property" of the sādhya ("property-to-be justified") which is held to be concomitant with the sādhana dharma ("justifier-property," (hetu[2]) of the justification ascription (hetu[1]) (2.2) :

Both words, "hetu[1.2]" (below) and "pakṣa [1.2.3]", have been much equivocated upon in this early period; sometimes a property was meant, pakṣa[2]; other times the whole proposition (or ascription) pakṣa[1] has been referred to by this word. The translation 'conclusion" for pakṣa[1] may suggest that "pakṣa; is the sequential end of a true deductive or inductive inference-schema. I would hold that the PA is closer to a formalistic deductive explanation, rather than a clear deductive inference; hence the less restrictive "thesis" seems more appropriate for pakṣa.[1] The awkwardness of translating pakṣa[3] may be lessened by indicating the meaning of the pakṣa[3]-dharmin in "thesis-locus." Other well-worn words of twentieth century nyāya studies, hardly to be called "standard," merely common, such as "subject (and) predicate", "probans" or, "minor terms", are misleading. First, the logician's use of the former two terms is significantly different from a grammarian's use; second, their metalogical assumptions are simply out of date.

"*Justification*" (hetu) also exhibits an equivocation; hetu[1] is the whole ascription 'because (of its being a) causally generated thing (kṛtakatvāt)"; the usual transformation of the ascription into a statement is another etic but implicit transformation rule sometimes ignored by nyāya scholars. I hold that "justification" is a better translation of hetu[1]; hetu[1] is the ascriptive "statement" which indicates the

specific property (the hetu^2 dharma) of the justification-member (hetu^1) (for hetu^1: 2.1-4; hetu^2 : 2.2, 2.3); hetu^2 refers to a property (dharma).

I suggest 'justifier' for hetu^2 rather than 'mark' or 'reason'. First, it is better because hetu^1 refers to the ascriptive statement, not the property (dharma) which is either empirically observable (rare in the NP) or is mutually presupposed within the context of the competitive darśana(s) (philosophical schools) context. If this property (dharma) (hetu^2) is emically acceptable, by observation or, as is more likely, by finding no contradiction in it's assertion with one's darśana philosophy, and if the concomitance elicited in the warrant (dṛṣṭāna^1) is acceptable, then the acceptance of both (hetu^1 and hetu^2) is at least a necessary condition for concluding that the thesis-member (pakṣa^1) is legitimate. A rule of logical debate (vāda) is that both or all parties to the evaluation of the PA must accept the justifier-property (hetu^2). The metaphysical limitations presupposed by many of the opposing darśanas regarding the latter rule make such evaluation processes of PAs non-deductive but not non-formal.

Mr. Tachikawa translates the property, hetu^2 as 'mark', one-half of the concomitance of the two properties.[1] I take it here that he is also alluding to the common term 'liṅga' (mark), as found in the *Nyāya Sūtra* and also in the *Nyāya Sūtra Bhāṣya* of the darśana. While it is true that in the orthodox (āstika) Nyāya darśana, 'consideration' or 'reflection' (parāmarśa) on the mark (liṅga) of the hetu^1 may be the sufficient condition for noting the concomitance of the two properties postulated in the PA and thus the legitimacy of a pakṣa^1-pratijñā, no such discussion of parāmarśa is found in either the *Nyāyapraveśa* or the *Nyāyamukha*.

I would suggest 'justification' for 'hetu^1, (the ascription) and 'justifier' for 'hetu^2, the observable or assumed darśana-restricted property. Such translations reflect the important distinction between hetu^1 and hetu^2, whereas 'mark,' 'reason,' 'predicate', 'middle term', or 'probans', do not so distinguish. Such words as 'mark' obviously overemphasizes 'hetu^2, 'while obscuring the ascriptive 'hetu^1.' In a modern context where many scholars have all-too readily supplied dummy subjects to make hetu^1 into a proposition, which it is not (ityāha), it is important to make this distinction explicit.

"*Warrant*" (dṛṣṭānta^1, 2.1, 2.3). Although the word 'concomitance' or 'pervasion' (vyāpti) as is commonly found in the later tradition, is absent in the NP, clearly the concept of two concomitant properties is operative; this relation we find expressed in the dṛṣṭānta. There are three major components of the dṛṣṭānta statement. First there is the "yat. . .tat," conditional proposition stating the concomitance of two properties, dṛṣṭānta^1; second there is dṛṣṭānta^2, 'the similar exemplification' (sapakṣa) *and* third, the dissimilar exemplification' (vipakṣa). All three are referred to simply as the 'dṛṣṭānta' in the text. The whole dṛṣṭānta functions in this text as the expression of an exemplified warrant, which when juxtaposed with the protometalogical rule (trirūpahetu) and when satisfied, serves as a necessary condition

for legitimizing the thesis (pakṣa[1]). The two exemplifications (sapakṣa, and vipakṣa-dṛṣṭānta[2]) of the warrant serve to satisfy : (1) the need for the loci or exemplification of the two necessary conditions of the three-fold trirūpa hetu[2] rule and, (2) the early Indian rhetorical tradition which has its historical roots in the *Nyāya Sūtra*. This tradition required the presence of (generally) "concrete" exemplifications, perhaps as a vestige of the earliest arguments by analogy. The dṛṣṭānta[2], the sapakṣa and vipakṣa, and the great metalogical role they play in non-deductive mode of argumentation, leads one to suggest that the use of the term "dṛṣṭānta"[2] is historically prior to "dṛṣṭānta."[1]

While my translations of pakṣa[1] and hetu[1] are not the more common ones, such as "proposition/conclusion" and "reason" respectively, my translation of dṛṣṭānta[1] as "warrant" is much more controversial and hence requires a more complex justification.

We shall now turn to a justification of the translation of dṛṣṭānta[1] as "warrant". In the history of secondary scholarship about the Buddhist PA, "dṛṣṭānta" has been usually translated as either "example" or "exemplification." Emically, there are two metalogical types of dṛṣṭānta(s) : "concordant" (sādharmya) and "discordant" (vaidharmya).[2] Sometimes, in the texts, the conditional "yat...tat" is referred to the word "dṛṣṭānta" ; so sometimes the sapakṣa and vipakṣa exemplifications are meant, another equivocation.

Let us first dispose of two responses to my non-traditional translation of dṛṣṭānta as "warrant," that it is neither a "standard" translation nor as etymological one. That is, "warrant" does not convey the metaphor of exemplification, as indicated in the etymology of dṛṣṭānta[2] (√dṛṣṭ, to see, to visually observe), the statement of the example in which the concomitant properties, or their joint absence, are illustrated.

To claim that one should translate etymologically, that "dṛṣṭānta"[1] "means" example, illustration or exemplification, may be refuted by a counter-example concerning "pakṣa". If etymological translation is of primary importance in nyāya texts, then we should translate "pakṣa" as "wing." Of course we should not do so, for the word "pakṣa" has acquired a semi-technical meaning in nyāya vāda and a simple claim to translate in such a manner illustrates the methodological inappropriateness of trying to justify translating "dṛṣṭānta"[1] *solely* on etymological grounds rather than on emic and etic logical grounds.

Since 1900, scholars have struggled with many difficult nyāya translation problems, but given the multiplicity of logics, syllogistics, propositional and predicate calculi, even the logic of relations,[3] which have been used with and projected upon the PA, there is no more a "standard" translation than there is *a* standard source language logic. The comparisons and variations in the PA sources, in the target logics of formal translation and comparative metalogical interpretations, are the theoretical sources of the metalogical evidence for selecting a new translation of any PA term; it

is so with dṛṣṭānta[1] and[2] my point is that most scholars have discounted the metalogical function of the dṛṣṭānta[1] (conditional) and have emphasized the dṛṣṭānta[2] function of referring to the descriptive exemplifications (sapakṣa, vipakṣa) of concomitance.[4] This latter emphasis is quite in accord with the emic PA process of the justification of the legitimacy of a specific PA; however, while such scholars so emphasize in the dṛṣṭānta, they usually project other non-emic assumptions onto the PA, for example, formal deductive validity. We shall examine ten textual sources of evidence in the NP regarding my case for "warrant."

The text employs dṛṣṭānta[2] in only six cases among ten in the fallacies of the concordant dṛṣṭānta (sādharmya) (3.3.3.1-3) and the discordant dṛṣṭānta (vaidharmya) (3.3.2.1-3). The remaining four cases of dṛṣṭānta[1] (3.3.1.4,5 and 3.3.2.4,5) explicitly require both the conditional statement, dṛṣṭānta[1] with the conditional expression of dṛṣṭānta[1] in the proper order (3.3.1.5 and 3.3.2.5). This completes the distribution of dṛṣṭānta[1-2] in the ten sādharmya and vaidharmya fallacies. The discordant dṛṣṭānta (vaidharmya, 3.3.2.1-3) and dṛṣṭānta[1], the conditional (yat. . . tat) as in the last two fallacies (3.3.2.4, 5) is repeated as in the concordant section (3.3.1.1-5). Thus for a PA dṛṣṭānta not to be fallacious, one must explicitly state the dṛṣṭānta[1] in correct conditional form.

Now we shall turn first to the dṛṣṭānta[2] because this side of the equivocation is the usual referent when the term "dṛṣṭānta" is employed emically. The following is a translation of dṛṣṭānta[2] where the focus is upon the similar exemplification (sapakṣa) rather than on the conditional dṛṣṭānta[1], thus it is an example of dṛṣṭānta.[2]

Sādhana-dharma-asiddha. "A fallacious warrant is one in which the property (dharma (=hetu[2]) of the means of proof (sādhana) is not established (asiddha)" as in the following :

"The property-to-be-proved, permanence, resides in the exemplification, atom, but the property of the means of proof, corporeality, does not exist in the exemplification, atoms, because atoms are corporeal" (3.3.1(1)).

This instance of the fallacy of the dṛṣṭānta[2] does not focus on the conditional warrant but focuses on 1) the exemplification sapakṣa as the dual loci (dharmin) of two properties and 2) the presence of the sādhya-dharma and the absence of the sādhana-dharma in the exemplification. Tachikwa notes this,[5] but he fails to recognize the (fallacious) significance of the explicit informal fallacy of equivocation which has occurred here with the concordant (sādharmya) "dṛṣṭānta".

The first three fallacies (ābhāsa(s)) (in 3.3.1.1-3) are about dṛṣṭānta[2]-as-sapakṣa; the last two (3.3.1.4, 5) are about the conditional statements (yat.. tat) dṛṣṭānta,[1] the pattern of three dṛṣṭānta[2] is repeated with discordant dṛṣṭānta (vaidharmya, 3.3.2.1—3 and 3.3.2.4, 5). Dṛṣṭānta[1] denotes the conditional warrant; dṛṣṭānta[2] denotes the exemplifications as dharmins. However, it is well to note that to omit dṛṣṭānta[1] is to violate a necessary condition of a legitimate PA; that is, it is fallacious to so omit

dṛṣṭānta[1] regardless of what the recipient "understands" about the "understood" concomitance of a particular PA (3.3.1.4, 5 and 3.3.2.4, 5).

I now offer two translations and comments regarding dṛṣṭānta[1] about which shall argue in my discussion of the justification of dṛṣṭānta[1] as "warrant". The fallacy of the absence of a conditional formulation of concomitance (3.3.1. (4)) "Ananvaya" is the name of the fallacy of a statement of (positive) concomitance which lacks the conditional form.[6]

"A fallacious warrant (dṛṣṭānta[1]) is where a statement of (positive) concomitance (which expresses) the co-existence of both the property-to-be-proved and the property of the means of proof, lacks explicit illustration; hence, it is well-known that (the properties of) being causally generated and impermanence reside in a pot." Note that this fallacy ("resemblance" (ābhāsa) of a legitimate PA) is an extension of a legitimate PA, as in Model 1. However the explicit statement of the conditional warrant is missing, "whatever is causally, that is impermanent generated." Thus the explicit presence of the conditional warrant, not just the statement of the similar exemplification nor merely the juxtaposition of the properties, is a necessary condition for a legitimate PA. If the statement of the dṛṣṭānta[1] is necessary, what then, is its metalogical function, its logical role ? My emic conclusion is that it may be described as an implicit emic rule disguised as an alleged universally quantified law of concomitance.

In the other three fallacies of the dṛṣṭānta (3.3.1.1-3), excluding the fifth fallacy of an (improperly) reversed warrant, the justification of fallaciousness focusses not upon the conditional warrant (dṛṣṭānta[1]) but upon the presence and/or absence of the justifier (hetu[2]) and thesis properties (pakṣa[2]=sādhya) in the similar exemplification (sapakṣa). Thus the fallaciousness of the conditional warrant (dṛṣṭānta[1]) is quite different than the fallaciousness of the first three fallacious uses of the term "dṛṣṭānta[2]." This emphasis upon the presence or absence of the alleged concomitant properties in the exemplifications and the metalogical procedures of ignoring the etic potential role of the dṛṣṭānta[1], is a particular feature of the (metalogical) mode of argumentation in this text. Hence, this focus upon the specific exemplification(s) and not on the warrant constitutes more evidence for the non-deductive nature of the PA and its emic metalogical theories and procedures. Consider the contrary : a) if there were an emphasis on the warrant and b) if the PA were asserted with the thesis last, preceded by the justification and the warrant, and c) if there were replacement or transformational rules for the rearrangement of the latter two (hetu[1] and dṛṣṭānta[2]) and d) if there were explicit valid inference rules to which the nyāya logician could then appeal, to check, and against which to justify the PA at issue as in true deductive validity rules, then and only then, would we be able to make the case for and deductively argue that the PA is deductive, and in specific cases sound and vaild.

But we do not find a, b, c, and d exhibited in the PA and its metalogical theories and procedures or modes of argumentation. To pursue these questions further, let us consider the last fallacious warrant, the illicitly reversed expression of concomitance (viparitanvaya).

Also relevant to our discussion is the fallacy of a reversed warrant (Viparitanvaya) : An example of a fallaciously reversed warrant (3.3.1.(5)) follows : "A fallacious warrant (dṛṣṭānta[1]) which is illicitly reversed is, for example, where one states "whatever is impermanent, that is well known to be causally generated" when one should say (vāktavye) "whatever is causally generated, that is well known to be impermanent."

Note that the preferred warrant here is the reversed order of the missing warrant of the last fallacious warrant 3.3.11(4); the latter fallacious warrant lacked "whatever if impermanent, that is causally generated" which is the fallacious instance quoted in this fifth of the fallacious warrants through similarity (sādharmya). Thus the PA model implicit here is different than the only other fallacious warrant (dṛṣṭānta[1]).

It is also clear that in neither "reversed" (viparita) fallacy (3.3.1.(5) or 3.3.2.(5)) is there any justification or evidence explicitly offered in the NP text as to *why* the warrant must be explicitly expressed. The reader is reminded that normative *recommendation* concerning the correct order of the conditional warrant does not constitute *evidence* for the issue of why the warrant is needed. While the text then offers no explicit evidence for the answer to this extremely important metalogical question, the reasons are not difficult for supply; it is the necessary requirement of the explicit expression of the relation of concomitance (vyāpti).

Given the textual evidence just cited we now turn to make the case for the translation of "warrant" for dṛṣṭānta.[1] First, there is the implicit but obvious and simple normative rule that one should not utilize fallacious PA expressions; to omit the proper expression of the conditional dṛṣṭānta[1] is to commit a fallacy (as in 3.3.1.4, 5). Thus one should not omit the conditional dṛṣṭānta[1] regardless of how deceptively "clear" the PA seems without it. To do so is to commit an explicit emic fallacy; and to merely mention or simply conjoin the two properties in exposition is also to commit an emic fallacy (3.3.1.4).

Second, the correct order of the conditional dṛṣṭānta[1] can be accurately described as the naming of the justifier (hetu[2]-dharma) as the antecedent of the conditional dṛṣṭānta[1] and the property-to-be-justified (sādhya=pakṣa[1]-dharma) as the consequent. This is found in the legitimate PA (Model 1) where "causal generation" (kṛtakatva) is the name of the antecedent property and "impermanence" (anitya) is the name of the consequent of the conditional. The antecedent property "causal generation" is the justifier (hetu[2]). This is purportedly concomitant with the consequent property named in the dṛṣṭānta[1]; this property (anitya) is the thesis-property (pakṣa[2]) which is the property-to-be-justified (sādhya). This asymetrical relation of causally generated things and impermanent things is expressed in the conditional dṛṣṭānta[1], the absence

or the improper formulation of which necessitates the legitimate charge of asserting a fallacious PA.

The fifth fallacy (3.3.1.5) of concordance (dṛṣṭāntābhāsa sādharmyanena) also illustrates the antecedent/consequent relation of the conditional described in the preceding sentences. Again, rules of fallaciousness are normative; hence the conditional form of dṛṣṭānta[1] is the implicit expression of a normative rule, as was the rule stating the fallaciousness concerning the omission as the improper form of the conditional dṛṣṭānta[2] (3.3.1.4); the warrant states the concomitance as a generic relation, a law. My translation of "warrant" conveys its *normative* rule-like metalogical function; "example" or "exemplification" do *not* convey this normative function of dṛṣṭānta.[1]

Thus I have established two bases for normative rules with the dṛṣṭānta fallacies (3.3.1.4, 5), its absence and improper form. Does "warrant" better express these normative factors than "example" or "exemplification" ? I think it clearly does. Both "example" and "exemplification" are usually taken as purely *descriptive* terms, whereas "warrant" explicitly conveys the metalogical *normative* function of dṛṣṭānta[1]. That is, the function of dṛṣṭānta[1] is to serve as an explicit license or authorization rule, the appeal to which not only reminds the recipient (psychologically) of the concomitance of justifier (hetu[2]) and thesis property (sādhya-dharma), but the dṛṣṭānta[1] serves as the basis of a universally quantified law utilized as a normative standard; it is a rule which authorizes and thus justifies the concomitance (vyāpti) of the alleged concomitant properties of thesis-property and the justifier (pakṣa[2]=sādhya).

This specific normative function of the rule in dṛṣṭānta[1] occurs at the metalogical level; additionally, dṛṣṭānta[1] as a metalogical rule instansitates the general tendency in early Buddhist nyāya (and of course, in Jaina and āstika darśanas) to develop greater degrees of such general metalogical qualities as precision, clarity, formalism, freedom from error and formal explicitness. These metalogical qualities are repeatedly exhibited in nyāya texts in epistemology, ontology and in formal logic.

Other instances of these qualities in the Buddhist PA are found in the development of the explicit metalogical content-free "wheel of justifier" (Hetu[2]-cakra), the explicit metalogical rule of the three characteristics of the justifier (trirūpahetu[2]), the generation of such explicit metalogical terms as sādhya, sādhana, viśeṣa, anumeya, prameya, the generalized property/possessor descriptive relation (dharma-dharmin), and the whole varigated metalogical theory of error (ābhāsa). The latter theory of error is clearly normative and constitutes a rich fund of implicit metalogical rules and illustrations not all of which have been made explicit in the few explicit metalogical rules such as the three characteristics of the justifier (trirūpahetu[2]) or in the few non-fallacious PA models.

The paucity of non-fallacious models and the varigated complexity of the fallacies (ābhāsa) is necessary, for while it is easy to give an example of how a good

PA should appear, complete knowledge of the almost infinite string of possible **PA**'s that people could possibly generate is impossible to anticipate. Thus the most efficient device for helping one evaluate this near infinite series of generated strings of PAs, is to codify an inclusive range and type of possible errors regarding the construction and justification of PAs. These PA models, metalogically explicit rules, and illustrations of errors constitute the normative base of evaluating PAs.

The two normative characteristics of the last two fallacies of the dṛṣṭānta[1] with concordance (3.3.1.4, 5) are captured in the explicitly normative term "warrant," whereas, this normative quality is absent, or, at best, only very vaguely implicit in the translations "example" or "exemplification." As noted, the latter two candidates are primarily descriptive in meaning. It is the clear conveyance of the crucial normative meaning and rule of dṛṣntāta[1] as a universally quantified law used as a rule that provides the crucial evidence of the superior translation of "warrant" over "example" or exemplification." The term "exemplification" is exactly right for the sapakṣa and vipakṣa, for both, descriptively do exemplify, illustrate or exhibit the alleged concomitance of the properties, the justifier (hetu[2]) and of the thesis (pakṣa[2]). The roles of the sapakṣa and vipakṣa are illustrative but not primarily normative, whereas the role of the dṛṣṭānta[1] is primarily normative. My translations of dṛṣṭānta[1] and dṛṣṭānta[2] conveys these descriptive and normative aspects more explicitly and accurately than other translations.

In summary, four important points are now established; first, that, the absence of an explicit statement of either positively or negatively expressed concomitance (vyāpti, although this word is not used in the NP) is fallacious. Second, it is clear that the mere juxtaposition, however accurately named, of the two properties of the thesis (pakṣa[2]) and the justifier (hetu[2]) is also fallacious. Third, the correct warrant (dṛṣṭānta[1]) must express accurately in a conditional statement, the legitimate concomitant properties of the thesis (pakṣa[2]=sādhya) as necessary condition, the consequent, and justifier (hetu[2]) as sufficient condition of the antecedent. These relations are to be expressed in an appropriate conditional statement such as "where there is causally generatedness, there is impermanence". Fourth, the characteristic of the discussion of the dṛṣṭānta supports my claim (argued elsewhere) that the PA and its theories are neither deductive nor is validity an appropriate metalogical concept here.

Given my analysis of these two types of metalogical errors (ābhāsa), the absence of the conditional statement and the illicitly reversed order, I would hold that the implicit normative rule-like functions of the dṛṣṭānta (both sādharmya or vaidharmya) are explicitly expressed in "warrant" and significantly less (if at all) in either "example" or "exemplification."

Thus I conclude that, by appeal to the implicit methodological rule that one should choose the more accurate technical translation, my case for translating "dṛṣṭānta"[1] as "warrant" has been stated and so stands justified.

Footnotes :

1. This article is an excerpt from an almost completed monograph on comparisons of formalism in Anglo-European and early Buddhist formal logics. However here, my textual for the parārthānumāna (cited hereafter as the PA) sources are *Nyāyapraveśa* and the *Nyāyamukha*.

Sanskrit editions of the *Nyāyapraveśa* (cited hereafter as NP) may be found in : Dhruva, A. B. *The Nyāyapraveśa, Part I*, Gaekwad's Oriental Series, Baroda, 1930; Ui, H. *Bukkyo Ronrigaku* (Buddhist Logic), Tokyo, 1944; Mironov, N.D., "Nyāyapraveśa, 1, Sanskrit Text, edited and reconstructed," in *T'oung Pao*, Leiden, 1931, pp. 1-24; Tachikawa, M., "A Sixth-Century Manual of Indian Logic," in *Journai of Indian Philosophy*, I (1971) p. 111-145, Toronto. A Chinese translation of this text may be found in the *Taisho Shinshū Daizokyo*, Buddhist Tripiṭaka, Vol. 32, no 1630, 11-13. The Tibetan translation has been edited by V. Bhattacharya in *The Nyāyapraveśa, Part II*, Gaekwad's Oriental Series, Baroda, 1927 and in the *Tibetan Tripiṭaka*, Peking edition, Reprint, edited by D.T. Suzuki, Tokyo, 1962, No. 5706, 130, 74-76. The other text, the NM, is the Chinese translation of Dignāga's *Nyāyamukha*, Taisho, Vol, 32, 1628. Textual examples could have been taken from a wide variety of Sanskrit texts, but I picked this one for four reasons : 1) I have worked with these texts in Chinese and Sanskrit most often; 2) Tibetan and Japanese editions are available : 3) it is available in all four languages thus being at hand for more scholars; and 4) it seems to me to be representative of many of the interesting but messy problems common to a formal lineage slowly emerging out of an ordinary-language tradition of debate and reliance on concrete examples.

There follows my paradigmadic example, model 1, of the PA. The following is a representative example of a PA reconstructed from the *Nyāyapraveśa*. "An Introduction to Logical Analysis."[1] This may be taken as a general paradigm of the Buddhist PA schemas; the old chestnut "the mountain has fire because it has somke" is not typical, for it is empirically contingent, whereas many Indian schemas are not directly empirically contingent at all.

Thesis. "SOUND (IS) IMPERMANENT"

(pakṣa[1]) sabdo'nityaḥ

Justification : BECAUSE (IT POSSESSES THE PROPERTY OF) CAUSAL GENERATEDNESS

(hetu[1]) kṛtakatvāt

Warrant : WHATEVER (IS A) CAUSALLY GENERATED (THING), THAT (IS) WELL KNOWN (AS AN) IMPERMANENT (THING)

(dṛṣṭānta[1]) yat krtakaṁ tad anityaṁ dṛṣṭam

Similar Exemplification......AS (IN THE) CASE OF SPACE, ETC.

(sapakṣa) yāthā ghaṭa-adis

Dissimilar Exemplification .....AS NOT (IN THE) CASE OF SPACE, ETC.
(vipakṣa) na yathā akāśā-adis

2. The translation "concordant" and "discordant" were kindly suggested to me on April 15, 1980 at the University of California at Berkeley, by Dr. Alex Wayman, Professor of Sanskrit, Columbia University.
3. Staal, J. F., "Formal Structures in Indian Logic", in *Synthese*, Vol. 12, September, 1960, 279-286.
4. Tachikawa, *op. cit.*
5. *Ibid.*, also relevant are the remarks of R.S.Y. Chi in his *Buddhist Formal Logic*, Royal Asiatic Society, London, 1967, 105.
6. Sanghavi, S., *Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics*, Indian Studies: Past and Present, Calcutta, 1961, 109.

PHILOSOPHY OF ĀCĀRĀNGA SŪTRA

Joharimal Parikh

The *Ācārāṅga*, by common consensus, occupies a premier position in the entire Nirgrantha canon. This *āgama* consists of two books, the first being the earlier, in point of fact the earliest of all extant āgamic works. The commentarial ancient tradition goes on to say that it is a compilation by Gaṇadhara-apostle as heard directly from Jina Vardhamāna Mahāvīra. The writing begins with the clause 'O Long-lived one, so have I heard the Lord saying' and each lecture ends with the words *se bemi* i.e. "I am repeating the same as heard" : The second part is a later addition of details on monastic disciplinary rules embodied in appendices and schedules, the aggregate considered an annexure to the first, which is the principal part of the Volume.

The currently available compilation of the *Ācārāṅga* is the result of the collative editing of *c.* A. D. 503/516 and very possibly does not represent the full text of the original but is a faithful edition of the fragmentary remains of the original. Its style, the language of the prose part and the meters employed in the interspersed verses are the most archaic in all Ardhamāgadhī canon.

As the editing of the *āgamas* was done by the Northern Church (Vajrī śākhā in particular), the possibility of its recognition by the Southern Church (Digambara), when it later came to know about it. was negligible. But it would be more than apparent to any scholar that, in the basic tenets, there is no conflict between the meaning and even the vocabulary of the first part of the *Ācārāṅga* on one hand and the later substitute canon of the Southern Church. During the long period of the Nirgrantha history, the Digambara Church has not disputed or criticised the philosophy of the 1st book of the *Ācārāṅga*. The present article is limited to the consideration of the first book of the *Ācārāṅga*, with specific reference to its philosophical contents.

The philosophy of the *Ācārāṅga* can be summarised under the following heads in its own terminology (except the eighth which, though not specifically so mentioned in the *Ācārāṅga*, its nucleus figures in the *Sūtrakṛtāṅga* and is a forerunner of the classical *anekāntavāda* or the Nirgrantha theory of the relativity of standpoints and conclusions.)

A. Ātmavāda (*Ācārāṅga* I.3; *se ātāvādi*)

B. Lokavāda (I.3, *se logāvādi*)

C. Karmavāda (I.3, *se kammāvādi*)

D. Kriyāvāda (I.3, *se kiriyāvādi*)

E. Utthitavāda (I.150, *utthitavādaṁ pavadamāne*)

F. Dhūtavāda (I.181, *dhūtavādaṁ pavedayissāmi*)

H. Anekāntavāda.

The component "*vāda*" has not been used here in the sense of dialogue or debate as in the *syādvāda* but it has been used as in the compound *samājavāda* i.e. belief in a doctrine followed by its right practice. Accidentally or otherwise, it is logical to explain the above heads in the same serial order in which they appear in the text. Before doing that an introductory remark be made (in words of the Jina himself) that 'people in general are unaware from where have they come or what they were in the past or what shall be their future destination. Also, out of these ignorants, many do not bother to remove this 'ignorance' (*Ācārāṅga* I.1). 'Only those who are inquisitive or raise doubts and possess an urge to remove these, can comprehend the world' (I.124). And when he thus becomes aware that he has come from "somewhere" and "I am that (*soham*)" who had been roving from one birth to another and to all places and in all directions" he can be called *ātmavādi, lokavādi* etc. (149).

A. ĀTMAVĀDA

A1. So he recognises the existence of soul and becomes *ātmavādi* or believer in the existence of Self (3). In fact, existence of either this Universe or his own Self must never be denied because the denial of the one leads to the denial of the other also. The Self is the Knower and Knower is the Self. Both terms are synonymous. Knowledge takes place *via* the Self. Self can be comprehended through the process of knowledge (22-32).

A2. Words fail to describe the nature of pure liberated Self, arguments cannot reason it out; it is not within the grasp of either mind or intellect. But 'conscience' does exist and is a known 'reality'. It is neither long nor short, neither circular nor triangular nor quadrangular nor round, neither black nor blue or violet, nor red nor yellow nor white. Its smell is neither good nor bad. It tastes neither pungent nor bitter nor astringent nor sour nor sweet; it is neither hard nor soft; neither heavy nor light, neither hot nor cold, neither greasy nor parched dry. It is bodyless, devoid of birth and death and cannot be contaminated. It is neither feminine nor masculine nor neuter. The subject (*kartā*, author) of discriminative knowing and perceiving awareness does exist but without any simile. This intangible substancial entity is always there. It is beyond verbalization. Hence it is neither speech nor form, nor smell nor taste nor touch, indeed nothing of that sort.

A3. The individual mundane 'soul-units' manifest themselves as earth beings, water, fire and air beings, vegetative life and moving creatures. These six categories of living beings exist on land, in plants, water, space, planets, and all types of bases; they take birth in various forms and the whole living organism passes its life in different categories. As is the case with the human species, there is a birth to vegetable plants, they also grow, they are also conscious and susceptible (to feelings and sensations), they also become non-bloomy when cut, they also take food, they

are as well mortal and they die, they also expand and shrink and their form also deteriorates (and progressively decays) in various ways.

A4. There is complete 'self identity' between the doer of efforts for the *nirvāṇa* or *mokṣa* (liberation, salvation, emancipation) and the one who attains it, the bondage as well as release is of, and by, one's own Self.

B. LOKAVĀDA

B1. That the believer in Self recognises the existence of this universe and is termed Lokāvādi (believer in the existence of World or Universe). On all sides one perceives tangibles having sound, shape etc. (i. e. smell, taste and touch) and the deluded one becomes engrossed in them — these sensory feelings amount everything to him. These sense-objects constitute the universe which in reality is nothing more than sense-objects.

B2. One who is for sense-objects, rejoices that (a) these are my relatives; (b) this is my wealth and (c) treats his body as if it will last for ever. Such people all the time think of sensual pleasures and being fully occupied with activity, with the assistance of subservients (animals etc.), become engaged through all available means in the production for their own as well as their peoples' consumption; and they always try to strike the balance, more or less, for future with deep attachment. Many a people consider immovables etc. as their own, like the life full of riches, women and luxaries and are always busy enjoying it without seeing any wrong with it, because they think that the pleasant items are meant for enjoyment only.

B3. (i) But human life is limited and when the power of senses is spent up, these (very) people feel nervous and frustrated and due to age become unfit for laughter, sex pleasure and for personal adorning. As a result, they at times become sick : (a) Relatives with whom he lives sometimes part with, show disrespect, do not support, or criticise him, sometimes the reverse may also happen. In point of fact, neither he can be a solace for relatives nor can relatives be so for him. (b) Perchance he is able to amass large wealth but the same is divided by claimants, stolen away by thieves, taken away by the king, lost or destroyed by fire etc. and the poor fellow then regrets, for all the hard and cruel labour put in by him as if was for the benefit of others : For the sake of the 'body', people assault others but it is frail and perishable and whether seen inside or from outside it is likewise filthy and all the time foul matter is pouring out of it. Death, which invariably visits one day or the other, will put it to an end. By nature it is wasting, impermanent, ever-changing, decaying and liable to growth as well as consumption. Its appearance is just circumstancial. Life-span cannot be increased; on the contrary, like a drop of water on a leaf, life can be destroyed by just a wave of wind.

B3. (ii) A person absorbed in worldly pleasures is most often cruel towards other beings; love for beauty leads to violence. He is full of tension and anxiety throughout the day and the night, all the time toils for wealth etc., becomes an

exploiter and plunderer, takes uncalculated risks and feels uneasy. He grows full of deceit and greed and thereby enmity for himself. One has to face troubles before and after a sex event, (for) company with women results in friction. Death may separate him from sense-pleasures for an untold length of period; more so a person is under an illusion, he is unaware that even fulfilment of his wishes may not result in happiness. Besides these, the sense-objects are the basic cause for wandering in this world a man involved in them accumulates a heap of *karmas* which consequence in the cycle of births and deaths, grief, hell etc. Thus, one who looks for pleasure in these sense objects ultimately get unhappiness and miseries only due to his own mistaken acts.

B4. One who knows the true nature of these sense-objects knows the Self, *Vedas*, religion, Brahman; and being enlightened comes to know this universe with his super intellect and is called a 'Muni' (a candidate for nirvāṇa) and that master of religion with sterling transparence recognises them as the root cause of roaming in the world.

B5. Doubtless, it is difficult to win over these senses but realising the futility of sense-pleasures, people with right understanding conquer them, reach a higher stage which lies beyond them, cross the worldly bondage and free themselves from the transmigratory cycle. Whether agreeable or not, it makes no difference to them; rather they have no preferences left and bear with all types of smell etc. While eating, they do not even change jaw sides for the sake of tongue or the taste. As the case of sexual pleasure is most disastrous, a wise man should avoid woman as of no use; and to overcome this urge one should reduce his diet or stand right up on the top, change his abode and even fast but never allow himself to be subdued by this passion. He denies the consumption of pleasant things though coming in the routine and forbids in advance the non-user thereof. Once having given up the use of attractive items, one should never go back to them (it is something like licking the spit) and should not even recollect those past incidents when he had enjoyed worldly pleasures. Knowing the true nature of disease, body and death, a Muni, when sick or weak, does not show any eagerness for treatment and avoids the remedial measures involving violence.

B6. This world is full of troubles; miseries of birth, old age and of 16 types of diseases; torturing by fellow-creatures and (many) other (kinds of) pains; all mean this little happiness here. Inspite of that, people are not serious enough to track the path for getting rid of it.

B7. One must fully realise that 'I am all alone here, none is mine nor am I of others.' 'Man ! You alone are your ally, why hanker for outside help'. Do not crave for popularity with people. One should not be sensitive to public opinion and criticism by common folk. Should not be guided by the ruts of ill-informed mob-traditionalism. Cut down worldly attachments as well as intimate associations. That is the path of Justice. The 'wise one' disregards the irreligious people. One without attachment in this life shall be free of bondage in the next life also.

C. KARMAVĀDA

C1. The one who recognises the Self, and hence the world, recognises the *karma* theory also and is known as *karmavādi*. One fastened with the bondage of *karma* roams in all directions and occupies various positions in the space-world (extant continuum), is born again and again in different species, and suffers physically, mentally and otherwise. A nescient full of deceit and other passions, inertia and unalertness, deception and desires etc. forms a sort of vicious circle with the *karma* bondage and goes on rotating in the cycle of death and births and experiencing the other consequences as a continually running process. All beings have been born many a times in many places and varieties of living spacies in this universe. The metaphysics of *karma* in this connection should be thoroughly understood. Past and future are not all alike ; one undergoes changes in next births due to *karmas*. Moving creatures may be reborn in stationary category and vice-versa. The process of exhaustion of *karma* bondage is self accelerating, destruction of one bond leads to the destruction of others and for complete destruction of one bond, the destruction of others is also necessary.

C2. Troubles ensure due to one's own *karmas*. *Karmas* produce consequences and here or thereafter one will have to bear their fruits. Because of *karmas*, one is within the reach of death and hence away from release. Those who are bound by *karmas* cannot cross this ocean of birth and death.

C3. But one who has destroyed the bondage of *karmas* becomes free from all troubles and crosses the cycle of birth and death because no cause survives for these events; he is neither within the reach of death nor is he away from salvation.

C4. Therefore one who explores the process of cutting away of his *karma* bondage is a wise being. Fully knowing the cause and effect of all types of *karmas*, one should wholly concentrate on being relieved of their bondage *in toto* and thereby completely free himself from the cycle of death and birth. For a wise man there is nothing superior to *nirvāṇa*. He must possess the true comprehension of (the nature of) the Universe. To perpetuate the worldly existence and to go on suffering its sorrows is inadvisable.

D. KRIYĀVĀDA

D1. He who believes in Self, universe and *karma* also believes in the theory of activity and is called *kriyāvādi*. 'I got it done' and 'I shall approve of it being done', are thoughts and actions which are the causes of *karma* in this world, this 'action-ego' creates bondage for the Self. The bulk of *karmas* have been piled up by vehement activation on one's part. Thus ultimately one's fate and destiny are one's own making.

D2. And yet people (have to, indulge in activity for their livelihood, some for acquiring esteem, prestige, fame, love and for certain) power, etc. some for being relieved of this world and yet others for the removal of sorrows and unhappiness. Some

persons, because they are much too entangled in worldly attachments, some being unaware of the consequences of what they are doing, some for body-limbs and animal products, some for a purpose, some even without a purpose, some for taking revenge, some to face attack, some under certain future apprehensions and to ward off against that; some of their kith and kin, guests and staff, some claiming themselves to be the curer of all ills and diseases and boasting of doging things which have never been accomplished by anybody in the past, some for acquiring powers of Self, community, friends, gods and *pitṛs* (dead parents and forefathers), kings, thieves; guests, misers, hermits and others, some for fancy fads of theirs, some simply for the sake of pleasures, some because of addiction, some because of wrong notions and labouring under mistake, some for curing ailments, some being fickel minded enough to launch their fierce plans—lest the body will fall for want of food, etc. Some people (are worried about) supporting the body for proper working by way of duty; some finding that in this world other people are not seen following the ethics, religion etc., then why should they alone do it and hence they freely indulge in fierce activity leaving behind all restrains and discipline.

D3. Therefore, people have been advised discriminative (as against wholesale or complete) renouncement of activities based on intelligent mind-application with right knowledge. One should be very careful and weigh each and every action and its net consequences, because situations (in life) are complicatedand on all sides there are sources of bondage and from them nothing escapes. This type of renouncement is the cure of all unhappiness and those who do not follow this course always remain in worldly grief. Well deliberated abstainment from furious activity is a feasible renunciation; ever alert attains it through evaluation on merits. One who is entangled in cruel activity is nescient about renunciation; whereas one who is away from it knows and follows the correct process of renunciation; those who is fully conversant with, and observes discriminative obstinence from, tormenting and rigorous activity is called a Muni.

D4. Besides, these activities have been classified. Good actions result in good *karmas* and bad doings in bad ones. Further, enlightened ones have chalked out such a path that for the wise followers of it, there is little or no bondage of karmas. Brave people have treated that path, it is neither unknown nor an impossibility. And who fully avoids the way of karma bondage is known as liberated in this world itself as if freed and released. If a virtuous man of right perception without any carelessness whatsoever and whose self is totally undisturbed and who is disciplined and free from passions happens to afflict others, the resultant karma bondage in his case will be very meagre—balances off soon in the next moment or in the life only. The same material source can bring us bondage or save us from bondage—karmic matter or outer form of action alone do not decide the issue. Life without incurring bondage can be lead both in the midst of the society as well as in forests. An unfit person fails to lead such life wherever he may live, whether in the forests or in the society.

E. UTTHITAVĀDA

E1. Fixing *Mokṣa* as the only object, the crucial point is to make efforts and exert for it and this is termed as Utthitavāda. Look at the fate of inactive idlers, these escapist can nowhere move towards the goal, shall ever remain in bondage. Without reserving any of his faculties, one has to labour very hard with his full vigour and might to achieve the above end; should strive in right earnest to became a tireless strong follower on the path of *Mokṣa*. Step by step he *Mokṣa* progress and would go on proceeding ahead.

E2. Make up your mind, say good-bye to lethargy and make the best of the present opportunity without wasting a single moment. Age is running away and so also the youth; therefore, without any postponement make hay while the power of senses last. Realise the value of precious occasion of this human life which is quite an elevated spiritual stage. Do not miss this golden chance, try your best. Always be alert and energetic and banish the inertia (of indolence). A wise aspirant ever remains awake and is on his guard, whereas lifeless lazy chaps always prefer sleeping. To cite, Jina Mahāvīra never went to bed with an idea of sleeping. Whatever little sleep he got was an indeliberate biological phenomenon and that too he used to avoid by meditating in open. People who feel at home in leisure and pleasure alone, and never want to tax their faculties, are on a wrong path; they become nuisance for others and break the vows already taken (if they live embraced the order of ascetics). Hence one should be incessantly careful and attentive and none of his activity be done without watchfulness and vigilance.

E 3. The road to salvation is an arduous one: only the brave can tread over it while weaker ones fumble. Therefore the rules of prescribed conduct should be strictly followed with strong determination, and adversities be faced even at the cost of death. Who is afraid of difficulties is under constant fear and who sccumbs, revolves in the world-cycle for long. One should not be discomposed even if killed. As a warrior in the front of the battle field, he should encounter all hardships and adversities. Derive boldness from the fact that you alone are not a victim of these odds.

Note : The subject matter of *Utthitavāda* can be dealt with under the four divisions as demonstrated below :

Utthitavāda

Spiritual aspect | Bodily & Mental aspect

(1) Sāmāyika (Samabhāva)
(equanimity)

(2) Ahiṁsā
(non-violence)

(3) Saṁyama
(contraction)
(4) Tapa
(austerity)

E4. (i) *Sāmāyika* Dharma (religion) consists in Sāmāyika. What one acknowledges Sāmāyika one acknowledges it as 'Munihood' and what one acknowledges as Munihood that as Sāmāyika. Sāmāyika is the specific characteristic of a Muni. (157, 209, 161)

E4. (ii) By knowing and identifying Sāmāyika with soul in tone-perceptive, one gets self-bliss; does not remain unhappy. One should never allow oneself to be baffled or disturbed, but always keep tranquility and be self reconciled. Must remain self-contained and Self-oriented. With Sāmāyika, a spiritualist 'falls in order' and is recognised as such. 'Restrain your own self, thereby you will be distress-free. Struggle with your self alone—no use fighting with externals. Chastise your Self, refine your Self. Always maintain purity of the Self, do not allow foreign adulteration. Keep your soul region stable, in perfect calm.

E4. (iii) Eliminate four *kaṣāyas* (passions) namely anger, pride, deceit and greed without which there would be no emancipation from kārmic bondage. One should, exterminate anger, pride, deceit, greed, attachment, aversion, delusion, conception, birth, death, hell, animal-inception and agonies, because subjugation (or persuit) of each leads to the conquering of (or engagement in) the latter. This is the philosophy of those who are omniscients, liberated, devoid of violence and liquidators of the bondage. Short duration of human life cannot justify anger—expunge it. For times out of number, the same soul has taken birth in higher class of species like human beings and gods and for infinite period it had wandered in lower types of species like stationary, 2-3-4 sense-beings and animals. So there is no intrinsic difference between various classes of incarnate beings—souls resident in all of them are alike. Visualizing this, who will boast of his family stock, or feel proud of it and why shall he have affinity toward, or longing for, any ? Therefore, a wise man should neither feel elevated nor dejected on account of his caste etc. and should expunge the sense of vanity of any sort whatsoever. Unless deceit is eradicated, there will be no progress towards *nirvāṇa*. The greedless one is just like a liberated one.

E4. (iv) Do not develop the mentality of liking and disliking—reject both forthwith. Bear everything with self-quiescence; do not allow these ideas to overpower you. Feeling of the absence of pleasure or presence of displeasure should not crop up. Cross that stage, go beyond them.

E4. (v) Treat yourself exactly at par with others without claiming any privileges. Know all like yourself.

E4. (vi) Realising this coming and going, one should put an end to the sentiments of attachment and aversion. On winning these two powerful enemies, Sāmāyika reaches the stage that even if his body is cut into pieces, no feelings rise in him

i.e. he (his Self) can never be cut, pierced, burnt or beaten by anybody. Naturally he cannot *inter se* show discrimination amongst others. Whether prominent or subordinate, no distinction in preaching etc. be made. Treat life and death alike—nothing to choose between or yearn about or to fear of. Notion of "my" and "own" should not extend to anything which truly is not yours and that way you will get rid of 'mineness' which cannot co-exist with Sāmāyika.

E5. (i) *Ahiṁsā*: Proclaiming themselves as religious people, but being deeply involved in this world, many persons indulge in violence, order, or cause others to do so and also approve and thus support the violence done by others. They even advocate violence; but violence is wrong and not in their own interest. By killing one variety of species a person usually kills the others also and is guilty of theft as well. Killing, or otherwise torturing means pain to the victim and pain is disliked by all : everybody wants to remain happy. Even votaries of violence if honest, should admit that troubles are not welcome. Creatures of lower category may not express their anguish but the fact of their suffering and feeling cannot be desired. One who indulges in violence remains always under fear, he develops enmity for himself. In fact, to whom thou art killing or intending to kill is thyself alone. Violence is no solution because there are more and more powerful weapons to counteract: there is no end to it. But nothing can surpass non-violence. Therefore who freely engages in doing violence to others are to be distinguished from those who feel ashamed on doing such a turbulent activity. The latter feel disturbed when even others indulge in this type of fierce actions; and compassionate ones, if happen to know of such cruel plan in advance, will try to dissuade its executors.

E5. (ii) Therefore a wise man should neither kill, torment, agonize, harass etc. any type of living being nor get it done by others nor approve it if done by others. This has been preached all along by all as a universal doctrine of 'dharma'. An aspirant for release should walk on the path of non-violence and do all the activities with utmost care and attention. He should not hurt anybody even by speech. One who has full knowledge of weapons and agents of violence and knowingly rejects it, can follow the rules of non-violence.

E6. *Saṁyama :* Be away from all the *pāpas* (vices, demerits) enumerated by the various religious schools. Passive is better than bad positive. Adopt restricted and disciplined life-schedule. Tempo of worldly activities should be kept at the lowerst ebb. Withdraw your energies from materialism. Wondering is delimited for those who follow contraction and do not spread involvement. Abstainment forced by circumstances is unreal; it should be willingly done. Finish with all conspiracies and complexities. Avoid laughter and company of bad people and also of those otherwise innocents who have fallen pray to the company and influence of bad characters. To commit a sin and deny the same is a second folly and so also is, if he himself does not purging the vices but criticises those who have done away with them. Speak only if necessary and if you can deliver the goods; otherwise silence is the best mean, that way

atleast you are not in for a fresh bondage. Have no fancy for achievements, wishing something in exchange is a bad bargain.

E7. (i) *Tapa :* This is the most effective remedy and an affirmative step for destroy the already existing kārmic bondage. One must make progress in the sphere of questions stage by stage.

E7. (ii) Resort to fasting frequently—this penance can take various forms as to time, content, items, number, quantity etc. of meals. Reduce (bodily) flesh and blood. It is said that wise peoples' arms are lean and they are slim which spells brilliance and stamina. When due to age, sickness etc. body becomes unfit as an instrument for *nirvāṇa* or one comes to know of his immediate death, he can abstain from food, water, medicines, movements etc. till death. Meticulous care has to be taken lest this sophisticated mortification may turn out to be a case of sucide.

E7. (iii) Reduce the level of consumption and limit one's wants. One should have little clothings and can do without clothes in summer. Who feels neckedness a difficult discipline has been given a concession to use one loin cloth. Renounce your possessions to nullity. One should have frugal meals and use lifeless water for drinking. Abstinate from sex life and observe *brahmacarya* (celibacy). Women, who are very expert in the art (of allouring), try to trap a man; so by way of prevention he should not (a) do her acts a menial (b) engage in the gossip about women, their beauty, sexual characteristic and anatomy etc. (c) should not talk and have intimacy with them in privacy; (d) should not look at the beautiful parts and sexually agressive moments of their body. One can make number of resolutions of austerities *qua* his religious routine and remain strict about them at the cost of heavy odds and even of death if the occasion so warrants—there is nothing improper in it. Have detached life and remain aloof from relatives and material paraphernalia-for this accelarates the process of destroying the accumulated *karmas*. Be habituated to endure vagaries of climate, nuiscance of insects etc. pains of sickness and other physical tortures. Do not even rub your eye or body even when there is an sesation. Train your body through exercises in hardships; do not allow it to be delicate.

E7. (iv) Brisky contemplate in the right perspective. Concentrate and meditate. Practice *kāyotsarga* (as if taking soul out of the body). Serve others by helping them directly in or indirectly attaining release. For the benefit of nescients etc. the learned ones should give discourses and instructions about liberation. But knowledge should be imparted to those who need, yearn and deserve it. Otherwise may be regress instead of progress. Wise ones do not need preaching. The preceptor should leave no stone unturned for training his disciples. Let him be the refuge for them for all purposes.

F. DHŪTAVĀDA

F1. As a more effective method of destroying kārmic-bondage, the institution of Dhūtavāda i. e. full time practitioner for *nirvāṇa* throughout the rest of his life

(as ag inst part time amateurs) has been prescribed and very highly recommended also. Accordingly, knowing the true nature of this world, one becomes a 'Muni' by rer ouncing the householder's life, parts away from wife, relatives, wealth and other worldly involvements and leads a desireless and detached life with a strict disciplined routine. People of all the three age-groups are eligible to be admitted to this order.

F2. On adoption of this hard course, their relatives etc,. offer opposition and try to dissuade them by arguments, temptations or other measures and at times the weak and timid ones give way and continue or come back to house holder's life. Such persons are condemned even by the lay masses and they wander in the world for a long time. People who do not become Muni, yet not leave that order fall in the same category. Inspite of being in the company of the best of the Munis, one falls out due to delusion etc. Therefore, it has been said that easy-going, intimately affectionate, involved in sensual pleasures, deceitful, inactive and unalert and deeply attached to house holders' life and property is unfit to become a Muni. Sometimes one does not give up the formal Munihood but falls from its prescribed high conduct and due to delusion and sensual attraction leads a corrupt Muni life of his own liking. On being asked, he cuts a sorry figure—in fact such a person is neither a householder nor a Muni—a loser both ways. Such perverted ones speak ill of their own preceptors, disobey them, and though not being real followers, criticise good monks and Munis and preach conduct to others, thinking themselves to be the wisest. They only talk and make a show of Munihood but in fact lapse into stronger bondage.

F3. Admired ones are those who remain steadfast to the Muni conduct. One should maintain the zeal at the same high level at which he entered the order. At times a Muni is beaten, tortured by worms, insects, birds, and animals vagabonds, gods; and in various ways he is troubled by others : But he should face all such difficulties with equanimity and courageously, indeed without shirking down in the least from the lofty heights of conduct befitting a Muni. He should never be afraid of hostile area or atmosphere.

F4. Till a Muni is not fully matured and conversant with rules of Muni life, scriptures, etc., it is risky for him to wander alone—he should have the company of the preceptor. Thereafter he may part away and lead alone the true Muni life. Sometimes, in order to hide their nescience, lethargy and other weaknesses, quarrelsome Munis lead a lonely life, but they are away from the right path because of their passions, hypocracy, fraud, self-praise and lustfullness. Generally, there should be no give and take of food, clothings, bowls, etc. amongst the Munis *inter se*—in exceptional cases help can be given. The ban is more strict *qua* the monks of other group, sect, or religion. Begged food etc. cannot be given in charity. A Muni should neither participate and fully mix up with householders nor take interest in folk-dances, dramas, entertainments, gossip and the like of the village.

F4. An expert Muni, at proper time, should go to places where food etc. are available without any complex or aversion and carefully beg the permissible food, clothing, bowl, blanket, cleaning cloth, broom and mat necessarily required with no idea of accumulation. Without having a preconditioned adamant or committed attitude, he takes the things in the ordinary course. He should not feel elated if successful or sorry if unsuccessful in getting alms. Never quarrel with the donor—adjust to his behaviour. The Muni should not accept anything which is living—the permissibility to use live water cannot be justified as correct by monks of other schools. He should not be a seeker of tastes, his clothing, mat, cot, etc. should be of a poor variety and fewer in number so as to be easily portable while going from place to place. He should put on the clothes as received without washing, dying, and mending. He cannot accept food prepared or brought for him or use the fire lit for him—should forbid in advance if comes to know of it. A Muni should never prove to be a hinderer for other beggars, birds, hermits, menials etc.—better walk away from there. He should not partake in purchasing operations for him. He can stay in burning-ghāṭs, grottos, way-side places, or even under the trees.

G. UTTARAVĀDA

G1. "What has been preached by the Lord is my *dharma*" is a good precept for ordinary people. Such faith is *Uttaravāda* i. e. the last word. Never act contrary to his preachings. Besides, we should follow the Lord also in his actions and abstainments. Always be engrossed in the philosophy inunciated by him, concentrate your mind on it; contemplate, perceive and understand it, try to follow it and assert for liberation with faith in these right fundamentals. Undoubtedly, the way of Jina Mahāvīra is the best for annihilation of the kārmic bondage. Like an island we can feel safe in it. What is uttered by a Jina is truth alone and should not be doubted but believed as correct and acted upon. Bhagavān preached what he heard, perceived, contemplated and directly realised; and he himslf verified the same for he was always vigilant and alert. No further proof is needed for the words of an omniscient. People who have faith in this philosophy shall on due contemplation understand everything whether right or wrong in the proper perspective and cannot go astray whereas people with perverted faith shall misunderstand everything and cannot achieve self-conciliation.

H. ANEKĀNTAVĀDA

H1. Knowledge can be gained by self-contemplation or through preceptor to preceptor-generation or by asking or hearing from omniscients and others. The enlightened ones know this entire universe from all sides and parts. Unless one knows all, we cannot know one comprehensively; in other words full, knowledge of one object means omniscience. Neiscients cannot know the *dharma*. Save yourself from people with false knowledge, know the truth alone and then only your efforts would be in the right direction leading to *mokṣa*. Vowless men with perverted faith advo-

cate salvation through nescience but this only augments the cycle of existence. Some say the same thing as spoken by omniscients. Many persons understand quickly while others cannot—the latter become frustrated.

H2. People in this world have various view-points which are not correctly arrived at. All sorts of conflicting statements are made e. g. Universe is a reality—Universe is a myth; it always remains constant as it is—it is everchanging; it has a beginning—it has no beginning; it comes to an end—it is eternal; something is welldone—no it is a wrong doing, a particular act is meritorious — no, it is sinful; this man is religious—no, he is irreligious; there is *mokṣa*—there is no *mokṣa*; there is hell—there is no hell. Every one says that his view alone is correct but on critical examination this does not seem so.

Thus a preliminary attempt (to be followed by a detailed and revised one) has been made to arrange the *Ācārāṅga* for easy understandings : comments on it are invited. In this presentation, leaving aside the introductory and concluding paras the main body of the paper neither contains a single word outside of the *Ācārāṅga* nor does it leave any of its *Sūtras** unaccommodated. By reason of such a faithful exercise, this article may not be treated as philosophical in the traditional or strict sense of the term, but this unadulterated and non-critical summary has been advisedly put up because the omniscient propounders of religion do not frame philosophy—they utter the natural truth; philosophers come next and start grooming and in their anxiety to make it more scientific, substitute logic in place of nature and what we get are intellectual but often ridiculous results.

Thus the *Ācārāṅga* is not a monopoly of any religion-rather, like the *Gītā*, religion flows from it. And it scores on one point that it is a complete code in itself. There is, however, one complaint that the scholarly world has so far neglected its due study and research, and I may be excused of adding the second that they have also neglected to follow it. Doubtless, the *Ācārāṅga* makes a pleasant reading, but on practicing it alone one realises the true meaning and immensely more the bliss.

* Numbers of the *sūtras* are as per the text of *Ācārāṅga* edited by Rev. Jamboo Vijayaji and published by Mahavir Jain Vidyalaya, Bombay 1977.

THE DATE OF KUNDAKUNDACĀRYA

M. A. Dhaky

Back in 1935, A. N. Upadhye fixed the date of the illustrious Ācārya Padmanandi of the *anvaya* or monastic order Koṇḍakunda of the Southern Nirgrantha (Digambara) Chūrch at the beginning of the Christian Era.[1] The current Digambara Jaina scholarship by and large accepts this date, or perhaps its alternative the third century of Vikrama Era (*c.* A.D. 146-243) determined by Pt. Kailashchandra Shastri[2]. This is regarded by many as definite, virtually an invarial temporal bracket for Ācārya Padmanandi, more widely known by the *alias* Koṇḍakundācārya (after his *anvaya*) and still more after the *anvaya's* Sanskritised form, Kundakundācārya, since late medieval times. A few Western scholars who had an occasion to refer to him, his works, or thinking, in general seem to regard him as an early Jaina philosopher and religious teacher.[3]

The contemporary Śvetāmbara Jaina writers,—late Muni Kalyanvijaya,[4] late Pt. Sukhlal Sanghvi[5], Pt. Dalsukh Malvania[6], and no less poignantly K. K. Dixit[7]—on the grounds of the content of his works, were not convinced of such an early date for Kundakundācārya. They felt more secure with fifth, or still better with the sixth century as the chronal zone, and preferably posterior to Umāsvāti (*c.* A. D. 375-400) as well as Siddhasena Divākara (*c.* active first half of the 5th cent. A. D.)[8]. A re-examination of the various facets of the problem in somewhat deeper depth for refixing Kundakundācārya's date in light of the potential directions inherent (but hitherto ignored) in the available evidence is therefore in order. In the process, the premises on which the different writers earlier suggested the plausible (but differing) dates for Ācārya Kundakunda will also be reviewed and tested vis-a-vis the known evidence.

I shall begin with the review of the external evidence—direct, negative, or inferential.

1. Ācārya Padmanandi is not referred to, nor is the influence of his "original" teachings (embodied particularly in his celebrated work, the *Samaya-pāhuḍa*) anywhere overtly, clearly, or even indirectly implied in the writings of the pre-medieval Digambara Jaina thinkers, epistemologists, and scholiasts like Svāmi Samantabhadra (active *c.* A. D. 575-625)[9], Pūjyapāda Devanandi (active *c.* A. D. 635-685)[10], and Bhaṭṭa Akalaṅkadeva (*c.* A. D. 720-780)[11], the trio held in the highest esteem in the Digambara Church.[12] The contemporaneous Śvetāmbara Jaina writers of equal stature, -Mallavādi kṣamāśramaṇa (*c.* A. D. 525-575)[13], Jinabhadra gaṇi kṣamāśramaṇa (active *c.* A. D. 550-594), Siṁhaśūra kṣamāśramaṇa (*c.* latter half of the 7th cent. A. D.), Gandhahasti Siddhasena (*c.* A. D. 725-770) and Yākinīsūnu Haribhadra Sūri (active *c.* A. D. 740-785), the latter two authors being aware of the

writings of Akalaṅkadeva—(Haribhadra Sūri even quoting Samantabhadra in the *Anekāntajayapatākā* and earlier, without naming him, in his *Nandi-vṛtti*, *c*. A. D. 750)—are likewise ignorant of the writings and teachings of Kundakundācārya.

2. The Digambara Jaina author Indranandi in his *Śrutāvatara* (*c*. late 10th cent. A. D.) tells us about a commentary written by Samantabhadra on the *Tattvārthasūtra* (*Tattvārthādhigama-śāstra* of Umāsvāti);[14] Pūjyapāda Devanandi, too, wrote the famous commentary, the *Sarvārthasiddhi* (*c*. 2nd-3rd quarter of the 7th cent. A. D.)[15], on the Digambara adoption of the selfsame *Tattvārthasūtra*; and Akalṅkadeva wrote his *Tattvārtha-vārtika* on the *Sarvārthasiddhi* and also a commentary *Aṣṭaśatī* (*c*. 2nd quarter of the 8th cent. A. D.) on the *Āptamīmāṁsā olim Devāgama-stotra* of Samantabhadra (*c*. A. D. 600). Significantly, none of them chose to comment on any of the highly significant works of Kundakundācārya, for instance his famous and very important *Prābhṛta-traya*—the *Samaya-pāhuḍa* (*Samaya-Prābhṛta olim Samayasāra*), *Pavayaṇa-pāhuḍa* (*Pravacana-prābhṛta olim Pravacanasāra*) or *Pañcātthikāya-saṅgaha-sutta* (*Pañcāstikāya-saṁgraha-sūtra olim Pañcāstikāyasāra*),—or for that matter on the *Niyama-pāhuḍa* (*Niyama-prābhṛta olim Niyamasāra*), *Bārasa-aṇuppkkhā* (*Dvādaśa-anuprekṣāḥ*). etc. The Digambara sect, since it possessed no *āgamas*, would have avidly sought and commented upon Kundakundācārya's remarkable *prakaraṇas*, no less than Samantabhadra's profound dialectical and epistemology-based works.

3. The earliest known commentaries on Kundakundācārya's works are by Amṛtacandrācārya[16] who seem to have flourished, on well reasoned evidence, in late ninth and early tenth century A. D.[17] It seems intriguing, even inexplicable, as to why on the works of this justly celebrated and for the past thousand years the most venerated Digambara Jaina philosopher-saint,—supposed by modern Digambara Jaina writers to have flourished at the beginning of the Christian (now 'Common') Era,—no commentaries were written for eight or nine centuries that may have followed his writings !

4. To add to this surprise is the complete silence on Kundakundācārya by the Digambara Ācārya Jinasena of Punnāṭa-gaṇa in his *Harivaṁśa-purāṇa* (A.D. 784) where he invokes and pays tribute to Samantabhadra, Siddhasena (Divākara), and, apart from them, several other pre-medieval Nirgrantha (exclusively Digambara) writers of eminence. Similarly, Jinasena of Pañcastūpānvaya, another preeminent Digambara Jaina writer, in the commentary *Jayadhavalā* (completed A. D. 837) on the *Kasāya-pāhuḍa-sutta* (*Kaṣāya-prābhṛta-sūtra* : *c*. 2nd-3rd cent. A. D.)[18] pays tribute to great Jaina writers beginning with Siddhasena and Samantabhadra but fails to allude to Padmanandi *alias* Kundakundācārya, True, eulogies have been continually lavished on this great thinker; and a miraculous myth of his possessing magical power of levitation (*cāraṇa-ṛddhi*) and his visiting Jina Sīmandhara in the Mahāvideha-kṣetra, a mythical land of Nirgrantha cosmography, is duly woven for him, indeed commensurate with his greatness as is understood in the

saṁpradāya; but all of these begin to appear only from the tenth century onwards in literature, the inscriptions follow suit somewhat later. It is customary, and rather natural, that the name of a very distinguished pontiff is frequently adopted by monks of the subsequent periods, as for example Siddhasena or Prabhācandra or for that matter Māntuṅga, Akalaṅka and Haribhadra. However, in this case, the appelation "Padmanandi" is not repeated till almost a thousand years hence, if we accept first century B. C.--A. D. as his period.

In their dating, neither Upadhye nor Pt. Kailashchandra Shastri, or for that matter other prominent Jaina writers, took into account these significant omissions and their consequent implications; this fact leaves vital gaps in their otherwise detailed, if not objectively critical, examination of the problem or evidence either. To a letter sent in regard to some of the puzzling questions a propos of the sectarial relationship between Umāsvāti and Kundakundācārya by Pt. Sukhlal Sanghvi to the distinguished Digambara Jaina historian Pt. Nathuram Premi, the considered and candid reply he got also contained, by way of a bye-note, the following observation : "My own understanding is that Kundakunda was the founder of a particular idealogical subsect; he sought to shape Jaina religion after the mould of the Vedānta. It appears that, till the time of Jinasena etc., his standpoint had not won universal recognition and so he was not held in regard by these authors."[19]

Pt. Premi's observation represents *one* of the *two* plausible explanations of the phenomenon of "ancient omissions". (It does not, though, clarify as to why for nine centuries his writings and thoughts, did not meet with approval or recognition. Also, why his unacceptable teachings were not refuted by any scholar; and how it came about that his works continued to be copied—even when disrecognized, for over the long centuries.) The other is that the Kundakundācārya, in reality, may not have flourished at that early date as assumed by some of the noted writers of our time, to the august list we must also include late Pt. Jugalkishor Mukhtar.[20] It seems that, as though in unisom, they all had decided not even to think about, not to say of considering and investigating this second possibility. For them the date they determined had been an unassailable truth, a *fait accompli*, a gospel truth and hence a closed book. However, on *prima facie* grounds, the whole issue needs a probe deeper than hitherto attempted.

5. No early inscription refers to Kundakundācārya by his monastic appelation Padmanandi : He is though mentioned under his non-Sanskritized *alias* 'Koṇḍakundācārya', in one Kadamba inscription from Kuppatūr (A. D. 1075) and in two Śāntara inscriptions of A. D. 1077 from Humca, all from Karṇāṭaka[21], these in fact are the earliest to mention him. The earliest mention of the *anvaya* Koṇḍakunda is encountered in three Rāṣṭrakūṭa inscriptions, all from Gaṅgavāḍi in lower Karṇāṭadeśa, dated in order in the years A. D. 797[22], A. D. 802[23], and A. D. 808[24]. Had this *anvaya* been very ancient, it possibly would have figured in one or the other of the several early Kadamba and Gaṅga charters granted to the Jaina foundations;

sometimes at the instance of, sometimes to, the monks generally in pontifical and abbatial offices during the fourth, fifth and sixth centuries.

However, the Mercara copper-plate charter of the year 388[25] of an unspecified Era,—taken, though wrongly, Śaka, and hence regarded as of A. D. 467[26],—mentions Koṇḍakundānvaya. And this inscription had been one of the corner-stones of the edifice for an early date built for Kundakundācārya by Upadhye[27] and some other Jaina writers. Unluckily, the Marcarā charter is regarded by epigraphers a forgery of the Rāṣṭrakūṭa period, even though Pt. Kailashchandra Shastri, founding his arguments perhaps on those of one other prominent Digambara Jaina scholar, Gulab Chandra Chaudhari[28], is at pains to prove that the plates could represent only the re-issual (and partly a re-engravement) of the earlier charter of A.D. 467, in Rāṣṭrakūṭa times. But the Jaina temple to the pontiff of which the grant was addressed in this charter is Vijaya-Jinālaya of Mānyanagara or Mānyapura, Maṇṇe in Gaṅgavāḍi, the temple known to have been founded by Vijaya, general of Gaṅga Mārasiṁha II in *c.* late eighth century A. D. as shown by Premi ![29] The mention, in this charter, of Koṇḍakundānvaya cannot therefore push back that *anvaya*'s antiquity to any century prior to the eighth. Even if it were a genuine charter, the charter's temporal position is the same, namely Rāṣṭrakūṭa, as is the case with the aforenoted three other charters. The *anvaya* of Koṇḍakunda may have been founded at most a century or so before, though not necessarily by, or after, the name of Padmanandi Kundakundācārya as some Jaina authors believe as proven.[30]

6. Jayasena (*c.* earlier half of the 12th cent. A. D.), the commentator next in time to Amṛtacandrācārya on the famous *Prābhṛta-traya* of Koṇḍakundācārya, has recorded two succinct but valuable historical facts concerning the author Padmanandi, the one as regards the name of his preceptor,—Kumāranandi Siddhāntadeva,—and the second about the contemporary king, Śivakumāra.

As for Kumāranandi, Upadhye made a good search through inscriptional as well as literary sources and noticed three pontiffs bearing the selfsame appelation, but all belonging to different ages and differing *gaṇas* (monastic clans). Kumāranandi of Mathurā inscription of the year K.S. 87 (*c.* A.D. 165, or A.D, 192. or A.D. 215, or A. D. 230)[31] belongs to the Uccairnāgara-śākhā of Nōrthern (afterwards emerging as Śvetāmbara) tradition; hence he is out of question. The next available Kumāranandi, whom Upadhye, notices, figures as a grand-preceptor of the recipient of a copper-plate charter dated Ś. 698/A.D. 776 issued by the chieftain Jasahitadeva of Nirgund dynasty in Karṇāṭa. But this Kumāranandi belonged to the Pulikalgaccha of Eregittūr-gaṇa inside Śrīmūla-Mūla-gaṇa of the Nandi Saṁgha (Yāpanīya), and not to the Digambara Church ! (Also, from Upadhye's standpoint he is a much younger pontiff than what his own perception of Kundakundācārya's and hence his preceptor's date would warrant.) The third Kumāranandi spotted by Upadhye figures in the *Patraparīkṣā* of Vidyānanda (*c.* first half of the 9th cent. A. D.)[32]. Vidyānanda, reports Upadhye, quotes some three verses of Kumāranandi Bhaṭṭāraka;

but Vidyānanda says nothing about Kumāranandi's *anvaya* or *gaṇa*, though he might have been the one we are looking for, but cannot immediately be sure about since no other evidentiary details are there to go by. What we need is a Kumāranandi who must belong to the *anvaya* Koṇḍakunda. Luckily, *there was* one such Kumāranandi. However, Upadhye, even in his *Pravacanasāra's* revised edition of 1964, misses him, just as did Pt. Kailashchandra Shastri in his publication of 1974. This Kumāranandi of Koṇḍakundāvnaya figures in a charter granted by the Rāṣṭrakūṭa governor of Gaṅgavādi, Prince Raṇāvaloka Kambharāja, in Ś. 730/A.D. 808 from Badanaguppe, the charter noticed as far back as 1927.[33] In that charter, for Vardhamānaguru, who received the bequest of the village Badanaguppe, the following preceptorial lineage is given :

Kumāranandi Siddhāntadeva
|
Elavācārya
|
Vardhamāna-guru (A. D. 808)

The *gaṇa* to which these pontiffs belonged is mentioned as "Śirmulage-guru", a denomination perhaps taken after an earlier pontiff of this line within the Koṇḍakundānvaya.[34] (It is likely, as hinted in earlier context, that the Kumāranandi with the title "Bhaṭṭāraka" mentioned in the inscription is indentical with his namesake (bearing the same hierarchical status) whose verses were cited by Vidyānanda.)

Kumāranandi thus located within the Koṇḍakundānvaya, the next question relates to finding his disciple Padmanandi. What we find in the charter of A. D. 808, however, is the appelation "Elavācārya", seemingly a Kannaḍa (local ? dialectical ?) variant of Elācārya. "Elācārya" is a status-cognomen in the hierarchy of the Digambara Jaina Church for a pontiff of the highest learning and for a qualified teacher of Jaina doctrines, a position more or less equivalent of *vācaka*, *vācanācārya*, or *kṣamāśramaṇa* or *mahattara* in the ancient Northern Nirgrantha of which Śvetāmbara Jaina Church is the off-shoot. Once a pontiff received the ecclesiastical title *elācārya* his original monastic appelation apparently went into the background. For example, Svāmi Vīrasena in the encomium of his monumental commentary, the *Dhavalā* (completed A. D. 816), on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Puṣpadanta and Bhūtabali (*c.* late 5th - early 6th cent. A. D.)[35], refers to his teacher Elācārya of Citrakūṭa but does not mention his personal monastic name. Likewise, the Kuḍalūr grant of Gaṅga Mārasiṁha II, dated Ś. 884/A. D. 962, mentions the grantee as Elācārya of Surasta-gaṇa without mentioning his original monastic appelation.[36] But is there any evidence that Padmanandi had an *elācārya* status ? Considering his attainment of an unequalled spiritual plane within the fold of Nirgrantha way of life, his prestige as a mystic and a saint, and his competence in the highly original exposition and interpretation of some of the Nirgrantha doctrines, not to say of his profound conversance with the traditional Jaina dogmas inspite

of his orientations to mysticism, small wonder if his contemporaries in his spiritual lineage elevated him to the most honorable position, of "Elācārya", in the ecclesiastical hierarchy of the Digambara Church. In point of fact, the Vijayanagar lamp-pillar inscription of Ś. 1307/A. D. 1386, which enumerates five distinct appelations for our Padmanandi, includes both Kundakunda and Elācārya. The *Nandi Saṁgha gurvāvalī* (c. A. D. 14th cent.) likewise mentions the *elācārya* status-cognomen of Kundakundācārya.[37] True, these latter two sources are rather late; but they possibly were so recording on the basis of the then current written or oral tradition.

Because Cakravarti nayanar (earlier in his introduction to the *Pañcāstikāya* of Kundakundācārya[38]) had taken Kundakundācārya as a pontiff of the 1st cent. B. C./A. D., (and also had equated him with the particular ancient "Elācārya" who is traditionally held as the author of the ancient Tamil classic Tirukkural), he was looked upon as an early pontiff of the Southern Church. Indeed, considerable discussion ensued on this point which led to no conclusion since the foundational premise was *per se* wrong; it only served to confuse the issue ! While conceding with Upadhye and other Jaina writers that the two other epithets mentioned in the aforementioned Vijayanagar inscription, namely Vakragrīvācārya and Gṛddhapicchācārya, did not in fact apply to Kundakundācārya. there is nothing against taking Elācārya as his genuine epithet and thus equating him with the Elavācārya the disciple of Kumāranandi Siddhāntadeva of the *anvaya* Koṇḍakunda.

This point cleared, the next point having a bearing on the issue is the search for the king "Śivakumāra" for whom Ācārya Padmanandi, according to Jayasena, is said to have written the *Pravacana-sāra*[39]. Earlier, K. B. Pathak had suggested that this king could be the Kadamba monarch Śivamṛgeśavarmā;[40] and, for Cakravati nayanar, he was the early Pallava king Śivaskandasvāmi (Skandavarmā I) since both authors had assumed Kundakundācārya as a very early writer and hence both, in pursuance of their own line of thinking, were looking for him in the early centuries in South India, indeed a wrong temporal area ! In any case, Upadhye had not rejected the possibility of Kundakundācārya being contemporary to Śivaskandavarmā, without however, proceeding to investigate the date of that monarch. This, as shown by T. V. Mahalingam, is c. A. D. 345-355[41] and not c. first century B. C.-A. C. which is envisaged by Upadhye for Kundakundācārya who is supposed to be contemporary of Śivaskandavarmā ! The foregoing discussion rather compels us to expect the king in question somewhere in the later part of the eighth century A. D. within the geographical, politcal and cultural ambit of Karṇāṭaka proper.

Verily, there is no king with the name Śivakumāra known to have flourished at that time.[42] However, I seem to perceive that there could be a slight error, scribal or a deliberate emendation done at some later point, in the orthography of the name as it has come down to us through Jayasena's notice. For exactly at that time we meet the Gaṅga ruler Śivamāra II (c. last quarter of the 8th cent. A. D.) in Gaṅgavāḍi, a part of south-eastern Karṇāṭaka. It is for him, the luckless monarch who had to spend several years in Rāṣṭrakūṭa prison, that Kundakundācārya may have written

his *Pravacana-prābhṛta* ! Kundakundācārya's writings, on this showing, seem to belong to the last quarter of the eighth century A. D. though the third quarter of the selfsame century he may have spent in studies and preparation. Upadhye, as did other serious writers, had accepted the testimony of Jayasena--which arguably is more trustworthy than the medieval inscriptions or the hagiological lists of the Digambara Church,[43] all of which are of much later date and, like the Śvetāmbara medieval lists of succession, undependable when they talk about pontiffs that flourished earlier than the founders of the sub-orders to which they primarily pertained.[44]

Once we accept these equations, we concede to the clarification they provide on the principal puzzling point, the date for Kundakundācārya—it can only be latter half of the 8th cent. A. D.—the other enigmas are, by the logic of this new dating, resolved. This is why we find for long no influence or impact of Kundakunda's new doctrines and his fresh interpretations of ancient doctrines and their terminology and, as a result, of the earlier Jaina positions; which is also why no earlier commentaries on, or genuine and undoubted quotations from this celebrated saint's great works are available. For these just could not have existed since he is not a very ancient sage and hence his works could not have been known at least till some time after Akalaṅkadeva.[45]

7. P. B. Desai identifies the place "Koṇḍakunda" with Konakoṇḍala (Koṇḍakunde in a medieval inscription) situated in Sindavāḍi a territorial division of ancient upper Karṇāṭadeśa but presently within the Anantapur District of Andhra Pradesh. The site, according to Desai, is located four miles south of Guntakal.[47]

Desai cites some Jaina sculptures and epigraphs at that site in support of his identification. For example, on the hillock Rasasiddhula-guṭṭa, which stands about two furlongs to the village, there exists an image, carved on the rock-face, of a Jina standing on a lotus. (He does not mention the plausible date of the sculpture.) Also, in a nearby structural shrine, are two images of standing Jina with triple umbrellas (dateable to *c*. 13th cent. A.D.), today worshipped by local populace as "Rasasiddhas". There is also a fragmentary inscription (possibly commemorative) in the 7th century characters referring to some Jaina saint ".. adored by Singhanandi".[47] A tenth century inscription here refers to a *nisidhi* (memorial column) of Nāgasenācārya. An inscription on the nearby Kailāsappaguṭṭa hillock refers to Caṭṭa-Jinālaya founded by lady Nākabbe "in Koṇḍakundeyatīrtha" to which a grant was made by Mahāmaṇḍaleśvara Joyimayyarasa, governor of Sindavāḍi, in A. D. 1081, in the reign of the Cālukya sovereign Vikramāditya VI. In a damaged inscription in the village, *c*. early 12th century and of the time of Vikramāditya VI, the name of Padmanandi Bhaṭṭāraka is said to figure twice. There is also a reference in that inscription to the *cāraṇas* (sages Indowed with power of levitation) and also, according to Desai, to the Koṇḍakundānvaya. The inscription pertains to Nayakīrtideva Saiddhāntika-cakravarti. However, a recent re-examination of the selfsame inscrip-

tion by A. V. Narasimhamurti has revealed that "it does not contain even the word Kundakunda."[45] Desai erroneously had thought that Padmanandi here referred is the illustrious Kundakundācārya of Koṇḍakundānvaya. This Padmanandi may have been a medieval preceptor, either a direct *guru* or the one who flourished at most a couple of generations before Nayakīrti. The appelation Padmanandi is not uncommon in the medieval Digambara Church and Koṇḍakundānvaya by then was claimed by the Mūla Saṁgha as well as the Deśīya-gaṇa also.[49] Moreover, the term *cāraṇa* in the inscription figures in plural and hence cannot "singly" pertain to Padmanandi (in whom too the legend invests the power of levitation). The inscription simply purports to say that this Koṇḍakundeya-tīrtha was visited by the (mythical) *cāraṇā*-sages. For instance the hill at Ellorā, where the Jaina caves were excavated in the Rāṣṭrakūṭa period (9th cent. A. D.), was known as 'Cāraṇādri', meaning thereby that the *cāraṇas* frequented that sacred hill.[60] The only fact which is certain from this inscription is that the hills nearby the village formed the "Koṇḍakundeya-tīrtha" in the medieval period. (And it might just be a '*sthāpanā-tīrtha*' or '*avatāra-tīrtha*' established after the original sacred hill.)

Recently, P. N. Narasimha Murthy has suggested on an inscriptional basis and on account of the presence of Jaina sculptures and rock-cut caves in the surroundings, that Kundādri (=Koṇḍakunda, Dravidian *koṇḍa* being Sanskrit *adri*, hill) in Tulunāḍu (Kanara District, Karṇāṭaka) could be the original Koṇḍakunda.[51] A third possibility, which I presently would suggest, is the Gopinātha hill near Nandi in southern Karṇāṭaka, whence a fragmentary commemorative inscription engraved on the rock of which only the opening part in Sanskrit remaining and dateable to *c.* mid eighth century, refers to the existence, on the site, of the temple of Jina Pārśvanātha and calls the hill "Kunda .. ..."[52] (probably Kunda-giri, Kunda-parvata or Kundādri). In view of the fact that this "Kunda" hill (Koṇḍa-Kunda) is situated in Gaṅgavāḍi, and all the earliest inscriptions pertaining Koṇḍakundānvaya also hail from Gaṅgavāḍi, relating as they do to Mānyapura (Maṇṇe), Talavanapura (Talakād), Vadanoguppe (Badanaguppe),—towns all within the territory of Gaṅgavāḍi—it is more likely that this Gopinātha hill—ancient Kunda (parvata, Koṇḍa-Kunda)—probably was the place after which the *anvaya* Koṇḍa-Kunda took its denomination.

However, what is at issue is not the identity of the site, but its antiquity. If Padmanandi-Koṇḍakundācārya flourished in the early centuries of Christian Era, Koṇḍakunda—be it in Sindavāḍi or be it in Tulunāḍu or in Gaṅgavāḍi—must reveal early archaeological associations with the site. In point of fact, and so far, no Jaina antiquities (nor even early literary or epigraphical notices) of consequence which can unequivocally be dated (or related to an age) prior to the latter half of the fourth century A. D., have been noticed within the territorial boundries of the entire ancient Karṇāṭaka ! I doubt whether any one of the three Koṇḍakunda-s could historically be earlier than the seventh or at most sixth century A. D. At

least nothing so far has been reported for these sites which can confidently be placed before the second half of the first millenium[53]. Projected against this perspective of historical reality, Koṇḍakundānvaya cannot be anterior to the pre-medieval times.

The verdict of the external evidence is clear enough. It does not favour a date anterior to the latter half of the eighth century for Padmanandi-Kundakundācārya. The position as regards the internal evidence may now be examined and assessed. To begin with, Kundakundācārya gives no information either about himself, his spiritual lineage, or the date of composition of any of his works : And among the works attributed to him, only in two cases is there some evidence as to the authorship. Even if this evidence is not very direct, it is sufficiently indicative and dependable. His general style (barring the more ancient verse-quotations which he assuredly incorporates in his writings, and the plausible as well as probable interpolated verses) and his thought patterns are sufficiently distinguished, even singular, to stipulate his authorship of all those works. The evidence, then, from the content of his undoubted works (there is some doubt about his authorship for the *Aṣṭa-prābhṛtas*) can also be significant on the main problem of date.

1. In the *Liṅga-pāhuḍa* (*Liṅga-prābṛta*),—one from among the *Aṣṭa-prābhṛtas* traditionally ascribed to Kundakundācārya—the author thunders against the laxities that had crept in the (Southern) Jaina Church. Among the deeds or doings which violently go against the Jaina monastic code is the one relating to practicing agriculture by monks or friars. There apparently is no evidence of the Nirgrantha monks resorting to agriculture, indeed anywhere in India, until after some point within the sixth century A. D. And this was in Karṇāṭaka to be precise. All earliest royal charters granted to the Jaina Fraternity relate to "Saṁgha" and "Jinālaya", the pontiffs and monks are not in the picture excepting that their consent in the matter was sometimes sought or obtained. The situation next had changed and it is the abbots (both of the Yāpanīya as well as of the Digambara Church) who now had started receiving land-grants directly from the ruling royalty and provincial military governors—which henceforth will become a regular feature. The situation of the Śvetāmbara Church in the North was no better, though there is as yet no evidence that the grants were issued in abbot's name even until the medieval times. The decadence of Jaina monastic order was universal, the contemporaneous *caityavāsi* Śvetāmbara was not exception ! The combined archaeological and literary testimony for this practice in Karṇāṭaka unambiguously would point to *a date anytime after the sixth century* for Kundakundācārya *if* the *Liṅga-prābhṛta is his work.*

2. Indranandi credits Padmanandi-Koṇḍakundācārya to have written a commentary—*Parikarma*—on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Puṣpadanta and Bhūtabali. As I elsewhere have demonstrated[54], the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* cannot be dated between A. D. 87 and 126 as late Pt. Hiralal Jain, its distinguished editor, had claimed[55]. The plausible date for that work is *c.* early sixth or at most late fifth century A. D. even when its small part—some *gāthās* and phrases etc., seemingly are of a somewhat

remoter antiquity, say second or third century A. D. in terms of language, style, mannerism and content.[56] This period-position for the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* would entail Kundakundācārya to be posterior to early sixth century A. D., providing he really wrote such a commentary.[57]

3. The compilation *Mūlācāra* of Vaṭṭakera, a Yāpanīya work wrongly ascribed to Kundakundācārya by some recent Jaina writers on account of some late and misleading colophons[58], seemingly was known to Kundakundācārya. Because the *Mūlācāra* embodies about four *gāthās* from the *Sanmati-prakaraṇa* of Siddhasena Divākara (*c.* 5th cent. A. D) as also several which are paralleled in the *Āvaśyaka-niryukti* and some noticeable in the *Ācārāṅga-niryukti*, the *Ogha-niryukti*, and in the *Piṇḍa-niryukti* as well,—these four being the Śvetāmbara *āgamic* glosses of the early sixth century A. D.[59],—the *Mūlācāra* at the earliest can be dated only to the sixth century.[60] The *Mūlācāra* has one of its verses regarding the *sāmāyika, pratikramaṇa*, and cognate self-purification rites, which eulogise these as "*amṛta-kumbha*" (nectorjar). Kundakundācārya, from his sophistic standpoint, creates a counter verse calling the above-noted rites as *viṣa-kumbha* (poison pitcher) ![61] So Kundakundācārya is posterior to Vaṭṭakera's *Mūlācāra* and hence flourished any time posterior to the middle of the sixth century A. D. Indeed, Kundakundācārya is not, as some Digambara Jaina writers earlier and on a different basis had argued, the author of the *Mūlācāra*, although a few verses do commonly figure inside his works and particularly the *Samayasārādhikāra* of the *Mūlācāra*, the latter reasonably could have been interpolated after the work was admitted in the Digambara scriptural fold.

4. Upadhye, after the linguistic analysis of Kundakundācārya's available works (with a strong focus on the *Pravacanasāra*), has concluded that the language employed by the author is Ardhamāgadhī (of the Śvetāmbara *āgamas*) and Jaina Śaurasenī. Now, Śaurasenī is the language of the Yāpanīya *āgamas* as well as of the "secondary", "substitute", "surrogate" or "isoāgamic" texts of the Digambara Church—which in point of fact is the mainstay[62] of Kundakundācārya's *Prābhṛta-traya*. Also the influence of Jaina Mahārāṣṭrī (the language to some extent employed in the Śvetāmbara *niryuktis*, *bhāṣyas*, and *prakaraṇas*) and even Apabhraṁśa (racest found only in the *Aṣṭa-prābhṛtas*). is in evidence in his- waitings. What conclusion can be drawn from this miscellany ? How do we explain this phenomenon ? First of all, before beginning his linguistic analysis, Upadhye did not isolate the "quotes" of earlier āgamic works of the Ardhamāgadhī canon (acknowledged by Śvetāmbara and Yāpanīya) from the author's own verses, although he is aware that such are certainly there[63]. Most of such "quoted" verses are paralleled in the Śvetāmbara *prakīrṇakas*, a few in the *niryuktis* (and in the *bhāṣyas* as well), and some decidedly from works now lost[64], the earliest of which are dateable to a period between the 4th and the 6th century A. D. Pt. Malvania, for instance, has shown that a verse in Jaina Mahārāṣṭrī from the *Mahāpratyākhyāna* which occurs also in the *Devendrastava*,—both being the *prakīrṇaka* works (*c.* 3rd 4th cent. A. D.) of

the Śvetāmbara canon,—and a parallel verse in the *Paūmacariya* of Vimala Sūri of Nāgendra kula (*c.* A. D. 478)[65] also figures in Kundakundācārya's *Pravacanasāra*[66]. The Śvetāmbara *āgamas* and *āgamic* works are of course completely ignorant of Kundakundācārya's works; it is then clear that Kundakundācārya borrowed the self-same verse and several others either through some Yāpanīya intermediary or perhaps in a few cases directly[67]. (Unfortunately, nobody has attempted to pursue the line of research Pt. Malvania had opened). Therefore, the results of the linguistic analysis without the proper sifting of data in Kundakundācārya's works, can be misleading and now so proven, possesses little determinative value for the pontiff's date. At any rate, a few relatively early-seeming (quoted) verses in Kundakundācārya's works at best compare with the third period (approximately late Kuṣāṇa and post-Kuṣāṇa). Śvetāmbara *āgamas* and *āgamie* works. From the standpoint of language, even when some earlier word-forms and phraseology occasionally are discernible in Kundakundācārya's works, this factor has to be thoroughly tested against other evidence. My own experience is that the later talented Jaina writers sometimes emulated (or unconsciously picked up) relatively earlier Prākṛta of the cononical brand, since they were well-versed and much too familiar with that kind of traditional writing. For instance, some of Haribhadra Sūri's works, or parts thereof, from language standpoint, do possess an early look, as to some extent also does the imposter *Mahāniśīthasūtra* (*c*, 8th cent. A. D.). Where Kundakundācārya's real period revealed is the later Prākṛta Āryās which he consistently uses, often the more modern style in composition he adopts, and the typical formal cadence he builds. Also the inaugural *maṅgala* verses of his famous works are in a form, style, phraseology, predilections metwith and mood noticeable only from the seventh eentury onward. These factors, viewed alongside his highly advanced thought-constructs, fresh concepts, new epistemological positions, novel approaches to and new interpretations, as well as fresh application of old knowledge, and the concomitant or relevant terminological jargon (which oftener is far ahead of the canonical literature), clearly indicate that he cannot be an early author, as has been persistently, even obstinately, claimed to be.[68]

5. Keeping those latter facts and criteria (mentioned in Haribhadra Sūri's case) in view in the analysis of Kundakundācārya's works, the period-perspective that takes shape considerably differs from what Upadhye and other proponents taking his line and following his intent had conjunctured, even conjured up.

Kundakundācārya's style of writing, excepting where he adopts the traditional mould or has Ardhamāgadhī (and Śaurasenī) quotes, is in effect far advanced compared to any exhibited in the available early nirgrantha writings in Ardhamāgadhī and other Prākṛtas. His own verses in his works show powerful articulations and strong directness and acuity combined with subtleties, precision and mystical power but reflect no archaisms nor is there any resort to cleverness, puns, deliberate

obscurities, varbal conceits or virtuousity. The style, though dry, is dynamic, direct and lucid. Some of these qualities are already in evidence in the *Sanmati-prakaraṇa* of Siddhasena (*c.* 5th cent. A.D.) as well as in the *Mūlācāra* of Vaṭṭakera (*c.* late 6th cent. A. D.). In fact, strong conceptual (sometimes even verbal) parallelisms between Kundakundācārya's *Samaya-prābhṛta* on the one hand and Siddhasena's *Sanmati-prakaraṇa* on the other, do exist as has been demonstrated by Pt. Sukhlal Sanghvi[69].

6. This is further supported by several elements present in his thinking. However, this being a sizeable subject in itself, I am discussing it in a separate follow up paper. A few salient points to which I would here succinctly hint, but without citing references and without entering into detailed discussion, are as follows : a) Kundakundācarya had massively leaned toward the *niścaya-naya* or absolutistic standpoint in his *Samaya-prābhṛta.* This *naya,* but not its profound implications, was known before, but on its application was not done to the scale and extent by Siddhasena Divākara or even Mallavādi. (b)On the basis of the *niścaya-naya,* Kundakundācārya, in theory, views *ātman* or Self as separate from and independent of the association of *pudgala* or matter as was done in the Sāṁkhya and the Vedānta systems with the difference that *ātman* is not looked upon as totally inactive; Self does possess the faculty of knowing, intellecting and creating as well as feeling emotive impluses within. Self is thus not a doer of deeds (*kartā*) and enjoyer of fruits (*bhoktā*), although, from the standpoint of external and practical relatings (*vyavāra-naya*), he may be regarded as a doer and enjoyer because of his emotional involvement which leads to, or colours, his conscious thinking that way, this in fact being his habit to so orient since countless ages and for endless births. Now, the ancient Jaina doctrine of *ātman* as the *kartā* and *bhoktā* has never been interpreted or understood that way by any Jaina scholiast till the pre-medieval times, and that too not before the Kundakundācārya's doctrine was widely known.

The unliberated Self, in Kundakundācārya's concept, thus is always pure and not contaminated by *karma-raja* as was otherwise believed till late, even in the Digambara sect. The apparent contamination with *karma,* and its consequent and subsequent fruition are due to the *bhāva* or inner consciously felt or willed emotional directives of the Self. It is thus illusory. The Self goes on wandering from birth to birth because he has not known what it really is and this is what keeps it in apparent bondage.

The new *Vedānta* doctrine about *ātman* was already known at least 50 years before Śaṅkarācārya (*c.* A.D. 780-812), through the *kārikās* of his grand preceptor Gauḍapāda. May be, Kundakundācārya has seen these and adopted the Vedāntic way of looking at Self, but in a modified way. c) As its corolary as though, Kundakundā-

cārya completely redefines the terms *svasamaya* and *parasamaya*, the terms which for long had been understood as the 'doctrine of one's own sect' and 'the doctrine of the other's sect'. According to Kundakundācārya, *svasamaya* is the one whichrelates to *ātman*, the *parasamaya* meant anything outside *ātman* including one's body. This is an absolutely different way of looking at the connotation of the terms, indeed not referred to by even Southern Jaina writers. (d) Between the two categories of *śubha* (auspicious and desirable) and *aśubha* (inauspicious and undesirable), he creates a third category, *śuddha* (pure) which really is the true and intrinsic disposition of the *ātman* or Self. This conceptual improvement is earlier unknown. (e) Kundakundācārya is fully aware of the terms *syādvāda* and *saptabhaṅgi* both of which are unknown in the works of Umāsvāti as well as of Siddhasena, but known to Samantabhadra (*c*. A.D. 550-625). It was Samantabhadra who for the first time uses these terms and formulates a doctrine based on them. (f) Likewise, the original Upaniṣadic classification of *antarātmā* (inner Self), *bāhya* or *bahirātmā* (outer self; outer body) and *paramātmā* (Absolute Self) is mentioned by Kundakundācārya with some difference in detail and hence of implications. Already, Pūjayapāda Devanandi (*c*. A.D. 635-680) had adopted these terms, though before him it is totally unkown in Jaina writings. Kundakundācārya possibly took these terms and their conceptuality from Devanandi.

There are, in point of fact, several other major and minor points of significance which would not have been in the writings of Kundakundācārya if he were to flourish in the 1st century B. C.—A. D. His style of writing and phraseology then would have been archaic, the jargon as well as as the concepts and their presentation would have been far less advanced than is apparent in his writings.

NOTES AND REFERENCES

1. "Introduction", *Pravacanasāra*, Śrīmad Rājacandra Jaina Śāstramālā, 3rd edition, Bombay 1964, p.21. His "Introduction" in this third edition seemingly is the same as in the second edition of 1935. In the third edition of 1964, in the "Post Script" (pp. 121-126), he includes (by way of notes, and rather selectively) the results of Kundakunda researches got by a few other scholars published since his second edition. Also *cf*. his "Intro.," p. 22.

2. *Jaina-Sāhitya-kā Itihāsa* (Hindi), Pt. 2, Śrī Gaṇeśaprasāda Varṇī Jaina Granthamālā-27, Varanasi 1976, p. 125.

3. F.W. Thomas "Introduction", *Pravacanasāra*, Cambridge 1935, pp. 16 ff. He places Kundakundācārya prior to Umāsvāti. So does Walther Schubring in *The Doctrines of the Jainas*, First Edition 1962, reprint, Delhi 1978, p. 58, on the basis

largely of the cursory observations made by pioneering German writers on Jaina canonical literature. In the "Chronology" section placed at the end of his booklet, *The Religion of the Jainas* (English version of the original by A. Sena, Calcutta Sanskrit College Research Series No. LII, Studies No. 31, Calcutta 1966, p. 36), he placed Kundakunda in the 2nd-3rd cent. A.D. Had Schubring investigated the problem in depth, his conclusion would have been very, very different.

4. *Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra* (Hindi) Jalor 1941, pp. 303-306. Also *cf.* his "Ācarya Kuṇḍakunda kā Sattā-Samaya", (Hindi), *Śrī Paṭṭāvalī Parāgasaṁgraha*, Jalor 1966, pp. 100-107; and "Ādhunika Digambara Samāja ke Saṅghaṭaka Ācārya Kundakunda aur Bhaṭṭāraka Vīrasena," *ibid.*, pp. 110-114.

5. "Introduction" (Hindi), *Sanmati-prakaraṇa*, Ahmedabad 1963, middle portions.

6. My personal discussions with him. Also his long and penetrating discussion in his introduction (Hindi) to the *Nyāyāvatāravārtika-vṛtti*, Singhi Jain Series, Vol. 20, Bombay 1949, pp. 117-141. Therein he has demonstrated that the context of Kundakunda's works, when compared to Umāsvāti's is more advanced in terms of concepts as well as exposition. Upadhye, significantly, ignores these findings and in his own write up avoids all such engaging discussions, dismissing them all as cross-currents of thoughts of little chronological value (*cf.* his p. 122). Upadhye gives neither real reasons nor cites valid examples which would allow such a dismissal. Content is an important category of evidence.

7. *Jaina Ontology*, Lalbhai Dalpatbhai Series No. 31, Ahmedabad 1971, pp. 89, 95-97, & 132-135. Diksit was not only a very perceptive, but also an articulate among the Indian authors who discussed Jaina philosophy, ontology and metaphysics.

8. The lower limit for the date of Siddhasena Divākara depends on the date of Umāsvāti who apparently had flourished in the latter half of the fourth century A.D.

9. I have discussed and fixed the date of Samantabhadra in detail. The paper in Gujarātī will shortly appear in a separate congratulatory volume for Pt. Malvania containing all articles in Gujarati and to appear from Ahmedabad.

10. Pt. Sukhlal Sanghvi, Pt. Nathuram Premi, Pt. Yudhisthir Mimamsaka, and Pt. Kailashchandra Shastṛi date him to the fifth century. I have, at some length, discussed the "fifth century date" and shown it to be improbable in my paper "The Jaina Jinendra-buddhi," *Indian History and Epigraphy*, Delhi 1990, pp. 152-158.

11. For the discussion on the date of Akalaṅkadeva, *cf.* Pt. Mahendra Kumar Shastri, "Introduction", *Siddhiviniścaya-ṭīkā*, Part 1, Kashi 1959, p 62. Before him

K.B. Pathak had expressed the same view on historical grounds : *cf.* "On the Date of Samantabhadra," *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona,* Vol. XI, pt. VI p. 153.

12. This is supported not only by literary traditions but also by an inscription from Bandalike date Ś. 996/A.D. 1074. (*cf. Epigraphia Carnatica,* Vol. VIII, Sorab tl., no. 262. The initial invocatory verse mentions Samantabhadra, Devanandi and Akalaṅkadeva, but not Kundakundācārya).

13. Pt. Sukhlal Sanghvi, Muni Jambūvijaya and some other Śvetāmbara Jaina scholars place him to the fourth century A.D. However, the citations in the Mallavādi's original text, of Āryās from the two *niryuktis*..the *Āvaśyaka* and the *Bṛhatkalpa* (c. A.D. 525).... and the author refuting Diṅnāga (c. A.D, 480–560), among other evidence, go against an early date.

14. Currently unavailable, if at all it ever was written,

15. It was definitely written fairly later than the *Bhāṣya* or the auto-Commentary (*c.* A. D. 375-400) on the Original version of the *mūlasūtra* of Umāsvāti; Pūjyapāda's commentary reveals considerable advance in style, form, grammatical improvements in the original text, as well as developed content. He likewise had attempted to modify it at places to suit the Digambara dogmas, though some *sūtras* still remained which go against the Digambara beliefs.

16. Upadhye, "Intro.", pp. 93-96; and Pt. Kailashchandra Shastri, pp. 172–173.

17, Pt. Nathuram Premi, "Amṛtacandra", *Jaina Sāhitya aur Itihāsa* (Hindi), Bombay 1956, pp. 311; on the basis of the evidence produced by Paramanand Shastri, Pt. Premi concedes to a date prior to V. S. 1055/A. D. 999.

Pt. Kailashchandra Shastri has given much thought to Amṛtacandrācārya's date and he places him after Akalaṅkadeva and before Devasena (first half of the 10th cent. A. D. : *Vide* his detailed discussion, pp. 178-186. The mean plausible date of Amṛtacandrācārya's commentary, as judged by its style and content, could be- C. A. D. 900–925, though this date partly depends on Devasena's. If the date of Devasena's *Darśanasāra* was in reality expressed in Śaka Era (although labelled as Vikrama, particularly because he says he wrote it in Dhārā), the upper limit of Amṛtacandrācārya will have to be shifted upward.

18. The *Kasāya-pāhuḍa-sutta* represents the scholiastic formulations on the *karma-siddhānta,* the divisions (*uttara-bhedas*), sub-divisions (*upabhedas*) and still further divisions (*prabhedas*) of *karmas* (particularly of the Mohanīya), their mode of operation and their consequencing power, their relationship with the psychic planes (*guṇasthānas*) at which different souls stand (*jīvasthānas*), and related

matters. The original teachings embodied in this work are ascribed to Guṇadharā from whom (or from whose tradition) Ārya Nāgahasti and Ārya Maṅkṣu (Ārya Maṅgu or Māghahasti) . . . teachers in the 2nd cent. A. D. . . . of the Northern Nirgrantha tradition got them and the unknown Yāpanīya scholiast with the epithet Yati Vṛṣabha (between c. 4th-6th cent. A. D. ?) wrote the first available *cūrṇi*-commentary on it. Guṇadhara might be the Guṇandhara *alias* Guṇasundara or Guṇākara, preceptor of Ārya Śyāma II (c. 2nd-3rd cent. A. D.) as recorded later in the medieval Śvetāmbara *Kālaka-katha* lore. For linguistically and by content the text proper (versified) cannot go to the period before the Christian Era; it rather seems comfortable in the Kuṣāṇa period-perspective The Śvetāmbara sect has for long lost it. The first available Digambara Jaina commentary (*Jayadhavalā*) on this work is by Svāmī Vīrasena, the commentary completed after his death by his worthy disciple Jinasena in A. D. 837.

19. *Pt. Sukhalalji's Commentary on Tattvārtha Sūtra of Vācaka Umāsvāti*, translated into English from the Hindi translation of the original in Gujarātī by K. K. Dixit, L. D. Series 44, Ahmedabad 1974, Appendix, p. 112. (Pt. Premi's original reply is in Hindi, *verbatim* published in the original and subsequent editions in Gujarātī as well as in the Hindi version of Pt. Sanghvi's *Tattvārtha-sūtra*)

20. "Śrikundakundācārya aur unake Grantha," (Hindi), *Jaina Sāhitya aur Itihāsa par Viśada Prakākā*, Calcutta 1956, p. 89.

21. For Kuppatūr inscription, *see Jaina Śilālekha Saṅgraha*, pt. 2. Ed. Pt. Vijayamurti, Bombay V. S. 2009/A. D. 1953. Ins. No. p. 269. For Humca inscriptions, *ibid.*, No. 212, p. 294, and No. 214, p. 303. These two latter inscriptions place Kundakundācārya after Gaṇadhara Gautama and before Bhadrabāhu. In other words, Kundakundācārya, in the perception of the authors of these two inscriptions, flourished before B. C. 325. Upadhye misses these important inscriptions. They are indeed so helpful in placing Kundakundācārya even 300 years prior to the date he proposes.

22. *Ibid.*, Ins. No. 122 from Maṇṇe.

23. *Ibid.*, Ins. No. 123, also from Maṇṇe.

24. *Jaina Śilālekha Saṅgraha*, pt. 4. Māṇikyacandra Digambara Jaina Granthamālā, No. 48, Ed. Vidyadhar Joharapurkar, Ins. No. 55, pp. 28-30.

25. JŚS pt. 2, Ins. No. 95, p. 63.

26. *Ibid.*

27. *Cf.* his "Intro.," *Pravacanasāra*, pp. 18-19.

28. *Cf.* his "Intro.," JŚS, pt. 2, pp. 47-53, *infra*.

29. I lately realized it was not Premi but some other author whose work is currently not handy.

30. It is a belief partly grown out of the profound reverence and a very false notion as regards the antiquity of Kundakundācārya.

31. During my discussions with Prof. A. K. Narain and subsequently with Dr. T. P. Verma, I was told that an year *c*. A.D. 105 for the beginning of the Kuṣāṇa Era seems closer to the truth. Incidentally, Jayasenācārya mentions "Kumāranandi Siddhāntadeva" as the preceptor of Padmanandi-Kundakundācārya in his commentary on the *Pañcāstikāya-sāra*.

32. Upadhye, "Intro.," p. 9. The date of Vidyānanda, suggested here follows the generally accepted date by the Jaina and non-Jaina writers. However, in my recent researches I found that he apparently belonged to the first half of the 10th century. My paper "The Date of Vidyānanda and Epigraphical Evidence" is currently in press.

33. For details, *cf*. here f.n.no. 20.

34. The two Rāṣṭrakūṭa inscriptions from Maṇṇe (for the sources of publication here *cf*. f.n. 18-19), lay bear the existence of a parallel branch of the pontiffs of the Koṇḍakundānvaya, though the *gaṇa* is not mentioned :

Toraṇācārya of Śalamali-grāma
|
Puṣpanandi
|
Prabhācandra (A.D. 797; A.D. 802)

35. For detailed discussion, *see* my paper "A Propos of Mahāvācaka Ārya Nandi Kṣamāśramaṇa", *Śrī Dineśacanrikā, Studies in Indology*, Eds. B. N. Mukherjee & others, Delhi 1983.

36. JŚS, pt. 5. Māṇikacandra Digambara Jaina Granthamālā No. 52, Ed. Vidyadhar Joharapurkar, Delhi 1971, pp. 18-22.

37. Upadhye "Intro." pp. 1-24 where he mentions the sources. (The two sources in question are of course late medieval.

38. *Cf*. Upadhye, "Intro.," p. 12 and *infra*. The author seems to be Chakravartinayanar and it was his work which Upadhye may have in mind.

39. This is reported by Jayasenācārya in his commentary on the *Pravacanasāra*. For details, *cf*. Upadhye, "Intro.," *Pravacanasāra*, pp. 18-19.

40. For details, *cf*. Upadhye, "Intro.," pp. 11-12.

41. *Ibid*., pp. 12-13 for Cakravartinayanar reference. For Mahalingam, *cf*. his *Reading in South Indian History*, Delhi 1977, p. 7.

42. At least the available inscriptions do not seem to suggest one.

43. The data presented by Jayasenācārya are fairly pin-pointed unlike the later sources.

44. Pt. Nathuram Premi as well as Muni Kalyanvijaya is of this view.

45. About the so-called, though very small, parllelism between Akalaṅkadeva's writing and of Kundakundācārya, in one case, I shall review it in a future paper. (Also a quotation commonly figuring in Pūjayapāda Devanandi's Kundakundācārya I shall discuss in a subsequent paper.)

46. *Jainism in South India*, Sholapur 1957, p. 152.

47. *Ibid.*, p. 184.

48. *Cf.* "A Jaina Epigraph from Konakondal," *Dr. N. Venkataramanayya Commemoration Volume, Journal of the Andhra Pradesh Historical Research Society*, Vol. XXXVII, pt. 1, Hyderabad 1983, p. 87.

49. *Cf.* Chaudhari, "Intro.", pp. 46, 50-52.

50. Desai, p. 90.

51. I noticed this reference in his Ph.D. dissertation entitled "Jainism on the Kanara Coast", which was submitted to Mysore University, 1983. My grateful thanks are due to Shri Narasimha Murthy.

52. *EC*, X, Chika-ballapur l,.. no. 29.

53. The sites in question must be thoroughly surveyed by the State Department of Archaeology and the different university departments dealing with ancient Indian history and related subjects in Karnataka State, for estimating their antiquity.

54. The paper is entitled "The Date of Ṣaṭkhaṇḍāgama" and is shortly going to the press. I, therefore, will discuss no evidence in this paper on the late date for that work.

55. *Ṣaṭakhaṇḍāgama*, Pt. 1, Sholapur 1973, "Introduction", p. ii.

56. These may have come from the floating *sangrahaṇī* collections. Some of these, with small variations in readings and sequence also figure inside the *Prajñāpanā-sūtra* of Ārya Śyāma (II) (*c.* 3rd cent. A.D.)

57. Upadhye earlier had doubted it. Pt. Kailashchandra Shastri, however, concedes to this as possible. Pt. Hiralal Jain found a few parallelisms between the *Niyamasāra* attributed to Kundakundācārya and the quotations of the *Parikarma*

found in the *Dhavalā* commentary of Vīrasena. (*Cf.* Upadhye, "Post Script", p. 121,)

58. Premi, "Vattakerakā Mūlācāra," *Jaina Sāhitya.*, pp. 548–543 for complete diseussion.

59. This is the considered opinion of late Muni Punyavijayaji. Pt. Dalsukh Malvania, the present author, and several other scholars agree to that date for the *niryuktis*. (I have of course evidence other than already stated and known.)

60. The *Mūlācāra*, being a compilation, later had received additions. Once it passed in the hands of the Digambara sect, at some stage, verses typical of the new doctrines or those that signified new interpretations from Kundakundācārya's works seemingly were also added to it.(They look quite incongruent with and offer sharp contrast in terms of style and content.)

61. These verses figure in the *Samaya-prābhṛta*.

62. The main Prākṛta adopted in Kundakundācārya's work is for certain the Jaina Śaurasenī. The meters prefered are the late Āryā of the classical and post-classical period and, to a small extent Anuṣṭubh.

63. Upadhye, however, ascribes this to the period when the *āgamas* were the common property of the Śvetāmbaras as well as the Digambaras. I must confess I cannot agree with this suggestion. The separation, without declaration between, and without even the knowledge of the Northern and the Southern Nirgrantha (Digambara), had occurred long before Kundakundācārya and on account more of geographical distance and factors of history than due to any conscious and overt disagreements in the earlier stages. There is no evidence at all inside the genuine Digambara works on the rejection of the *āgamas* shaped by the Northern Nirgranthas in Pāṭaliputra (c. B. C. 300). (That is a deliberately concocted and propagated modern Digambara Jaina myth to which many trusting minds, including some German Jainologists, succumbed.) The Digambara had lost the *āgamas* (and these must be their very early version and in terms of number they must be very restricted at that early date, showing undeveloped doctrines, dogmas and philosophy; and this happened due entirely to their remote surroundings, their location in extreme south. It seems more correct to think that Kundakundācārya got some of the agamic verses possibly from the Yāpanīya and plausibly a few directly from the Śvetāmbara sources. And this could be only after the Yāpanīyas were well settled in Karṇāṭa, that is to say, in or after the 5th-6th century A. D. In point of fact, some of the Kundakundācārya's verses which are traced in the *niryuktis*, *prakīrṇakas* and similar sources are indeed not very ancient and could by style and content only be dated to the late Kuṣāṇa, Gupta and post-Gupta periods. (There are small variations in readings between these and Kundakundācārya's versions.)

64. The Śvetāmbara *cūrṇi* commentaries (7th cent. A. D.) often cite from agamic works now not traceable.

65. "Study of Titthogāliya", *Bhāratīya Purātattva*, Jaipur 1971, p. 138.

66. *Ibid.* Pt. Malvania, however, draws no definite conclusion on the relative positions of the four works.

67. Yāpanīyas had lived alongside the Digambaras at many centers in ancient and medieval Karṇāṭaka. See here also the f. n. 63.

68. I have carefully compared these *maṅgalas* with what figure in the 7th and 8th century Śvetāmbara works. Both the groups are fairly close in style, sometimes even in phraseology.

69. I am discussing his views with full quotations in the follow up paper.

□

THE SOURCES OF VĀDĪBHASIṀHA'S GADYA-CINTĀMAṆI : A FRESH ENQUIRY

N. M. Kansara

Jīvandhara, also known as Jīvaka, is regarded as a Jaina historical personage, a king, counted among the followers of the 22nd Tīrthaṅkara Nemi[1], and contemporary of the 24th Tīrthaṅkara Mahāvīra and his disciple Sudharmā. He is celebrated as the 23rd Kāmadeva[2] along with the sixty-three divine personages (*śalākā-puruṣas*) in Jainism. Excepting the passing enumerative reference to the name 'Jīvaga', there is hardly any reference to Jaina Canonical works to this hero of the several poetic works of medieval period, in Sanskrit, Prakrit, Apabhraṁśa, Kannaḍa and Tamil. So far, among the available texts, Guṇabhadra's 'Jīvandhara-carita', comprising a part of the 75th *parva* of his *Triṣaṣṭi-lakṣaṇa-mahāpurāṇa-saṁgraha*, popularly known as the *Uttara-purāṇa*,[3] is the oldest one. Guṇabhadra's work is in turn a latter part of Jinasena's *Mahā-purāṇa*. Jinasena was a contemporary of the kings Jagattuṅga and Nṛpatuṅga Amoghavarṣa (A. D. 815-877) of the Rāṣṭrakūṭa dynasty, with their capital at Mānyakheṭa (malkheḍ)[4]. His disciple Guṇabhadra completed his *Mahāpurāṇa* posthumously, some years before A. D. 897.[5] Later on the story was adopted almost *in toto* by the great Apabhraṁśa poet Puṣpadanta in his *Mahāpurāṇa* (A.D. 965) in the 99th *pariccheda*, also called *sandhi*.[6]

As has been the case with most of the folk literature in India and abroad, the strings of names and skeletons of the stories were current among bards and chroniclers, preserved from ancient times in oral tradition, and were at times strung together in anthologies of folktales, as in the case of Guṇāḍhya's *Bṛhatkathā*. The Jaina monks, too, preserved numerous such stories and further enriched them with details from their wider studies and elaborately narrated them for the occasion, as in the case of Haribhadrasūri who developed a grand *campū*, the *Samarāiccakahā*, just from a string of names. Many of the tales included in the *Mahāpurāṇa* of Jinasena-Guṇabhadra must have grown like that.[7] The impetus for giving a definite shape to the Jaina religious tales in the form of a *mahāpurāṇa* seems to have been provided by a similar activity in the preceding centuries during the Gupta period of the Indian History, which saw the renovation of the Vedic-Brahmanical Purāṇa tradition.

So far we know only a few sources used by Jinasena and Guṇabhadra. But possibly their main source was the *Vāgartha-saṁgraha* of Kavi Parameśvara which as yet has not come to light; on a few quotations therefrom have been traced.[8] It is not unlikely that Guṇabhadra had some sources other than those in Sanskrit, either in Prakrit, or in the Dravidian languages before him; that alone may explain a proper name like 'Praśasta-vaṅka' (UP. LXXV, 698) which is a Hybrid Sanskitisation of 'Praśasta-vākya' or 'Praśasta-vaktra'.[9]

Jinasena seems to have known the *Bṛhat-kathā* of Guṇāḍhya in its original, since he specifically refers to it with words with ingenious *double entendre* in quite complimentary terms.[10] It is quite plausible that Jinasena as well as Guṇabhadra may have used Guṇāḍhya's or some other work of that pattern like the *Vasudeva-hiṇḍi*, which seems to have been known to some Tamil authors as well.[11] Of the *Bṛhatkathā* there is a Tamil adaptation, Perungadai by Konguvel, with Udayana as its hero. Konguvel is held to have flourished sometime between the fifth and the eighth centuries A.D.[12] R. Narasimhachariar has brought to light the fact that the Gaṅga king Durvinīta (*c.* A. D. 560-610) composed a Sanskrit version of the *Bṛhat-kathā*.[13] Side by side with the literary works on Jīvandhara, there were being composed in the South, *Kāvyas* about some other religious heroes like Varāṅga, Yaśodhara Karakaṇḍu and others in Sanskrit, Prakrit, Kannaḍa and Tamil.[14]

The pattern of the story of Jīvandhara to some extent resembles to the outline of the story of Naravāhanadatta in Guṇāḍhya's *Bṛhatkathā*, as preserved in the medieval Sanskrit compendia of the work, such as *Bṛhat-kathā-śloka-saṅgraha*, the *Bṛhat-kathā-mañjarī* and the *Kathā-saritsāgara*. The fact that Jinasena was induced to claim for his *Mahāpurāṇa* a status on par with that of Guṇāḍhya's *Bṛhat-kathā*,[15] testifies to the fact that the Jaina authors were quite fascinated by the work, and they were inclined to cast the stories of their own celebrated heroes so as to conform to the pattern in Guṇāḍhya's work in a bid to gain comparable popularity for them with masses in general or at least with the Jaina society in particular. And Guṇabhadra seems to have drawn on such folklore for the elaboration of the stories of the celebrated heroes like Jīvandhara and others.

The story of Jīvandhara in the UP is in the form of a sub-story, narrated by Gaṇadhara Sudharmā in response to the enquiry by King Śreṇika who is said to have got curious when he saw Jīvandhara Muni poised in meditation under an Aśoka tree. The various incidents of this tale are connected together only insofar as they relate to the life of Jīvandhara. As is natural in work like a Purāṇa, no attempt has been made here to give a particularly refined literary form to the narrative, which, though straight forward, covers about 409 verses (i.e. from vs. 183 to vs. 691) couched in the Anuṣṭubh metre, except the three concluding ones of the Parva. The purpose expressed here is to illustrate the unexpected turns of events due to good or bad luck, the ups and downs in human life, and the unfailing consequences of one's good and bad deeds.[16]

Likewise, in the treatment of all the tales and of the story of Jīvandhara in his *Tisaṭṭhi-mahāpurisa-guṇālaṁkāra*, i.e. the Apabhraṁśa *Mahāpurāṇa* (MP) Puṣpadanta, too, closely follows the text of the MP in Sanskrit by Jinasena-Guṇabhadra, who it appears, represent the Digambara Jaina tradition;[17] the only difference is that the narrative is divided into 20 *kaḍavakas*. The work is dedicated to Bharata, the minister of Kṛṣṇa III (A.D. 939-968) of the Rāṣṭrakūṭa dynasty.[18] P. L. Vaidya accepts

A.D. 959 as the Siddhārtha year in which Puṣpadanta commenced his MP, and A.D. 965 as the year in which he completed it.[19]

The story of Jīvandhara as found in the Tamil *Śrīvartamānarpurāṇam*, a part of the *Śrīpurāṇam*,[20] is in effect the same as that of the MP, since *Śrīpurāṇam* (SP) is a Tamil rendering of the Sanskrit *Mahāpurāṇa* of Jinasena-Guṇabhadra.[21]

The literary treatment of the story of Jīvandhara seems to have started with the *Cīvakacintāmaṇi* of Tittakkatevar in Tamil (A. D. 908-950),[22] followed by the *Gadyacintāmaṇi* and the *Kṣatracūḍāmaṇi* of Vādībhasiṁha (A.D.1027), and the *Jīvandharacampū* of Haricandra in Sanskrit (sometime between A.D. 1075 and 1175). The date of Tiruttakkatevar accepted here is in accordance with the discussion of the same by A. N. Upadhye and H. Jain,[23] and by T. E. Gnanamurthy.[24] The date of Vādībhasiṁhasūri referred to here is as decided by Upadhye and Jain.[25] It may be observed in passing here that the date proposed for Vādābhasiṁha, namely the period between the last decades of the eighth and the former half of the ninth centuries A.D., by Pandit Pannalal Jain in the light of the discussion of the problem posited by Pandit Darabarilal[26] is not conclusive, since the evidence adduced only proves that Vādībhasiṁha was posterior to Bāṇa and Akalaṅka and that way determines at most the upper limit of the author. The *Jīvandharacampū* of Haricandra is a summary of the story as related by Vādībhasiṁha in his two works mentioned above; without the latter it would not be very easy to follow the story in all the details in Haricandra's narrative.[27]

In view of the above-noted chronology of the literary works treating the story of Jīvandhara, it becomes clear that they have drawn their inspiration from the folklore, preserved later in the Sanskrit *Mahāpurāṇa* of Jinasena-Guṇabhadra.

The controversy regarding the sources of the *Gadyacintāmaṇi* is based on the decision on the question of the mutual relationship of Vādībhasiṁha's works vis-ā-vis that of Tiruttakkatevar. Kuppuswami Sastri and U. V. Swaminatha Aiyar compared the story of the *Kṣatracūḍāmaṇi* (KC) with those in the *Gadyacintāmaṇi* (GC) the *Cīvakacintāmaṇi* (CC) pronounced in Tamil as *Sīvakasintāmaṇī* and in the *Jīvandharacampū* (JC), and drew the conclusion that the GC was the source of the rest of them.[28] On the other hand, Upadhye and Jain, who have examined the problem afresh, have arrived at the contrary conclusion that the CC was the source of the rest of them.[29] Pt. K. Bhujabali Shastry, Pt. Darabarilal Kotia and Pt. Pannalal Jain have touched the problem in their respective works. T. E. Gnanamurthy has discussed the problem in connection with inquiry into the sources of the CC.[30]

Out of the four classics listed above, the KC is quite different in point of genre from the rest of them. It narrates the story in 747 Anuṣṭubh verses divided into eleven Lambakas. Although a sort of an epic, it is a unique piece of literature in that almost every latter half of each of its verses moralises the event narrated in the former half of it, and the story serves as a mere peg for hanging the didactic

element. The purpose specified here is to summarise the story of Jīvandhara,[31] of course as told by him in his GC; but the unspecified task accomplished is that it is a veritable mine of pithy proverbs and sayings, calculated to bring out the moral significance of each of the incidents as well as of the whole of the story in the light of the Jainistic ideal of human existence. Naturally, the story narrated here is identical with that done in detail in the GC.

Now, a couple of questions arise : why should Vādībhasiṁha compose two works, namely the GC and the KC, based on the same story ? And, why should he name the one as *Gadyacintāmaṇi* and the other as *Kṣatracūḍāmaṇi* ? The questions are interrelated, and so are the answers to them, since they entail an analysis of the contemporary literary environment prevalent during the age of Vādībhasiṁhasūri, who undoubtedly is a South Indian writer, a thorough scholar, and expectedly hence conversant with the Sanskrit as well as the Tamil classics of his days.

Tha title '*Gadya-cintāmaṇi*' is ostensibly unusual, almost unique in the whole range of Sanskrit literature, as it ignores the subject proper of the work, namely the story of Jīvandhara, and projects the literary form of the work as a prose romance par excellence. It presupposes the author's fascination for some *Cintāmaṇi*, works most probably composed in metrical form with which he seems to have wanted his work to be compared in point of literary excellence. Upadhye and Jain have drawn attention to this point in the following manner : "The title '*Jīvaka-ctntāmaṇi*' has a regular significance, and the name *Gadya-cintāmaṇi* can be understood clearly only by presupposing *Jīvaka-cintāmaṇi*. The *Jīvaka-cintāmaṇi* or *Cīvakacintā-maṇi* (i. e. *Sīvakasintāmaṇi*), is in verse, and the term *Cintāmaṇi* is appropriate in its title in apposition to the proper name Jīvaka."[32]

This guess seems confirmed when we look to the historical background. As has been brought out succinctly by Gnanamurthy,[33] the *Cilapattikāram*, the *Maṇimekhalai*, the *Cintāmaṇi*, the *Valaipayati* and the *Kuntalakeci* are considered to be the major epics or *Peruṅkāppiyams* in the ancient Tamil literature. Of these five works, only the *Cilapattikāram* and the *Cintāmaṇi* can be deemed major epics. The *Cilappatikāram* distinguishes itself as an epic by its grand style, diction, noble sentiments, etc. It is in fact a dramatic epic the *Nāṭakakāppiam*.[34] The *Cintāmaṇi* began a new era in the history of Tamil epics. It was the first epic written in Viruttam verses, and served as a model for subsequent epic (Purāṇam) poems.[35] It was likewise the first epic to introduce an invocation to God as a necessary beginning of an epic; there is no other epic of earlier times which begins with an invocation in Tamil. This practice probably came into vogue in the Pallava period. It is the *Cintāmaṇi* that introduced the ideal description of an utopia—the country, the river, the city and the inhabitants—as the very beginning of every epic; all Purāṇa poets of successive ages have followed the *Civakacintāmaṇi* in respect of form and method.[36] The poets who came after *Tiruttakkatevar* have expressed reverence and admiration for him in the homages they paid to him;[37] they are the praises expressed by loving hearts moved

commentators have quoted profusely in their commentaries on ancient literature and grammar, it is called 'Mahākāviam' which set up certain conventions as have served as a model for the later poets when composing their epics (Purāṇas).[41] As Father Beschi puts it, "Tiruttakkatevar is a prince among the Tamil poets", and as G. Pope says, "*Givakacintāmaṇi* is the greatest existing Tamil literary monument; the great romantic epic which is at once the Iliad and Odyssey of the Tamil language, and one of the great epics of the world."[42]

It is no wonder that in the Tamil area, the *Givakacintāmaṇi* was read in every house as it covered all the fourfold human goal of Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa respectively—called Aram, Porul, Iṇpam and Viṭu respeetively in Tamil[43]. Not only that the *Periyapurāṇa* came to be composed, because the Śaivas used to read the *Cintāmaṇi* of rough, false and theivish Jainas; which only shows that the *Cintāmaṇi* had become popular even outside the Jaina circles.[44] The Tamil text is more exhaustive, and it is not surprising that Oḍeyadeva thought of giving a Sanskrit adaptation of it in ornate style following the models of Subandhu and Bāṇa; this is most probably hinted by the śleṣa in "Loke cintāmaṇir ivā paraḥ" in the concluding verse, and was expected to gain matching popularity and state patronage.[45]

Moreover, the significance of the expressian "*Jīvandhara-prabhava-puṇya-purāṇa-yogād vākyam mamā'pyubhaya-loka-hita-pradāyi*[46] by Vādībhasiṁha cannot be caught unless we realise that the word 'Purāṇa' stands for a major Epic (Mālākappiam) in Tamil and a mythological history (Purāṇa) in Sanskrit; thus Vādībhasiṁha seems to hint that since his work is connected with the mythological history (*purāṇa*) of Jīvandhara's excellent life (*prabhava*),—such as it is preserved in Guṇabhadra's *Uttarapurāṇa* etc., his work will earn profuse merit calculated to help him attain divine status after death; and since his classic is connected with the major epic (*purāṇa*) treating the excellent life (*prabhava*) of Jīvandhara, like the Tamil *Cintāmaṇi* of Tiruttakkatevar so much held in reverence, -it will fetch him matching popularity among the classics of his age ! This situation reveals the motive that inspired Vādībhasiṁha to name his work in the out-of-the-way manner.

The above conclusion is confirmed when we consider the second question as to why the poet composed yet another classic based on the same old story and the same old theme of preaching the Jaina ideal of human life, and again named it as 'Kṣatra-cūḍāmaṇi' in the similar uncustomary manner.

Just as, as we have seen above, the *Cilappatikāram*, the *Manimekalai*, the *Cintāmaṇi* etc. are considered the five major epics or Peruṅkāppiams in Tamil, one other set of five works, namely the *Utayaṇakumāra Kāviyam*, *Nātakumāra Kāviyam*, *Yacotara Kāviyam*, *Culāmaṇi* and *Nīlakeci*, are named as minor epics or Cirukāppiyams. Here again these works, except for the *Culāmaṇi*, lack epic characteristics; only the *Culāmaṇi* deserves to be called an epic. It is written in the epic style in Viruttam verses. Its author is said to be Tolāmolittevar. Since Jaina philosophy is found in

the work, it is evident that the author was a Jaina by faith. It was written immediately after the *Cintāmaṇi* came into existence, and before the commentary on the *Yāpparuṅkalam*, in which some of its stanzas are quoted, was written in the 10th century A. D.[47]

The *Culamaṇi* relates that Payāpati, the king, had two sons, by name Vicayan, and Tiviṭṭan, by his wives Mikāpati and Caci, respectively. Acuvakrīvan is the enemy of the two sons. Tiviṭṭan, the younger son, marries Cuyamprapai, the daughter of a Vityātara king. Acuvakrīvan fights with Tiviṭṭan and dies. Tiviṭṭan becomes the king. His father Payāpati and his elder brother Vicayan renounce the world. The *Culāmaṇi* deals with the story in a grand style. It is written in Viruttam verses of various kinds.[48]

In the light of the above information, and in view of the fact that the real name of the author of the GC was "Oḍeyadeva" which is but a Sanskritised form of the original Tamil name like 'Oteyatevar' or 'Uttiyatevar', 'Vādībhasiṁha' being merely an honorific pseudonym or *nom de plume*, it is clear that the author of the GC and the KC was a Tamilian, that he was familiar with the Tamil classics of Tiruttakkatevar and Tolāmolittevar, and that inspired by the popularity of these two veteran epic poets, he too undertook to compose a Sanskrit prototype of the Tamil *Culāmaṇi* too. However, he chose therein to summarise the story of Jīvandhara, who was in his eyes the hero par excellence, rather than sing the glory of a comparatively inferior hero like Tiviṭṭan. Hence the title 'Kṣatracūḍāmaṇi', which emphasises that the work is another *Culāmaṇi* relating the story of a real warrior (*kṣatra*), i. e., a protector rather than a killer, in contrast to the Tamil *Culāmaṇi* wherein the hero is a mere avenger of his enemy.

Vādībhasiṁha, thus, seems to have composed the two classics to give us the Sanskrit prototypes of the celebrated Tamil classics—one of them of the major type and another of the minor type, doubly qualifying him for an honoured place among the great epic poets of Tamil and of India as a whole. And in undertaking the task he was actuated more by a spirit of filing the gap in the Sanskrit literature than by a mere spirit of competition; both Tiruttakkatevar and 'Oteyatevar' alias Vādībhasiṁha belonged to the Digambara sect of Jainism, and both wrote to glorify the Jainistic way of life.

When we compare the stories in the light of the chronology of the works in view of the above discussion, and in view of the fact that the chronological gap between the UP and the CC between the CC and the GC as also the KC was hardly more than a century or its a half, some new points emerge which indeed are interesting As has been noticed in the foregoing, scholars who have compared the works of Guṇabhadra and Puṣpadanta find that the latter follows the former in all the details of the narrative.[49] It is natural since the purpose of both works is to codify

and preserve the folklore tradition of the Jaina personages as current during their days. The works like the CC, the GC, the KC and the JC, on the other hand, which deal with the story of Jīvandhara, form another class, since they treat the story from an altogether different standpoint; they have composed the classical masterpieces wherein the story serves as the basic skeleton while the emphasis is solely on the style, diction and embellishments. The poets here tend to introduce necessary changes in some minor points of the story in view of their literary outlook, and social environment as well as the contemporary poetic conventions.

Now we shall compare the Jīvandhara stories as narrated by Guṇabhadra Puṣpadanta, Tiruttakkatevar and Vādībhasiṁha, in points of difference, since the rest of the narration is more or less the same in all these works :

1) The UP, the MP and the SP refer to Rudradatta ('Ruttiratatattan' in the SP), a family priest to king Satyandhara.[50] The CC, the GC and the KC are altogether silent on this character.

2) Both the UP and the MP relate that the queen Vijayā saw two dreams, namely (i) that the king presented to her a crown adorned with eight bells, and (ii) that the Aśoka tree under which she was sitting was cut off with an axe by some one and a fresh tree sprouted in its place.[51] The CC, the GC and the KC refer to three dreams, namely (i) that all the flowers of the Aśoka tree wither away and then the tree itself falls down as if struck by lightning, (ii) that a new shoot sprouts from its trunk, and (iii) that the shoot has a crown on it, it grows rapidly, and eight white garlands adorn the crown.[52] While the CC mentions the colour of the garlands, the GC and the KC ignore it.

3) Both the UP and the MP narrate that when Muni Śīlagupta uttered his prophesy about the male offspring to Gandhotkaṭa, some Yakṣī who was present there heard it, arrived at the king's palace, and entered into the Garuḍa yantra ('Karuṭayantiram' in the SP) in order to help the mother at the time of the birth of the child.[53] The CC, the GC and the KC narrate that the king ordered to be made by a skillful workman a peacock-machine ('Mayirpori' in the CC)—a contrivance in the form of a peacock which could be made to move in the sky and drawn by a mechanism, and he roamed in it in company of the queen.[54] But in the CC the suggestion for the Mayirpori came from a minister who had misgivings that the downfall of the king was not far off, and that the queen Vicayai was soon taught how to work the machine.[55]

4) The UP, the MP and the SP narrate that one morning the state-priest Rudradatta went to the royal palace to see the king. As he met the queen, she told him that the king was in the bed and he could not see him then. The priest considered this to be a bad women, and went to the chief-minister Kāṣṭhāṅgārika (Kāṣṭāṅkārikan' in the SP) and secretly instigated him to kill the king. Kāṣṭhāṅgārika was shocked at the priest's suggestion, and putting his palms over his ears in order

not to hear such trecherous words from the priest, he said that the priest had sinned by instigating him to kill the king. and that even though he was only the son of a man who carries wood, he entrusted the entire administration of the kingdom to him. Thereupon the priest replied that he was destined to be killed by the king's son and that under those circumstances he may do what is best for himself. Then the priest took leave of him. On the third day the priest contacted a dreadful disease and died. The thought that he will be killed by the king's son, simmered in the mind of Kāṣṭhāṅgārika, and made him nervous. Eventually he decided to kill the king.[56] In the CC, the GC and the KC it is depicted that the king Satyandhara was given to pleasures, neglected the affairs of the state, and left the administration to Kāṣṭhāṅgāra. In the CC a minister named Nimmittan tries to enumerate numerous instances of the bad consequences of exclusive devotion to pleasures.[57] In all these three works Kāṣṭhāṅgāra (Kaṭṭiyaṅkāran in the CC) covets the throne himself, and with the support of Mathana ('Matanan' in the CC) attacks the king Satyandhara ('Caccantan' in the CC),[58] the only difference is that in the CC Matanan is a nephew, while in the GC and the KC Mathana is the brother-in-law of Kāṣṭhāṅgāra.[59]

5) The UP depicts the scene in the centenary where witches are said to have been snatching the half-burnt corpses from the funeral pyres.[60] Puṣpadanta has dropped this description. So do Tiruttakkatevar and Vādībhasiṁha.

6) Both the UP and the SP mention that since she mounted the peacock-machine, the queen was being protected by the Yakṣī ('Yakṣī Tevatai in the SP) who then appears in prison to console the queen who is lamenting after she has delivered the child. Puṣpadanta just mentions the incident in passing.[61] In the CC and the GC some goddess appears before the queen in the guise of a maid-servant named Campakamālā ('Caṇpakamālai in the CC),[62] while in the KC the name is not given.[63]

7) Both in the UP and the SP, Gandhotkaṭa ('Kantotkaṭaṇ' in the SP) who comes to bury his dead child, finds the baby and at the request of the queen to rear the child, takes it home with great joy and gives it to his wife. He pretends to be angry and chides her for having told him to bury the child withougt properly testing whether it was dead. Sunandā ('Cunatai' in the SP), seeing that her child is alive, receives him with great joy believing it to be her own son.[64] Puṣpadanta does not narrate this incident in detail but only mentions that Gaṁdhukkaḍa did not reveal the secret to his wife.[65] In the CC the story is more or less the same, as in the UP and the SP.[66] But in the GC and the KC the queen is shown to have put the royal ring on the child's finger and herself stood concealed under a nearby tree.[67]

8) The UP narrates that queen Vijayā then went to a hermitage in Daṇḍakāraṇya by means of the same Garuḍa-yantra and stayed there incognito: and that the Yakṣī used to go there daily to entertain her with religious stories.[68] The MP merely mentions that the queen went to Daṇḍaya–vaṇa with the help of the Garuḍa-jaṁta.[69] The CC, the GC and the KC narrate that when the queen declined to live with her brother, the Yakṣī took her to the hermitage in Daṇḍakāraṇya.[70]

9) The UP, the MP and the SP refer to two more queens of Satyandhara, Bhāmārati (Pāramarati in the SP) and Anaṅgapatākā ('Anaṅkapatakai' in the SP) and their respective sons, Madhura ('Maturaṅ' in the SP) and Bakula ('Vakulaṇ' in the SP); but the names of the queens in the MP are slightly different, Rai and Mayaṇapaḍāyā.[71] The CC, the GC and the KC drop this detail. These two boys too were being reared up by Gandhotkaṭa, along with Jīvandhara and other boys.

10) The UP, the MP and the SP enumerate as the chief companions of Jīvandhara the following : Madhura ('Maturaṅ' in the SP), Bakula ('Vakulaṇ' in the SP), Devaṣeṇa ('Tevacenaṅ' in the SP), Buddhiṣeṇa ('Putticeṇaṇ, in the SP), Varadatta ('Varadattaṅ' in the SP), Madhumukha (Matumukan' in the SP), and Nandāḍhyā ('Nantāṭṭiyaṇ' in the SP).[72] The UP and the SP mention that Jīvandhara lived among these boys during his childhood.[73] According to the CC, the chief companions of Cīvakaṇ are Nantaṭṭaṇ, Patumukaṅ, Putticenaṅ, Napulaṅ, Vipulaṅ Tevataṭṭaṇ and Citattaṇ.[74] Vādībhasiṁha here seems to add, in both the GC and the KC, that while Gandhotkaṭa gave a reception in honour of the birth of Jīvandhara, the ignorant Kāṣṭhāṅgāra thought that it was given in honour of his having obtained the kingdom, and made over the treasure of Satyandhara to Gandhotkaṭa and ordered that the children born at that time should be reared together at the house of the merchant.[75]

11) The UP narrates an incident that while once Jīvandhara was playing with his companions, a mendicant asked him as to how far the city was from the place. Jīvandhara called him ignorant since he could not surmise that it could not be far off in view of the children playing there. The mendicant concluded on the basis of the intelligent reply that the boy was a royal child, and requested him to offer him some food. Jīvandhara took him home and with the due permission of Gandhotkaṭa fed the mendicant. When both were eating, Jīvandhara began to cry. At the question from the medicant about the reason for weeping Jīvaka enumerated the benefits of weeping ! Impressed by this incident, the mendicant introduced himself to the merchant as the ex king Āryavarman of Siṁhapura, who had been initiated into the Jaina monastic order by Muni Varanandi, and that he was moving in the guise of the mendicant since he was suffering from the disease of morbid apetic from over-digestion (*bhasmaka*). Then Gandhotkaṭa entrusts the boy to him for proper education.[76] The CC, the GC and the KC narrate this part differently and the teacher tells this to Jīvandhara after his education is over. The Teacher's name is given as Āryanandī ('Accaṇanti' in the CC) who was once the king Lokapāla ('Ulokapālaṇ' in the CC) in the Vidyādhara region.

From the points of comparision and contrast discussed above by way of a few noteworthy specimens, it emerges that out of the UP and the MP, the GC and KC and the CC, the latter three have greater affinity with each other than with the former two. And Vādībhasiṁha, being later than Guṇabhadra, undoubtedly had the know-

ledge of the UP, especially because in his story of Kṣemaśrī in the GC and the KC he follows Guṇabhadra's version of the story of Kṣemasundarī in the UP. In the CC, however, this story is narrated in a different way. At the same time the new episodes that are introduced in the GC and the KC are not found in the UP, but they are found in the CC, much in the same manner as they are narrated in the GC and the KC. R. Vijayalakshmy has classified such similarities into two sections, namely (i) the new episodes and incidents which are not found in the UP and are met with in the CC, the GC and the KC, and (ii) similarity in manner and style of descriptions encentered in the GC, the KC and the CC.[77] She has closely compared 14 such incidents and episodes falling under the first section, and 25 instances of similarity in manner and style of description. Moreover, she has extensively quoted six instances of similarities of the phrases used in the descriptions.[78] And she has also observed, as a result of her intensive comparative study, that where the descriptions in the CC proceed on the lines of Tamil literary and cultural traditions, the GC simply omits them.[79] For instance, the descriptions of five kinds of lands, the meeting and love episodes of Patumai and Cīvacaṉ, though found in the CC, are but conspicuous by their absence in the GC and the KC. But indirect influence of such descriptions is found in the GC, and in these the latter shows Vādībhasiṁha's indebtedness to the CC. Vijayalakshmy has further discussed such examples under two sections : (i) the examples which show that the knowledge of the CC is necessary to understand what is said in the GC; and (ii) those in which one can see the Tamil literary traditions in the GC which came through the CC.[80] In the light of the following discussion, she has shown the indebtedness of Vādībhasiṁha to Tirutakkatevar. More significantly, she has pointed out that the term 'Cintāmaṇi' has been used only by Tirutakkatevar while referring to Cīvakaṉ. It is the name by which Vicayai, Cīvacaṉ's mother calls him at the time of his birth.[81] Tirutakkatevar also refers to Cīvacaṉ by the word 'cintāmaṇi' when he says that he has narrated the life-story of Cintāmaṇi (i. e. Cīvakaṅ)[82] Thus, Vijayalakshmy too feels that Vādībhasiṁha is reffering to only the CC in his phrase 'cintāmaṇir ivā' paraḥ.[83] Vādībhasiṁha's works do not contain any references similar to the CC, which would justify the word 'Cintāmaṇi' in his title 'Gadya-cintāmaṇi' (the prose Cīntāmaṇi), which thus appears to presuppose the existence of a 'Padya' (verse)—Cintāmaṇi. And it is with the view to avoid confusion with this latter that he was further compelled to choose the title 'Kaṣtra' for his metrical work treating the same story. But, instead of calling this later work 'cintāmaṇi' he roped in the very popular title 'culāmaṇi' of a famous Tamil classic and amalgamated it with this metrical work, bestowing on it indirectly the halo of fame as a sort of 'Padya'—Cintāmaṇi comparable to the famous Tamil classic of Tolāmolittevar, namely the *Culamaṇi*. And the title 'Kṣatra-cūḍāmaṇi' (the crest-jewel amongst the warriors) fitted well with the hero, more commendably in this way. In her opinion, thus, the works of Vādībhasiṁha are not of earlier origin than the CC, which was

composed between the later half of the 8th Cent. A. D. and the first half of the 9th Cent. A. D. The conclusion is inescapable that Vādībhasiṁha drew his story from Guṇabhadra's MP, but took his inspiration for the composition of his Sanskrit classics, the GC and the KC, in a bid to claim for them a matching literary estimation and popular fame, enjoyed so far only by the celebrated Tamil classics of Tirutakkatevar and Tolāmolittevar, respectively.

REFERENCES :

*Paper accepted by the A. I. O. C. XXXV th Session, Ujjain, 1976.

1. "Cf. Titthogāliya (Punya.), 490 : "*Visaṁ sāhassīo sīsāṇam namijiniṁda-parivāro/Jivaga-raya-nayssā vippāe vijaya-tanayassa*"
2. Cf. Chaudhari, Gulabachandra—"*Jaina Sāhitya-kā Bṛhad Itihāsa*' (Hindi) Vol.VI, Varanasi 1973, 132.
3. Actually, the story starts with UP LXXV.183 : "*Anyadā'san mahārājaḥ Śreṇikākhyaḥ paribhraman*" etc., and ends with the vs.691; the colophon of the *Parvan* stating "*......Jīvandhara-caritaṁ nāma pañca-saptatitamaṁ parva*".
4. Cf. Hiralal Jain and A. N. Upadhye,—Preface (p. c) to the *Uttara-purāṇa of Guṇacandra*, edt. by Pannalal Jain, Bharatiya Jñānapiṭha, Kashi 1954.
5. *Ibid.*
6. The story is covered in 20 *kaḍavakas*; the colophon of the *sandhi* states : *Jivaṁdhara-bhavā 'vaṇṇaṇaṁ ṇāma ṇava-ṇaudimo pariccheo*".
7. Jain and Upadhye,—General Introduction (p. 17) to the *Jīvandhara-campū of Haricandra*, edt. by Pannalal Jain, Bh. Jn. Pth, Kashi 1958.
8 *See Proceedings and Transactions of A.I.O.C.XIII.* Nagpur 1946, 113-114.
9. Upadhye & Jain—Gen. Intro., p. 18;
10. Cf. MP. I.115 : "*Adbhutārthām imām*", etc.
11. Upadhye & Jain—Gen. Inrto., p. 18; also, Pillai, S. Vaiyapuri—History of Tamil Language and Literature, 139.
12. *Ibid.*
13. V. Raghavan,—*Bhoja's Śṛṅgāra-prakāśa*, Madras 1963, 844.
14. Upadhye & Jain—Gen Intro. 18.
15. *See supra*, MP. I.115.
16. Cf. UP, LXXXV. 690-691.
17. P. L. Vaidya,—Engl. Intro. (p. xvii) to the *Mahāpurāṇa of Puṣpadanta*, Vol. III, Bombay 1943.
18. Intro., p. xv.
19. *Ibid*, p. xix.
20. Jain & Upadhye—MP., Vol.II, Preface, p. C.
21. T. E. Gnanamurthy, *A Critical Study of Cīvaka Cintāmaṇi*, Coimbtore 1966, 18.

22. Gnanamurthy,—7-12; also Upadhye & Jain—Gen. Intro. to the *Jīvandhara Campū*,14.
23. Upadhye & Jain—Gen. Editorial (14-14) to *Jīvandhara-campū*. edt. by Pannālal Jain, Publ. Bharatiya Jñanapīṭha, Kashi 1958.
24. Gnanamurthy, 7-12
25. Upadhye & Jain—Gen. Edtrl. (pp. 15-16) JC., Kashi 1967.
26. Pt. Pannalal Jain—GC.
27. Upadhye & Jain, Gen. Edtrl, 21.
28. Cf. T. S. Kappuswami Shastriyar,—KC., Intro., p. 1: *Kvacit kvacij-jīvakacintā maṇau*" etc.; also U. V. Swaminatha Aiyar, Intro. to *Cīvakacintāmaṇi*. 8.
29. Upadhye & Jain—Gen. Edtrl., 16.
30. Gnanamurthy, 30-31.
31. KC., I. 2ab.
32. Upadhye & Jain—Gen. Edtrl, 16.
33. Gnanamurthy, 34-59.
34. *Ibid*. 35,
35. *Ibid*., 38.
36. *Ibid*., 42-43.
37. *Ibid*., 49.
38. *Ibid*., 53.
39. *Ibid*., 54.
40. *Ibid*., 55.
41. Aiyar, 5th Edn., p. 7.
42. Gnanamurthy, 58.
43. Epigraphica Carnatika, II:67(54).
44. Upadhye & Jain—16
45. *Ibid.*
46. GC., Intro, vs. 9 bc.
47. Gnanamurthy, 35-36.
48. *Ibid*., 36.
49. *See supra*, ft. nt. 6.
50. UP., 75.180 ed.; MP., 99. 1. (8-9).
51. UP., 75.191-193; MP., 99.1(10-12).
52. GC., p. 14; KC., I.23 a.
53. MP. 75.204-206; MP. 99.2(12-13., : SP., Vvr.), p.523.
54. GC., p. 53(5)—54(4); KC., 1.37 ab.
55. S. Ramaswamy Mudelliar—"A Paper on 'Jivaga Chintamani", p. 10.
56. UP., 75.207-218; MP. 99.2(15-20)—3(1-5); SP(Vvr.), p. 522.
57. Mudelliar, 9.
58. GC., pp. 54ff; KC. 1.39.
59. Gnanamurthy 152: GC., 62(1).

60. UP., 75.225-227.
61. UP., 75.224, 228, 230-241; Gnanamurthy, 20,
62. Gnanamurthy, 20 and 25; GC. 74 (6).
63. KC., I, 14.
64. UP., 75.242-249; SP., 523.
65. MP., 93.3(12).
66. Gnanamurthy, 20 : Mudelliar, II.
67. GC., p. 76(6ff)--77(3); KC., I. 95.
68. UP., 75.252-253.
69. MP., 99.3(13).
70. Gnanamurthy, 14.161; GC., p. 78(9)—79(1-2); KC., I.100.
71. UP., 75.254-255; MP., 99.3(14-15)—4(1-5).
72. UP., 75.255-261; SP., pp. 523-524; MP., 99.4 (1-5).
73. UP., 75.259cd—260a; MP., 99.4(5).
74. Gnanamurthy, 214.
75. GC., pp. 80-81; KC., I. 105-106.
76. UP., 75.262-284; MP., 99.4(6-16)
77. R. Vijayalakshmy—*A Study of Jīvakacintāmaṇi*, pp. 8-23, Publ. L. D. Inst. Indo., Ahmedabad 1983.
78. Vijayalakshmy, 23-25.
79. *Ibid.*, 25-26.
80. *Ibid.*, 26-31.
81. CC., V. 311 : "cintāmaṇi in kiṭattiyāl",
82. *Ibid*,. V. 314 : "cintāmaṇiyin cariṭam citarneṭeṉ".
13. GC. II. p. 437.

Jaina Theory of Many-sidedness of Reality and Truth (Anekāntavāda)

Nagin J. Shah

Jainism is one of the important systems of Indian philosophy, and Anekāntavāda is regarded by scholars as the central philosophy of Jainism. Anekāntavāda is the theory of many-sidedness of reality and truth. It presupposes the theory of standpoints or partial truths (Nayavāda). Anekāntavāda investigates how each of the views contains some truth. As a result, it arrives at the conclusion that different systems of philosophy are partially true, hence none of them is wholly true, and that if each of them would see things from the opponent's viewpoint as well as its own there would be perfect harmony all round.

Nayavāda and Anekāntavāda

According to Jaina philosophy a real thing or object (*vastu*) has infinite characters (*ananta-dhramātmaka*), implying thereby that it possesses even opposite characters. A real thing is therefore manysided (*anekāntātmaka*). Again, the Jaina thinkers maintain that both substance (*dravya*) and mode (*paryāya*) constitute the nature of a real thing,[1] and further they relate permanence (*dhrauvya, nityatva*) to substance and origination-destruction (*utpāda-vyaya*) to modes. Therefore, a real thing has two opposite characters permanence and change.[2] Again, they tell that a real thing is constituted of general features and particular features. Hence has two opposite characters—universality and particularity, or similarity and dissimilarity, or the One and the Many. Thus, ontologically, a real thing is a veritable confluence of opposites.

A real thing is not merely a mixture of the opposites. It is not a mixture of substance and mode but something *sui generis* (*jātyantara*). Substance and mode are so blended as to present a real thing *sui generis* which is, therefore, not vitiated by the defects of the two taken singly and separately[3], at the same time they are never found outside a real thing, nor one without the other. Similar is the case with universal and particular of a real thing. Thus, a real thing is a unique synthesis of opposites.

We ordinary mortals can attend to one aspect or character of a real thing at a time and consequently can have the knowledge of only one aspect or character of a real thing. And our concentration on one aspect or character is conditioned by our purpose, intention etc. Such partial knowledge of only one aspect or character is called *naya*[4], and a judgement based on such partial knowledge is also called *naya*. A *naya* is defined as a particular opinion or a viewpoint—a viewpoint which does

not rule out other different viewpoints and is, thereby, expressive of partial truth about a real thing—as entertained by a knowing agent[5]. A viewpoint (*naya*) can prevent itself from lapsing into dogmatic absolute assertion and becoming thereby a pseudo-viewpoint (*durnaya*), by qualifying itself with a word '*syāt*' (='from a particular standpoint', 'in a certain sense') expressing conditionality, thus keeping open the possibility of other different viewpoints. Thus the doctrine of *naya* is the doctrine of Relativity of Knowledge and of Conditioned Judgement. Our knowledge or judgement is true only in reference to the standpoint adopted and the aspect of a real thing considered. The doctrine means that Reality is conveyed to the mind differently from different viewpoints. Or, it means that mind approaches Reality differently from different viewpoints. As we look at Reality from different angles or viewpoints, our descriptions of it differ. All these descriptions are partially true, for none of them presents the whole truth. The various non-Jaina systems of philosophy represent partial aspects of Reality and hence they are partially true. The *nayas* (viewpoints) are not subjective but objective. They have as their objects different aspects of Reality. The doctrine of *naya* analyses a real thing into different aspects from different standpoints. Jaina theoreticians have attempted to find out philosophical viewpoints and to classify them on different principles of classification.

The next step is to effect synthesis of these different philosophical views of partial truths into the whole concrete truth. To assign them their proper place in the whole truth and synthesise them into the whole truth is the task of Anekāntavāda at epistemological and logical level. Anekāntavāda integrates *nayas* into a consistent and comprehensive synthesis. The Jaina Anekānta philosophy emerges as the whole synthetic concrete truth from the mutual conflicts of the abstract partial truths represented by the several philosophical schools. In this sense, Jaina Anekānta philosophy becomes Philosophy of philosophies. For presenting a synthesis of all possible philosophical views on a particular point or character (*dharma*) the Jaina thinkers have devised a methodology of Saptabhangī (the seven-fold predication or seven-fold judgement). Let us take the point or character of existence. Regarding it, the following seven views are possible. They are :

(i) From a certain viewpoint, *x* exists.
(ii) From a certain viewpoint, *x* does not exist.
(iii) From a certain viewpoint, *x* exists and does not exist.
(iv) From a certain viewpoint, *x* is inexpressible (with regard to existence-non existence characters).
(v) From a certain viewpoint, *x* exists and is inexpressible.
(vi) From a certain viewpoint, *x* does not exist, and is inexpressible.
(vii) From a certain viewpoint, *x* exists, does not exist, and is inexpressible.

These are the seven *avayavas* (constituent parts) of the whole synthetic comprehensive statement (*vākya*) on a particular point or character.[6]

The first *avayava* means that *x* exists from the viewpoint of its 'own nature'. X exists as *x*. The second implies that *x* does not exist from the viewpoint of 'foreign nature'. X does not exist as other-than *x*. The third predicates of *x* both existence and non-existence in succession. This *avayava* is a compound of the first and the second. It is not unitary and primary. The fourth means that both existence cannot be predicated of *x* simultaneously due to the limitation of language. But it does not mean that they are not present in *x* simultaneously. We may say that the third is a mixture or combination of the first and the second while the fourth is a concrete synthesis of the first and the second, it is *sui generis* (*jātyantara*) and hence unitary and primary. Vidyānanda (*c* early 9th cent.A.D.) notes that the fourth is the joint and simultaneous affirmation and denial (of existence in *x*)[7]. The fifth is a compound one combining the first and the fourth, the sixth is a compound one combining the second and the fourth, and the seventh is a compound one combining the third and the fourth. These seven *avayavas* exhaust all the mathematical possibilities with regard to one character. When they are taken as seven constituent parts of a *vākya* (statement or judgement), they together present an integrated and comprehensive true description of a real thing with regard to one particular point or character (*dharma*). And as there are infinite characters in a real thing, there are infinite such *saptabhaṅgī vākyas* (seven-fold judgements).

Evolution of Anekāntavāda :

Doctrine of relative judgement (*nayavāda*) is traceable to the Āgamas. In the *Vyākhyā-prajñapti Jina* Mahāvīra states that *jīva* (soul) and *pudgala* (matter) are both permanent and changing, permanent from the point of view of substance (*davvaṭṭhayāe*) and changing from the point of view of modes (*bhāvaṭṭhayāe*).[8] Thus, here one fundamental pair of standpoints is referred to. In the *Anuyogadvārasūtra* we come across a passage referring to seven standpoints, namely *naigama* etc. Again, it states that the different parts of a physical aggregate might be characterised by *ānupūrvī*, *anānupūrvī* and *avaktavya*. This can very well be regarded as a mention of three primary *avayavas* or *bhaṅgas* of a *saptabhaṅgī vākya*. Upadhye has found a reference to the three primary *avayavas* in the *Vyākhyā-prajñāpti*.[9] In the *Āvaśyakaniryukti*, definitions of seven viewpoints (*naigama* etc.) are given. Again, it mentions three pairs of *dravyārthika–paryāyārthika*, *vyavahāra-niścaya* and *jñāna-kriyā*. In the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* we find the neat employment of the doctrine of *nayas*. Umāsvāti (*c*. 4th cent. A. D.) devotes two aphorisms to the doctrine of *nayas*.[10] He speaks of the traditional seven *nayas* and the contemporary literature is full of references to them. He does not make any explicit mention of the seven *avayavas* of *saptabhaṅgī*. Till the time of Umāsvāti, while dealing with the doctrine of *nayas* no explicit reference to non-Jaina schools of philosophy is made, nor can it be said that such a reference is implicitly present. The viewpoints are not studied with their supporting arguments, nor are they examined and criticised. With Umāsvāti ends

the age of Āgamas. And with Siddhasena Divākara (*c.* first half of the 5th cent. A. D.) the age of Logic sets in. In this age we find explicit mention of non-Jaina philosophical schools, supporting arguments of their viewpoints and their criticism. Siddhasena says : 'Since a real thing has infinite characters, it is comprehended only by the omniscient. But a real thing becomes the subject-matter of a *naya,* when it is conceived from one particular standpoint'.[11] Interesting is his following statement : 'There are as many views of the form of *nayas* as there are the ways of speaking, while there are as many rival (non-Jaina) philosophical tenets as there are views of the form of *nayas*'.[12] Again, he declares : "All the standpoints (*nayas*) are right in their own respective spheres—but if they are taken to be refutations, each of the other, then they are wrong. But a man who knows the 'non-onesided' (*anekānta*) nature of reality never says that a particular view is absolutely wrong."[13] He was probably the first in the Jaina tradition to synthesise the Sāṅkhya view with the Buddhist view. Thus he observes : "The system of philosophy taught by Kapila is a representation of substance viewpoint, and that which is taught by the son of Śuddhodana (the Buddha) is an exposition of mode viewpoint."[14] Regarding Vaiśeṣika system he remarks : 'Although the philosophical system of Kaṇāda applies both standpoints, it is also fallacious because the standpoints are employed each independently of the other.'[15] The point of Siddhasena is that the Vaiśeṣikas simply combine the two standpoints, but do not synthesise them. The Jainas, on the other hand, synthesise the two and build them into a coherent whole. Siddhasena also claims that the Vaiśeṣikas and the Buddhists are correct insofar as they point out the faults and fallacies of the Sāṅkhya view of causation and the Sāṅkhya philosophers are correct insofar as they criticise the Buddhists and the Vaiśeṣikas. But when these two views of causality (*satkārya* and *asatkārya*) are adjusted together in compliance with the *anekānta* method; the result will be the True Insight (*samyag-darśana, omniscience*)'.[16] In its unmistakably recognisable form, the doctrine of Saptabhaṅgī first appears in Siddhasena's *Sanmati.*

Next we may take Jinabhadra's *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya* (*c.* A.D: 585). It does not much concern itself with the views of rival systems of philosophy, though it is not wholly bereft of occasional references to some. His treatment of seven *nayas,* occasional application to certain specific cases and his account of *dravyāstika* and *paryāyāstika* are interesting.[17] He defines *jñānanaya* and *kriyānaya.* Again he presents three versions of *niścayanaya-vyavahāranaya.*[18] His reference to the Saptabhaṅgī doctrine is extremely summary and fails to be informative.

Kundakunda's (*c.* 3rd quarter of the 8th cent. A. D./Dhaky's dating) Samayasāra certainly adds a new dimension to the discussion concerning the problem of *vyavahāranaya* (the standpoint of worldly behaviour) *vs. niścayanaya* (the definite or transcendental standpoint). His recourse to it is so massive that it startles us. From the transcendental standpoint the soul is independent, self-existent and un-

contaminated by matter; while from the standpoint of the worldly behaviour it is involved in *karma* as well as in the birth and rebirth cycle. As to viewing the *niścaya-vyavahāra* pair in more than one ways is possible, the procedure adopted by Kundakunda was not totally impermissible. But what was un-Jaina like was Kundakunda's declaration that the standpoint of worldly behaviour is a totally false standpoint.[19] In his *Pañcāstikāya* he mentions the fullfledged seven *avayavas* or *bhaṅgas* of Saptabhaṅgī.

Samantabhadra (C.A.D. 550-625 : Dhaky's dating) laid a firm foundation of Anekāntavāda upon which Akalaṅka (active C. A. D. 725-780), Vidyānanda and Yaśovijaya (17th cent. A. D.) built a grand super-structure. Samantabhadra's *Āptamīmāṁsā* deserves a special mention in the history of Anekānta philosophy for more reasons than one. The framework worked out in the *Āpta-mīmāṁsā* for criticising onesided philosophical views proved to be a major helpful model for subsequent authors. Certainly, the task of the Jaina thinkers belonging to the later times was to command mastery over the contemporary systems of philosophy and subject them to criticism (and computation) mainly in terms of the model provided by the *Āptamīmāṁsā*. The work has a good fortune of being commented upon by Akalaṅka, Vidyānanda and Yośovijaya It is meritorious inasmuch as the fundamentals of Anekāntavāda have found in it the clearest formulation. 'Samantabhadra had a clear consciousness of what constitutes the central contention of the doctrine of Anekānta, namely that a thing must be characterised by two mutually contradictory features at one and the same time. He also realised that the doctrine was applicable rather universally ; that is to say, he felt that taking anything and any feature at random it could be shown that this thing is characterised by this feature as also by the concerned contradictory feature. .. Another aspect of Samantabhadra's performance also deserves notice. He apparently attaches utmost importance to the Saptabhaṅgī doctrine and in fact makes it the starting point of his investigation (in the *Āptamīmāṁsā*)."[20] Again, what is noteworthy is his attributing the name 'naya' to each of the seven *bhaṅgas* as also the denomination 'syādvāda' to the totality of all the seven *bhaṅgas*.

Haribhadra's *Anekāntajayapatākā* (*c*. A. D. 770) is a much advanced text as compared to the *Āptamīmāṁsā*; but, for the most part, it adopts the latter's model while arranging its material. It is chiefly interested in vindicating the validity of Anekāntavāda.

As is expected, Akalaṅka's most crystal-like and concentrated enunciation and defence of Anekāntavāda occurs in his *Aṣṭaśatī*, a commentary on the *Āptamīmāṁsā*. Here he elaborately deals with the most fundamental philosophical views centring around the acceptance or otherwise of two contradictory features. His discussions constitute the first most comprehensive and mature vindication of Anekāntavāda. This is so, because, in them he was taken into consideration the rival positions as actually maintained in the contemporary works of various non-Jaina

schools, particularly the Buddhist, and also because by his time these schools—notably the Buddhist—had reached almost the acme of perfection.

"Samantabhadra had clinched the most crucial point that the Jaina thinkers of his age had to elaborate viz. the all-out importance of Anekāntavāda as the central criterion for evaluating the contemporary non-Jaina philosophical systems. He has offered valuable hints as to the lines on which the systems like the Buddhist, the Sāṅkhya and the Nyāya-Vaiśeṣika had to be assailed. But he hardly went beyond offering mere hints. Akalaṅka continued what Samantabhadra begun and so he was in a position to enter into a larger number of details than was the case with the latter. "[But] Akalaṅka's was not an all-round battle against possible rivals. The credit for waging such a battle goes to Vidyānanda who had thoroughly mastered both the contemporary systems and the legacy left by Akalaṅka......" "His most outstanding treatment of Anekāntavāda is found in Aṣṭasāhasrī, a commentary on Aṣṭaśatī. For in this work he undertook a detailed examination of certain one-sided views on certain most burning philosophical questions. ...... Vidyānanda's studies in Anekāntavāda is the most solid contribution to the treasure-house of philosophy. Anekāntavāda is a much misunderstood doctrine and its defence at the hands of incompetent persons only makes matters worse. But Vidyānanda's competence was of a higher order and so his elaboration of the essentials of Anekāntavāda deserves serious study by those who harbour genuine misgivings against this typical Jaina philosophical doctrine."[21]

In Yaśovijaya's works we reach the highest pinnacle of Anekāntavāda. He had thoroughly mastered the rich heritage. Of his writings the most important are three texts devoted to the problems of Anekāntavāda, namely the *Nayarahasya*, the *Anekāntavyavasthā* and the *Nayopadeśa*. His *Aṣṭasāhasrīvivaraṇa*, a commentary on Vidyānanda's *Aṣṭasāhasrī*, is noteworthy. Like Vidyānanda he was extremely well-versed in the contemporary systems of Indian philosophy. Besides, he was gifted with a brain whose sharpness and acuteness were unparallelled, this may be due to his mastery over the intricacies of Navya-nyāya. Let us see how he utilises his learning of Navya-nyāya in elucidating and defending the doctrine of Anekānta. "It was an old Jaina position that a thing exists from the standpoint of its own properties while it does not exist from the standpoint of the alien properties. ...... It constituted the heart of Anekāntavāda doctrine and so the generations of Jaina scholars defended it as best they could. But in Navya-nyāya circles a position similar to the present one began to be maintained. Thus they would speak of a thing's absence "limited" by a property not belonging to it, e.g. a jar's absence "limited" by clothness (paṭatvāvadhikaghaṭābhāvaḥ); and it was given out that such an absence of a thing exists even at a place where the thing itself exists. Yośovijaya aptly pointed out that this amounted to endorsing the Jaina position that a thing as viewed from the standpoint of the alien properties does not exist (i. e. is

absent) even at a place where it is seen to exist, it being the case that at this place it exists only as viewed from the standpoint of its own properties.... Navya-naiyāyikas would argue that variegated colour is a type *sui generis* and not just a mechanical juxtaposition of the constituent colours; Yaśovijaya pointed out that in a similar fashion the unity of opposites spoken of by the Jaina is a type *sui generis* and not just a mechanical juxtaposition of the opposites concerned. As a matter of fact, a close observer could not fail to see that there was some sort of basic similarity between the Jaina's traditional pre-occupation with the problem of 'standpoint' and the Navya-naiyāyika's current preoccupation with the problem of 'avacchedakatā both were meant to ensure that no ambiguities remained attached to what one says ..Yaśovijaya was as thorough a student of Navya-nyāya as that of the traditional Jaina positions and this one fact is sufficient to make his treatment of Anekāntavāda unique performance."[22]

Demands of Anekāntavāda on its upholders

Anekāntavāda being the synthesis of partial truths (philosophical viewopoints) into the whole concrete truth, it requires the understanding of partial truths with their logic, otherwise whose synthesis will it effect ! And Anekānta becomes richer and richer as it takes into its fold more and more partial truths to make synthesis. So, it becomes imperative on the upholders of Anekāntavāda to study and understand as many philosophical views as are possible. Their task is stupendous but rewarding. They should not neglect any philosophical system propounded by any thinker. Their study should not be confined to Jaina works alone. The Jaina *ācāryas* of the past realised this and hence they studied and understood all the philosophical views prevalent in their times in India. At present the philosophical works of the thinkers of the whole world are within the reach of Jaina thinkers and students; so, if they are really upholders of Anekāntavāda, they should study them and find out whatever truth there is in them and give them due place in the synthetic concrete whole truth which Anekāntavāda tries to arrive at. For this they should learn as many languages as possible. Jaina *ācāryas* of the past are well known for their mastery over various regional languages of India; their contribution to them testifies to this fact. Jainas of the present times should continue this tradition and learn at least that language which has assumed the status of world language.

Non-violence (Ahiṁsā) and Anekāntavāda

The highest goal of all systems of Indian philosophy is liberation (mokṣa). For the attainment of this goal they have prescribed their respective spiritual disciplines which do not differ much from one another. In all these spiritual disciplines the practitioner is necessarily required to cultivate five prime virtues, namely non-violence, truth, non-theft, celebacy and non-possession. And among these five, non-violence is supreme and fundamental. It is so fundamental that the rest depends

on it and are included in it, not only that but it provides us with the sole criterion for determining as to what is truth, etc.[23] That which involves violence is not truth even though it may be factually true, and conversely that which does not involve violence is truth even though it may be factually untrue. That which hurts others is never truth. So, one should not speak what hurts others and should also respect the views of others.[24] One should not be stubborn to state that what one says is the only truth. Not to hurt others in presenting one's view implies one's respect for other's view. So, one should be very cautious in one's statement of one's view. One should qualify one's statement by 'this is my faith', 'this is my view', etc. implying thereby that others may have different faith or view. By thus saying one protects the truth, while making absolute statements one harms the truth.[25] This spirit prevails in all the ethical systems of India. It is this spirit that has given rise to the theory of Anekāntavāda. Anekāntavāda recognises non-one-sidedness or manifoldness of the truth. The whole concrete truth is the synthesis of the viewpoints. Anekāntavāda finds some truth in each and every view. It assigns all the viewpoints their proper place to form the whole truth. It accepts all the views in its fold and effects such a synthesis of them all as would result in the whole concrete truth *sui generis*. It is not merely juxtaposition or mixture of the opposite views. It rejects no view.

"Non-violence abstention from killing or taking the life of others, was the dominent trend in the whole śramaṇa movement in India, particularly in Buddhism and Jainism. I think the Jainas carried the principle of non-violence to the intellectual level, and thus propounded their *anekānta* doctrine. Thus the hallmark of the *anekānta* doctrine was tolerance. The principle embodied in the respect for the life of others was transformed by the Jaina philosophers at the intellectual level to respect for the views of others. This is, I think, a unique attempt to harmonize the persistent discord in the field of philosophy."[26]

"...this doctrine of Anekāntavāda helps us in cultivating the attitude of toleration towards the views of our adversaries. It does not stop there but takes us a step forward by making us investigate as to how and why they hold a different view and how the seeming contradictories can be reconciled to evolve harmony; It is thus an attempt towards syncretism."[27]

Foot-Notes

1. द्रव्यपर्यायात्मा अर्थः । अकलङ्क

2. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।

3. अयमर्थः—न द्रव्यरूपं न पर्यायरूपं नोभयरूपं वस्तु, येन तत्तत्पक्षभावी दोषः स्यात्, किन्तु स्थित्युत्पादव्ययात्मकं शबलं जात्यन्तरमेव वस्तु । **प्रमाणमीमांसा**, सं० पण्डित सुखलालजी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० 29

4. एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः । न्यायावतार, 29

5. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः । प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० 676

6. एकत्र जीवादौ वस्तुनिएकैकसत्त्वादि धर्मविषयप्रश्नवशात् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथगभूतयोः समुदितयोः च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणः सप्तभिः प्रकारैः वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते । स्याद्वादमञ्जरी, पृ० 142-143

7. अष्टसाहस्री, पृ० 125

8. भगवती सूत्र, 9. 2. 293 thereof

9. His "Introduction" to Pravacanasāra, Bombay, 1955, p. 83.

10. तत्त्वार्थ० I. 34-35.

11. न्यायावतार, 29
Recently, however, the *Nyāyāvatāra* has been ascribed to the later Siddhasena who was better known as Siddharṣi and who flourished in late 9th and earl 10th cent. A. D. This is the recent view of both Pt. Malvaniya and M. A Dhakhy—Editors.

12. सन्मतितर्क 3. 49.

13. *Ibid.*, I. 28.

14. *Ibid.*, III. 48.

15. *Ibid*, III. 49.

16. B. K. Matilal, *The Central Philosophy of Jainism*, Ahmedabad 1961, p. 33.

17. Viśeṣāvaśyaka bhāṣya Verses 2180-2274 and verses 414-426 thereof

18. *Ibid.* 3586-3591.

19. ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो सुद्धणओ । समयसार, 13.

20. K. K. Dixit, Jaina Ontology, L.D. Series. No...., Ahmedabad, 1971, pp. 135-136.

21. *Ibid.*, pp. 148-152.

22. *Ibid.*, pp. 162-163.

23. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानाम् अनभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमाः तन्मूलाः तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणाय एव उपादीयन्ते। **व्यासभाष्य** 2. 30,
अहिंसाया अविरोधेनैव सत्यादयो यमनियमा अनुष्ठेया इति। योगवार्तिक 2.30
यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयन्ते। —"मोक्षधर्मपर्व"

24. एषा (वाग्) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपधानाय; यदि चैवम् अपि अभिधीयमाना भूतोपघात-परा एव स्यात्, न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्; तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्। व्यासभाष्य, 2.30.

25. सद्धा, चे पि, भारद्वाज, पुरिसस्स होति; 'एवं मे सद्धा' ति वदं सच्चम् अनुरक्खति, न त्वेव नाव एकंसेन निट्ठं गच्छति—'इदम् एवं सच्चं, मोघम् अञ्ञ'' ति। "चंकिसुत्त", मज्झिमनिकाय

26. B. K. Matilal, *The Central Philosophy*, p. 61.

27. H. Kapadia, *Introduction to Haribhadra's Anekāntajayapatākā* (G. O. S.), Baroda, 1940, p. cxiv.

DHARMAKĪRTI'S ATTITUDE TOWARD OMNISCIENCE

Roger Jackson

In his autobiography, *The Ochre Robe*, Swami Agehananda Bharati describes an encounter with a college student on a bus in south India. The student tells Bharati :

> 'I wish I knew the Brahman like you or Swami Vivekananda or other sages, for then I would not have to study so hard for my exams !' It did not take me long to get at the root of this baffling reasoning. Here was a young victim of an age-old fallacy, for there is a term in the scriptures which literally means 'omniscient', *sarvajña*, and it is averred that a person who has intuited the absolute becomes a *sarvajña*, literally one who knows everything. But the trouble is that '*sarvajña*' is a purely technical term used in Vedantic literature, and is synonymous wilh '*brahmajña*', a 'knower of Brahman', which again means one who has realized his oneness with the Absolute......[1]

Bharati's interpretation of omniscience may not meet with the approval of all Vedāntins, but there is no doubt whatever that in Jainism and in fully-developed Theravāda and Mahāyāna Buddhism, the being who has attained all there is to be attained—be he a *tīthaṅkara* or a *tathāgata*—is held to be omniscient in the sense that he knows all there is to know of conventional and ultimate truth, of past, present and future, of the minds of other beings-in short, omniscient in precisely the sense ridiculed by Bharati when he goes on to ask his earnest interlocutor, "Do you then believe...that Ramakrishna Paramahaṁsa knew mathematics, atomic physics, English literature, and all that ?"[2] The student answers this rhetorical question in the affirmative, and one assumes that a doctrinaire Jaina or Buddhist would, too.

While the majority of Jainas and Buddhists would affirm that the perfected beings in their respective traditions are omniscient in the most universal sense, there is room in both traditions for divergent interpretations. Prof. Ram Jee Singh points out that in the course of the development of Jaina thought, there are "the two important senses, namely, omniscience as knowledge of essentials and omniscience as universal knowledge, which ultimately survive and represent as two opposed views on the subject."[3] Present-day advocates of omniscience in the limited sense of knowledge of essentials seek "to establish the theory of omniscience on a scientific and logical basis which would be acceptable to the modern mind."[4] Singh admits that "After going through the arguments presented by both of the opposing

parties, it is very difficult for a philosopher to take any side,"[5] yet take a side Singh does' when he declares that "The earlier theory...has got very scanty textual support,"[6] and that the theory of omniscience as universal knowledge encompassing all substances with all their modes "is in keeping with the realistic tone and temper of the Jaina metaphysics. To the Jainas, there is no ambiguity in knowledge when it comprehends the entire modes of all the entities, because the universe is an integrated system whose relations are equally real and objective."[7]

While omniscience is an attribute of *tīrthaṅkaras* even in the earliest of Jaina texts[8]—only the definition of the attribute has been debated—such is not case with Buddhism, in whose earliest texts—presumably the Pāli *nikāyas*—the Buddha is nowhere described as omniscient. That this is so has been convincingly demonstrated by a number of recent scholars of the Pāli canon, most notably K. N. Jayatilleke. In his *Early Buddhist Theory of Knowledge*, Jayatilleke makes a number of important points in this regard (1) In lists of the Buddha's epithets found in Pāli literature, he is considered neither omniscient (*sabaññu*) nor all-seeing (*sabba-dassāvi*) "until the very latest stratum in the Pāli Canon and that is even after most of the books of the Abhidhamma had been completed"[9]; (2) There are a number of places in the *nikāyas* where the Buddha ridicules ascription of omniscience either to a divine being, like Brahmā, who is said not to know some things that the Buddha knows,[10] or to a human teachers, who "is criticized on the grounds that his lack of omniscience would be evident from his actions. For instance he an enters empty house and receives no alms, a dog bites him, he meets a fierce elephant, horse or bull, has to ask for the names of people, of villages or hamlets or to find his way"[11]; (3) The Buddha specifically disclaims continuous simultaneous knowledge of all events of all times when, at M.I. 482, he says that "those who say that the recluse Gotama is omniscient and all-seeing and professes to have infinite knowledge and insight which is constantly and at all times present to him, when he walks or stands, sleeps or keeps awake—are not reporting him properly and misrepresent him (as claiming) what is false and untrue"[12]; (4) What the Buddha *does* claim at M. I. 482 and elsewhere in the *nikāyas*, is the threefold knowledge (*tevijja*), which consists of unlimited retrocognition of his own rebirths, unlimited clairvoyance of the ways in which other beings die and take rebirth, and knowledge of the destruction of the "inflowing impulses" (*āsavas*).[13]

The threefold knowledge represents the essential contents of the Buddha's enlightenment experience, and is therefore the epistemological basis of all his doctrines, from the four noble truths on. In this sense, it is similar in structure, if not incontent, to the "omniscience as knowledge of essentials" found in Jainism and the Vedāntin *sarvajña* of Brahman upheld by Bharati. That the Buddha did not describe his knowledge as omniscience even of a limited sort is most probably due to the connotations the term had for him—at his time it must have referred chiefly to the

type of universal omniscience he eschewed for both himself and others, whether because he found it impossible of attainment, empirically unverifiable or irrelevant to the spiritual path he propounded. The Buddha's own caution notwithstanding, not many centuries after his *parinirvāṇa* the majority of his followers had come to regard him as omniscient in the broadest possible sense, and to this day the majority of orthodox Buddhists, both Theravādin and Mahāyānist, believe the Buddha to possess (or to have possessed) universal omniscience.

At the same time, just as in Jainism more than one possible definition of omniscience came to be offered, so too in Buddhism have there been alternative definitions. The *Abhisamayālaṁkāra* of Maitreya, for example, which spawned a huge commentarial tradition in later Indian Mahāyāna and among the Tibetans,[14] has as three of its eight principal subjects the three kinds of omniscience (*tisraḥ sarvajñatāḥ*). These are: (1) omniscience regarding all aspects of existence (*sarvākarajñatā*), which is defined as "The ultimate knowledge (of the Buddha), the direct cognition, in one single moment, of all the aspects of existence, empirical and absolute"[15], (2) omniscience regarding the path (*mārgajñatā*), which is defined as "The intuition of the Mahāyānist Saint, dominated by analytic wisdom, directly cognizing the essential nature, the non-substantiality, of the 3 different Paths to Salvation"[16]; and (3) omniscience regarding all empirical objects (*sarvajñatā*), which is defined as "The knowledge of the Saint which corresponds to the Hīnayānistic spiritual family and consists, in its predominant part, of the direct cognition of all the separate elements of existence as being devoid of a relation to an individual Ego or soul."[17] Within the context of the *Abhisamayālaṁkāra*'s exposition of the path to enlightenment, the two latter types of omniscience clearly are intended as preparatory to *sarvākarajñatā*, yet, if defined somewhat less rigorously than by later commentators, they may be seen to represent other, "limited" interpretations of omniscience that may have been current in the Buddhist world. Indeed, as Charlene McDermott notes, there is, in fact, a school of Buddhist epistemology (post-dating Maitreya) that "distinguishes (and concentrates upon) *sarvajñatā*, or omniscience *vis a' vis* the direct intuition of the truths necessary for salvation, from *sarva-sarvajñatā* (= *sarvākarajñatā*), or omniscience without restriction.[18] The school she has in mind is that of Dharmakīrti.

II. Dharmakīrti's Attitude Toward Omniscience :

Tibetan *siddhānta* writers classify Dharmakīrti as a Yogācārin Following Reasoning. As a Yogācārin, he is a Mahāyānist, and as a Mahāyānist, he might be assumed to subscribe the then prevailing Mahāyāna interpretation of omniscience as *sarvākarajñatā*. Yet, despite the fact that rGyaltshab glosses the subject-matter of the *pramāṇasiddhi* chapter of the *Pramāṇavārttika* as "an explanation of liberation and omniscience and the path leading to them,"[19] it is by no means clear from

Dharmakīrti's own words that he believed in any kind of omniscience, let alone *sarvākarajñatā*. The crucial passage, covering verses 31-35 of the *pramāṇasiddhi* chapter of the *Pramāṇavārttika* (Shastri's edition), may be translated as follows :

> Some (Mīmāṁsakas) say : "An authoritative being is one who cognizes hidden objects. Because there is no (means of) accomplishing (or proving, the state of such a being), no one (can) make the effort (to accomplish that state).Dharmakīrti replies) : We who are apprehensive about being misled through taking as a teacher an ignoramus seek someone who is knowledgeable, so that we may make the effort to understand (what he teaches). Therefore, we should investigate his gnosis (to determine that) it is practicable, his knowledge of the number of insects (in the world) is of no use to us. We assert that authoritative being is one who knows what is to be attained and what avoided, together with the methods (of so attaining and avoiding)—not someone who knows everything. Whether or not (a teacher) sees great distances, he should see the principles (that meet) the desires (of beings) if someone who sees great distances is an authoritative being, come, let us rely on vultures![20]

Singh classifies Dharmakīrti's view—as expressed in these verses—as a definition of omniscience as knowledge of practical utility *(mārgajñatā)*.[21] That practical utility is involved is clear, what is not so certain is (a) whether Dharmakīrti *is*, in fact, offering a definition of omiscience in those terms or (b) if he is, how that omniscience might best be classified. (A) We must remember that the chapter from which we have drawn our passage is concerned primarily with establishing the meaning of *pramāṇa*, and most particularly with proving that the Buddha *is pramāṇa*—both in the sense that all Buddha-cognitions are authoritative or valid and in the sense that for unenlightened sentient beings he is the "means" to be relied upon until they themselves have "become authoritative" (*pramāṇabhūta*). Dharmakīrti defines the "one who knows what is to be attained and what avoided, together with the methods (of so attaining and avoiding)" (*heyopadeyatattvasya sābhyupāyasya vedakaḥ*) as a *pramāṇa*, not an omniscient being. Omniscience may or may not, in fact, be a quality of the Buddha, but it clearly is irrelevant to his establishment as an authoritative being. (B) If, for the sake of argument, we grant with Singh that Dharmakīrti perhaps is implicitly offering a more limited definition of omniscience, it is likely that the type he is defining is not *mārgajñatā*—which, whatever Singh means by it, connotes in the *Abhisamayālaṁkāra* tradition a Mahāyāna *ārya's* cognition of the emptiness of the three possible Buddhist spiritual paths[22]—but *sarvajñatā*, the Hīnayāna *ārya's* cognition of the selflessness of all persons, which implies a direct understanding of what is to be avoided (self-grasping, *ātmagraha*) and what attained (the wisdom cognizing selflessness), which is in turn equivalent to an understanding of the four noble truths.[23]

The above speculations notwithstanding, Dharmakīrti nowhere explicitly attributes omniscience to the Buddha.[24a] The verses we have cited ridicule as spiritually useless—if not impossible—omniscience in the sense of *sarvākarajñatā*, and does not indicate that the Buddha's knowledge is, e.g. *sarvajñatā*—it is described only as *pramāṇa*. Dharmakīrti's definition of yogic perception (*yogi pratyakṣa*) is consonant with his definition of *pramāṇa*; unlike the definitions found in many Mahāyāna traditions, it is relatively "modest"—at least to the degree that it does not entail omniscience. What it does entail is a direct, unmistaken cognition of things as they are (*bhūtārtha*).[24b] This is glossed by Dharmottara as the cognition of the four noble truths attained by a practitioner when he reaches the path of seeing,[25] and is said by Vinītadeva also to include knowledge of past and future objects[26]—the former would seem more in tune with the tenor of Dharmakīrti's writings. Further evidence of Dharmakīrti's view of omniscience is furnished by the fact that as McDermott notes "the term 'omniscient being' often figures in Dharmakīrti's logical writings as a mere substitution instance in certain specimens of modes of valid reasoning......because 'omniscient being' is representative of a class of terms which refer to concepts of entities whose existence is problematic, in the sense that existence admits of neither confirmation nor disconfirmation via ordinary experience. Hence no apodictic conclusions can be drawn concerning such entities.[27] For example, at *Nyāyabindu* III. 96f.. the use of "omniscient being" in a syllogism is said to lead to the fallacy of an uncertain reason.[28]

Although Dharmakīrti (a) ridicules the spiritual value of omniscience at *Pramāṇavārttika* I.33-55, (b) gives no indication that yogic perception in any way entails omniscience and (c) cites an omniscient being as the type of problematic entity whose inclusion in a syllogism invalidates the inference, McDermott is right when she insists that Dharmakīrti provides not a refutation of omniscience, but a *nihil obstat;* "Logic leaves open the possibility that an omniscient being *can* exist in reality.[29] This *nihil obstat* gave Dharmakīrti's commentators a certain latitude, and the commentarial tradition gradually evolved to the point where, for example, the "*pramāṇasiddhi*" chapter of the *Pramāṇavārttika* was interpreted as actually containing proofs of omniscience in the broadest sense, as *sarvākarajñatā*. We will briefly—and by no means exhaustively—trace this evolution, from Dharmakīrti's direct disciple Devendrabuddhi, down through Prajñākaragupta and rGyal tshab, to some contemporary Tibetans, and we will see in the process how, the further removed commentators were from the time of Dharmakīrti, the more likely they were to maintain that he didn't *really* mean what he said.

III. Devendrabuddhi and Prajñākaragupta

The only chapter of his *Pramāṇavārttika* on which Dharmakīrti composed an auto-commentary was that on "*svārthānumāna*." His direct disciple, Devendra-

buddhi, wrote a commentary on the remainder of the work, including the "*pramāṇasiddhi*" chapter. After destroying the first two drafts, Dharmakīrti finally accepted the third as adequate,[30] so we may assume that Devendrabuddhi's glosses probably are true to his master's intention. In commenting on the *Pramāṇavārttika* I. 31-35, Devendrabuddhi remarks: "A cognition that has as its object all hidden objects is *not* asserted as an authority *(pramāṇa)*. The gnosis (of a wise man), which has as its object the goals to be striven for, by beings, *is* an authority when, knowing that object that is to be striven for the wise man teaches it and makes (others) relate to it."[31] Knowledge of the goals to be striven for involves knowledge of what is to be attained and what is to be avoided, and "The so-called knowledge of the true nature of what is to be avoided, together with the methods (for so avoiding), is the cognition of suffering and its origination; the so-called knowledge of the true nature of what is to be attained, together with the means (of so attaining), is the cognition of cessation and path. Therefore, knowledge that perfectly accomplishes the goals of beings, like (knowledge of) the four noble truths, is asserted to be authoritative; knowledge of all things is of no use to us, and it is not asserted as authoritative,"[32]: Devendrabuddhi further adds that any attempt to prove that there exists a cognition of hidden objects is subject to doubt,[33] but that even if there is no one who sees objects beyond the senses, this will not undermine Buddha's authoritativeness, because authoritativeness has been defined in terms of knowledge of the goals of beings.[34]

Devendrabuddhi, then, interprets Dharmakīrti just as Dharmakīrti's verses would lead us to expect him to be interpreted : as ridiculing the spiritual relevance of omniscience, and asserting as authoritative religious knowledge cognition of the four noble truths—for it is the four noble truths that provide the key to beings' liberation, and one of the keys to the authoritativeness of knowledge is that it leads to the attainment of some goal or desired object.

Prajñākaragupta, who lived at least two centuries after Dharmakīrti and Devendrabuddhi, is perhaps the greatest of Dharmakīrti's Indian commentators; he and Devendrabuddhi are the two most respected by Tibetan tradition, for which the *Pramāṇavārttika* is a seminal text. In his *Pramāṇavārttikālaṁkāra*, Prajñākaragupta notes that the sort of knowledge of which Dharmakīrti is speaking is knowledge of the aims of beings and not knowledge of absolutely everything (*thams cad thams cad rig pa=sarvasarvaveda*).[35] He goes on to assert that just "seeing great distances" is not a sufficient criterion of omniscience.[36] This remark is interesting, because in Dharmakīrti and Devendrabuddhi, it is authoritativeness, not omniscience, for which seeing distances is not a sufficient criterion. Prajñākaragupta, it appears from this and other evidence in the *Alaṃkāra*, is conflating omniscience and authoritativeness—at least where a being who is said to know the true nature of existents is concerned. If *pramāṇa* is unmistaken (*avisaṁvādaka*) knowledge with regard to objects, and one

assumes that the Buddha has knoweldge in the highest degree, it follows that the Buddha should be unmistaken with regard to the ultimate *and* conventional natures of all existents; because he is authoritative, therefore, the Buddha must be omniscient.[37] This sort of interpretation obviously rests not on what Dharmakīrti has written but on what he might have said had he reflected on the implications of his definition of *pramāṇa* for a full Mahāyāna conception of the Buddha—Prajñākaragupta, it seems, had so reflected. As a result, Dharmakīrti is seen implicitly to prove the Buddha's omniscience simply by proving his authoritativeness—this despite the ridicule Dharmakīrti seems to heap on the idea of omniscience at I. 31-35. Prajñākaragupta states quite plainly that these verses do "not refute the omniscience that is knowledge of all things,[39] and the ability to see great distances is derided as insufficient for comprising *omniscience*—it must be accompanied by knowledge of what is to be attained and what avoided. The substitution of "authority" by "omniscience" considerably changes the tone of Dharmakīrti's argument, making it sound as if he accepts omniscience and is chiefly concerned to refute the mistaken notion that knowledge of hidden objects is both a necessary and sufficient condition for omniscience; in fact, it is necessary (for omniscience in the sense of *sarvākarajñatā*), but not sufficient. Knowledge of what is to be attained and what avoided is both necessary and sufficient for omniscience in a limited sense, e. g., *sarvajñatā*; it is necessary, but not sufficient, for *sarvākarajñatā*.

Prajñākaragupta, then, while recognizing that Dharmakīrti does not teach universal omniscience at *Pramāṇavārttika* I. 31-35, clearly believes in it himself, and begins to find it in Dharmakīrti: not only does he carefully note Dharmakīrti' *nihil obstat* regarding the possibility of omniscience, but appears to believe that Dharmakīrti, as he does, holds that omniscience is a logical corollary of the Buddha's authoritativeness.

IV. The Tibetan Commentarial Tradition :

The fruition of the interpretive seeds sown by Prajñākaragupta is found in the Tibetan tradition of the *Pramāṇavārttika* commentary. It is axiomatic for this tradition that omniscience—like liberation, the selflessness of the person, the subtle impermanence of sound, etc.—is a slightly hidden phenomenon (*kiṁcid parokṣa*) which is logically demonstrable through proper inference.[39] The tradition further assumes that the *locus classicus* for proofs of omniscience is the "*pramāṇasiddhi*" chapter of the *pramāṇavārttika.*

As we have noted above, rGyal tshab, the 15th century dGe lugs pa scholar who wrote the first great Tibetan commentary on the *Pramāṇavārttika*, entitles his commentary on the "*pramāṇasiddhi*" chapter "An Explanation of Liberation and Omniscience and the Path that Leads to Them." At the very outset of

chapter two of his *rNam, grel thar lam gsal byed,* he says that Dharmakīrti's chapter is divided into a "forward system" that explains the causal process through which the Buddha became authoritative and a "reverse system" that explains the reason why he is authoritative. The forward system is promulgated in order to refute opponents who, arguing that "there is no proof that there is an authority that knows hidden objects,' say there is no cause generating the omniscience that comes into existence through development of a method for obtaining the omniscience of one who has become an authority."[40] The reverse system is promulgated in order to refute opponents who say that "there is no cause demonstrating omniscience in such statements as 'there is such omniscience because we see its results or (we see something of) similar nature."[41] In other words, according to rGyal tshab, all of Dharmakīrti's efforts in the "*Pramāṇasiddhi*" chapter are directed toward answering those who claim that omniscience is impossible :

It is clear that in rGyal tshab the identification of Buddha-authority with omniscience—pointed to by Prajñākaragupta—is complete. Indeed, in commenting on I. 9, where Dharmakīrti—after defining *pramāṇa*—says simply that "The Blessed One is such an authority,"[42] rGyal tshab says, "The Muni, the Blessed One, is an authority with regard to *all conventional and ultimate objects*, because he possesses a fresh, unmistaken cognition of all those (objects)."[43] He follows this comment with a lengthy demonstration that even the second moment of a Buddha's omniscience fulfils the definition of *pramāṇa* as a new, or fresh, cognition—largely because, although each omniscience moment embraces all past, present and future objects, their status as past, present or future changes from moment to moment, so in each moment they are cognized in a different temporal aspect, and are therefore cognized freshly.[44] For Dharmakīrti, whose definition of the Buddha seems to have been more modest than rGyal tshab's (or Prajñākaragupta's), the Buddha's authoritativeness was sufficiently established by his direct cognition of spiritually efficacious truths. The fact that they were truths assured that they fulfilled the criterion of unmistakeness ; the fact that they effected one's own and others' spiritual goals assured that they fulfilled the criterion of efficaciousness ; and the fact that they were directly cognized assured that they fulfilled the criterion of freshness. For rGyal tshab, however, the Buddha is presumed omniscient, so he must show how this purported omniscience is in line with the definition of *pramāṇa* given by Dharmakīrti. Dharmakīrti felt no such need, and rGyal tshab's demonstration is totally incidental to the root text of the *Pramāṇavārttika*.

Be that as it may, the entire section that in Dharmakīrti's verses is devoted to proving that a permanent God cannot be an *authority* while the Buddha can is said by rGyal tshab to "refute the existence of an omniscient being who knows how to create all knowable objects,"[45] and "to prove as omniscient the one who knows by perception how all (knowables) really exist."[46] Verses I.31-35, which are included at the end of this section, are said to be concerned with refuting objections to

omniscience by showing "The reason for seeking an omniscient one, the way of seeking him, and the identification of the omniscient one."[47] Still, in actually commenting on Dharmakīrti's verses. rGyal tshab could as well be talking about an authority as about an omniscient one, because his interpretation is quite in line with the apparent intention of Dharmakīrti : to ridicule the spiritual relevance of such cognitions as that which knows the number of insects in the world or that which sees great distances ; and to affirm the spiritual relevance of a knowledge of what is to be attained and what avoided. However, rGyal tshab believes that verses 1.31-35 *are* a general demonstration of the Buddha's universal omniscience, for (a) they demonstrate that the Buddha is authoritative about what is to be attained and what avoided by those who strive for freedom; (b) what is to be attained and what avoided by these who strive for freedom is *nirvāṇa* and *saṁsāra*, (c) everything in the universe can be subsumed under *nirvāṇa* and *saṁsāra*, so (d) one who is authoritative regarding what is to be attained and avoided by those who strive for freedom is authoritative regarding everything in the universe. There is, of course, no indication either in Dharmakīrti's root verses or Devendrabuddhi's commentary that the *heyopādeya* on which the Buddha is authoritative covers everything in the universe, but, as Prajñākaragupta has pointed at, neither is it ruled out, either

There is another verse in the *Pramāṇavārttika* that rGyal tshab takes as a basis for proving omniscience : that which introduces the proof of the truth of cessation (*nirodhasatya*), and which states simply : "(Suffering) is not eternal, because it is possible to stop its cause."[48] rGyal tshab glosses this as follows : "The aggregates of an ordinary being are not an eternal continuum unsuitable for cessation, because (the aggregates') own cause can cease through the stopping power of its contrary condition and through the incompletion of the conditions appropriate (for the aggregates' arising)."[49] rGyal tshab then devotes four pages to showing that implicit in this verse are proofs of both liberation and omniscience. The proof of liberation basically involves showing that the wisdom that cognizes selfless is the antidote and contrary condition to saṁsāric suffering, because it opposes the demonstrated cause of that suffering : craving for the self and what pertains to the self, based on the wrong view that there exists a permanent independent self of persons.[50] "Omniscience" is proved as follows :

> (The reason,) that which is a powerful destroyer, pervades (the predicate,) the type (of entity that exists) in simultaneous combination with the (gradual) eradication of all destructibles of (the appropriate) type, just as we see that a powerful fire exists in simultaneous combination with the (gradual) eradication of all kinds of destructible cold to which it is proximate the mind that realizes the reality of the four truths, (in such as selflessness, etc.. is powerfully damaging. It is proven by reason of this statement that the mind that understands the reality of the four truths exists in simultaneous combination with the destruction of infinite damageable (mental) stains

that stray from the reality of the four truths. That mind that understands the reality of the four truths in combination with a separation from infinite stains is known as omniscient. Also...there is a mind that understands the selflessness of *dharmas* in combination with the destruction of infinite (instances of grasping at a self of *dharmas*. That mind is omniscient.[51]

rGyal tshab admits that this argument is "incidental" to Dharmakīrti's discussion, although he obviously believes that it is implicit in it. Thus, just as authoritativeness regarding what is to be attained and avoided by those who strive for freedom was taken to mean authoritativeness regarding everything in the universe, so too the understanding of selflesness is assumed necessarily to be gained in relation to every single *dharma* there is and one who has a "complete" understanding of selflessness to be omniscient in the most universal sense.[52]

Curiously, neither rGyal tshab (nor Prajñākaragupta before him) sees as a proof of universal omniscience that section in the "*pramāṇasiddhi*" chapter that is most conducive to it, the elaborate proof of the existence of past and future lives, followed by a demonstration of the possibility of the infinite development of assorted mental qualities.[53] The importance of this passage has not been lost on later dGe lugs pa and other Tibetan teachers, who cite it frequently as the proof of the possibility of omniscience.[54] Dharmakīrti asserts that the proof of the Buddha's authoritativeness is his unlimited compassion,[55] but unlimited compassion only can be proved if there are many rebirths through which one can develop it. This necessitates a demonstration of the possibility of past and future lives, which hinges, in turn, on demonstrating that the mind does not have the body as its cause, but, rather, arises as part of a homogeneous causal series. Even the proof that mind and body are substantially different is insufficient to demonstrate the possibility of infinite mental development, because even though there be past and future lives, it is entirely possible that mental qualities only can be increased to a certain point because, like jumping ability, they require repeated effort and have an unstable, physical basis. Dharmakīrti argues that jumping ability is an inappropriate example for comparison, precisely because jumping ability *has* an unstable physical basis, the body, and *does* require repeated exertion. Mental qualities, on the other hand, exist in a continuum of a different sort. They arise within the context of a meditatively-induced mental stability, and therefore have a cumulative effect. Further, when developed to a certain point, they become natural, and therefore require minimal—if any-exertion on the part of the meditator. Given countless lives and the increasing effortlessness that goes with an increasingly stable mental basis, there is no reason why mental qualities cannot be developed to the highest possible degree. Dharmakīrti, of course, is arguing specifically for the possibility of infinitely developing compassion, but there is no reason why the argument cannot be applied to other

mental qualities, including knowledge itself—and this is precisely what contemporary Tibetan scholars do.

A final argument which, although neither original nor unique to Dharmakīrti, *can* be extracted from *Pramāṇavārttika*, is that omniscience is possible simply because of the nature of the mind. It is said to be defined by clarity and the apprehension of objects.[56] Its clarity means that it is intrinsically free from the defilements that obstruct it. If its nature also is the apprehension of objects, it is not difficult to see how one could conclude—as do most Mahāyānists—that when all possible defilements and obstacles are removed, the mind's natural clarity shines forthfully : it is omniscient. Dharmakīrti, of course, explicitly declares the mind's natural freedom only from those impurities that are known as *kleśāvaraṇa*. If there do exist subtle obstacles to full knowledge, too, *Jñeyāvaraṇa*, then they too are adventitious, and with their removal the mind will be omniscient.

In short, then, it is the common assumption of the Tibetan tradition of the *Pramāṇavārttika* interpretation that Dharmakīrti, whatever he may have said of the uselessness of knowing the number of insects in the world or seeing great distances, was in fact a believer in omniscience, and in his "*pramāṇasiddhi*" chapter set out to prove omniscience, both of a limited and universal type.

V. Concluding Remarks :

Whatever subsequent commentators may have extracted from his writings in the way of proofs omniscience, it still remains the case that neither Dharmakīrti nor his "approved" commentator, Devendrabuddhi, give any indication that the *Pramāṇavārttika* and Dharmakīrti's other logical works take a stand on the possibility of omniscience any stronger than agnosticism. Indeed, Dharmakīrti's dismissal of the religious value of extrasensory perception and insistence that the criterion of the Buddha's authoritativeness is his knowledge—in effect—of the four noble truths see most reasonably explicable as a conscious attempt to rest content with religious assertions that are both pragmatic and prudent.

Following in the empirical, anti-speculative spirit of the Buddha of the *nikāyas*, Dharmakīrti insists that the most important quality of any teacher is his knowledge of and ability to communicate practical spiritual truths; the Buddha, because of his understanding and espousal of the four noble truths, is the greatest possible such teacher, for only he has truly understood the key to *saṁsāra* and *nirvāṇa* : *satkāyadṛṣṭi*, the view that there is a self in perishable composites; and its antidote, *prajñā*, the wisdom that realizes that there is no such self.

Dharmakīrti's prudence seems reasonable in the face of arguments against omniscience adduced by the likes of Kumārila, rGyal tshab summarizes these arguments as follows :

You have refuted the existence of God, but there is equal fault in your omniscient one, because if he is an authoritative person he must cognize every hidden object, and there is not any way of proving that one can become omniscient by some sort of mental development. There is no one who exerts himself in that method, because there is not the least bit of proof demonstrating that there is a cause generating (omniscience), nor does there exist anyone who strives for the sake of cognizing that.

Thus, it follows that one cannot accomplish omniscience by unimaginable mantras or medicines, because it would follow that one would be (an authority) regarding all external and internal objects, and so would be omniscient regarding all knowables. It follows that sense-cognition cannot cognize all hidden phenomena, because it is powerless to penetrate solid objects. It follows that mental cognition cannot be (omniscient), because it follows on sense-cognition. It follows that even if the mind relies on scripture, it cannot cognize all hidden phenomena, because (scripture) is irrelevant to the categories (of reality), and even if it is (relevant) one will not cognize (those categories) perceptually.

Moreover, it follows that it is unacceptable that one cognize all (knowables) successively, because if that is the case, you must accept that there is an exhaustive limit (to phenomena). If (all knowables are said to be) cognized simultaneously, it follows that there is a beginning to *saṁsāra*, because such a cognition is completely limiting.

One cannot cognize the existence of such an omniscient one through reasoning, because there are no reasons apart from words; if all persons are unmistaken regarding one word, or if a person is unmistaken regarding all (words), then it follows that those are omniscient. If it is proven by perception, then the one (so proving) must also be omniscient, for without oneslf cognizing all knowables, one cannot ascertain : "This being cognizes all knowables" (In short) there is neither a cause generating omniscience nor a reason demonstrating (its existence).[57]

Dharmakīrti's commentarial successors, of course, believe that omniscience *can* be known inferentially, but Dharmakīrti himself, when faced with criticisms of omniscience does *not* defend it, rather, he sidesteps the criticism and says that he is concerned with criteria of authoritativeness, for which what is needed is not extrasensory perception, but efficacious religious knowledge.

Still, as "modest" as is Dharmakīrti's criterion of religious authoritativeness, he himself is quite aware of the difficulties involved in trying to demonstrate that a particular being, the Buddha, in fact satisfactorily meets this criterion. As Mi pham, a 19th-century Tibetan rNying ma pa commentator on the *Pramāṇavārttika*, succin-

ctly notes, Dharmakīrti must demonstrate (A) that there is a *cause* for the Buddha's authoritativeness and (B) that there is a *reason* for asserting him to be authoritative.[58] (A) requires a demonstration that it is theoretically possible for someone to attain the unlimited development of mental qualities said to have been attained by the Buddha. (B) requires that the truths asserted by the Buddha be, in fact, true, i. e., uncontradicted by either perception or inference. Each of these, in turn, raises for Dharmakīrti problems at least as intractable as those posed by omniscience, but he tackles them nonetheless, believing that both the Buddha's attainment and his assertions be rationally defensible.

(A) Dharmakīrti quite correctly recognizes that in order to prove that there can exist a cause for attainments such as that claimed by the Buddha, he must demonstrate the existence of past and future lives, which, in turn, hinge on the establishment of a substantial dualism of mind and body. Dharmakīrti's, arguments which we do not have the space to review here, are ingenious, and deserve further consideration than philosophers heretofore have given them, but it is not entirely evident that Dharmakīrti does not beg the question, by assuming a definition of mind (i. e.. as clear and object-apprehending) that logically precludes its origination from matter. Furthermore, even if his arguments for past and future lives be accepted, Dharmakīrti still is forced in places to adduce as arguments specifically Buddhist ideas, e. g., that there exists a certain type of mental stability that is the condition for effortless, unlimited development of mental qualities; or that at death the thought of an ordinary, attached being will connect with a subsequent attached thought, while the thought of an *arhat*, who is detached, will have no result, and he will not take rebirth. The mind-body problem is not much closer to solution nowadays than it was in Dharmakīrti's time (whatever the protestations from one camp or another that it has been either resolved or made to disappear by the expedient of declaring it meaningless); the assertion of one's own doctrines as part of a proof one's doctrines is—if not always circular—seldom very satisfactory.

(B) Dharmakīrti further recognizes that if the Buddha is, in fact, authoritative, then what he says about what is to be attained and what avoided—the criterion of authoritativeness—must be true. In short, the four noble truths must be true. A proof of the reality of the four noble truths—on which Dharmakīrti spends most of the second half of the "*pramāṇasiddhi*" chapter—raises further interesting problems. The most pivotal, perhaps, is the complex assertion that saṁsāric suffering has a specific identifiable cause, i. e., self-grasping; that there is a specific antidote to the cause, i. e., the wisdom that cognizes selflessness; and that the application of the antidote will remove the cause and the suffering that results from it. Though Dharmakīrti accepts the existence of yogic perception, and believes that it is, in fact, through yogic perception that one directly verifies the four noble truths, he does not make the mistake of appealing to yogic perception (i. e.. mystical experience) as a justification of the truth of the four noble truths.[59] Rather, he seeks to show

logically and empirically—as had the Buddha before him—that self-grasping is at the root of all the mental problems with which we are afflicted : greed, anger, etc., and that its elimination is the basis of ultimate and undecaying happiness. There is no question that the Buddhist analysis is psychologically astute; what is not so obvious is that a realization of the four noble truths, and especially of selflessness, can effect the sort of ontological transformation that is said to occur when one enters the path of seeing (*darśanamārga*) and becomes an *ārya*, irrevocably destined for arhatship or Buddhahood. The relation between psychology and ontology is problematic, and returns us to the equally difficult problem of the nature and potential of the mind.

In the final analysis, it may be that the best a Buddhist can offer someone who is sceptical regarding the Buddha's attainments and veracity is the simple invitation to "come and see" (*ehi passako*), still, it is to Dharmakīrti's credit that he realized the philosophical problems posed by Buddhist religious doctrines and that—trying his best to eschew both superfluous claims and dogmatic assertions—he tried to resolve them, by showing that the Dharma is uncontradicted by either perception or inference. Dharmakīrti may not always have been aware of his own presuppositions and not all his arguments are equally effective, but they are conscientiously made, and ultimately do credit to the critical, empirical spirit possessed—if we are to believe the *nikāyas*—by the Buddha himself.

Notes

1. Swami Agehananda Bharati, *The Ochre Robe*, London : 1961, p. 223.
2. *Ibid.*
3. Ram Jee Singh, *The Jaina Conception of Omniscience*, No. 43 in L. D. Series, Ahmedabad, 1974, pp. 56-57.
4. *Ibid.*, p. 60.
5. *Ibid.*
6. *Ibid.*
7. *Ibid.*, pp. 59-60
8. *Ibid.*, p. 49.
9. K. N. Jayatilleke, *Early Buddhist Theory of Knowledge* (reprint, Delhi : Motilal Banarsidass, 1980), p. 381.
10. D. I. 17, 18; M. I. 326-329, cited *Ibid.*, p. 203.
11. *Ibid.*, *pp.* 203-204.
12. Jayatilleke's translation, *Ibid.*, p. 468.
13. *Ibid.* Even more concise and "essential" is the classic formulation of the Buddha's knowledge given at *Vin.* I. 41 : "The *tathāgata* has spoken of the causes of those *dharmas* that arise from causes, and also of their cessation—so

says the great reclues" (*ye dhammā hetuppabhavā tesāṃ hetuṃ tathāgato āha / tesañ ca yo nirodho evaṁ vādī mahāsamaṇo*). Knowledge of arising and ceasing is central to the *tevijja*, and is, too, what is at stake in the four noble truths.

14. It and its commentaries are considered by most Tibetan scholars to be the most important elucidation of Buddhist path systems as they are implicit in the *prajñāpāramitā sūtras*. It is one of the fundamental topics of study in monasteries of the dGe lugs pa tradition.

15. The definition is commentarial, and is drawn from rGyal tshab's *rNam bshad snying po rgyan*, 2a/1-2. It is translated by E. Obermiller, *Analysis of the Abhisamayālaṃkāra*, Fascicle I, Calcutta Oriental Series, no. 27 (London : Luzac & Co., 1933), p. 3. Cf. also A. K. Warder, *Indian Buddhism*, second revised edition (Delhi : Motilal Banarsidass, 1980), pp. 407-413.

16. rGyal tshab, op. cit., 2a/4, trans. Obermiller, p. 5.

17, rGyal tshab, op. cit., 2b/2, trans. Obermiller, p. 5.

18. Charlene McDermott, "Yogic Direct Awareness as a Means of Valid Cognition in Dharmakīrti and rGyal-tshab," in Minoru Kiyota, ed., *Mahāyāna Buddhist Meditation. Theory and practice* (Honolulu : The University Press of Hawaii, 1978), p. 146. The parallel with the "essential" and "universal" omnisciences described by Singh is clear.

19. rGyal tshab rje. *rNam 'grel thar lam gsal byed*, vol. I (Sarnath : Pleasure of Elegant Sayings, 1974), p. 226. rGyal tshab holds the *pramāṇasiddhi* chapter to be the second; other Indian and a few Tibetan commentators hold it to be the first For a discussion of the controversy, cf., e. g., F. Th. Stcherbatsky, *Buddhist Logic*, vol. I (reprint, New York : Dover, 1962), pp. 38-39.

20. *pramāṇyañca parokṣārthajñānaṁ tatsādhanasya ca / abhāvān nāstyanuṣṭānamiti kecit pracakṣate // jñānavān mṛgyate kaścit taduktapratipattaye / ajñopadesakaraṇe vipralambhanaśaṅkibhiḥ // tasmādanuṣṭeyagataṁ jñānamasya vicāryatām / kīḍasaṁkhyāparijñānaṁ tasya naḥ kvopayujyate // heyopadeyatattvasya sābhyupāyasya vedakaḥ / yaḥ pramāṇamasāviṣṭo na tu sarvasya vedakaḥ // dūraṁ paśyatu vā mā vā tattvamiṣṭam tu paśyatu / pramāṇam dūradarsī cedet gṛdhrānupāsmahe //* in Swami Dwarikadas Shastri, ed., *Pramāṇavārttika of Acharya Dharmakīrtti, with the Commentary 'Vṛtti' of Acharya Manorathanandin* (Varanasi : Bauddha Bharati, 1968), pp. 18-19. I have also consulted a Tibetan translation, the *Tshad ma rnam 'grel gyi rtsa ba*, woodblock print (Delhi : dPal Ka rma pa, n.d.)

21. Singh, pp. 39-40.

22. Those of the *śrāvaka*, *pratyekabuddha* and *bodhisattva*.

23 In the path systems of the *Abhidharmakośa*, the four noble truths are, in fact, what is directly cognized by the *ārya* on the path of seeing (*darśanamārga*).

24(a) DharmkIrti *does* indicate at PV 282b that the Sugata's gnosis is "complete" (*aśeṣa*, Tib. *ma lus*), but this, again need not entail *sarvākarajñātā* it can as earily mean that the Sugata has complete knowledge of the ways in which *saṁsāra* is perpituated and liberation obtained. It is this gnosis that is said to differentiate him from 'mere" *arhanta.*

24(b) *Nyāyabindu,* I.10. Sanskrit reconstructed from Tibetan in Mrinalkanti Gangopadhyaya, *Vinītadeva's Nyāyabiudutīkā* (Calcutta, Indian Studies Past & Present, 1971), p. 11.

25. *Nyāya-bindu-ṭīkā*, tr. by Stcherbatsky, *Buddhist Logic,* vol. II, p. 31.
26. Gangopadhyaya, p. 109.
27. McDermott, p. 146.
28. Stcherbatsky, BL, vol. II, pp. 206-207.
29. McDermott, loc. cit.
30. The story is drawn from Tārānātha's history of Buddhism, cited by Satis Chandra Vidyabhusana, *A History of Indian Logic* (reprint, Delhi, Motilal Banarsidass, 1978), p. 320.
31. Devendrabuddhi, *Pramāṇavārttikapañjikā,* Tibetan translation in Daisetz T. Suzuki, ed., *Tibetan Tripiṭaka, Peking Edition* (Tokyo-Kyoto: Tibetan Tripitaka Research Institute, 1957). Catalogue no. 5717b, vol. 130, 224/4/4-5. There is no Sanskrit version extant.
32. *Ibid.*, 225/1 5-7.
33. *Ibid.*, 225/1/8.
34. *Ibid.*, 225/2/7.
35. Prajñākaragupta, *Pramāṇavārttikālaṁkāra,* Tibetan trans. in *Tibetan Tripiṭaka,* catalogue no. 5719, vol. 132, 23/4/8. There is a Sanskrit edition extant, but it is not available to me.
36. *Ibid.* 23/5/4-5.
37. For example, Prajñākaragupta claims at Ibid., 75/1/2 that without knowing all aspects of all objects, the Buddha could not assert the momentariness of all compounded phenomena.
38. *Ibid.*, 23/5/7.
39. Lati Rinbochay. *Mind in Tibetan Buddhism,* translated, edited and introduced by Elizabeth Napper (Valois, N.Y. : Gabriel/Snow Lion, 1980), p. 78.
40. rGyal tshab, *rNam 'grel,* p. 227.
41. *Ibid.*
42. *tatvat pramāṇam bhagavān.* Shastri's edition, p. 9.
43. rGyal tshab, op. cit., p. 236. Emphasis mine.
44. *Ibid.*, pp. 236-238.
45. *Ibid.*, p. 239.
46. *Ibid.*

47. *Ibid.*, pp. 249-250.
48. *tadanātyantikaṁ hetoḥ pratibandhādisambhavāt.* Shastri's edition, I.192b, p. 67.
49. rGyal tshab, op. cit., p. 322.
50. *Ibid.*, pp. 322-325.
51. *Ibid.*, pp. 325-326.
52. Oral communication by Geshe Lhundup Sopa.
53. Shastri's edition, I.36-133a, pp. 20-49.
54. Cf., e.g., Lati Rinbochay, pp. 63-64.
55. Shastri's edition, I.36, p. 20.
56. *Ibid.*, I.208, 210, pp. 72-73.
57. rGyal tshab, op. cit., pp. 248-249.
58. Mi pham, *Tshad ma rnam 'grel gyi gzhung gsal por bshad pa legs bshad snang ba'i gter*, woodblock print (Dehradun : n.p., n.d.), p. 257.
59. Contrary, I think, to what Potter assumes when he argues that Dharmakīrti uses yogic perception to bolster conventional perception and inference, and vice versa. Cf. Karl H. Potter, *Presuppositions of India's Philosophies* (reprint, Westport, Conn. : Greenwood Press, 1976), pp. 194-196.